जीवन प्रभात

प्रभुदास गांधी

मण्डल
प्रकाशन

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

जीवन-प्रभात

गांधी-परिवार तथा दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी के अभूतपूर्व प्रयोगों तथा संघर्ष की ज्ञानवर्द्धक, शिक्षाप्रद और रोचक कहानी
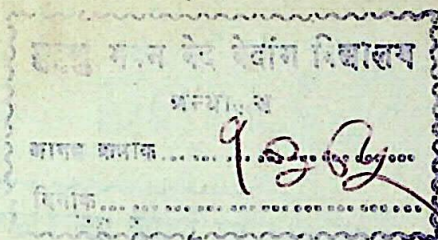
लेखक
प्रभुदास गांधी
भूमिका
काका साहेब कालेलकर

१९८०
सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक
यशपाल जैन
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
एन-७७, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली

दूसरी बार : १९८०
मूल्य : ८.५०

मुद्रक
लखेरवाल प्रेस
नई दिल्ली-५

प्रकाशकीय

गांधीजी के जीवन तथा कार्य पर जितनी पुस्तकें लिखी गई हैं, उतनी संसार के शायद ही किसी महापुरुष के विषय में लिखी गई हों। फिर भी प्रस्तुत पुस्तक गांधी-साहित्य में अपना विशेष स्थान रखती है। इसके लेखक गांधीजी के कुटुम्बी-जन ही नहीं हैं, अपितु बचपन से ही गांधीजी की छत्र-छाया में उनका पालन-पोषण हुआ है। गांधीजी के पूर्वज कैसे थे, कौन थे, उनसे गांधीजी को विरासत में क्या-क्या गुण मिले, गांधीजी के अद्-भुत जीवन-प्रयोगों तथा सत्याग्रह का लोगों पर क्या प्रभाव पड़ता था, उनके परिवार तथा आसपास के लोग उनसे किस प्रकार प्रभावित होते थे, उनके प्रत्येक कार्य में व्यवस्था, त्याग, चारित्र्य आदि का कितना आग्रह रहता था, किस प्रकार वे बराबर नये-नये परीक्षण करते रहते थे, उनके दैनिक जीवन का कार्यक्रम क्या था, आदि-आदि बातों पर लेखक ने बड़े ही विशद, प्रामाणिक तथा रोचक ढंग से प्रकाश डाला है।

दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी ने जितने प्रयोग किये थे, छोटी अवस्था होते हुए भी लेखक ने उन्हें अपनी आंखों देखा था और उनमें भाग लिया था। यही कारण है कि वह इतने अधिक और इतने सूक्ष्म विवरण दे सके हैं।

गांधी-परिवार तथा गांधीजी के प्रयोगों के विषय में हिन्दी में इतनी विपुल और महत्वपूर्ण सामग्री पहली बार पुस्तकाकार प्रकाशित हो रही है। अनेक घटनाएं तो प्रथम बार प्रकाश में आ रही हैं। काका साहब के शब्दों में "गांधी-युग के इतिहासकारों में और गांधीजी के चरित्र-लेखकों में" निस्संदेह "लेखक ने इस पुस्तक द्वारा चिरस्थायी स्थान प्राप्त कर लिया है," कारण कि इसमें मौलिक, आध्यात्मिक तथा प्रामाणिक सामग्री कूट-कूट कर भरी है।

हम लेखक के आभारी हैं कि उन्होंने हिन्दी के पाठकों को इतनी मूल्यवान् सामग्री प्रदान की है। हमें विश्वास है कि हिन्दी के पाठक इस पुस्तक को मनोयोगपूर्वक पढ़ेंगे और इससे लाभ उठावेंगे।

—मंत्री

आत्म-निवेदन

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान्प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम् ।
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ।
(—गीता अ० १८।७१,७७)

"जो कोई यह बात ध्यान देकर सुनेगा और इसके प्रति चिढ़ न रखकर सरलता के साथ इसे अपने हृदय की गहराई में उतारेगा वह पुण्यकर्मी होगा और स्वतंत्रता को प्राप्त करके कल्याणकारी समाज में जा पहुंचेगा।...फिर, सच बात तो यह है कि हरि के उस अद्भुत स्वरूप की ज्यों-ज्यों मुझे याद आती जाती है त्यों-त्यों मेरा अचरज बढ़ता जाता है और हृदय गद्गद हो उठता है।"

भगवद्गीता के अंत में कही गई यह बात पूज्य गांधीजी की जीवन-चर्या के बारे में भी अक्षरशः सत्य है। कहा जा सकता है कि जबसे मैंने इस दुनिया में आकर अपनी आंखें खोलीं, प्रायः तभी से गांधीजी का विराट् स्वरूप मेरी आंखों को चकित करता रहा। ज्यों-ज्यों मेरी उम्र बढ़ती गई, मुझे उनके और उनके जमाने की पुरानी स्मृतियों के बारे में बार-बार बातें करने में आनन्द आने लगा। पूज्य गांधीजी ने 'रौलेट एक्ट' के समय में जब सत्याग्रह-आन्दोलन छेड़ा और सन् '२२ में जब उनको यरवडा के 'कृष्ण-मन्दिर' में पहुंचाया गया तब साबरमती आश्रम में एक गंभीर वातावरण छा गया। गांधीजी ने, अपने घर से ही श्रीगणेश करने के आग्रह के अनुसार, सत्याग्रहाश्रम के विद्यार्थियों को ही अपनी पढ़ाई स्थगित करने के लिए समझाया और उन्हें स्वराज्य की लड़ाई में झोंक दिया। हम लोगों का अधिकतर समय खादीकी उपासना और अछूतों के साथ मिलने-जुलने में बीतता था। आश्रम की राष्ट्रीयशाला के आचार्य काका-साहब कालेलकर की प्रेरणा से, अपने स्वाध्याय को ताजा रखने के लिए 'मधपूडो' (मधुमक्खी का छत्ता) नाम से विद्यार्थियों का एक द्विमासिक हस्तलिखित पत्र चलाया जा रहा था। उसके संपादन का भार मुझपर डाला गया था।

मुझमें यह साहस नहीं था कि मैं सदुपदेश से भरे हुए लेख लिखता। फिर इतिहास, विज्ञान, साहित्य या अन्य किसी प्रकार के शास्त्र के साथ मेरा सक्रिय संबंध भी न था। सोचते-सोचते मुझे फीनिक्स की बातें लिखने का विचार सूझा।

यह अनुभव मुझे पहले ही हो चुका था कि बापूजी की छोटी-मोटी बातें सुनने में सभी को आनन्द आता है। हमारे आश्रम का प्रारम्भ कैसा था, बापूजी के इर्दगिर्द कैसे-कैसे व्यक्ति रहते थे, बापूजी क्या करते थे, किस प्रकार पढ़ाते थे, हमको जेलयात्री बनने के लिए किस प्रकार तैयार कर रहे थे—ये सारी बातें लोग मुझसे मानो कहानी के आह्लाद से सुना करते थे। बार-बार के इस अनुभव के कारण मैंने फीनिक्स की बातों को लिखना शुरू कर दिया।

उस समय तक गांधीजी का 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' प्रकाशित नहीं हुआ था। उनकी आत्मकथा भी नहीं लिखी गई थी। इसलिए मैं जो कुछ अव्यवस्थित और अधूरी बातें लिखता था वह भी लोगों को पसन्द आती थीं और 'मधपूडो' पाठकों के हाथ से लौटकर मेरे हाथ में आता ही नहीं था। फिर तो मैंने निःसंकोच होकर, एक इतिहासकार की शान से लिखना प्रारम्भ कर दिया और देखते-देखते छोटा-सा 'फीनिक्स-पुराण' तैयार हो गया। जिस समय की बातें इसमें मैंने दी हैं उस समय मेरी उम्र बारह वर्ष से भी कम की थी।

इस पुस्तक में मेरा उद्देश्य अपनी आत्मकथा लिखने का नहीं है। आत्मकथा लिखूं ऐसी कोई योग्यता भी मुझमें नहीं है। फिर भी सारी कथा मैंने अपने को ही केन्द्र में रखकर लिखी है। अन्य प्रकार से लिखना संभव भी नहीं हो सकता था। मनुष्य की चार से लेकर बारह वर्ष तक की उम्र ही ऐसी होती है कि वह सारी दुनिया को अपने बालगज से ही नापता है, पहचानता है और उसका अनुभव करता है। मेरे पास उस समय इतिहास की दृष्टि नहीं थी। मुझे होश भी न था कि जिस वातावरण में मेरा लालन-पालन हो रहा है, वह संसार का कोई अनोखा वातावरण है। यह कल्पना ही मुझे कैसे हो सकती थी कि जिनके कंधे पर सवार होने का अवसर मुझे मिल रहा है वे हमारे घर के मोहनदासकाका संसार के एक अद्वितीय व्यक्ति माने जायेंगे। इसलिए चाहने पर भी अपनी स्मृतियों को संवार-संवार कर लिखे हुए इन लेखों को मैं पूज्य बापूजी के या अपने ममनकाका के जीवन-चरित के रूप में पेश नहीं कर सकता। आश्रम के इतिहास के रूप में या दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के रूप में मैं यह सब लिख

ही नहीं सकता था। हां, बापूजी के शिक्षण-प्रयोगों के इतिहास के रूप में मैं इसे लिखने का प्रयास कर सकता था। पर मुझे उचित यही लगा कि मैं इसे अपने बालजीवन के संस्मरणों के रूप में लिख डालूं। ऐसा करने में ही कम-से-कम अभिमान और अधिक-से-अधिक सच्ची बात इसमें आ सकती थी।

असल में ये प्रकरण आश्रमवासी पाठकों के लिए लिखे गए थे, इसलिए इनमें घरेलू बातों का समावेश बहुत हुआ है। अपने आश्रम को अपना घर समझकर बेखटके चाहे-जैसी घरेलू बातों को बताने में संकोच नहीं होता। यदि इसमें कुछ बातें अशोभन जान पड़ें या विनय और शिष्टता में कुछ अधूरापन मालूम दे तो पाठकों से मैं प्रार्थना करता हूं कि वे मुझे क्षमा करें। गांधी-परिवार संसार का अनोखा और अपूर्व परिवार है, सत्याग्रह-आश्रम या फीनिक्स-आश्रम, जहां सत्याग्रहाश्रम की प्रथम नींव डाली गई, पूर्णतया आदर्श संस्था थी, ऐसा मैंने कभी नहीं माना। फिर उसका आधार लेकर आत्म-प्रशंसा करने की मनोवृत्ति को अवकाश ही कहां रह जाता है?

इस पुस्तक में हिन्दी के पाठकों को बहुत-सी ऐसी सामग्री मिलेगी जो गांधीजी के आगे के जीवन की आधारशिला थी। अपनी बाल-स्मृति के आधार पर जिन प्रसंगों को मैंने चित्रित किया है उनकी प्रामाणिकता के लिए गांधीजी के पत्रों का सहारा लिया है और अपने पिता की डायरी आदि सामग्री की पूरी सहायता ली है। गांधी-परिवार का इतिहास भी इस पुस्तक के प्रारम्भ में आ गया है।

हिन्दी में यह सामग्री प्रथम बार पुस्तकाकार प्रकाशित हो रही है। पाठकों को इससे लाभ हुआ तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा।

हिन्दी में इस सामग्री को पहले 'हिन्दुस्तान' में निकालते समय भाई श्री सीताचरण दीक्षित तथा बाद में पुस्तकाकार करते समय भाई श्री यशपाल जैन ने जो परिश्रम किया उसके लिए मैं उनका अत्यंत आभारी हूं।

—प्रभुदास गांधी

प्रस्तावना

जिस समय यूरोप में पहला विश्वयुद्ध फैला, उन्हीं दिनों पूज्य गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका में उज्ज्वल विजय के साथ अपना कार्य पूरा किया। बाद में वे अपने साथियों को भारत भेज कर स्वयं श्री गोखले से मिलने के लिए इंग्लैंड चले गए। गांधीजी की वह 'फीनिक्स-मंडली' दीनबंधु एन्ड्रयूज़ की इच्छा के अनुसार गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के शांतिनिकेतन में रहने चली गई। मैं भी उसी समय बंगाल में चलते हुए राष्ट्रीय शिक्षा के उस महत्वपूर्ण प्रयोग को निकटता से एवं सतह के भीतर से देखने-जांचने के लिए शांतिनिकेतन पहुंच गया।

शांतिनिकेतन का अर्थ था भारतीय संस्कृति के आचार्य श्री रवीन्द्रनाथ द्वारा संचालित ब्रह्मचर्याश्रम। दूसरी ओर 'फीनिक्स-मंडली' का अर्थ था कर्मवीर गांधी द्वारा दक्षिण अफ्रीका में स्थापित किये हुए एक अभिनव ब्रह्मचर्याश्रम का भारत में लाया हुआ पौधा। इस प्रकार जब एक आश्रम दूसरे आश्रम के घर अतिथि के रूप में रहने गया था तभी मैं भी वहां जा पहुंचा। 'फीनिक्स-मंडली' के लोग दुपहर का भोजन शांतिनिकेतन के भोजनालय में करते थे और शाम के समय सोडा या खमीर के बिना बनाई हुई ईंट-जैसी डबल रोटी कुछ फल-मेवे के साथ खा लेते थे। दोनों ओर के व्यवस्थापकों की सम्मति प्राप्त करके मैं दोनों में शामिल हो गया। 'फीनिक्स-मंडली' के साथ मेरा संबंध अधिक घनिष्ठ हो गया। उसके साथ उसकी शाम की प्रार्थना में शामिल होता और प्रातःकाल की प्रार्थना का आरंभ तो मैंने ही किया। शाम की प्रार्थना के बाद उन लोगों को मैं थोड़ा-थोड़ा करके अपने हिमालय के प्रवास की बातें सुनाने लगा। उसके बाद तपोधन उग्रशासन, निष्ठावीर मगनलालभाई गांधी के मुख से दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह की लड़ाई के और फीनिक्स-आश्रम के विविध रसों से भरे हुए जीवन के बारे में खत्म न होने वाली बातें ब्यौरे से सुनता रहा। उस समय वे सारी घटनाएं बिलकुल ताजी ही थीं और उस अपूर्व लड़ाई में तथा उस आश्रम में सहयोग देने वाले, अर्थात् उस प्रकार से नवभारत के नये इतिहास का निर्माण करने वाले लोगों के बीच रह कर, उन्हीं के मुंह से, वह सारी कथा मैंने सुनी।

मेहमान-आश्रम चलाने का भार श्री मगनलालभाई पर था। उनकी सहायता के लिए मगनभाई पटेल मास्टर भी थे। मणिलाल, रामदास, देवदास तीनों भाई वहां थे। प्रभुदास, कृष्णदास और केशू भी थे। कुछ दिन के लिए श्री जमनादास गांधी भी आये थे। शिवपूजन, छोटम, भैयम, श्री थंबी नायडू के पुत्र आदि अनेक बालवीर उस मंडली में थे। प्रतिदिन सवेरे हम लोग खोदने का काम करने जाया करते थे। मेरे शामिल होने के कुछ दिन बाद इस मंडली ने एक छोटी-सी टेकड़ी की मिट्टी खोद कर

पास की एक तलैया को पुरा देने का काम उठाया। हमारे हाथ से वह काम पूरा होगा या नहीं और होगा तो कब होगा, इस बात की हमें कोई चिन्ता न थी। अनासक्त-वृत्ति से नित्य सवेरे खुदाई का काम पूरा करने के बाद ही हम लोग नाश्ता करते थे।

इस प्रकार के वातावरण में श्री मगनलालभाई और अन्य फीनिक्स-वासियों के साथ मेरा परिचय हुआ। मेरी बातों में सबको रस आता था। उनके श्रमजीवन में मैं बिलकुल घुलमिल गया था। उनमें भी छोटा प्रभुदास मेरी ओर अधिक आकर्षित हुआ, ऐसा कहा जा सकता है।

पूज्य गांधीजी जब इंग्लैंड से लौटकर स्वदेश पधारे और उन्होंने शांति-निकेतन तथा ब्रह्मदेश की यात्रा भी कर ली, तब अपने फीनिक्स-आश्रम को वे शांतिनिकेतन से ले गए, पहले हरिद्वार के कुंभ मेले में और वहां से अहमदाबाद। मैं भी शांतिनिकेतन छोड़ कर महाराष्ट्र लौट गया और बाद में बड़ौदा जाकर ग्रामसेवा का काम करने लगा।

किन्तु जो संबंध शांतिनिकेतन में स्थापित हो गया था वह टूटने वाला नहीं था। वह मुझे गांधीजी के सत्याग्रह-आश्रम में ले गया। पहले हम कोचरब में रहे, इसके बाद साबरमती के तट पर वाड़ज के पास स्थायी रूप से सत्याग्रहाश्रम की स्थापना हो गई। संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'जीवन-प्रभात' में जहां पर प्रभुदास के और फीनिक्स-आश्रम के जीवन की कथा समाप्त होती है प्रायः वहां से उनका और मेरा संबंध शुरू होता है।

सत्याग्रह-आश्रम में गांधीजी ने बालकों की शिक्षा पर अधिक महत्व देकर आश्रम के अन्तर्गत ही एक स्वतन्त्र पाठशाला स्थापित की थी। उस पाठशाला में थोड़े दिन तक श्री छगनलालभाई गांधी ने भी काम किया। राष्ट्रीयशाला में विद्यार्थियों का हस्तलिखित मासिक पत्र तो होना ही चाहिए—हम लोगों ने उसका नाम 'मधपूडो'—मधुमक्खी का छत्ता—रखा। उपनिषद की कथा पढ़ने वाले हम लोग 'मधपूडो' के संपादकों को 'मधुकर राजा' कहने लगे। प्रभुदास वैसा ही एक राजा बना। उसको लेख लिख देना जैसे हम शिक्षक लोगों का काम था, वैसे ही विषय सुझा देने का काम भी हमारा ही था। मैंने प्रभुदास से कहा, "दक्षिण अफ्रीका के आश्रम-जीवन का वर्णन क्रमशः क्यों नहीं लिखते?" आत्मविश्वास कम होने के कारण प्रभुदास ने इसके लिखने में शंका प्रदर्शित की, "क्या मुझसे यह सब लिखा जा सकेगा?" मैंने उससे कहा, "इसमें क्या बात है? वह सब—संस्मृत्य-संस्मृत्य, याद कर-करके लिख डालो।" उसने वह विचार अपना लिया और तब्द संस्मृत्य-संस्मृत्य' के शीर्षक से एक लेखमाला में

अपने वाल-जीवन के संस्मरण लिखना आरंभ कर दिया। वहुत-कुछ लिख जाने पर उसने उन सव लेखों को अपने वालसखा देवदास को दिखाया। आश्रम के शिक्षक और विद्यार्थीगण तो यह सव बड़े चाव से पढ़ते ही थे, परन्तु गांधी-कुटुंव के वहुत-से लोग भी उसे ध्यान से पढ़ने लगे। कुटुंब की मानमर्यादा के आग्रही कुछ पुराने विचार के स्वजनों को यह अखरा। "प्रभुदास यह क्या कर रहा है? अपने कुटुंव की घरेलू—गोपनीय—वातें इस तरह प्रकाशित की जाती हैं क्या?" परन्तु अन्तर-बाह्य का भेद न मानने वाले गांधीजी के हाथों में पले और शिक्षा पाये प्रभुदास ने साहस के साथ वहुत-काफी लिख ही डाला।

इस पूरी-की-पूरी लेखमाला में तंबूरे के सुर की भांति एक बात सतत सुनाई देती है। बिलकुल बचपन में ही प्रभुदास से कहा गया था कि वह निरा बुद्धू है। होशियारी उसमें कुछ भी नहीं है। देवदास-जैसी कुशलता प्रभुदास में भले न हो, छोटे कचा (कृष्णदास) के बरावर चातुर्य भी उसके पास न हो, लेकिन मैंने तो उसको बुद्धि-विहीन न पाया है और न माना है। किन्तु घर के वड़ों ने यद्यपि अत्यंत सद्बुद्धि से प्रेरित होकर उसके ऊपर जो 'आत्मनि अप्रत्यय' ठोक-ठोक कर जमा दिया वह उसके स्वभाव का एक अंग ही वन गया और विद्या-निष्ठा, कर्म-निष्ठा, ध्येय-निष्ठा आदि समर्थ सद्‌गुणों का अस्तित्व उसके पास होते हुए भी केवल आत्मविश्वास के अभाव के कारण उसके जीवन का सारा भविष्य मानों मुरझा गया।

इस पुस्तक में छोटी-मोटी बातों की जो भरपूर वारीकियां दिखाई देती हैं उनमें से वहुत-कुछ श्री मगनलालभाई के मुंह से मैंने सुन रखी हैं। गांधी-परिवार के कई व्यक्तियों ने भी इन बातों को पढ़ा है। इसलिए इनकी यथार्थता के वारे में संदेह के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। जो दिमाग इतनी सारी बातों को व वारीकियों को संग्रहीत और समर्थता से प्रति-पादित कर सकता है उसे वुद्धू बताना अनर्थ ही कहलायेगा।

चि० प्रभुदास खादी-विद्या और कला के एक समर्थ आचार्य हैं। खादी का तत्त्वज्ञान, उसका अर्थशास्त्र, उसकी जड़ में निहित समाजशास्त्र आदि सवके वे ज्ञाता हैं ही, इसके अतिरिक्त खादी के यन्त्रशास्त्र में भी उन्होंने नई-नई खोजें की हैं। पैरों से गति देकर दोनों हाथों से सूत कातने वाले चर्खे की खोज प्रभुदास की ही है। उन्होंने खादी-विद्या के आद्याचार्य श्री मगनलालभाई के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करने के लिए उस चर्खे को 'मगन-चर्खे' का नाम दिया है।

गांधी-परिवार के लोग जिस प्रकार दक्षिण अफ्रीका में जाकर बस गए और वहां पर जैसे उन्होंने लोक-सेवा की, उसी प्रकार प्रभुदास ने भी

हिमालय में अलमोड़े की ओर जाकर वहां पर खादी का काम किया और उत्तरप्रदेश में अपना विवाह हो जाने के बाद उसी प्रांत की सेवा करने के हेतु से वहीं बस गए। उस प्रदेश में प्राय: चौथाई शताब्दी तक उन्होंने खादी व ग्राम-सेवा का काम किया। देश की स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने के बाद जब उत्तर प्रदेश की सरकार ने प्रयाग में खादी विद्यापीठ की स्थापना की तब प्रभुदास को वहां के मुख्य आचार्य के रूप में नियुक्त किया और दो वर्ष में वहां से कई खादी-विद्यार्थी शिक्षा पाकर उत्तीर्ण हुए। इसके बाद नव-संगठित सौराष्ट्र में ग्रामोद्योग और खादी-विद्या के प्रशिक्षण के लिए उनको आमंत्रित किया गया और पोरबन्दर में गांधीजी के जन्मस्थान पर बनाये गए उस कीर्ति मन्दिर का केन्द्र सुगठित और संचालित करने का उत्तर-दायित्व उन्हें सौंपा गया, जिसका उद्देश्य बापू के जीवन-कार्य व सर्वोदय समाज की प्रवृत्तियों का भली-भांति प्रदर्शन करना है। अब वह पुन: उत्तर प्रदेश में मुरादाबाद जिले के गांवों में खादी और ग्रामोद्योग की नींव पर अहिंसक और शोषण-विहीन समाज के विकास का कार्य 'अखिल भारत खादी ग्रामोद्योग मंडल' की ओर से कर रहे हैं।

बहुत लोगों को इस बात का पता न होगा कि जब चम्पारन में गांधीजी पहली बार गिरफ़्तार किये गए तब उन्होंने वहां के देहातों में जाकर किसानों के पास अपना संदेश पहुंचाने का जिम्मेदारी भरा काम बालक प्रभुदास को ही सौंपने का निश्चय किया था।

फिर भी इस संपूर्ण पुस्तक में प्रभुदास का यह ध्रुवपद हमें लगातार सुनाई देता है कि "मैं बुद्धू हूं, मैं जड़ हूं, दूसरों के जैसा होशियार नहीं हूं।" और उनकी लेखनी इतनी समर्थ है कि क्षणभर के लिए हमें भी प्रतीत होता है कि "उनकी यह बात सही होगी," परन्तु उनकी वर्णनशक्ति की सामर्थ्य देखने पर विश्वास हो जाता है कि वह कोई मामूली साहित्यकार नहीं हैं।

सारी पुस्तक में प्रभुदास के मन की बापूभक्ति अखंड रूप में दीप्तिमान है। साथ-ही-साथ स्वर्गस्थ मगनलालभाई के प्रति उनका आदरभाव भी उतना ही स्पष्ट दीख पड़ता है। दोनों सिरे के मील-पत्थरों को देखकर जैसे हम बीच का अन्तर नाप लेते हैं, वैसे ही इसे पढ़ कर खयाल हो जाता है कि श्री मगनलालभाई ने अपने स्वभाव पर विजय पाने के लिए अपने अंतर में कितना भयानक युद्ध चालू रखा होगा और उन्होंने उसमें कैसी अद्‌भुत सफलता पाई। श्री मगनलालभाई के बारे में लिखते हुए श्री चंद्र-शंकर शुक्ल ने उनको 'उग्रशासन' बताया है। यह विशेषण सभी बातों में उनके अनुरूप ही है। अखंड जागरूक, अखंड दक्ष और एकाग्र निष्ठावान मगनलालभाई के तप के कारण ही सत्याग्रह-आश्रम विकसित हो पाया।

मगनलालभाई का जब देहान्त हो गया तब वापूजी ने उनके घर में ही बैठ कर लिखा था, "उसकी विधवा घर के अन्दर सिसक- सिसक कर रो रही है। उसे क्या पता कि सचमुच तो मैं ही विधुर बन गया हूं।"

श्री मगनलालभाई का एक छोटा-सा जीवन-चरित्र प्रकाशित हुआ है; किन्तु यथार्थ रूप में उनके जीवन का सही-सही चित्रण तो प्रभुदास की इस पुस्तक में ही हमको मिलता है। निःसंदेह मगनलालभाई वापूजी के हनुमान थे। जो कुछ वापूजी ने करना चाहा वह सब मगनलालभाई ने कर दिखाया।

गांधीजी ने 'सत्याग्रह-आश्रम का इतिहास' में राष्ट्रीय शिक्षा के लिए जिन सिद्धान्तों को निष्कर्ष के रूप में वताया है, उसी का वातावरण जान में या अनजान में प्रभुदास ने अपने इस 'जीवन-प्रभात' के अन्दर तादृश रूप से चित्रित किया है।

गांधीजी ने स्वयं 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' लिखा है। वहां की जेल के अनुभव लिखे हैं। उनकी आत्मकथा में भी उस समय का इतिहास मिल जाता है। फीनिक्स-आश्रम का बोझ कुछ अंश में उठाने वाले श्री रावजीभाई पटेल ने भी 'गांधीजी की साधना' और 'जीवनना झरणां' नामक दो पुस्तकों में पर्याप्त सामग्री दी है और वह सब बहुत प्रभावोत्पादक है। फिर भी कहना पड़ेगा कि उन सब पुस्तकों में कुछ वातें छूट गई थीं, जो प्रभुदास ने अपने 'जीवन-प्रभात' में दी हैं। हमें यह महसूस हुए बिना नहीं रहता कि कुछ वातें प्रभुदास ही हमें दे सकते थे। प्रभुदास ने इस पुस्तक को लिखकर गांधी-युग के इतिहासकारों व गांधी-जीवन के चरित्र-लेखकों में सदा के लिए स्थान पाया है, क्योंकि इसमें मौलिक, प्रामाणिक और आध्यात्मिक सामग्री कूट-कूट कर भरी हुई है।

गांधीजी के पुरुषार्थ का इतिहास इस पुस्तक में होने के कारण इसका महत्त्व है ही, किन्तु केवल साहित्य के रूप में भी इस पुस्तक ने उत्तम आदर्श पेश किया है।

गांधी-परिवार का आवश्यक इतिहास इसमें सुन्दर तरीके से दिया गया है और इस प्रकार गांधीजी की आत्मकथा में जो न्यूनता रह गई थी वह इसमें पूरी की गई है।

भूगोल की बातें और प्रकृति के साथ घासपात, फल-फूल, पक्षियों और बादलों के साथ—तदाकार होने के आनन्द का जब प्रभुदास वर्णन करने बैठते हैं तब तो उनकी लेखनी की सामर्थ्य सोलहों कला से प्रकट होती है। अपने समवयस्क बालकों से और अपने घर के बड़ों से जो पोषण बाल प्रभुदास को नहीं मिलता था वह उन्होंने प्रकृति के पास से पाया। इसी कारण यह वर्णन-शक्ति इस हद तक उनमें सजीव हो उठी है। प्रकृति-

वर्णन करने में प्रभुदास को जो सफलता प्राप्त है वही सफलता मनोविश्लेषण करने में भी उनको प्राप्त है। अपने बुजुर्गों के लिए अदव रखने के लिहाज से बंधे रहने के कारण अपनी विश्लेषण-शक्ति को उन्होंने स्वयं अपने ऊपर ही आजमाया है। लेकिन भविष्य में जब वह कोई उपन्यास या इतिहास लिखने बैठेंगे तब उनके द्वारा हमें मानवचित्त की सविशेष गहनता का पर्याप्त परिचय मिलेगा। इस पुस्तक में भी स्वभाव-चित्रण कम नहीं हैं, और जो हैं काफी प्रभावपूर्ण हैं।

आज के युग के पाठक इस पुस्तक को गांधीजी के जीवन के एक पहलू के चित्रण के रूप में ही पढ़ेंगे। किन्तु वास्तव में 'जीवन-प्रभात' प्रभुदास के बचपन की आत्मकथा या अपने वय के चौथे वर्ष से लेकर बारहवें वर्ष तक की स्मरण-यात्रा है। इसमें बालमानस के विकास का और उसमें पैदा होने वाली विकृति का पारदर्शक चित्र है। शिक्षा का कार्य करने वाली और बहुत से माता-पिताओं की दृष्टि खोल देने वाली सामग्री इसमें है। अपने दोषों पर प्रभुदास ने कहीं भी पर्दा नहीं डाला है, बल्कि ठीक वैसे ही अपने प्रत्येक दोष का ब्यौरा दिया है, जैसे कि चित्रगुप्त के सामने उपस्थित हों। कहीं भी उन्होंने अपने ऊपर रहम नहीं किया है। इसी वजह से उन्होंने दूसरों के बारे में लिखने का अधिकार पा लिया है। इसमें भी, जो लोग अंदरूनी इतिहास के पूरे जानकार हैं वे अवश्य कहेंगे कि प्रभुदास ने इसके लिखने में कलामय संयम ही साधा है।

गांधीजी द्वारा लिखे गए 'सत्याग्रह-आश्रम का इतिहास' को पढ़ने के बाद ही फीनिक्स-आश्रम के इस इतिहास को पढ़ने पर जो विचार मन में उठा है उसे यहां मैं प्रस्तुत कर देता हूं।

आश्रम के इतिहास की प्रस्तावना में जिस फीनिक्स अथवा 'अग्निसंभव' आश्रम का इतिहास मैंने मांगा था वही यहां पर बालसुलभ ढंग से प्राप्त हो जाता है। फीनिक्स-आश्रम का यह इतिहास पढ़ने से सत्याग्रह-आश्रम-संबंधी बापूजी की जीवन-दृष्टि और कार्य-पद्धति अधिक स्पष्ट हो जाती है।

सत्याग्रही वीर जेल में जाकर हार न मानें, इस हेतु से फीनिक्स में गांधीजी ने श्रम-सहिष्णुता, स्वादजय और कठोर जीवन की शिक्षा अपनाई। इस दृष्टि से फीनिक्स-आश्रम को जेल-आश्रम कहना चाहिए। यह विचार मन में आने के साथ-साथ यूरोप के इतिहास में पढ़ी हुई एक बात याद आती है कि यूरोप के जेल-जीवन का कार्यक्रम ईसाई तपस्वियों के मठ-जीवन की बेहूदा नकल थी। जेल में मजबूरी से पुण्य कराया जाता था, जबरदस्ती संयम रखवाया जाता था और बलपूर्वक प्रायश्चित्त कराया जाता था।

जेल-जीवन की आवश्यकता समझ कर गांधीजी ने अस्वाद-व्रत का

महत्व बढ़ा दिया होगा; जैनों की तप के लिए आग्रह-भरी चुस्ती को देख कर भी बापूजी अस्वाद-व्रत की ओर झुके होंगे; ब्रह्मचर्य के पालन में स्वादजय को अपरिहार्य समझ कर उन्होंने उन प्रयोगों को बढ़ावा दिया होगा—'जितं सर्वं जिते रसे'—किन्तु ये सारे प्रयोग उन्होंने अपनी निजी कल्पना के अनुसार ही किये थे और इन प्रयोगों से अनेकविध अनुभव प्राप्त करने के बाद उन्होंने अपने विचारों में आवश्यक परिवर्तन भी किया था। एक बार बापूजी ने बताया था, "केवल स्वादजय पर्याप्त नहीं है। जिन्होंने नमक का, मीठी-मीठी चीजों का और तरह-तरह के नमकीन पदार्थों का सदा के लिए संतोष के साथ त्याग कर दिया है, ऐसे लोगों को भी मैंने भूख से अधिक आहार करने के लिए व्याकुल देखा है। केवल नियमों के पालन से अस्वाद-व्रत या आहार-संयम सधता नहीं है।"

एक इन्द्रिय यदि ढीली पड़ जाती है तो दूसरी सब इन्द्रियां भी हलके-हलके ढीली हो ही जाती हैं, यह सच बात है; किन्तु एक इन्द्रिय को वश में कर लेने से दूसरी सब इन्द्रियां भी वश में आ ही जाती हैं, ऐसा अनुभव नहीं है। सबसे पहले और सबसे अन्त में जिसको वश में लाना चाहिए वह है अपना चित्त। ऐसा न करके एक या अनेक इन्द्रियों का दमन करने पर चित्त का वेग अन्यत्र फूट पड़ता है।

आश्रम-जीवन का प्रधान तत्व है मृत्यु के साथ मैत्री। मनुष्य-जाति मृत्यु की कल्पना से इतनी अधिक भयभीत रहती है कि उसने निर्भय होकर मृत्यु का मुख देखा ही नहीं। मनुष्य के विकास के लिए मृत्यु आवश्यक है। मृत्यु हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। मृत्यु परम मित्र है, नये-नये प्रयोगों के लिए जीवन को ताजगी देने वाला वह एक आरामगाह है। मृत्यु, थके हुए जीवन की केंचुली उतार देने की एक क्रिया-मात्र है—यह बात जो समझ लेता है वही जीवन का रहस्य समझ पाता है व जीवन की कम-जोरियों पर विजय पा सकता है। वही अपने कर्तव्य-पालन में दृढ़ रह सकता है और सत्य का दर्शन कर सकता है। दुःख, रोग और मृत्यु तीनों पर विजय पाने के बाद ही हम मनुष्य-जाति की सेवा कर सकते हैं और अपने निज के जीवन को कृतार्थ बना सकते हैं। इस निश्चय से गांधीजी ने जीवन की जिस साधना का आरम्भ किया उसका इतिहास भविष्य में अनेक ढंग से लिखा जायगा और उनकी वह परम्परा मनुष्य-जाति को आगे चल कर अनेक प्रकार से विकसित करेगी।

इस पुस्तक में हमें केवल साहित्य-रस या जीवन-रस ही नहीं चखना है, इससे प्रयोग-रस भी चूसना है।

—काका कालेलकर

विषय-सूची

मैरित्सवर्ग-जेल से रिहाई के बाद स्टेशन पर गांधीजी का स्वागत

जीवन-प्रभात

: १ :

सौराष्ट्र का भौगोलिक चित्र

यदि सौराष्ट्र की आकृति पर दृष्टिपात किया जाय तो सौराष्ट्र का स्वरूप कुछ-कुछ ऐसा मनोरम दीख पड़ेगा, जैसा कि समुद्र के क्षितिज पर सुशोभित अपूर्ण चन्द्र का दृश्य दीखता है। एक सिरे पर सौराष्ट्र भारतमाता से लगा हुआ है और दूसरे सिरे पर वह पश्चिम सागर की गोदी में जा बैठा है। यदि कल्पना की दृष्टि से देखा जाय तो समग्र सौराष्ट्र की आकृति शुक्ला एकादशी या कृष्णा चतुर्थी-पंचमी के अधूरे चन्द्र के समान दिखाई देती है। यदि भारत देश को हम माता की मूर्त्ति मानते हैं, कच्छ को बड़ा-सा तुंबा बताते हैं, तो सौराष्ट्र को एकादशी का चन्द्र कह सकते हैं। सौराष्ट्र के प्रायद्वीप ने पूर्व में खंभात के पास मातारूपी भूमि को पकड़ रखा है और पश्चिम में द्वारका के पास वह सागर रूपी पिता के वक्षस्थल पर खेल रहा है। उधर, दक्षिण की ओर सौराष्ट्र की भूमि ने अपना सारा किनारा, जो कि प्रायः एक हजार मील है, समुद्र को समर्पित कर दिया है और सौराष्ट्र का उत्तरी हिस्सा कच्छ के रण द्वारा भूमि के साथ आंख-मिचौनी कर रहा है। सौराष्ट्र का पश्चिम, दक्षिण और पूर्व दिशा में समुद्र का सुडौल घुमाव है। इस प्रकार तीन ओर से नील सिन्धु का जल सौराष्ट्र की भूमि का पाद-प्रक्षालन करता है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती का जन्म-स्थल टंकारा ग्राम जहां पर है, वह मोरबी का राज्य उत्तर-भारत में काफी प्रसिद्ध है। सौराष्ट्र के विलय के पहले अंग्रेजों की व्यवस्था के अनुसार मोरबी राज्य प्रथम श्रेणी का राज्य माना जाता था और वहां के राजाओं ने अपने मोरबी नगर के पास नवलखी-बन्दर का यथाशक्ति विकास किया था। उत्तरी भारत के साथ स्थल मार्ग से व्यापार करने के लिए यह नवलखी-बन्दर दूसरे बन्दरों से अधिक पास पड़ता है। ऊंटों के कारवां पर राजपूताना में वहां से

सामान का यातायात सुगम होता है। इस नवलखी-वन्दरगाह की भौगोलिक महत्ता का पता इस बात से चलता है कि इसी के ठीक सामने, आठ-दस मील चौड़ी कच्छ की खाड़ी के उस पार, कच्छ-राज्य की सीमा में, भारत सरकार ने अब करोड़ों रुपये खर्च करके विशाल पैमाने पर कांदला बन्दर का निर्माण किया है और उसका नाम गांधीनगर रखा है। आशा है कि निकट भविष्य में ही वह स्थल स्वतन्त्र भारत की राजधानी दिल्ली के लिए निकटतम समुद्र-द्वार सावित होगा और भारत के सबसे अधिक बल-शाली तथा व्यापारिक बन्दरगाह के रूप में विश्वविख्यात हो जायगा।

यदि एक जहाज में बैठकर हम नवलखी-बन्दर से सौराष्ट्र के समुद्री किनारे की परिक्रमा आरम्भ करें तो वहां से पूर्व में कुछ दूर जाने पर जाम-नगर राज्य का वेड़ी-वन्दर आ जाता है।

नवलखी-वन्दर और वेड़ी-वन्दर, दोनों ही कुछ बन्द समुद्र में हैं। इनके बाद कच्छ की खाड़ी से बाहर निकलने पर खुले महासागर में सर्व-प्रथम वन्दर द्वारका के पास का ओखा-वन्दर है। भारत की पश्चिमी सीमा की विदेशियों से रक्षा करने के लिए दीर्घदर्शी और कूटनीतिज्ञ श्री-कृष्ण भगवान ने प्रायः इसी स्थल को प्रहरी के रूप में चुना था। सौराष्ट्र की परिक्रमा करने के लिए जो जहाज पूर्व से पश्चिम की ओर जाता है उसे अब एकदम दक्षिण में मुड़ना होता है, तब जाकर वह परम-तीर्थ द्वारका पहुंचता है। द्वारका से आगे, कुछ आग्नेय दिशा में मुड़ता हुआ प्रायः पच्चीस-तीस मील पर जहाज मियाणी-वन्दर पहुंचता है, जहां से पुराने पोरवन्दर राज्य की सीमा शुरू होती है। मियाणी से फिर करीब पच्चीस मील आगे चलने पर पोरबन्दर आता है, जो प्राचीन काल से सुदामापुरी के नाम से सुविख्यात रहा है और अब सुदीर्घ भविष्य तक उसी प्रकार गांधी-तीर्थ माना जायगा, जिस प्रकार टंकारा महर्षि दयानन्द-तीर्थ माना जाता है। इसके बाद, सौराष्ट्र की परिक्रमा के लिए, जहाज आग्नेय दिशा में ही बढ़ता जाता है और नवीवन्दर, माधवपुर, मांगरोल, वेरावल, सोमनाथ, पाटण और ड्यू में पहुंचता है।

ड्यू से सौराष्ट्र का किनारा छोड़कर यदि जहाज को सीधा पूर्व में चलाया जाय तो वह सामने के किनारे पर गुजरात के प्रसिद्ध नगर सूरत में पहुंचेगा और आग्नेय दिशा में कुछ मंजिल तय करने पर, सोपारा बन्दर या बंबई-बन्दर पहुंच जायगा। लेकिन सौराष्ट्र की परिक्रमा पूरी करने के लिए ड्यू से ईशान दिशा में मुड़ना होता है। उस दिशा में जाफरा-बाद और महुआ बड़े बन्दर हैं। फिर सीधे उत्तर में चलने पर घोघा

बन्दर और बाद में सौराष्ट्र का वर्तमान प्रख्यात व्यापारी शहर भावनगर आता है। अन्त में जहां गुजरात और सौराष्ट्र के बीच की खाड़ी पूरी होती है, वहां भावनगर से बिलकुल उत्तर में जहाज खंभात शहर पहुंच जाता है। यहां पर सौराष्ट्र का समुद्र-तट समाप्त हो जाता है और सौराष्ट्र भारत के भूखंड के साथ एकाकार हो जाता है।

सौराष्ट्र के अनेकानेक बन्दरगाहों में वेरावल, पोरबन्दर और द्वारका भारत में अधिक प्रसिद्ध हैं। द्वारका भारत के चार धामों में से एक है और वेरावल-बन्दर पर सोमनाथ महादेव का तीर्थ हमारे देश के नये-पुराने युगों के उतार-चढ़ाव की साक्षी दे रहा है। एक के बाद एक कई बार इस ज्योतिर्लिंग की प्राण-प्रतिष्ठा की गई और १९५१ में हमारे राष्ट्रपति राजेंद्रबाबू के हाथों फिर से वही अनुष्ठान दुहराया गया। जिस प्रकार दिल्ली बार-बार बनी, बार-बार बिगड़ी और आज फिर समूचे भारत का केंद्र बनी हुई है, उसी प्रकार सोमनाथ का ज्योतिर्धाम सौराष्ट्र या गुजरात के लिए ही नहीं, संपूर्ण भारतवर्ष के लिए महान धार्मिक केंद्र बन गया है। दिल्ली के आसपास के टीलों पर जिस प्रकार गतयुग की दिल्ली के भग्नावशेष पुरानी स्मृतियों को जागृत करते हैं, उसी प्रकार वेरावल के समुद्रतट पर टूटे हुए विशाल मन्दिरों के भग्नावशेष पुरानी कला, पुरानी समृद्धि, पुराने संगठन आदि का परिचय दे रहे हैं।

सोमनाथ का नया मन्दिर छोटा है, परन्तु उसके निकट समुद्र की तरंगें न जाने कितने युगों से अपना धार्मिक रहस्य और सनातन संदेश सुनाती आ रही हैं!

व्यापारिक दृष्टि से यह सौराष्ट्र का सौभाग्य है कि उसे एक-से-एक टक्कर लेनेवाले सुन्दर बन्दरगाह मिले हैं। आधुनिक युग में उनसे कुछ बन्दरगाहों में सामुद्रिक व्यापार की अच्छी उन्नति हुई है और वहां पर छोटे-छोटे जहाजों का आवागमन रहता है, परन्तु पोरबन्दर सौराष्ट्र का ऐसा बन्दरगाह है जहां बड़े-बड़े महासागरों को पार करने वाले विशाल स्टीमर भी लंगर डाल सकते हैं। महासागर में चलने वाले देहाती जहाजों के लिए पोरबन्दर में ऐसी सुविधा है कि वहां की चौड़ी सुन्दर खाड़ी में एक हजार तक देशी ढंग की बड़ी-बड़ी नावें आश्रय पा सकती हैं और समुद्र के प्रलयंकारी तूफान के समय निश्चिन्त भाव से आत्मरक्षा कर सकती हैं।

जिस प्रकार किसानों को हम धरती-माता के पुत्र कहते हैं, उसी प्रकार इन शूर और साहसी नाविकों को समुद्र-संतान कह सकते हैं। पोरबन्दर

के समुद्र-किनारे पर इन समुद्र-संतानों में वड़ी स्फूर्ति नजर आती है। ये बहुत उद्योगी, बलवान, विनोदी और चतुर प्रतीत होते हैं। जब उन समुद्र-संतानों के कुमार और कुमारिकाएं, युवक और युवतियां, हिलमिल कर काम पर जुटते हैं, तब सारा वातावरण प्रसन्नता से भर जाता है। समुद्र जब शान्त तथा सौम्य होता है तब ये लोग उसका भरपूर आनन्द लूटते हैं और जब समुद्र क्रुद्ध होकर अपने रौद्र स्वरूप को प्रकट करता है तब भी वे अपने काम को पूरी निर्भीकता और स्थिरचित्त से करते रहते हैं।

बन्दरगाह की इस चहल-पहल से निकलकर पूर्व की ओर कुछ दूर पर मुक्त समुद्र का सुन्दर पाट आता है।

बापूजी के जन्म से कई शताब्दी पहले से पोरबन्दर ने सातों समुद्रों के जहाजों को देखा है। फिरंगी लोग जब इस ओर आये उससे भी पहले यहां का व्यापार ईरान, अरबस्तान और अफ्रीका के साथ चलता रहा है। हिन्द महासागर को चीरकर यहां की नौकाएं पूर्वी अफ्रीका में जंजीबार और मोम्बासा तक दौड़ लगाती रही हैं। अनुभवी लोगों ने बहुत सोच-समझकर इस स्थल पर यह नगर बसाया है। नगर से सटकर कुछ मूल-कोण के आकार में समुद्र जमीन में धंस गया है और एक छोटा-सा उपसागर बन गया है। समुद्र-किनारे की इस आकृति का यश उस खाड़ी को है, जो जमीन के अन्दर धनुषाकार होती हुई डेढ़-दो मील तक चली गई है। चौमासे में जब पानी अधिक भर जाता है तब यह खाड़ी इतनी अधिक फैलती है कि सौराष्ट्र की भादर नदी तक पहुंच जाती है और काफी भीतरी प्रदेश तक किश्तियां जा सकती हैं।

पोरबन्दर की खाड़ी में नावों पर सामान लादने-उतारने के लिए जो अड्डा बनाया गया है, वह लंबा-चौड़ा है। इस चबूतरे पर इन दिनों अनाज की बोरियां, रुई की गांठें, घास की गठरियां, पिंड-खजूर के गट्ठे, बारडा डुंगर के सफेद पत्थर की बड़ी-बड़ी शिलाएं, भैंस के घी के कनस्तर, नारियल, नारियल की रस्सी-रस्से के गट्ठर, और किराने आदि सामान के ढेर लगे रहते हैं तथा नाविक लोग उस माल को नाव में चढ़ाने-उतारने में व्यस्त रहते हैं।

खाड़ी के मुहाने के पास, खुले महासागर के सामने, ऊंचा और सुन्दर दीपस्तम्भ है, जो अंधेरी रात्रि में बीच समुद्र में जानेवाले जहाजों का मार्ग-दर्शन करता है। किनारे से बीस मील की दूरी पर बीच समुद्र में चलनेवाली नावों को भी इस दीपस्तम्भ का सहारा मिलता है।

इधर समुद्र के इस लघु उपसागर के सहारे पोरबन्दर नगर बसा हुआ है। सफेद पोरबन्दरी पत्थर के पक्के दो-तीन मंजिल ऊंचे मकान, ढाई सौ वर्ष से भी अधिक समय से ज्यों-के-त्यों यहां पर खड़े हैं। पहले यह नगर परकोटे के अन्दर समाया हुआ था, अब परकोटा नहीं है; लेकिन पुराने शहर की टेढ़ी-मेढ़ी और संकीर्ण गलियां बनी हुई हैं। मूल शहर के बाहर तिगुने विस्तार में आधुनिक ढंग का शहर फैला हुआ है। यहां के व्यापारी बम्बई और सुदूर अफ्रीका तक भी पैसा कमाने के लिए जाते हैं। उनमें से कुछ लोगों ने यहां बड़े-बड़े बंगले और कोठियां बनाई हैं। आधुनिक ढंग के मकानों की कतारों के बीच चौड़ी सड़कें बनी हुई हैं और उनमें से एक सड़क का नाम युगान्डा रोड रखा गया है। इसके अतिरिक्त इस नगर में सीमेंट की बड़ी मिल, दियासलाई बनाने का कारखाना, तेल की मिल, नकली रेशम बुनने की मिल, आदि अनेक कारखाने हैं। चूने के पत्थरों का भी दूर-दूर तक व्यापार होता है। नगर के मध्य में जो अच्छे-अच्छे मन्दिर हैं, उनमें सुदामाजी का मन्दिर सुप्रसिद्ध है। वह कलापूर्ण और सुन्दर बना हुआ है। छोटी-मोटी फुलवाड़ियां भी जगह-जगह लगी हुई हैं जिनमें नारियल, बादाम, चीकू, सुपारी जैसे फल-वृक्ष हैं। कुल मिलाकर यह नगर प्राचीन और अर्वाचीन ढंग का अच्छा मिश्रण है। एक ओर यहां मन्दिरों की भरमार है तो दूसरी ओर आर्यकन्या गुरुकुल, संस्कृत पाठशाला और अनेक स्कूल, हाई स्कूल व विद्यालय चल रहे हैं। चित्रकला में पोरबन्दर की ख्याति विशेष ह। भारत के अच्छे-अच्छे चित्रकार यहां पैदा हुए हैं।

इस प्रकार के विकसित प्रदेश में महात्मा गांधी ने जन्म लिया।

: २ :

संस्कार-भूमि

मनुष्य के सारे सामाजिक और व्यक्तिगत संस्कार उस जलवायु और भौगोलिक परिस्थित के अनुरूप बनते हैं, जिसमें उसका जीवन व्यतीत होता है। जाने या अनजाने हरएक व्यक्ति अपने चारों ओर के वातावरण से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। जिसमें जितना हृदय-बल,

मनोबल और इच्छाशक्ति होती है, उसी मात्रा में उसका व्यक्तित्व कम या अधिक विकसित होता है; पर उसके विकास की सामग्री उसके चारों ओर सदैव बनी रहती है।

गांधीजी का जो अद्वितीय और अपूर्व व्यक्तित्व चमक उठा, उसकी नींव में किस प्रकार की सामाजिक भूमिका थी, इसका सही पता लगाना सहज कार्य नहीं है। लेकिन जिस जगह पर गांधीजी ने जन्म धारण किया, उस स्थल का भौगोलिक वातावरण अपनी कहानी चिरकाल तक कहता रहेगा।

यद्यपि हमारे परिवार के प्रथम महापुरुष श्री उत्तमचन्द गांधी का मकान पोरबंदर में है, तथापि पता चलता है कि हमारे पूर्वजों का निवास कुतियाणा नामक कस्बे में था।

सौराष्ट्र की सबसे बड़ी नदी भादर कुतियाणा की सीमा पर बहती है। उसका पाट चौड़ा है और पानी थोड़ा होते हुए भी इतना स्वच्छ है कि उसके तले बिछे हुए छोटे-छोटे गोल पत्थरों का रंग साफ दिखाई देता है।

कुतियाणा से दक्षिण में, सौराष्ट्र की अन्तिम सीमा पर, अपने गंभीर घोष से आकाश को भर देनेवाला नील सिंधु का जल संतप्त मातृभूमि को अहर्निश शीतल करता रहता है। पश्चिम में ओखा और द्वारका से लेकर पूर्व में घोघाबन्दर और भावनगर तक फैले हुए इस महासागर का दक्षिण दिशा में सामने की ओर हजारों मील तक कहीं किनारा नहीं दिखाई पड़ता। यह महासागर सीधा दक्षिण ध्रुव के प्रदेश तक चला गया है।

सागर के किनारे पूर्व से पश्चिम तक बालू का जो विशाल पट बिछा हुआ है वह मानव-चित्त पर अपना अनोखा ही प्रभाव डालता है। उस पट में विचरने पर न तो समुद्र ही दीखता है और न हरी भूमि के दर्शन होते हैं। पर जैसे ही सूर्य थोड़ा-सा ऊंचा चढ़ता है वैसे ही वहां मृगजल के विशाल सरोवर लहराते हुए दीख पड़ते हैं। इतना ही नहीं, उन सरोवरों में ऊंची-ऊंची वृक्षराशि की परछांही भी स्पष्ट प्रतीत होती है।

भादर के दोनों किनारों पर लहराते हुए शस्य-श्यामल खेत चित्त को संतोष से भर देते हैं। दिन में सूर्य के प्रखर ताप से तपते रहने वाले कठोर व्रती छोटे-छोटे गिरिशृंग मन को तपस्या की ओर आकर्षित करते हैं। बरडा पहाड़ी की सुहावनी घाटियों में अपनी दुधारु गाय-भैंसों को चराते हुए अहीर, चारण आदि के आलाप वेदकालीन ऋचाओं का स्मरण दिलाते हैं, महासागर का गहन-गंभीर स्वरूप हृदय को बल प्रदान

करता है और उसकी तरंग-माला का अखंड नृत्य चित्त को ऊर्मिमय बना देता है। सामुद्रिक व्यापार देश-विदेश के साहसिकों को आपस के संपर्क में लाता है और एक-दूसरे की विद्या, कला और सूझ-बूझ का आदान-प्रदान होता रहता है। रेगिस्तान जैसी मृगमरीचिका का अनुभव जीवन के प्रति सावधान रहने की सूचना करता है।

लेकिन पोरबन्दर के आसपास का छोटा-सा प्रदेश अपने में चाहे कितना ही भरा-पूरा प्रतीत क्यों न हो, फिर भी यह भूलना न होगा कि हमारे विशाल भारत देश का यह एक अंश-मात्र है। भारत के चार प्रसिद्ध धामों में से पश्चिमी धाम द्वारका का यह प्रदेश है। उस समय द्वारका के लिए राजकोट-जामनगर के रास्ते रेल नहीं बनी थी; अधिकतर यात्री पोरबन्दर के रास्ते द्वारका जाते थे। पैदल और नाव से यह यात्रा की जाती थी। पैदल मार्ग अधिक चलता था।

पोरबन्दर की भाषा शुद्ध गुजराती है। लेकिन व्यापारियों में हिन्दू और मुसलमान ऐसे भी हैं, जो अपने घर में कच्छी बोली बोलते हैं। हिन्दी-भाषी प्रदेश की तरह, गुजराती भाषा के प्रदेशों में भी जिले-जिले की बोली अलग है। यह अन्तर गद्य और पद्य दोनों में ही प्रकट होता रहा है। गुजरात की तरह सौराष्ट्र की बोली में भी इतना अन्तर है कि एक जिले वाले दूसरे जिले वालों को बोली से पहचान सकते हैं। कुछ क्षत्रिय और समुद्र के किनारे बसने वाली नाविक जातियों की अपनी अलग बोली है, जिसमें देशज शब्दों का बाहुल्य है। पढ़े-लिखे नगरवासी की समझ में यह बोली आसानी से नहीं आती। गांधीयुग से पहले साहित्य-कार और कवियों के बीच गुजराती तथा सौराष्ट्री की परिधियां अलग-अलग थीं और वे अपने-अपने ढंग से अलग-अलग मुहावरों, क्रियापदों और वाक्छटा का विकास करने का आग्रह रखते थे। जब सौराष्ट्र और गुजरात दोनों के मध्य में पड़ने वाले अहमदाबाद नगर में गांधीजी ने अपने प्रसिद्ध साप्ताहिक 'नवजीवन' का आरम्भ किया और गुजरात विद्यापीठ की स्थापना की, तब गुजराती और सौराष्ट्री साहित्यकारों ने कंधे-से-कंधा मिलाकर गुजराती भाषा का विकास करने के लिए कठिन परिश्रम किया। सौराष्ट्र-गुजराती का भेद-भाव लुप्तप्राय हो गया और दोनों ही के सम्मिश्रण से आजकल की गुजराती का ओज बढ़ गया। एक-दूसरे का सहयोग साधकर अखंड भारत को शक्तिशाली बनाने के लिए भारत-भर के भिन्न-भिन्न प्रांतों पर गांधीजी ने अपना जो प्रभाव डाला उसी प्रभाव ने गुजरात और सौराष्ट्र को भी विशेष रूप से ओत-प्रोत व सूत्रबद्ध कर

दिया। साहित्यिक दृष्टि से कहना होगा कि संस्कृत से प्रकृत और प्राकृत से अपभ्रंश होकर व्रज तथा राजस्थानी की तरह गुर्जरी गिरा का जो विकास हुआ वह गुजरात और सौराष्ट्र में प्रारम्भ से एक-सा ही रहा। तीन-चार-सौ वर्ष पहले की प्रचीन गुजराती और आजकल की गुजराती में प्रायः ऐसा ही भेद है जैसा व्रज भाषा और अर्वाचीन हिन्दी में।

पुराने जमाने में गुजराती कवि भी अपनी रचना व्रजभाषा में ही करने में गौरव मानते थे। प्रायः डेढ़-सौ वर्ष पहले समर्थ साहित्यकार भट प्रेमानन्द ने गुजराती में पद्य-साहित्य की रचना करने का बीड़ा उठाया, तब से लेकर अबतक गुजरात-सौराष्ट्र में अर्वाचीन गुजराती साहित्य का सतत विकास होता रहा। अंग्रेजों ने जब अपने ढंग से स्कूलों और कालेजों का जाल बिछा दिया तब विद्वानों ने गुजराती को अत्यधिक संस्कृतमय बनाने का प्रयास किया। कुछ विद्वानों ने फारसी शब्दों और मुहावरों की गुजराती में काफी भरमार की। लेकिन गांधीजी ने गुजराती को 'विद्वद्भोग्य' न बनाकर 'लोकभोग्य' बनाने का आग्रह रखा और संस्कृत की अति पर अंकुश लगा दिया। साथ-ही-साथ अरबी-फारसी की अति का मोह भी मिट गया।

कृष्ण-बलराम मथुरा से अपने दलबल सहित द्वारका पधारे, तबसे यह प्रदेश भारत के हृदयस्वरूप मध्यदेश के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ गया। महाभारत-युग के बाद भी सौराष्ट्र का संबंध उत्तर में आनर्त, लाट, राजस्थान, मालवा, कन्नौज, मगध और दक्षिण में महाराष्ट्र तथा कर्नाटक के साथ घनिष्ठ रूप से बना रहा। इधर समुद्र-मार्ग से कच्छ और सिंघ का भी इतना घनिष्ठ संबंध रहा कि सौराष्ट्र की बोली और उच्चारण पर भी वहां का काफी प्रभाव पड़ा। बरडा-प्रदेश का संबंध आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक क्षेत्र में सदैव संपूर्ण भारतखंड से जुड़ा हुआ रहा तथा भारत-भर के महापुरुषों, संतों और शूरों ने अपना-अपना प्रभाव यहां पर डाला।

महाभारत की कथाओं से ज्ञात होता है कि द्वारका से लेकर प्रभास-पाटण (सोमनाथ) और रैवर्त्तक पर्वत (गिरनार) तक, अर्थात् पोरबन्दर के केंद्र से मीलों की दूरी तक, यादव-समाज बसा हुआ था। जिस भूमि को यादवों ने इतना अधिक समृद्धशाली बनाया, उसी को उन्होंने अति विशाल और आपसी कलह के कारण ध्वस्त भी कर डाला। कदाचित् इसी अभिशाप के कारण अभी पिछले दिनों तक सौराष्ट्र का यह छोटा-सा अर्धद्वीप प्रायः ढाई सौ रियासतों में छिन्न-विछिन्न रहा।

यादवों ने जिस प्रकार सूने प्रदेश को आबाद किया उसी प्रकार सुदामा सरीखे विद्वान, त्यागी और तपस्वी ऋषियों ने और संतों ने यहां पर ऊंचे चारित्र्य और संतोषमय जीवन की नींव जमाई। अति प्राचीन काल की बात छोड़कर निकट के भूतकाल को देखने पर भी ज्ञात होता है कि संतों का आशीर्वाद यहां के समाज को बराबर मिलता रहा है। जूनागढ़ के निवासी परमभक्त नरसिंह मेहता ने हरिजनों के आंगनों में भी भजन गाकर जनता को 'वैष्णव जन' की महिमा समझाई। उनके पद सैकड़ों वर्षों से अनपढ़ लोग भी सौराष्ट्र के गांव-गांव और झोपड़ी-झोपड़ी में नित्य ब्राह्म मुहूर्त्त में गाते रहे हैं। नरसिंह मेहता ने गुजरात के आदि-कवि का विरुद पाया है। उधर द्वारका से मीराबाई के प्रेम-भक्ति के गीतों की ध्वनि सारे वातावरण में गूंज उठी, जो अभी तक लोकहृदय को भावना से विभोर करती रहती है।

सोमनाथ के ज्योतिर्लिंग के उपासक ब्राह्मणों की संस्कारिता ने यहां की जनता को प्रभावित किया। अशोक के प्रतिनिधि और राष्ट्रकूटों के वंश का राज्य जब सौराष्ट्र में स्थापित हुआ तब बौद्ध भिक्षुओं ने करुणा-मय और संयममय जीवन बिताने का संदेश यहां पहुंचाया। बाद में जैन दर्शन के उपासक अर्हतों, श्रमणों और श्रावकों ने पग-पग पर अहिंसा और जीव-दया का पाठ यहां के लोगों की नस-नस में भर देने का सतत और संगठित प्रयत्न चालू रखा। साथ ही उनकी प्रेरणा से धनीमानी श्रेष्ठियों (सेठों) ने आबू, गिरनार और शेत्रुंजा के पर्वत शिखरों पर भव्य और कलामय मन्दिरों का निर्माण किया। साधारण नागरिकों के हृदय में जैनधर्म के प्रसारकों ने दान और त्याग और जितना बन पड़े उतना कठोर जीवन बिताने की महिमा बढ़ाई। दूसरी ओर, केरल प्रांत से आकर श्रीवल्लभाचार्य ने वैष्णव सम्प्रदाय के मन्दिरों की, और अयोध्या की ओर से आकर स्वामी सहजानन्द ने स्वामीनारायण संप्रदाय के मन्दिरों की गांव-गांव में स्थापना की। इन दोनों वैष्णवाचार्यों ने श्रमजीवी तथा वेदाध्ययन के लिए अनधिकारी माने जानेवाले शूद्रों, वैष्णवों और स्त्रियों को भी राम-कृष्ण की भक्ति, सत्संग और सदाचार की ओर प्रवृत्त करने के लिए कठोर परिश्रम किया। इन संतों ने तपोमय जीवन की सुगंध फैलाने के साथ-साथ लौकिक भाषा और लौकिक छंदों में, सुन्दर, सुमधुर और ज्ञान-वैराग्यपूर्ण गीतों का ऐसा प्रवाह बहाया कि अनपढ़ स्त्री-पुरुषों के कंठ में भी उन पद्यों ने स्थान पा लिया और ऊंचे तत्त्वज्ञान एवं साधना-मय जीवन का आदर्श लोगों के मस्तिष्क में घर कर गया।

अन्य अनेक कवियों, साहित्यकारों, विद्वानों और ऋषि दयानन्द जैसे विचार-प्रवर्तकों ने इस प्रदेश के समाज की बुद्धि को जगाने और सामाजिक जीवन को सुसंस्कारी और उन्नतिशील बनाने की परम्परा चालू रखी।

इसके अतिरिक्त मुसलमानों ने अपने पैगम्बर, खलीफा और सूफियों के धार्मिक विचार और सद्व्यवहार का संदेश यहां के लोगों तक पहुंचाया। पारसियों की सुजनता का भी यहां के समाज पर अच्छा प्रभाव पड़ा और फिरंगी (पुर्तगाली) तथा अंग्रेज जातियों के संसर्ग से भी यहां के समाज में चेतना आई।

फिर यहां सैकड़ों वर्षों तक छोटे-छोटे राज्यों और रजवाड़ों का एक अनोखा संग्रहालय-सा बना रहा, इसलिए गहरी कूटनीतिज्ञता और उत्तम शूर-वीरता की परम्परा भी यहां के समाज में पनपती रही।

: ३ :

जहां गांधीजी ने जन्म लिया

पृथ्वी के नक्शे में सुदामापुरी, अर्थात् पोरबन्दर की स्थिति भूमध्यरेखा के उत्तर में २१–४५ अक्षांश पर और ग्रीनविच से पूर्व में ६९–३२ रेखांश पर है। पश्चिम सागर की दिन-रात गरजती हुई उत्तुंग तरंगें जहां भूमि को अन्तिम बार प्रणाम करके लौट जाती हैं, वहां से कुछ उत्तर में समुद्र-तट का सौ-सवा-सौ गज का पट छोड़कर, एक नीचा बांध बंधा हुआ है। उस बांध के ऊपर एक चौड़ी पक्की सड़क है। इस सड़क के दूसरी ओर शहर के पक्के मकान हैं। इन्हीं मकानों के बीच, समुद्र के किनारे से प्रायः पाव मील की दूरी पर महात्मा गांधी के प्रपितामह श्री हरजीवन गांधी द्वारा खरीदा हुआ मकान बरसों से खड़ा है।

उस मकान की खरीद का दस्तावेज आज भी उपलब्ध है। यद्यपि उसमें कहीं-कहीं जन्तुओं ने सूराख कर दिये हैं, तथापि हाथ के बने कागज पर लिखा गया वह दस्तावेज अब भी सुपाठ्य है और उसकी स्याही तनिक भी फीकी नहीं पड़ी है। लेख गुजराती भाषा में है, परन्तु वह गुजराती आजकल की गुजराती से कुछ भिन्न है। उसमें वाक्यरचना, क्रियापद

आदि आधुनिक गुजराती से मिलते-जुलते हैं, परन्तु कुछ शब्द पुराने जमाने के हैं। लिपि देवनागरी है। उस गुजराती दस्तावेज का हिन्दी-अनुवाद इस प्रकार है :

गांधी हरजीवन रहीदास

ज्येष्ठ सुद पंचम, संवत् १८३३ (अर्थात् ईस्वी सन् १८७७)

"उक्त तिथि पर पोरबन्दर में महाराणा श्रीसरतानजी पंचचक्र के प्रवर्तमान होने के समय यह विक्रय-पत्र लिखा गया है। घर १, जिसमें कमरा १ और ओसारा १ जिसमें १ 'मेडा' (सामान रखने के लिए बनाई गई आधी छत) है तथा जिसकी खपरैल काठीवाण पत्थर और टोले पत्थर की बनी है, उसे मेहता गागजी की श्रीबाई मानबाई ने पूर्ण रूप से बेचा है और उस घर को गांधी हरजीवन रहीदास ने पूर्ण रूप से खरीदकर मोल लिया है। उस घर को करावकोरी[1] ५०० अक्षर में पांच सौ देकर पूरी तरह खरीदकर मोल लिया गया है। इस घर की दिशाओं की तफसील लिखी जाती है कि पूर्व दिशा में पिछवाड़ा है, उसके पीछे, एक अहाता है, अहाते में दरवाजा है। वह अहाता इस मकान का है, उसके पीछे गढ़ है। दक्षिण दिशा में जो दीवार है, वहां श्रीजी का घर है और वह दीवार मजमू (साझे की) है। पश्चिम में दरवाजा है और दरवाजे के आगे एक फाटक है, जिसका सामना दक्षिण में पड़ता है। उस फाटक के अन्दर एक पीपल का पेड़ है। उसके उत्तर में एक दूसरी दीवार है, जिससे मिला हुआ गांधी करसनदास रहीदास का मकान है। ऐसा मकान मोढ़ ब्राह्मण गागजी कला की घर वाली श्रीबाई मानबाई ने पूरा-पूरा बेचा है और गांधी हरजीवन रहीदास ने खरीदकर मोल लिया है, उसे पुत्र-पौत्रादिक भोगते रहें।"

इसके नीचे बिक्री करने वाली मानबाई के दस्तखत बड़े स्पष्ट अक्षरों में हैं, परन्तु राणा साहब ने केवल स्वस्तिक चिह्न बना दिया है, क्योंकि वह लिखना-पढ़ना नहीं जानते थे। स्वस्तिक के अलावा उनके नाम की मोहर लगी हुई है। दस्तावेज पर गवाह के रूप में दूसरे सात व्यक्तियों के दस्तखत हैं, जिनके नामों से पता चलता है कि भिन्न-भिन्न पूर्ण वर्ण के नागरिकों से उन दिनों गवाही ली जाती थी। गवाहों के नाम ये हैं—

---

१. सौराष्ट्र में पुराने जमाने में रुपये के स्थान पर कोरी चलती थी, जो चांदी की होती थी और रुपये की चार मानी जाती थी।

१. अध्वर्यु रामजी भीमजी; २. परीख काशीदासजी; ३. ठक्कर त्रिकमजी नानजी; ४. शेशकरण हीरजी; ५. कड़वा धरमदास; ६. ओधवजी नानजी; ७. गागजी भीमजी।

गांधीजी के इस पुश्तैनी मकान के चारों ओर पोरबन्दर के पुराने शहर की घनी बस्ती फैली है। पुराने बाजार भी इसी जगह पर केन्द्रित हैं। नगर के चारों ओर आजकल कहीं परकोटा नजर नहीं आता, पर पुराने समय में था। खुला समुद्र जहां खाड़ी में प्रवेश करता है, वहां पर एक घाट बना है, जिसे अस्मावती घाट कहते हैं। घाट से आगे चलने पर माल को चढ़ाने-उतारने के लिए जो पुश्ता बना है उसे मांडवी कहते हैं। मांडवी से लेकर प्रायः चौथाई मील तक एक संकरी गली में पुराना बाजार लगा हुआ है, जहां पर अंधेरी दुकानों में काफी व्यापार चलता रहता है। जहां पर मांडवी का यह बाजार पूरा होता है, वहां एक छोटा-सा खुला चौक है, जिसे माणिक चौक कहते हैं। इस चौक की चारों दिशाओं में सुंदर दरवाजों से आगे फिर नए-पुराने ढंग के बाजार लगे हुए हैं। मांडवी बाजार से जो रास्ता माणिक चौक में आता है, उसके बाईं ओर के दरवाजे में प्रवेश करने पर बाएं हाथ पर पहला मकान श्रीनाथजी की हवेली है और उस हवेली के पीछे हमारा उपर्युक्त पुराना मकान है, जिसका मुहाना अब आगे बढ़ाकर 'कीर्ति-मन्दिर' बनाया गया है और जिसका प्रवेशद्वार श्रीनाथजी की हवेली की सीध में मिला दिया गया है।

सन् १९४७ में पूज्य बापूजी की उपस्थिति में ही उनकी स्वीकृति पाकर पोरबन्दर के बड़े व्यापारी श्री नानजी सेठ और महाराणा ने मिल कर इस पुराने मकान के बाहर और अन्दर बहुत रद्दोबदल कर दी। विश्वयात्री जब यह स्थल देखने आते थे तब उन्हें बहुत छोटे-से खांचे में से गुजरकर एक दालान में जाना पड़ता था, जहां हवा-प्रकाश की इतनी कमी थी कि भरी दोपहरी में भी बापूजी के जन्मस्थल वाले कमरे को टार्च की रोशनी के सहारे देखना पड़ता था। दर्शकों के आवागमन की सुविधा के लिए तथा महात्माजी के स्मृति-चिह्न कीर्ति-मन्दिर की स्थापना के लिए पुराने मकान का भी कुछ हिस्सा गिरा देना पड़ा और श्रीनाथजी के मन्दिर तथा अन्य निजी मकानों का भी कुछ हिस्सा लेकर आवश्यक स्थान बनाना पड़ा। कीर्ति-मन्दिर के बनने से पहले उक्त मकान एक संदूक जैसा बना हुआ था। मुश्किल से दस-बारह हाथ के चौकोर दालान के तीन ओर उस मकान को तिमंजिला उठाया गया था और प्रवेशद्वार की दीवार भी ऊंचे तक चिन दी गई थी।

तीनों मंजिलों को अब रंगवा-पुतवाकर और प्रकाश के लिए कहीं-कहीं नई खिड़कियां लगवाकर नया-सा बना दिया गया है, किन्तु उसका पुराना ढांचा ज्यों-का-त्यों रखा गया है। उसके अन्दर कमरे का क्षेत्रफल कम है, परन्तु प्रत्येक कमरा बहुत पक्का बना है। श्री उत्तमचन्द गांधी के सात पुत्र और अनेक पौत्रों के परिवार इसमें अलग-अलग रहते थे और अपनी-अपनी रसोई बना लेते थे। साथ ही सम्मिलित परिवार का आनन्द भी पा लेते थे। एक कमरे से दूसरे कमरे में जाने के लिए बने हुए दरवाजे भी इतने मजबूत हैं कि उन्हें बन्द करने पर कमरे सुरक्षित संदूकनुमा बन जाते थे। खिड़की-दरवाजे बन्द करने पर भी रोशनदान से उनमें धीमा प्रकाश और आवश्यक हवा आ सके, इसकी सुविधा रखी गई थी। इस युग में यह मकान बिलकुल साधारण और छोटा-सा माना जायगा, पर श्री उत्तमचन्द गांधी के जमाने में वह बड़ी सुविधा का माना जाता था। ज्यों-ज्यों परिवार बढ़ता गया त्यों-त्यों मकान में वृद्धि होती गई और खपरैल हटाकर एक के ऊपर दूसरी मंजिलें तैयार की गईं।

सन् '४७ में जब बापूजी नई दिल्ली में वाल्मीकि मन्दिर में ठहरे हुए थे और अंग्रेजी राज्य को विदा करने के काम में व्यस्त थे, तब पोरबन्दर-निवासी गांधी-परिवार के दो युवक उन्हें प्रणाम करने दिल्ली पहुंचे थे। उस समय हमारे पुरखों के मकान में रहने वाले एक परिवार से कीर्ति-मन्दिर के निर्माण के लिए मकान खाली कराने की बात चल रही थी। उस चर्चा के समय बापूजी ने अपनी स्मृति को ताजा करते हुए कहा था, "वह मकान भूला नहीं जा सकता। तिमंजिले पर जाकर बैठें तो समुद्र की शीतल वायु बराबर चलती रहती है। परन्तु जब बिल्कुल नीचे के तलेवाले कमरे में जाते हैं, तो पांच मिनट के लिए भी बैठना कठिन हो जाता है। इतना अधिक वह गरम और बन्द-सा है।"

बापूजी ने नीचे की जिस मंजिल को इतना गरम और बन्द बताया, उसी के एक प्रकाशहीन और बन्द-से कमरे में उनका जन्म हुआ था और माता पुतलीबाई ने उसी कमरे में अपना जीवन बिताया था। उस कमरे की लम्बाई २० फुट, चौड़ाई १३ फुट और ऊंचाई ११ फुट है। कमरे के दरवाजे में जाने पर दाएं कोने में एक दूसरे कमरे का दरवाजा पड़ता है। यह अन्दरवाला कमरा बापूजी के पिताजी श्री करमचन्द गांधी की माता तुलसीमा के रहने का १२×१२॥ फुट के नाप का है और पहले काफी अंधेरा था। इस अन्दरूनी कमरे के दरवाजे और बाहर वाले दरवाजे के मध्य में जो तेरह फुट की जगह है, उसके बीच में गुजराती

ढंग का झूला टंगा रहता था, जो प्रसूति की खाट बिछाने के लिए हटा दिया जाता था। प्रवेशद्वार के बाईं ओर उसी छोटे कमरे में पानी रखने की गुजराती ढंग की ऊंची 'पल्हेंडी' बनी हुई थी। उससे सटकर अनाज रखने की मिट्टी की सुडौल कोठियां और बड़े-बड़े मटकों की खूबसूरत कतार लगी रहती थी। कोठी और मटके की उस कतार के ऊपर पीतल और तांबे के बर्तन सजाकर रखे जाते। पल्हेंडी के बाईं ओर ६॥ X ५॥ फुट का एक छोटा रसोईघर है, जिसमें दो व्यक्ति भी एक साथ कठिनाई से बैठ सकते हैं।

बापू के जन्मवाले कमरे के बाहर जो बरामदा बना हुआ है, वह असाधारण है। उसके नीचे पानी का एक विशाल हौज है, जिस पर तीन-चार मेहराब बांधकर वह ओसरी बनाई गई है और उसी पर फिर तिमंजिला मकान खड़ा किया गया है। हौज की गहराई १५ फुट और लम्बाई-चौड़ाई २० X १० फुट है, जिसमें प्रायः बीस हजार गैलन पानी समाता है। चूंकि पोरबन्दर समुद्र के बिल्कुल किनारे पर बसा हुआ है, अतः पीने के लिए मीठा पानी मिलना भी कठिन हो जाता है। कुआं खोदने पर अवश्य अच्छा जल मिल जाता है। परन्तु वह स्वादहीन और फीका होता है। पोरबन्दर के बुद्धिमान नागरिकों ने यंत्रयुग से पहले ही हौज बनाकर वर्षा-जल का संग्रह करने की सुन्दर व्यवस्था नगर के अनेक मकानों में की है। चौमासे के आरम्भ में सबसे ऊपरवाली पक्के पत्थर की छत के फर्श को धो दिया जाता है और जिस नाली से पानी हौज में जाता है, उस के मुंह के पास चूने की ढेरी लगा दी जाती है। इतनी-सी सार-सम्हाल से यह हौज करीब दो सौ वर्ष से काम दे रहा है। इसमें इकट्ठा होने वाला जल पूरे वर्ष तक पीने के लिए पर्याप्त होता है। घरवाले ही नहीं, अन्य नागरिक भी बड़े घर की टंकी का जल एक-एक घड़ा नित्य ले जाते हैं, क्योंकि ऐसे पानी के बिना पोरबन्दर में अरहर की दाल नहीं पक सकती और अरहर की दाल और भात के बिना शाम की व्यालू से पोरबन्दर वालों को संतोष नहीं होता।

इस ऊंची ओसरी के नीचे जो दालान है, उसी में गांधीजी का लग्न-मंडप रचा गया था और यहीं से चलकर बरात घूमती-फिरती इस मकान के पीछे सात-आठ मकान छोड़कर कस्तूरबा के पिता के घर पहुंची थी। इस छोटे से दालान के पूर्व की ओर, अर्थात् बापूजी के जन्म के कमरे के ठीक सामने मेरे दादाजी का हिस्सा उस मकान में था। इससे पता चलता है कि मेरे पितामह श्रीखुशालचन्द गांधी की उनके साथ बड़ी घनिष्ठता

थी। आगे चलकर श्री खुशालचन्द गांधी के पुत्र और मेरे काका मगनलाल गांधी हमारे परिवार-भर में बापू के मार्ग का अधिक-से-अधिक अनुसरण करनेवाले सिद्ध हुए।

इस मकान में दो-तीन ऐसे दर्शनीय स्थान थे जो अब नया कीर्ति-मन्दिर बनने पर लुप्त हो गए हैं। बापूजी के प्रपितामह श्री उत्तमचन्द गांधी—ओतावापा—ने जब राजमाता की हुकूमत के समय राजमाता के सामने सत्याग्रह किया था, तब मकान पर राजमाता की आज्ञा से तोप चलवाई गई थी, जिससे दीवार में छेद पड़ गए थे। यद्यपि बाद में उन छेदों को बन्द कर दिया गया था तथापि गोले के निशान रह गए। गोले की मार से दीवार का ऊपरी हिस्सा गिर गया था। दीवार बड़ी मोटी होने की वजह से ज्यादा नुकसान तो नहीं हुआ, फिर भी वहां पर दीवार में कमजोरी आ गई थी। अब सारी-की-सारी नई चिनकर अधिक मजबूत बना दी गई है।

दूसरा दर्शनीय स्थान ऊपर की मंजिल की एक छोटी-सी कोठरी थी, जिसमें पर्याप्त हवा और उजाला था। उस कोठरी में पुराने ढंग के कुछ भित्ति-चित्र थे। इतने बरसों के बाद देखने पर भी मुझे उसके फूल और पत्तियों के चित्रों का रंग चमकता हुआ दिखाई दिया। इन सुन्दर दीवारों में जहां पुराना पलस्तर टूट जाने के कारण आजकल के कारीगरों ने मरम्मत की है और चूना पोता है, वह बिलकुल अलग दिखाई पड़ता है। बापा की पूजा के लिए यह कोठरी अलग से बनाई गई होगी।

तीसरा लुप्त स्थल, गांधीजी का कमरा कहा जाता था। जन्म-स्थान वाले कमरे से सटकर एक और दुमंजिला मकान था, जो कीर्त्ति-मन्दिर की रचना के समय गिरा दिया गया। इस दुमंजिले पर बापूजी गृहस्थाश्रम-प्रवेश के बाद कुछ ही समय रह पाये थे, परन्तु वह कहा जाता था बापूजी का हिस्सा।

इस मकान की बनावट इतनी पक्की और मजबूत है कि अब भी सैकड़ों वर्षों तक वह ज्यों-का-त्यों टिक सकता है। प्रत्येक मंजिल की छतें नीची हैं और उसकी कड़ियां बहुत मोटी और पक्की लकड़ी के लट्ठों की बनी हैं। लकड़ियों में अभी तक कहीं भी कच्चापन नहीं आया है। इसमें एक जगह पत्थर की सुन्दर नक्काशी वाली दो-एक जालियां थीं और कई जगह लकड़ी की नक्काशीवाली सुन्दर खिड़कियां थीं।

लेकिन अब उस पुराने मकान का दृश्य नए कीर्त्ति-मन्दिर[1] के सामने दब गया है।

: ४ :

गांधीजी के पूर्वज

कुतियाणा में गांधी-परिवार की कुलदेवी का छोटा-सा, प्रायः घुटनों के बराबर ऊंचा मन्दिर है। इस मन्दिर का अहाता बहुत छोटा है। हमारे परिवार में यह रिवाज था कि नव-विवाहित वर-वधू को हमारी कुल-देवी 'सती-मां' के पास आशीर्वाद लेने के लिए कुतियाणा जाना पड़ता था। इस परिपाटी से एक बड़ा लाभ यह होता था कि देश-विदेशों में बिखरे हुए परिवार के सदस्यों को अपने मूल-स्थान के बारे में बहुत-सी भौगोलिक और सामाजिक जानकारी मिल जाया करती थी।

गुजराती में पंसारी को गांधी कहते हैं। गुजरात-सौराष्ट्र में जिस किसी के यहां जड़ी-बूटियां, नमक-मसाले, हल्दी-फिटकरी, आदि वस्तुएं बिकती हैं वह गांधी कहलाता है, चाहे वह हिंदू हो, जैन हो, पारसी हो, मुसलमान हो, या कोई और। हमारे किसी पूर्वज ने बीसियों पुश्त पहले कहीं पंसारी की बढ़िया दूकान चलाई होगी। इस कारण वह और उनके सब वंशज़ 'गांधी' के नाम से विख्यात हो गए होंगे। हमारे पूर्वजों में सबसे पहले श्री लालजी गांधी का नाम उपलब्ध होता है। श्री लालजी गांधी की पांचवीं पीढ़ी में श्री उत्तमचन्द गांधी का जन्म हुआ और

---

१. बापू की स्मृति में कीर्त्ति मन्दिर की स्थापना की गई है। इस कीर्त्ति-मन्दिर के बीच में संगमरमर का एक चौड़ा सुन्दर चौक है। उसके चारों ओर २६ खम्भों पर बापूजी के सदुपदेश के सुवाक्य खुदे हुए हैं, कलापूर्ण शिखर वाले गर्भागार में पूज्य बापू और बा के आदमकद फोटो लगे हैं और दोनों ओर के कमरों में बापू के रचनात्मक कार्य का कुछ-न-कुछ काम प्रदर्शित किया गया है। कीर्त्ति-मन्दिर के संचालकों का प्रयत्न है कि यहां पर आने वाले यात्री बापू के सत्य और अहिंसा के सिद्धांत पर आधारित समाज-व्यवस्था की कुछ-न-कुछ जानकारी लेकर ही लौटें।

सातवीं पीढ़ी में पैदा हुए हमारे बापूजी—राष्ट्रपिता महात्मा गांधी।

वैसे गांधी-परिवार वैश्यों की उस उपजाति में है, जो मोढ़वणिक की जाति कहलाती है। उत्तर गुजरात में अणहिलपुर-पाटण और सिद्धपुर पाटण के बीच में मोढ़ेरा नाम का एक गांव पड़ता है। वहां पर मोढ़ेरा देवी का एक सुन्दर कलापूर्ण मन्दिर है। उसी केन्द्र से मोढ़े लोगों ने अपनी अलग परिधि कायम की होगी। मोढ़ेरा से चलकर ये मोढ़ बनिए कर्णावती (अहमदाबाद), स्तम्भ-तीर्थ (खंभात) और वहां से सौराष्ट्र के घोघाबंदर में जा बसे होंगे।

गुजरात के इतिहास में सुप्रसिद्ध जैन-धर्माचार्य श्रीहेमचन्द्र सूरि का जन्म एक मोढ़ बनिए के घर हुआ था। किसी जैन यति ने बालक हेमचन्द्र की विलक्षण बुद्धि को पहचाना और उसके माता-पिता को समझा-बुझाकर उस बालक को प्राप्त कर लिया। फिर उसे दीक्षा देकर परम विद्वान बनाया। भारत-भर के प्रथम श्रेणी के प्राचीन विद्वानों में और ऊंचे चरित्र वाले समस्त संतों में श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य की गणना की जाती है। उनकी जीवनी को जब हम पढ़ते हैं और उनके अलौकिक व्यक्तित्व का अध्ययन करते हैं तब चित्त को विशिष्ट प्रकार की सात्विक प्रसन्नता होती है और मन में सत्संकल्पों की वृद्धि होती है। ऐसे महापुरुष के एक हजार वर्ष बाद, उनसे भी बढ़कर प्रभावशाली और संत-हृदय महात्मा गांधी-जैसे नररत्न का वैश्यों की इसी मोढ़-वणिक उपजाति में सौराष्ट्र के ही एक दूसरे बन्दरगाह में जन्म हुआ। यदि इस घटना को केवल आकस्मिक न मान लिया जाय तो इसमें सांस्कारिक परम्परा की झलक मिल सकती है।

इन दोनों महात्माओं के जीवन और स्वभाव में कई लक्षण मिलते-जुलते हैं। जनता के उत्थान के लिए दिन-रात सजग रहना और अथक परिश्रम करना, अपने अनुयायियों का जीवन सादा और संयमी बनाने का आग्रह रखना, मोटे और कम-से-कम वस्त्रों से गुजर करने का व्रत पालना, राजनीति पर अधर्म का रंग चढ़ने से रोकना, इत्यादि कई बातें दोनों में एक-सी हैं। जैसे आधुनिक गुजराती साहित्य के निर्माण में गांधी-जी का बहुत बड़ा हाथ है वैसे ही प्राचीन गुजराती-साहित्य के निर्माण में श्री हेमचन्द्र सूरि का हाथ माना जाता है। गुजराती का सर्वप्रथम व्याकरण हेमचन्द्राचार्य का ही लिखा हुआ है।

गुजरात सौराष्ट्र के बनियों में से कुछ लोगों ने व्यापार-वाणिज्य का काम किया तो कुछ ने राजसेवा का। राजसेवकों को राजाज्ञा के अनुसार

राज्य के भिन्न-भिन्न कस्बों और परगनों में अपनी नौकरी के कारण जाना पड़ता होगा। श्री लालजी गांधी को अथवा उनके किसी वंशज को जूनागढ़ के अधीन कुतियाणा ग्राम में नौकरी मिली होगी। वाद में वह भादर नदी का हरा-भरा किनारा और शांत एवं सुन्दर स्थान कुतियाणा देखकर वहीं बस गए होंगे।

परिवार का इतिहास देखने पर पता चलता है कि सौराष्ट्र की रियासतों में चलने वाले राजकीय संघर्षों में हमारे पूर्वज भी उलझे हुए रहते थे। एक ही रियासत में शायद ही किसी की नौकरी लगातार बनी रहती हो। यदि पिता के बाद पुत्र को वह नौकरी मिलती थी तो वह पुत्र के अपने ही बूते से मिलती थी। केवल पिता की विरासत होने की वजह से पुत्र ने किसी रियासत में अमात्य की जैसी ऊंची नौकरी पाई हो, ऐसा उदाहरण कम है। न्याय-निष्ठा, उदारता और प्रेमभरे वर्ताव के कारण जो लोकप्रिय बन सकता हो, ऐसे ही व्यक्तियों को चुनकर राजा लोग अपने अमात्य-पद—दीवानगिरी—पर नियुक्त करते थे। वह अमात्य फिर अपने ही भाई-भतीजों और विश्वासपात्र मित्रों को राज्य की नौकरी में रखवाने का प्रयत्न करता था। जब राजा के पास किसी दूसरी जाति या खानदान का वसीला बढ़ता था तब पहले वाला प्रायः सारा-का-सारा परिवार राज्य की नौकरी से अलग हो जाता था और उस परिवार के प्रायः सभी लोग व्यर्थ की खींचा-तानी या संघर्ष छोड़कर शांतिपूर्वक, यथाशक्ति व्यापार-रोजगार करके अपना जीवन-निर्वाह करते थे।

इसी प्रकार से हमारे पूर्वज श्री लालजी गांधी से लेकर, या उनसे भी पहले से, गांधी-परिवार के लोगों को समय-समय पर सौराष्ट्र की रियासतों में बराबर नौकरियां मिलती रहीं और छूटती भी रहीं। राज्य की नौकरी के लिए मारे-मारे फिरने की उनमें आदत नहीं थी। मालिक की नाराजी या उसके विश्वास में कुछ कमी देखकर वे लोग बिना हिचकिचाहट के अपनी नौकरी से त्याग-पत्र दे देते थे और जब नौकरी के लिए राज्य की ओर से बुलावा आता था तभी वे प्रामाणिकता और निष्ठा से राजसेवा करने के लिए तत्पर हो जाते थे। कुतियाणा जूनागढ़ रियासत में होते हुए भी पोरबन्दर के बिलकुल पास बसा है। इसलिए गांधी-वंश के अधिकतर युवकों को ही नौकरियां मिलती रहीं और राज्य का विलीनीकरण होने तक श्री लालजी गांधी के वंशज पोरबन्दर में राज्य की नौकरी में रहे।

श्री लालजी गांधी के पुत्र श्री रामजी गांधी पोरबन्दर राज्य में

'दफ़्तरी' (दफ़्तर के अधिकारी) थे। आजकल मंत्रिमंडल में गृहमंत्री का जो उत्तरदायित्व होता है, प्रायः वही उत्तरदायित्व उन दिनों दफ़्तरी का होता था।

जूनागढ़ के नवाव की ओर से कुतियाणा ग्राम में उनको थोड़ी-सी इनामी जमीन मिली थी। सच पूछें तो गांधी-परिवार की पुश्तैनी जायदाद केवल जमीन का यह दो एकड़ से भी छोटा टुकड़ा है। हमारे पूर्वज कभी जमीन-जायदाद या बाग-बगीचे वाले रहे हों, ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। वे सदा निम्न मध्यम श्रेणी के ही थे।

श्री रही दास गांधी के दो पुत्र थे—श्री हरजीवन गांधी और श्री दमन गांधी। श्री हरजीवन गांधी के पुत्र हुए श्री उत्तमचन्द गांधी। श्री हरजीवन गांधी भी पोरबन्दर में 'दफ़्तरी' थे और बाद में उनके छोटे भाई दमन गांधी भी उसी पद पर रहे।

गांधीजी के प्रपितामह श्री हरजीवन गांधी की निर्भीकता की एक दंतकथा सुनी गई है। उससे पता चलता है कि हरजीवन बापा डर कर दवने वाले व्यक्ति नहीं थे।

जब उनके छोटे भाई दमन गांधी पोरबन्दर राज्य के दफ़्तरी नियुक्त हुए तब वह छुट-पुट व्यापार किया करते थे। कहा जाता है कि एक बार जब हरजीवन बापा देहाती नाव में कच्छ से पोरबन्दर लौट रहे थे, अरब वालों के दो-एक जहाजों ने उसे घेर लिया। यह एक नियमित समुद्री डकैती थी या कुछ और, इसका ठीक पता नहीं चलता। उन अरब जहाज वालों ने हरजीवन बापा के जहाज को अपने साथ ले चलने की चेष्टा की। उस जमाने में इक्के-दुक्के चलने वाले जहाज को पकड़कर उनका माल लूट लिया जाता था और उनके यात्रियों को गुलाम बनाकर दूर देशों में ले जाकर बेच दिया जाता था। हरजीवन बापा की नाव को घेरकर उन पर सख्ती की गई तो उन्होंने लुटेरों के साथ जाने से साफ इंकार कर दिया। कायर बनकर उनके साथ जाने के बजाय वह उसी जगह मरने के लिए तैयार हो गए। खाना-पीना छोड़ दिया और जमकर अपनी जगह पर बैठ गए। स्वेच्छा से उठकर चलना उन्होंने बिल्कुल अस्वीकार कर दिया। शायद विरोधी दल के पास इतने साधन नहीं थे कि हरजीवन बापा की नाव को बलपूर्वक बांधकर ले जाते। डरा-धमकाकर वे उस नाव को ले जाने की कोशिश में लगे रहे। उनका ख्याल था कि ये बनिए लोग डरकर उनके वश में हो जायंगे। कहा जाता है कि किसी दूसरी नाव के नाविकों ने इस घटना का समाचार पोरबन्दर के बन्दरगाह में पहुंचाया। पोरबन्दर के

राणा साहब को इस बात का पता चला तो उन्होंने राज्य के बलिष्ठ नाविकों को भेजकर हरजीवन बापा को उस विपत्ति से छुड़ाया।

श्री हरजीवन गांधी और श्री दमन गांधी दोनों भाइयों के बीच एक ही पुत्र श्री उत्तमचन्द गांधी थे। दोनों भाइयों का पोरबंदर में स्थायी निवास था और वहीं उन्होंने पत्थर का वह पक्का मकान खरीदा, जिसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है।

श्री उत्तमचन्द गांधी की प्रगति और विकास में उनके चाचा श्री दमन गांधी बहुत सहायक रहे। जब श्री दमन गांधी पोरबन्दर राज्य के 'दफ़्तरी' का उत्तरदायी पद सम्हाल रहे थे तब उनके साथ काम करके युवक उत्तमचन्द प्रगति के पथ पर बहुत आगे बढ़ गए।

: ५ :

पराक्रमी पितामह

श्री उत्तमचन्द गांधी (उर्फ ओता गांधी) ने विद्याभ्यास कितना किया, कहां किया इसकी कोई जानकारी नहीं मिलती। परन्तु अपनी प्रारम्भिक पढ़ाई पूरी करने के बाद जब श्री उत्तमचन्द गांधी ने कुमारावस्था में पदार्पण किया और किसी रोजगार में लग जाने की समस्या उनके सामने आई, तब उन्होंने अपने पिता और चाचा के मार्ग से भिन्न एक नये मार्ग का अनुसरण किया। पिताजी व्यापार का काम करते थे। उसमें शायद श्री उत्तमचन्द गांधी को दिलचस्पी नहीं थी। उधर, उनके चाचाजी, जो राज्य की नौकरी करते थे और दफ़्तरी का उत्तरदायी पद संभाले हुए थे, राणा साहब से कहकर अपने भतीजे को राज्य में सीधी नौकरी नहीं दिला सके। शायद ऐसी मांग करना उनके चाचा (श्री दमन गांधी) को अनुचित प्रतीत हुआ होगा। इसलिए उन्होंने युवक उत्तमचन्द को एक स्वतन्त्र काम दिलवाया। वह काम था पोरबन्दर के बन्दरगाह पर समुद्र के द्वारा होने वाले व्यापार पर चुंगी वसूल करने के ठेके का। जहां पर सामुद्रिक जकात वसूल करने का यह काम होता था उस स्थल का नाम 'मीठी मांडवी' था।

उत्तमचन्द गांधी ने जब मीठी मांडवी का उत्तरदायित्व सम्हाला

तब उनकी उम्र छोटी ही थी—मसें भीगी ही थीं। फिर भी बड़ी दक्षता से उन्होंने सामुद्रिक चुंगी का यह काम किया और नाम कमाया।

चुंगी की ठेकेदारी के काम से जो कुछ समय बचाया जा सकता था उसमें वे नित्य-प्रति श्री दमन गांधी की कचहरी में जाने लगे और वहां विधिवत् दफ़्तरी का काम सीखने लगे। थोड़े ही समय में श्री दमन गांधी के काम का बोझ बहुत हल्का हो गया। वह अब कुछ विश्राम लेने लगे और उनके कई काम युवक उत्तमचन्द गांधी अपनी ही सूझ से फुर्ती के साथ निपटाने लगे।

श्री उत्तमचन्द जिस प्रकार बुद्धि, व्यवहार और काम में तेजस्वी और दक्ष थे उसी प्रकार देखने में भी बहुत प्रभावशाली थे। वे आजानुबाहु थे। जब तनकर बिल्कुल सीधे खड़े होते थे तब उनकी हथेलियां उनके घुटनों से नीचे तक लगती थीं। यह वीर पराक्रमी पुरुष का लक्षण माना जाता है। उनका भाल-प्रदेश उन्नत और दमकता हुआ था। उनकी दृष्टि ऐसी पैनी व तेज थी कि जो आदमी उनके पास जाता था, झेंप जाता था और अपने मन की बात कहते हुए हकलाने लगता था। फिर भी, लोगों के लिए वे दूर के या गैर-व्यक्ति नहीं थे। सब लोग उन्हें 'उत्तमचन्द गांधी' के शिष्टाचार-भरे नाम के बदले 'ओता-गांधी' के प्यार के नाम से पुकारते थे।

घर में, गांव में और राजदरबार में जो बुजुर्ग लोग थे, उनके लिए वह 'ओता' या 'ओता-गांधी' थे और छोटों के लिए 'ओताबापा'।

ओताबापा के पहले उनके पूर्वजों में से किसी ने भी राज्य की नौकरी में अधिक ऊंचा पद पाया हो, इसका संकेत गांधी-परिवार के इतिहास में नहीं मिलता। ओता बापा ने ही पहले-पहल दीवान का पद पाया। इस स्थान पर वह किसी के साथ स्पर्धा करके, अर्जियां देकर या उलटी-सीधी कोशिश करके नहीं, बल्कि अपने सामने आए हुए काम को शक्ति-भर अच्छी तरह पूरा करके पहुंचे थे।

एक दिन पोरबन्दर के राणा खेमाजी ने किसी महत्वपूर्ण समस्या को निबटाने के लिए श्री दमन गांधी को बुलावा भेजा। जब राणा साहब का आदमी बुलाने आया तब दमन गांधी कचहरी में उपस्थित नहीं थे, कहीं बाहर गये थे। ओता बापा की जगह पर कोई और युवक होता तो राणा का बुलावा सुनकर घबराहट में पड़ जाता और कचहरी के बड़े अधिकारी श्री दमन गांधी को बुलाने के लिए दौड़ उठता; परन्तु श्री ओता गांधी साहसी युवक थे। बिना हिचकिचाहट के वह सीधे चल

दिए और राणा साहब के पास खुद हाजिर हुए । उस समय राजदरबार की विधि के अनुसार राणा साहब का अभिवादन करके नम्रता के साथ ओताबापा ने कहा, "मेरे चाचाजी कचहरी के बाहर गये हुए हैं। इस कारण मैं आपके पास हाजिर हुआ हूं । जो सेवा हो, आज्ञा कीजिए । जो कुछ मुझसे बन पड़ेगा, करूंगा। मैं भी आपका सेवक ही तो हूं ।"

लड़के की चतुराई, उसकी वाक्पटुता और उसका साहस देखकर राणा साहब प्रभावित हुए और एक अनुभवी कर्मचारी के करने का काम उसे सौंपा । ओताबापा ने वह कार्य बड़ी सावधानी और दक्षता के साथ पूरा कर दिया। यह देखकर राणा साहब के दिल में ओता बापा के लिए भरोसा जम गया।

दूसरे ही दिन राणा साहब ने ओताबापा को दुबारा अपने दरबार में बुलवाया और पूछा, "ओता, एक पेचीदा कार्य करना है। है साहस ?"

ओताबापा ने नम्रता से कहा, "ऐसा कौन-सा काम है. जो आपके लिए इतना कठिन है ?"

राणा साहब बोले, "माधवपुर का इजारदार बड़ा ढीठ होता जा रहा है। हमें कमजोर समझकर वह हमारी अवहेलना कर रहा है । कई किश्तों की अदायगी खाली जा रही है। उसको सीधा करना पड़ेगा।"

ओताबापा ने कहा, "यह कौन-सा बड़ा काम है ? मैं जाता हूं माधवपुर ।"

राणा साहब बोले, "पर वहां जाकर करोगे क्या, यह तो बताओ ।"

ओताबापा ने कहा, "इसका पता तो तब चलेगा जब वहां जाऊं और देखूं । आपके आशीर्वाद से काम अवश्य बन जायगा। आप अपना पक्का भरोसा मुझ पर रखिए और आशीर्वाद दीजिए कि बेड़ा पार हो। अपने बूते पर वह काम मुझे थोड़े ही करना है, आप ही के नाम पर तो करना है ।"

तैयारी करके बापा माधवपुर के लिए चल पड़े।

यह उस समय की बात है, जब सौराष्ट्र के प्रदेश में अंग्रेजों के आधिपत्य का प्रारम्भ हो ही रहा था। सौराष्ट्र की कुल रियासतें एक ही सम्राट् की अधीनता में पूरी तरह से संगठित नहीं की गई थीं। जूनागढ़ और जामनगर-जैसे प्रबल राज्य पोरबन्दर सरीखे निर्बल पड़ोसी राज्यों की सीमा को बलात् दबाते चले जा रहे थे। पोरबन्दर राज्य में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह अपने यहां हस्तक्षेप करने वाले राज्यों से मुठभेड़ करता। पोरबन्दर राज्य उस समय काफी दब चुका था। उसका शासन गिने-चुने

गांवों तक ही सीमित रह गया था। जूनागढ़ राज्य ने जगह-जगह कई गांव हड़प लिये थे और उनमें से कुछ में पोरबन्दर की जैसी छोटी-मोटी पट्टियां वच गई थीं, जहां से केवल भूमिकर वसूलकर पोरवन्दर राज्य को संतोष मानना पड़ता था। उसकी और कोई सत्ता वहां नहीं चलती थी।

माधवपुर का वन्दरगाह पोरवन्दर राज्य का ही था। वहां के यातायात और व्यापार पर सामुद्रिक कर वसूल करने का अधिकार पोरवन्दर राज्य के पास था, परंतु अब वात यहां तक वढ़ गई थी कि माधवपुर का इजारदार जूनागढ़ के वल के भरोसे पोरवन्दर के राज्य-कर की सारी रकमें स्वयं निगलने पर तुल गया था। पोरवन्दर के नाम से सामुद्रिक कर वसूल करके वह उसकी एक भी किश्त राज्य-कोष में जमा नहीं करा रहा था।

राणा साहव खीमाजी ने कच्ची उम्र वाले ओता गांधी को इस कठिन समस्या का हल करने व हाथ से जानेवाली वसूली को वचा लेने के लिए माधवपुर भेजा। ओतावापा ने वहां जाकर बड़ी धीरता और गम्भीरता से काम लिया। पोरवन्दर के राणा की अवज्ञा करने के कारण इजारदार को डाट-डपट न करने तथा उसके पास दवे हुए राज्य-शुल्क को निकलवा लेने के लिए कुछ भी कड़वी बात न करने की सतर्कता बापा ने रखी। उन्होंने सोचा कि जव हमारे पास लड़ने-झगड़ने के लिए आवश्यक बल है ही नहीं तव व्यर्थ बल-प्रदर्शन से हमारी मानहानि ही होगी, धन तो मिलेगा नहीं और प्रतिष्ठा घट जायगी। इसलिए अच्छा यही होगा कि इजारदार से मोर्चा न लेकर जहां से उसको सहारा मिल रहा है, उस जड़ को ही दूर कर दिया जाय।

इस बात को ध्यान में रखकर उन्होंने सूक्ष्मता से अध्ययन किया कि जूनागढ़ राज्य का दखल पोरवन्दर राज्य की सीमा में कहां-कहां पर और किस प्रकार है। फिर उन्होंने जूनागढ़ के राज्याधिकारियों से कूटनीतिक स्तर पर बातें शुरू कर दीं। अपनी नम्रता और कुशाग्र बुद्धि के सहारे इस अकेले युवक ने अत्यन्त चतुर और ताकत में बढ़े-चढ़े राजपुरुषों को समझौते करने के लिए बाध्य कर दिया। उन्होंने ऐसी जोरदार भूमिका बांधी कि पोरवन्दर का जो राज्य नित्यप्रति जर्जर और शिथिल होता चला जा रहा था, उसमें नया जीवन और ठोसपन आ गया।

ओतावापा ने जूनागढ़ राज्य से जो समझौता किया उसमें उन्होंने जूनागढ़ राज्य के अन्दर जगह-जगह, विभिन्न गांवों में, पोरवन्दर की जो छुटपुट पट्टियां थीं, उनका महसूल वसूल करने का दीवानी हक छोड़ दिया। राणा साहब के राज्य की निश्चित वार्षिक आय पर से बिल्कुल

ही हाथ उठा लेना कम साहस का काम न था। परन्तु पूरे आत्म-विश्वास के साथ ओताबापा ने यह कदम उठाया। जूनागढ़ के राज-कर्मचारी संतुष्ट हो गए और उन्होंने ओता गांधी के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। ओताबापा ने जूनागढ़ राज्य से लिखवा लिया कि माधवपुर से लेकर पोरबन्दर तक के सारे समुद्र-किनारे के गांवों में जूनागढ़ राज्य का कोई दखल नहीं रहेगा और वे सब-के-सब गांव पूर्णतया पोरबन्दर राज्य की ही अधीनता में रहेंगे। अर्थात् उन पर दीवानी-फौजदारी के पूरे अधिकार पोरबन्दर रियासत के रहेंगे। ओताबापा ने जिस समय यह समझौता किया उस समय समुद्र के किनारे का वह सारा प्रदेश बहुत ही रेतीला था और प्रायः सारी जमीन ऊसर थी। लेकिन उस इलाके का उज्ज्वल भविष्य ओताबापा ने अपनी दीर्घ दृष्टि से देख लिया था। जूनागढ़ से किए गए समझौते का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने लिखा था, "यदि भादर नदी पर बांध बनाया जाय तो यह सारी रेतीली जमीन बहुत उपजाऊ हो जायगी और मनों सोना उगलेगी।" पोरबन्दर राज्य के पुराने कागजों में ओताबापा के हाथ की लिखी हुई ये पंक्तियां आज भी देखने को मिल जायंगी।

कई वर्ष पहले लिखी हुई ओताबापा की यह बात आगे चलकर वस्तुतः सही निकली। अब वहां के एक-एक गांव में आसानी से प्रतिवर्ष पौन लाख रुपये से भी अधिक की पैदावार होती है। कुछ हजार रुपये की वार्षिक आय वाला पोरबन्दर राज्य अब कई लाख की वार्षिक आय वाला हो गया।

राणासाहब ओताबापा की इस सफलता से बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसी समय ओताबापा को दीवान की पोशाक भेंट की तथा उन्हें अपने राज्य का दीवान नियुक्त कर दिया। इस प्रकार यौवन की दहलीज में प्रवेश करने वाले श्री उत्तमचन्द गांधी ने राज्य के अमात्य का भारी उत्तरदायित्व प्राप्त किया और तब से लेकर आखिर तक—अर्थात् वृद्धावस्था तक—वह सफल और यशस्वी दीवान बने रहे।

जिस प्रकार ओताबापा के दीवान होने से पहले पोरबन्दर राज्य के हाथ से अनेक गांव जूनागढ़ और जामनगर के राज्यों में समा गये थे, उसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र में भी पोरबन्दर राज्य अपनी स्वतन्त्रता खो बैठा था। कच्छ के, जो समुद्र के रास्ते पोरबन्दर से बहुत निकट है, एक बड़े व्यापारी का ऋण पोरबन्दर पर बहुत बढ़ गया था। उस व्यापारी की पेढ़ी 'सुन्दरजी की फर्म' के नाम से प्रसिद्ध थी और उसका व्यापार अफ्रीका तक चलता था। पोरबन्दर के राजाओं ने उससे कर्ज लिया था। वह कर्ज इतना बढ़ गया कि पूरा पोरबन्दर राज्य सुन्दरजी की पेढ़ी के हाथ गिरवी बन गया।

बरसों तक राज्य की कुल वार्षिक ग्राय 'सुन्दरजी वाले' ले लेते थे। वे राज्य का ग्रत्यावश्यक चालू खर्च चुकाकर बाकी रकम ग्रपने कर्ज की वसूली में दर्ज कर लेते थे।

ग्रोतावापा ने दीवानपद पर ग्राकर 'सुन्दरजी वालों' के साथ की गई लिखा-पढ़ी के कागज मंगाये ग्रौर उसका गहरा ग्रध्ययन करके, ग्रपनी पैनी वुद्धि के प्रयोग से, उसमें एक ऐसा वाक्यांश खोज निकाला जिसकी बदौलत सुन्दरजी की पेढ़ी की ग्रार्थिक ग्रधीनता से राज्य को मुक्त कराने में सफलता मिली। उस सारी लिखा-पढ़ी के बाद उस रेहननामे के ग्रन्त में कहा गया था कि "पडचुं पान राज्यनुं।" गिरा पत्ता राज्य का ग्रर्थात् "जो कुछ पत्ता गिर पड़ा हो, उस पर ग्रधिकार राज्य का होगा।" इसका भावार्थ यह होता है कि महसूली-चुंगी रूपी फल का ग्रधिकारी तो साहूकार रहेगा, परंतु जो गौण ग्राय होगी उस पर कर्जदार का ही हक रहेगा। वापा ने इस पर से फैसला किया कि सिर्फ जमीन-महसूल ग्रौर सामुद्रिक व्यापार से प्राप्त चुंगी पर ही सुन्दरजी वालों का ग्रधिकार है, राज्य की ग्रतिरिक्त ग्राय पर उनका कोई हक नहीं। इस फैसले के ग्राधार पर ग्रोतावापा ने राज्य की दूसरी सब प्रकार की ग्रामदनी राज्य के कोप में जमा करने का इंतजाम किया, ग्रौर 'सुंदरजी वालों' को उसका हिस्सा देने से इन्कार कर दिया। उन्होंने ग्रदालती मुकदमों, मकानों तथा जमीन के बैनामों ग्रौर ऐसे ही ग्रन्य कई साधनों द्वारा राज्य के खाली कोष को परि-पूर्ण किया ग्रौर सुन्दरजी की पेढ़ी वालों के पुराने कर्ज को उतार दिया।

ग्रोतावापा की कुशलता का उल्लेख राजकोट के एक ग्रंग्रेज न्याया-धीश ने भी किया है।

: ६ :

सत्याग्रही ओतावापा

न जातु कामान्न भयान्न लोभात् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

"धर्म को किसी भी हालत में मत छोड़ो—ग्रपनी किसी मनोकामना की पूर्ति के लिए नहीं, बड़े-से-बड़े पद के कारण नहीं, किसी प्रकार के लोभ

के वश होकर नहीं और अपनी जीवन की रक्षा के लिए भी नहीं। धर्म सदा ही कायम रहने वाला, हर समय साथ देने वाला अक्षय बल है। सुख और दुःख केवल क्षणिक है। सुख और दुःख दोनों ही आयंगे और जायंगे परन्तु जीव ज्यों-का-त्यों बना रहेगा। जीव को पकड़े रहने वाला यह शरीर स्थायी नहीं है। यह तो जल्दी या देर से छूटने वाला ही है। जीव का क्षय या विनाश कदापि नहीं होने वाला है।"

विद्याशास्त्र-संपन्न न होते हुए भी ओतावापा ने इस धर्मनिष्ठा को आचरण में उतारने का दृढ़ आग्रह रखा। उन्होंने जिस प्रकार अपनी युवावस्था में कार्य-दक्षता तथा पुरुषार्थ का परिचय दिया उसी प्रकार ढलती आयु में श्रेष्ठ धर्मपरायणता और दृढ़ शौर्य का उदाहरण भी प्रस्तुत किया।

राणा साहब खीमाजी दीर्घजीवी नहीं हो पाए। अपने पुत्र की नाबालिग अवस्था में ही वह चल बसे। अतः कुंवर के बालिग होने तक सारी राजसत्ता पूर्णतया रानी के हाथ में रही। लेकिन राज्य का कुल प्रबन्ध ओतावापा ही करते थे। बापा नित्य ही राजहित और लोकहित को सबसे ऊपर रखने वाले थे। इसलिए कई बार रानी के साथ उनकी पटती नहीं थी। वह जीहुजूरी से अलग रहकर, जो सही लगता था, जो धर्म की बात प्रतीत होती और जिसमें प्रजा का कल्याण देखते थे उसी मार्ग को अपनाते थे। यदि मतभेद होता था तो ओतावापा कभी रानी को समझा-बुझाकर, या कभी दबाव डालकर अपने मन की उसी बात पर अमल करते थे, जिसे वह अपना अनिवार्य कर्त्तव्य समझते थे।

ऐसे ही एक मौके पर ओतावापा ने साक्षात् मृत्यु को आमंत्रित कर लिया था। कहानी यह है कि राज्य-कोष का खजांची और राज्य के वस्तु-भण्डार का अधिकारी खीमा कोठारी नामक व्यक्ति बड़ा कर्त्तव्यनिष्ठ और कड़ाई से काम लेने वाला था। एक सुई तक वह किसी को बिना आज्ञा के नहीं देता था। खीमा कोठारी की इस आदत से रानी की दासियां तंग आ गई थीं। उनको मनमानी चीजें नहीं मिल पाती थीं। इस कारण कोठारी के विरुद्ध भला-बुरा कह सुनकर दासियां रानी के कान भरती रहती थीं। एक बार दासियों ने मिलकर कोठारी के मत्थे कुछ ऐसा विकट अपराध मढ़ दिया कि रानी आपे से बाहर हो गई। उसने हुक्म दिया कि कोठारी को फौरन बांधकर मेरे सामने ले आओ। कोठारी को रानी की इस कठोर आज्ञा का पहले से ही पता चल गया था। वह भागकर ओतावापा की शरण में जा पहुंचा और उसने उनसे न्याय की मांग की। ओतावापा ने उसे अभय

वचन दे दिया। जब रानी को पता चला तब उसने बापा को अपने समक्ष बुलाकर आज्ञा दी कि खीमा कोठारी को मेरे हवाले कर दो। बापा ने इस आज्ञा को अस्वीकार करते हुए रानी से कहा कि मैं उसे इस तरह आपके हाथ में नहीं सौंप सकता। आपको चाहिए कि न्याय किस पक्ष में है, इस बात की सही जांच करें। उस पर बाकायदा मुकदमा चलाया जाय।

रानी पूरे तैश में थी। उसने कहा, "न्याय वही है जो मैं समझूं। उसको दण्ड देना मेरा काम है। उसे आप फौरन मुझे सौंप दें।"

बापा ने रानी को समझाने की पूरी कोशिश की, पर वह अपनी जिद पर अड़ी रही, यहां तक कि उसने बापा को भी धमकी दे डाली कि यदि वह नहीं मानेंगे तो उनपर जबरदस्ती की जायगी और किसी भी तरह कोठारी को उनसे ले लिया जायगा। बापा इस धमकी के वश में नहीं हुए और अपनी बात पर अटल रहे। लगातार चार-पांच दिन तक रानी अपने संदेशे और चुनौती भेजती रही, पर बापा अपनी बात से नहीं हटे। अन्त में झुंझलाकर रानी ने मकान पर फौजी दस्ता भेज दिया और उसे आज्ञा दी कि उनके मकान से कोठारी को बलपूर्वक ले आया जाय।

ओताबापा का मकान पोरबन्दर के विशिष्ट पत्थरों से बना हुआ था और उसका दरवाजा किले का-सा मजबूत था। रानी की भेजी हुई टुकड़ी उस मकान में जब किसी तरह भी न घुस सकी तब रानी उस मकान की दीवार तुड़वाने पर तुल गई और उसने तोप भी भेज दी।

इधर बापा की नौकरी में जो दो-तीन अरब द्वारपाल थे, उन्होंने बापा से कह दिया कि जबतक हममें से एक का भी सिर सलामत है तबतक आपको कोई छू तक नहीं सकेगा। हम मरते दम तक आपकी रक्षा करेंगे। हमने आपका नमक खाया है। बापा ने अपने सेवकों की बात पर पूरा भरोसा कर लिया और उन लोगों ने सचमुच बापा की रक्षा में अपनी जान न्योछावर कर दी।

उन दिनों राजा लोग स्वच्छंद होते थे। उनकी नौकरी करना अपनी जान पर खेलने-जैसा था। इस हालत में जो कोई राजा के दीवान की-सी बड़ी नौकरी स्वीकार करता था वह किसी मजबूत व्यक्ति को अपना जामिन बना लेता था, अर्थात् राज-प्रकोप से रक्षा करने का काम उस जामिन के जिम्मे रहता था। इस प्रकार उन द्वारपालों का नायक श्री गुलाम मोहम्मद मकरानी ओताबापा का जामिन बना था। राज्य की सेवा करते-करते यदि ओताबापा पर अनुचित आक्रमण हो तो उसका काम था कि वह उनकी रक्षा करे और उसने अपनी जान देकर ओताबापा की रक्षा की। आज भी

उसके नाम का स्मारक ओतावापा के घर से लगे हुए वैष्णव मन्दिर में मौजूद हैं।

ओतावापा ने बाहर की रक्षा का भार जब उन अरबों को सौंप दिया तब स्वयं अन्दर की तैयारी करने लगे। यह तैयारी आक्रमणकारी का मुकाबला करने अथवा किसी प्रकार का युद्ध या संघर्ष करने के लिए नहीं थी, बल्कि सत्य के लिए शांति और संतोष के साथ बलिवेदी पर चढ़ जाने की थी। वह उस विशाल भवन के मध्यखण्ड में जाकर बैठ गए। उस समय उनके पास जो पांच पुत्र उपस्थित थे, उन सबको उन्होंने अपनी बगल में बैठाया, फिर बच्चों की माता को बैठाया और आठवें कोठारी को अपने पास बैठा लिया। इस प्रकार सबको शांतिपूर्वक बैठाकर ओतावापा ने सबको धीरज बंधाया और कहा, "जब भगवान ने हमें सत्य के लिए बलिवेदी पर चढ़ने का सुअवसर प्रदान किया है तब हमें चाहिए कि हम अपने चित्त से उद्वेग, शोक तथा भय आदि को दूर हटा दें और प्रसन्न चित्त से बलि हो जायं।"

बाहर रानी की तोप से एक के बाद दूसरा गोला धड़ाधड़ उस मजबूत दीवार पर आघात कर रहा था और अन्दर ईश-स्मरण के साथ सत्य पर अटल रहने की अभ्यर्थना हो रही थी। तोप की मार के आगे पोरबन्दरी पत्थरों की डेढ़ हाथ चौड़ी दीवार देर तक टिक न सकी और उसमें दो बड़े-बड़े छेद हो गए। द्वारपालों में से गुलाम मोहम्मद मकरानी मारा गया; परन्तु ओतावापा और उसके समस्त वंश का बलिदान ले लेना ईश्वर ने उचित न समझा। अनिष्ट घटना होने के पहले ही इस धांधली के समाचार राजकोट जा पहुंचे और वहां के अंग्रेज सत्ताधीश—पोलिटिकल एजेंट—ने रानी के इस अत्याचार को रुकवा दिया।

इस घटना के बाद ओतावापा ने पोरबन्दर छोड़ दिया और वह अपने मूल गांव कुतियाणा लौट गए। कुतियाणा कस्बा जूनागढ़ की रियासत के अन्तर्गत था, इसी लिए जूनागढ़ के नवाब ने अपने प्रदेश में बसने वाले ऐसे चतुर और प्रख्यात व्यक्ति को दरबार में आमन्त्रित किया। बापा जूनागढ़ गए, परन्तु उन्होंने नवाब को बाएं हाथ से सलामी दी। इस बेअदबी से नवाब का अमला बिगड़ पड़ा। नवाब खुद भी हैरान हो गया कि ऐसा बुद्धिमान व्यक्ति यह क्या कर रहा है। उसने बापा से इसका कारण पूछा। बापा ने कहा, "दाहिना हाथ तो मैं पोरबन्दर राज्य को समर्पित कर चुका हूं। पोरबन्दर के सेवक का मेरा नाता टूट नहीं सकता, उस राज्य से मैं बेवफा नहीं हो सकता। यदि आप चाहें तो यह बायां हाथ आपकी सेवा में

हाजिर हूं। लेकिन मैं अब नौकरी नहीं चाहता, शासन-कार्य से निवृत्त होकर शांतिमय जीवन बिताना चाहता हूं।"

नवाब के जीहुजूर तो चाहते थे कि बापा को उनकी इस बेअदबी का कुछ पाठ सिखाया जाय, परन्तु नवाब पाकदिल और शरीफ था। उसने बापा की महत्ता को समझा और भरे दरबार में उनकी वफादारी व निष्ठा की प्रशंसा की। फिर भी अपने दरबार तथा राजसिंहासन की शान और आन बनाए रहने के लिए उसने मामूली सजा सुना दी और साथ-ही-साथ उन्हें अच्छा-खासा इनाम भी दिया। सजा यह सुनाई गई कि बाएं हाथ से नवाब को सलामी देने के जुर्म में ओता गांधी को नंगे पैर पांच-दस मिनट धूप में खड़ा रखा जाय। इनाम में नवाब की ओर से रुक्का लिख दिया गया कि 'कुतियाणा गांव में दूकानदारी करने पर ओता गांधी और उनके वंशजों को पुश्त-दर-पुश्त चुंगी की माफी दी जाय।' ओताबापा कुछ मिनट धूप में खड़े रहे और कुतियाणा लौट आए।

कुतियाणा आकर बापा किसी विशेष प्रवृत्ति में नहीं उलझे। उन्हें घुड़सवारी का शौक शुरू से ही था। उन्होंने बढ़िया काठियावाड़ी घोड़ी खरीद रखी थी। नित्यप्रति कुछ देर उस पर सवार होकर वह आसपास सैर कर आते थे। बाकी समय भजन-कीर्त्तन और कथा-वार्त्ता में बिताते थे। मेरे प्रपितामह श्री जीवनबापा ने अपने पिता ओताबापा की घोड़ी के सईस का काम सम्हाला था और आखिर तक बड़ी लगन और परिश्रम से उन्होंने उस घोड़ी की सेवा की थी।

श्री जीवन गांधी ओताबापा के चौथे पुत्र थे। बिना चुंगी के दूकान चलाने का जो रुक्का नवाब से मिला था उसका लाभ जीवनबापा ने उठाया। ओताबापा की सेवा करने के साथ-साथ कुतियाणा में एक छोटी-सी दुकान वह चलाने लगे।

हमारा खानदान वैष्णव-पंथी पुष्टिमार्गी वल्लभ संप्रदाय का था। इसलिए हमारे यहां विशेषतः कृष्ण की उपासना होनी चाहिए थी; परन्तु ओताबापा को पोरबन्दर के एक खाकी साधु[1] पर अधिक श्रद्धा थी। उन्होंने उस साधु के लिए पोरबन्दर में एक चौक भी बनवा दिया था जो आज भी 'खाक चौक' के नाम से प्रसिद्ध है। वह खाकीबाबा राम का अनन्य उपासक था। उसके सत्संग में रहकर ओताबापा भी परम राम-उपासक बन गए थे। अपने जीवन के उत्तरकाल में दिन का अधिकतम

---

१. रामानंद पंथ के विशेष साधु।

समय श्रोताबापा गोस्वामी तुलसीदासजी के 'रामचरितमानस' का श्रवण और अनुशीलन करने में बिताते थे।

पोरबन्दर में दीवान पद पर रहते समय उन्हें पूरे दो हजार कोरी वार्षिक वेतन मिलता था। इसके अतिरिक्त अनाज और शाक आदि दरबारगढ़ के भंडार से मिला करता था। यह वेतन कोई बड़ा वेतन नहीं था। फिर भी जब बापा ने अपने सबसे बड़े दो पुत्र वल्लभजी और पीताम्बरजी का विवाह किया तब, उस जमाने के रिवाज के अनुसार, उन्होंने एक बहुत बड़ा भोज दिया था। उन्होंने समस्त पोरबन्दर की 'चौर्यासी' की, अर्थात् सब नगर-निवासियों को भोजन कराया। नगर के कोट के दरवाजे पर चावल चिपकाकर सारे गांव को न्योता दे दिया गया और जो गरीब या भूखे आये उन सबको भोजन कराया गया। इसके अतिरिक्त सारे नगर में सात दिन तक बराबर फुलवाड़ी चढ़ाई जाती रही। इसमें स्वयं राणा साहब सबसे आगे चलते थे। ऐसा भारी भोज और ऐसी भव्य फुलवाड़ी उसके बाद कभी देखी-सुनी नहीं गई।

राज्य के लोकप्रिय दीवान होने के कारण इस विवाह में श्रोताबापा के पास प्रजा की ओर से नजराने में भी बहुत रकम जमा हो गई। बापा ने जो खर्च किया था उसके मुकाबले में वह रकम कम नहीं थीं। यदि कोई दूसरा होता तो उस नजराने पर फूला न समाता। वह उस धन को अपनी तिजोरी में प्रसन्नता से रख लेता, परन्तु बापा ने बरात का काम समाप्त होते ही धन की वह सारी राशि राणा साहब के चरणों में रख दी और उनसे कहा, "यह धन आपकी ही प्रजा का है। आपके आशीर्वाद के कारण ही मैं 'चौर्यासी' कर पाया हूं। आप इस धन को स्वीकार कर लें।" राणा ने गद्गद होकर उत्तर दिया, "अच्छा, इस धनराशि को सरकारी खजाने में जमा कर दो और 'चौर्यासी' का सारा खर्च राज्य के खाते में डालकर हिसाब बराबर कर दो। तुम्हारे पुत्र मेरे ही पुत्र हैं।"

श्रोताबापा के पोरबन्दर से चले जाने के बाद जब रानी का कुचक्र समाप्त हुआ और नए राणा विक्रमाजीत गद्दी पर बैठे तब राज्य के हितैषियों ने श्रोताबापा को फिर से अमात्य-पद पर बैठाने का प्रयत्न किया। किंतु बापा ने अपना निवृत्तिमय जीवन छोड़कर पुनः प्रवृत्तिमय जीवन अपनाना पसन्द नहीं किया। फिर भी उन लोगों के प्रयत्नों का और राणा खीमाजी के उन वचनों का, जो श्रोताबापा ने राज्य के कागजों में पक्के करा लिये थे, इतना परिणाम हुआ कि बापा के सब पुत्रों को राज्य में कोई-न-कोई सेवा-कार्य दे दिया गया।

जब राणा खीमाजी के अन्तिम दिन प्रतीत हो रहे थे तब ओताबापा ने अपनी नौकरी के बारे में उनसे लिखित प्रमाणपत्र मांगने की सावधानी बरती, क्योंकि बापा ने देख लिया था कि रानी के कान कच्चे होने के कारण, राणा के बाद उनके अपने भविष्य के संकट में पड़ जाने का खतरा है। राणा ने बापा के लिए जो उदारतापूर्ण प्रमाणपत्र लिखा, उसका सार यह था—"ओता गांधी ने इस राज्य की बड़ी मूल्यवान सेवा की है और मेरा तथा रियासत का काम सदैव पूरी वफादारी के साथ किया है। इसलिए मेरे उत्तराधिकारी इस बात की सावधानी रखें कि ओता गांधी को किसी प्रकार के कष्ट का भागी न बनना पड़े, बल्कि मेरे उत्तराधिकारी गांधी के उत्तराधिकारियों को इस राज्य में सदैव उदारता के साथ नौकरी देते रहें।"

बापा के कुल मिलाकर छः पुत्र थे। उनमें द्वितीय पुत्र श्री पीताम्बर गांधी रानी के साथ झंझट शुरू होने से पहले ही व्यापार के निमित्त कच्छ के राज्य में जा पहुंचे थे। उनके एक पुत्र था और उसने भी अपना जीवन कच्छ में ही व्यापार करके व्यतीत किया था। उसके बाद श्री पीताम्बर की संतति आगे नहीं बढ़ी और वह शाखा वहीं रुक गई।

श्री पीताम्बर गांधी के अतिरिक्त जो पांच भाई थे उनमें सबसे बड़े श्री वल्लभजी गांधी राज्य के इमारती काम के महकमे में इंजीनियर नियुक्त हुए। क्रम में तीसरे श्री रतनजी गांधी राज्य के दफ़्तरी हुए, चौथे श्री जीवनजी गांधी पोरबन्दर के समीप छाया नामक परगना में परगना-हाकिम नियुक्त किये गए। पांचवें श्री करमचन्द गांधी और छठे श्री तुलसीदास गांधी क्रमशः एक के बाद एक पोरबन्दर के दीवान के पद पर रहे। श्री तुलसीदास गांधी के वंशज अबतक, अर्थात् राज्यों के विलय के समय तक, पोरबन्दर राज्य की नौकरी में उच्च स्थानों पर बने रहे।

छः भाइयों में ओताबापा की सबसे अधिक विरासत श्री करमचन्द गांधी ने ही पाई—केवल दीवानगिरी की ही विरासत नहीं, किंतु बापा की प्रतिभा, तीक्ष्ण बुद्धि, सत्य-प्रीति और बहादुरी की भी। वास्तव में दीवानगिरी तो उन्होंने भी अपने पिता की भांति अपने ही पुरुषार्थ से पाई थी। शुरू में उन्हें मामूली सेवा-कार्य मिला था, पर बाद में अपनी कुशलता के कारण वे दीवान के पद पर पहुंचे थे।

: ७ :

बापू के माता-पिता

मोहनदास करमचन्द गांधी का नाम संसार में इतना फैल चुका है कि उनके पिता श्री करमचन्द गांधी का नाम दशरथ और वसुदेव की तरह युग-युग तक चिरंजीवी बना रहेगा। करमचन्द का नाम बचपन से ही 'कबा' पड़ गया था। परिवार में वह कबाभाई, कबाबापा, कबाकाका आदि सम्बोधनों से पुकारे जाते थे और राजकोट में उनके मकानवाली गली को आज भी 'कबा गांधी की शेरी' (गली) कहा जाता है।

कबाकाका का जन्म ईस्वी सन् १८२२ के आस-पास हुआ था। कबाकाका की पढ़ाई अधिक नहीं थी, फिर भी आवश्यक प्रारंभिक शिक्षा अर्थात् चौथी-पांचवीं कक्षा तक की शिक्षा उन्होंने भलीभांति पाई थी। पढ़ाई पूरी करने के बाद कबाकाका ने पोरबन्दर के राणा साहब के निजी हिसाब-नवीस और पत्रलेखक का काम किया था। राणासाहब को कबाकाका के काम से सन्तोष मिला और उनकी कार्यदक्षता व चतुराई पर उन्हें पूरा विश्वास बैठ गया। इस कारण उपयुक्त अवसर आने पर राणा साहब ने कबाकाका को पोरबन्दर की दीवानगिरी के पद पर नियुक्त कर दिया।

राज्य के उच्च पदाधिकारी की नियुक्ति का तरीका उस समय यह था कि नियुक्त किये जाने वाले व्यक्ति को राजा की ओर से सुन्दर कलमदान में तीन-चार कलमें, एक दवात और स्याही सुखाने के लिए बारीक रेती का पात्र भेज दिया जाता था। यदि कलमदान पीतल का भेजा जाता तो इससे तहसीलदार के पद पर नियुक्ति मानी जाती और यदि चांदी का भेजा जाता तो दीवान के पद पर नियुक्ति समझी जाती थी। जब पोरबन्दर से ओताबापा पर बार-बार मंत्रिपद स्वीकार करने के लिए दबाव डाला गया, तब वह स्वयं तो कुतियाणा से पोरबन्दर नहीं गये, परन्तु अपने पुत्रों में से उन्होंने करमचन्द गांधी को उस पद के लिए भेजना स्वीकार कर लिया।

वस्तुस्थिति कुछ भी रही हो, कबाकाका चाहे पहले राणासाहब के निजी मंत्री रहे हों और बाद में राज्य-मंत्री बने हों या सीधे ही कुतियाणा से पोरबन्दर राज्य के मंत्रिपद पर नियुक्त किये गए हों—यह बात निश्चित-सी है कि वह बहुत छोटी आयु में ही दीवान बनाए गये थे।

जब कबाकाका ने दीवान-पद सम्भाला तब उनकी आयु मुश्किल से २५ वर्ष की थी। अनुमान है कि ईस्वी सन् १८४७ में उनको मंत्रिपद दिया गया था। अपनी आयु के पच्चीसवें वर्ष से लेकर बावनवें वर्ष तक कबाकाका ने पोरबन्दर में दीवान का काम किया। इसके बाद उनके जीवन के अंतिम दस वर्ष, १८७५ से १८८५ तक, राजकोट के राजकाज में बीते। यह अंतिम समय उनके जीवन में राजकीय, पारिवारिक और स्वास्थ्य की दृष्टि से बड़े संघर्ष का था।

पोरबन्दर में कबाकाका एक सच्चे और न्यायनिष्ठ दीवान के रूप में विख्यात थे। उनके द्वारा दिये गए फैसले पर राणा साहब अपील नहीं सुना करते थे। यदि कोई प्रार्थी अपील लेकर राणा साहबके पास जाता तो राणा साहब उसे लौटा देते और कहते, "जाओ, फिर से गांधी के पास ही जाओ। उनका समाधान होगा तो वही तुम्हारा उचित न्याय करेंगे।" कबाकाका के समय में न्याय-पद्धति पुराने ढंग की और सीधी-सादी थी। प्रजा के गरीब वर्गों को न्याय पाने में मुद्दत तक परेशानी नहीं उठानी पड़ती थी। मुसीबत में पड़ा हुआ व्यक्ति सीधा ही हाकिम के पास पहुंच जाता था और राजा तथा दीवान-जैसे सर्वोच्च अधिकारी के समक्ष अपने कष्ट का बयान निःसंकोच कर सकता था।

न्यायाधीश के रूप में कबाकाका की लोकप्रियता का एक कारण और भी था। वह आगन्तुक की बात बड़े धीरज और सहानुभूति से सुना करते थे। निजी रहन-सहन में भी वह अत्यधिक सादे थे। उनकी वेश-भूषा और बातचीत का तरीका इतना सीधा-सादा था कि मामूली राहगीर और दीवान के बीच कोई खास भेद नजर नहीं आता था। अपने इस स्वभाव के कारण दीन और दुखी के सहृदय मित्र बनने में और उनके दिल की बात का पता लगाने में कबाकाका को देर नहीं लगती थी।

स्कूली शिक्षा अधिक न होने पर भी कबाकाका के ज्ञान की गहराई विलक्षण थी। उनका पठन-पाठन कम था, परन्तु नित्य नियम से साधु-संतों से ज्ञान-श्रवण करते थे।

वैसे तो शुरू से ही हमारे परिवार में कथा-श्रवण करने की परम्परा चली आ रही थी, पर कबाकाका की श्रवण-भक्ति असाधारण और प्रगाढ़ थी। कथा-ग्रंथों में वह प्रायः श्रीमद्भागवत और गोस्वामी तुलसीदासजी के रामचरितमानस का श्रवण करते थे। इसके अतिरिक्त श्रीमद्भगवद्गीता का प्रवचन सुनने में भी उनको रस आता था। बुढ़ापे में भी वह गीता के श्लोकों को कण्ठस्थ करने का प्रयास करते थे। दिन भर तो वह राज्य-

व्यवस्था के काम-काज में लगे रहते, फिर भी सुबह-शाम दोनों समय घंटे-डेढ़ घंटे कथा-श्रवण अवश्य करते थे। विद्वान न होते हुए भी कबाकाका ने असाधारण बौद्धिक विकास प्राप्त किया।

पोरबन्दर में कबाकाका की दीवानगिरी का समय गांधी-कुटुंब की सुख-समृद्धि का मध्याह्न-काल कहा जा सकता है। जब वह भोजन करने बैठते तब उनके साथ नित्य ही कम-से-कम २० थालियां और लगाई जाती थीं; उत्सव-पर्व आदि के अवसरों पर तो भोजन करने वालों की संख्या १००-१५० तक पहुंच जाया करती थी। कबाकाका के उस वृहद् परिवार में भाई-भतीजों के अतिरिक्त मुनीम और नौकर आदि का भी समावेश रहता था।

पांच भाइयों के परिवार के अतिरिक्त निकट के रिश्ते के भी कई युवक कबाकाका के पास नौकरी की खोज में आये थे। उनमें से १५-२० युवकों को उन्होंने योग्यतानुसार राज्य के विविध महकमों में नियुक्त करा दिया था। वह स्यंव निगरानी रखकर उनकी कार्य-शक्ति का विकास करते थे। इतने विशाल परिवार में प्रत्येक के घर की, तीज-त्यौहार की, बहू-बेटियों की छोटी-मोटी आवश्यकताओं की और सामाजिक व्यवहार की देख-भाल कबाकाका स्वयं करते थे। व्यक्ति छोटा हो या बड़ा, उसके लिए जब सगाई, विवाह, शिक्षा, बीमारी और रस्म-रिवाज की समस्या सामने आती थी तब कबाकाका के मार्ग-दर्शन में वह सारा कार्य संपन्न हो जाता था।

पुतलीमां ने भी पूरे परिवार की माता का स्थान ले रखा था। जितनी भी बहू-बेटियां कुटुंब में थीं उन सबको खाना खिलाने के बाद और यह जांच कर लेने के बाद कि एक बच्चा भी भूखा नहीं रह गया है, पुतली-काकी भोजन के लिए बैठती थीं। वह कभी चिड़चिड़ेपन से या ऊंची आवाज से नहीं बोलती थीं, न किसी को डाटती-डपटती या अपमानित ही करती थीं। अनेकानेक बहू-बेटियां उनकी सेवा में रहती थीं, नौकर भी कई थे, परन्तु वह किसी से अपना काम नहीं कराती थीं। आलस्य तो उनमें नाम को भी नहीं था। बड़े सवेरे अंधेरे ही उठ जाती थीं। और तबसे आधी रात तक घर या रसोई का कुछ-न-कुछ काम वह करती रहती थीं। उनका भोजन बहुत सादा था। सबके भोजन के बाद जो थोड़ा-सा मिल जाता था उससे संतोष कर लेती थीं, पर दूसरों की आवश्यकता की पूर्ति का सदैव ध्यान रखती थीं।

केवल पुतलीमां ही घर के काम में जुटी रहती हों और कबाकाका

आदेश-मात्र दिया करते हों, ऐसी बात नहीं थी। परिवार के सरताज और राज्य के दीवान होते हुए भी कबाकाका ने रसोई का भार हल्का करने के लिए साग-सब्जी काटकर तैयार करने का दैनिक कार्य अपने ऊपर ले रखा था। सवेरे रघुनाथजी के मंदिर में, जो मकान से करीब ही था, कबाकाका की बैठक रहती थी। वहीं पर मुलाकातियों का तांता लगा रहता था। कबाकाका राजकाज की बातचीत करने के साथ-साथ तरकारी काटने का काम करते जाते थे।

कबाकाका का प्रथम विवाह उनकी १४ वर्ष की आयु में हुआ था। दूसरा विवाह पच्चीस वर्ष की आयु में उनके विधुर होते ही हो गया। प्रथम विवाह से कबाकाका के दो पुत्रियां हुईं। सबसे बड़ी भूलीबहन और दूसरी पानकुंवरबहन। भूलीबहन की पुत्री आनन्दबहन बापूजी के समवयस्क थीं और आनन्दबहन के सुपुत्र मथुरादास भाई त्रिकमजी बम्बई के सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता थे।[1]

पानकुंवरबहन के पति दामजी महेता को कबाकाका ने पोरबन्दर में राज्य की अच्छी नौकरी दिलाई थी।

कबाकाका का दूसरा विवाह उसी वर्ष हुआ, जब पोरबन्दर के दीवान-पद पर उनकी नियुक्ति हुई। इसके बाद तीसरा विवाह कब हुआ, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। लेकिन चौथा विवाह जो पुतलीबाई से हुआ वह तीसरी पत्नी के जीवन-काल में ही हुआ था। बापूजी की बड़ी बहन ने, जिन्हें हम गोकी फइबा कहते हैं, बताया, "मेरे पिता की चार स्त्रियां थीं। मेरी मां पुतलीबा दात्राणा गांव की थी। जब मेरी मां से पिताजी ने शादी की तब उनकी पहले की स्त्री जीवित थी। मेरी मां ने मुझे बताया था कि उनकी तीसरी पत्नी अपाहिज थीं। उनके पैर वात-रोग से जकड़ गए थे। अपने आप उठ-बैठ नहीं पाती थीं। इसलिए

---

१. मथुरादास भाई बम्बई कारपोरेशन के बरसों तक मेयर रहे। गांधीजी का साहित्य एकत्र करने का काम मथुरादास भाई ने महादेवभाई से भी पहले शुरू किया था। साबरमती आश्रम के आरम्भ के दिनों में मेरे पिताजी बापूजी के लेखों और भाषणों का संग्रह तैयार कर रहे थे। उसको सुन्दर ढंग से सम्पादित करने और 'गांधीजीनी विचार-दृष्टि' नाम से प्रकाशित करने का श्रेय मथुरादास भाई को है। बापूजी की गुजराती आत्मकथा का संक्षिप्त संस्करण मथुरादास भाई ने तैयार किया है और 'बापू की प्रसादी' नामक पुस्तिका भी उन्होंने लिखी है।

पिताजी उनसे कहा करते थे कि तू कह दे तो मैं वंश चलाने के लिए नई ले आऊं। वह कह देती थीं कि जीवित पर कोई देता हो तो भले ले आओ। होते-होते एक दिन पिताजी ने उनसे कहा, 'तुम ठीक-ठीक बताओ। अगर तुम कहोगी तो आज ही आ जायगी।' स्वीकृति मिलते ही सचमुच हाथ-के-हाथ मेरी मां से पिताजी की शादी हो गई। विवाह के समय पुतलीमां की आयु प्रायः तेरह वर्ष की होगी।"

कबाकाका से पुतलीमां का विवाह सन् १८५७ में हुआ था। इस हिसाब से तब कबाकाका की आयु ३५-३६ वर्ष की सिद्ध होती है। बापूजी ने जो लिखा है कि उनका अंतिम विवाह ४० वर्ष की आयु के बाद, हुआ, यह ठीक नहीं बैठता। पुतलीमां के चार संतान क्रमशः १८६० '६२, '६६ और '६९ में हुईं।

प्रथम संतान लक्ष्मीदास गांधी का दूसरा नाम कालिदास गांधी था। वह आजीवन पोरबन्दर राज्य के विश्वस्त सेवक रहे और खजान्ची का काम करते रहे। बापूजी को पढ़ने के लिए विलायत भेजने में मुख्य समर्थन इन्हीं का था और लंदन का खर्च बहुत-कुछ पूरा करने का भार इन्होंने उठाया था। लक्ष्मीदास गांधी के बड़े पुत्र शामलदास गांधी थे।[1]

पुतलीबा की दूसरी संतान रळियातबहन, जो बापूजी से ७ वर्ष बड़ी हैं, आज भी राजकोट में कबाकाका के ही मकान में रह रही हैं। अपनी ९० वर्ष की आयु तक वह चक्की भी चलाती रहीं और चौका-बर्तन भी अपने हाथ से ही करती रहीं। कट्टर वैष्णव-आचार के कारण बापूजी के साथ वह आश्रम में हरिजनों के बीच न रह सकीं। वैसे उनकी मुखाकृति, बातचीत की ध्वनि, ठेठ गुजराती भाषा तथा सरल छोटे वाक्यों के प्रयोग में वह बापूजी से बहुत मिलती-जुलती हैं।[2] पुतलीमां की तीसरी संतान करसनदास गांधी का प्रभाव बापूजी पर हाई स्कूल में प्रवेश होने तक विशेष रूप से रहा। अपनी 'आत्मकथा' में बापूजी ने 'चोरी और प्रायश्चित्त' वाले प्रकरण में इस मंझोले भाई का उल्लेख किया है। इनका और बापूजी का

---

१. शामलदास गांधी बम्बई के प्रसिद्ध गुजराती पत्र 'वन्देमातरम्' के सम्पादक थे। पाकिस्तान की समस्या ने जब जूनागढ़ में उग्र रूप धारण किया तब नवयुवकों की सशस्त्र टोली के सेनानी बनकर आगे बढ़ने का गौरव इन्हीं को प्राप्त हुआ था। इनका देहान्त हो गया।

२. इनका भी देहान्त हो गया।

विवाह एक ही समय हुआ था। करसनदास गांधी ने पोरवन्दर के पुलिस-विभाग में नौकरी की थी और कई बरस तक वह मुख्य थानेदार रहे थे।

पुतलीवा ने २ अक्तूबर १८६९ के दिन मोहनदास को जन्म दिया। बापूजी के जन्म के समय कवाकाका की आयु ४७ वर्ष और पुतलीमां की २५ वर्ष से कम थी। जव उन्होंने अपने सुपुत्र को विलायत भेजते समय उससे तीन महान प्रतिज्ञाएं कराईं तब वह प्राय: ४२ वर्ष की थीं। ४६ वर्ष की अवस्था में उनका देहांत हो गया। उस समय बापूजी विलायत में बैरिस्ट्री का अध्ययन कर रहे थे।

: ८ :

न्यायनिष्ठ कबा गांधी

सन् १८७५ तक कवाकाका ने पोरबन्दर के मन्त्रिपद का कार्य सम्हाला। विशाल संयुक्त परिवार की धुरी वहन करते हुए वह सुख-शांति के साथ धर्मग्रन्थों का श्रवण-मनन करते रहे। युवावस्था ढलने पर ५३ वर्ष की आयु में कवाकाका ने राजकोट के दीवान-पद का नया उत्तरदायित्व सम्हाला।

अंग्रेजी राज्य की स्थिति इस बीच सर्वथा वदल चुकी थी। कम्पनी सरकार का मनमाना तांडव समाप्त होकर ब्रिटिश पार्लामेंट का सुयोजित फौलादी पंजा पूरे भारतवर्ष पर छा गया था। झांसी की रानी की तलवार ने जो सबक सिखाया था उसके फलस्वरूप अब बड़े ही नहीं, छोटे-छोटे, चार-छः गांवों के बिन्दु सदृश राज्यों को भी अंग्रेजों की ओर से जीवनदान मिल गया था। उन सबकी चतुर्सीमा की रक्षा का भार ब्रिटिश सरकार ने अपने ऊपर ले लिया था और बदले में उन राज्यों से साम्राज्य-सेवा और भरपूर वफादारी प्राप्त होती रहती थी। भारत में ही नहीं, कदाचित् सारी पृथ्वी पर बीसवीं शताब्दी के लिए काठियावाड़ असंख्य छोटे-बड़े राज्यों का एक बेमिसाल संग्रहालय बन गया था।

जिस प्रकार अंग्रेजों ने आम जनता को निःशस्त्र करना आवश्यक समझा उसी प्रकार उन्होंने अपने साम्राज्य की सुरक्षा के लिए इन छोटे-मोटे राज्यों की सीमा निर्धारित करना भी अनिवार्य समझा। सौराष्ट्र

में जहां २४० से अधिक राजा थे, सीमा-निर्धारण का कार्य सरल नहीं था। अखंड भारत को पाकिस्तान और हिन्दुस्तान में विभाजित करते समय अंग्रेज राजनीतिज्ञों ने जिस प्रकार दोनों के पक्ष में न्याय करने की तीव्र चिंता दिखाई वैसे ही सौराष्ट्र में भी अपनी न्यायनिष्ठा साबित करने के लिए उन्हें गहरी छानवीन में उतरना पड़ा। अंग्रेज अकेले यह काम पूरा नहीं कर सकते थे। स्थानीय अनुभवी व्यक्तियों की सहायता प्राप्त करना उनके लिए अनिवार्य था। चतुर वाटसन साहब ने इस काम के लिए स्थानीय लोगों की एक सीमा-समिति नियुक्त कर दी और उसका मुख्य उत्तरदायित्व सच्चरित्र, न्यायनिष्ठ और तीक्ष्णबुद्धि कबाकाका को सौंपा। ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा रानी विक्टोरिया को भारत की सम्राज्ञी घोषित करने का जो प्रस्ताव सन् १८७६ में स्वीकृत किया गया उसके एक वर्ष पूर्व श्री करमचन्द गांधी को सीमा-समिति के काम पर राजकोट बुलाया गया। इससे कल्पना की जा सकती है कि तबतक इस देश में अंग्रेजी राज्य की जड़ कितनी दृढ़ हो चुकी थी। सीमा-समिति का कार्य प्रायः तीन-चार वर्ष तक चलता रहा। इस कार्य से कबाकाका की ख्याति सारे सौराष्ट्र में फैल गई। किसीके पक्ष या विपक्ष में वह झुके नहीं। जो उन्होंने न्याययुक्त समझा वही किया। इस सम्बन्ध में एक प्रसंग मैंने ऐसा सुना जिससे कबाकाका की न्यायनिष्ठा, स्वार्थत्याग की वृत्ति और निर्णय की दृढ़ता झलकती है।

जब सीमा-समिति का काम चल रहा था, समिति के सदस्य स्वयं सीमावर्त्ती गांवों में जाकर किसानों से सारी बात का पता लगा लेने के बाद अपना निर्णय देते थे। कई बार एक ही गांव के खेतों को इस राज्य में या उस राज्य में शामिल करने का नाजुक प्रश्न सामने आता था और उसका निपटारा कबाकाका स्वयं मौके पर जाकर करते थे। एक बार जब जूनागढ़ और पोरबन्दर राज्य के बीच की सीमा का निर्णय किया जा रहा था, ठोयाणा ग्राम के पास भीणसार नामक छोटी नदी के किनारे पैमाइश करनेवाले सरकारी कर्मचारियों ने सीमा-रेखा बनाने के लिए ऐसे स्थल पर खूंटे गाड़ दिये कि पूरा ठोयाणा गांव पोरबन्दर की चौहद्दी में पड़ जाता था। कबाकाका पोरबन्दर के दीवान रह चुके थे, इसलिए उनका हित इसी व्यवस्था में निहित था। परन्तु गांव के किसानों ने जब उन्हें बताया कि ठोयाणा गांव वास्तव में जूनागढ़ के क्षेत्र का है, तब कबा-काका ने वे खूंटे उखड़वा डाले और ठोयाणा गांव जूनागढ़ के प्रतिनिधियों को दिलवा दिया। आज भी ठोयाणा गांव के मुसलमान जागीरदार, जो 'खोखर परिवार' कहलाते हैं और जो जूनागढ़ के नवाब के 'छोटे सामन्त'

(गरासदार) थे, कबाकाका के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

जब सीमा-समिति का काम समाप्त हुआ तब वाटसन साहब ने कबाकाका के प्रामाणिक और निष्पक्ष कार्य पर बहुत संतोष प्रकट किया। उन दिनों राजकोट राज्य के दो हिस्से किये गए थे। राजकोट राज्य से पचास एकड़ जमीन अंग्रेजों ने ९९ वर्ष के पट्टे पर ले रखी थी और वहां ब्रिटिश सरकार की सीधी हुकूमत और कायदे-कानून लागू थे। इस टुकड़े के अतिरिक्त शेष राजकोट पर वहां के ठाकुर की हुकूमत थी। राजकोट की गद्दी पर उस समय ठाकुर बावाजीराज आसीन थे। उनके राज्य की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। ठाकुर साहब के कर्मचारी राजकाज में शिथिल थे। इसलिए वाटसन साहब ने कबाकाका को अपना दीवान बना लेने के लिए ठा० बावाजीराज को परामर्श दिया और उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया।

राजकोट राज्य के दीवान के नाते कबाकाका को राजकोट एजेंसी के अंग्रेज-अधिकारियों से कई बार मुकाबला करना पड़ता था, परन्तु वह राजकोट रियासत के स्वाभिमान और हित को हानि पहुंचाने के लिए कभी तैयार नहीं हुए। अपनी नौकरी से हाथ धो बैठने की नौबत आने पर भी अंग्रेज साहबों के क्रोध की उन्होंने परवाह नहीं की।

राजकोट के ठाकुर बावाजीराज प्रजाहितैषी और प्रभावशाली व्यक्ति थे। उनका रौब-दाब काफी था और छोटे-बड़े राजकर्मचारी उनसे भयभीत रहते थे। परन्तु कबाकाका के पुनीत और तेजस्वी व्यक्तित्व के सामने ठाकुर साहब भी दबते थे। ठाकुर साहब को शराब का शौक था। परन्तु वह बड़ी सावधानी रखते थे कि कहीं कबाकाका उन्हें मद्यपान करते देख न लें। राजमहल में मदिरासेवन की तैयारी के समय यदि द्वारपाल कबा गांधी के आने की सूचना दे देता तो ठाकुर साहब तत्काल अपना मदिरापात्र लौटा देते थे और अपनी बैठक का कमरा मदिरा से शून्य करने के बाद ही कबाकाका को मुलाकात देते थे। यदि कबाकाका के आने से पूर्व वह मदिरापान कर चुके होते तो उस हालत में वह कभी उनके सामने नहीं आते थे। राजा के हृदय में अपने तेजस्वी दीवान का इतना अधिक आदर था।

रिश्वत, खुशामद आदि से कबाकाका को बड़ी घृणा थी। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में भी वह निश्चित वेतन के अतिरिक्त अपने पल्ले में कुछ भी नहीं बांधते थे। अपने द्वारा चलाए जानेवाले राजतन्त्र में भ्रष्टाचार को दूर रखने में कबाकाका बहुत सजग रहते थे। एक बार ठाकुर बावाजीराज ने उनसे आग्रह किया कि वह अपने लिए जितनी इच्छा हो उतनी

जमीन ले लें। इस आग्रह के पीछे कबाकाका को अनुचित पुरस्कार का आभास हुआ और इस कारण उन्होंने इन्कार कर दिया। उन्होंने राजा से कहा, "मुझे मेहनताने में जो निश्चित वेतन मिल रहा है उससे अधिक कुछ भी दान लेना मेरे लिए अशोभनीय है।" इस पर ठाकुर साहब ने उनको समझाने की कोशिश की कि आपको अपने उत्तराधिकारियों के लिए भी तो कुछ इन्तजाम कर जाना चाहिए। किन्तु कबाकाका अटल रहे। बाद में जब परिवार के लोगों ने भी थोड़ी-बहुत जमीन स्वीकार करने का आग्रह किया तब बापा ने रहने के मकान के लिए जमीन का एक छोटा-सा टुकड़ा ले लिया।

राजकोट से उत्तर में प्रायः पच्चीस मील पर वांकानेर जंकशन पड़ता है, जहां से रेलवे की एक शाखा मोरवी शहर को मुड़ती है। दो-तीन सौ फुट की ऊंचाई वाली एक समतल-सी पहाड़ी पर वांकानेर शहर के कुछ सुन्दर मकान बने हैं और इसी पहाड़ी की तराई में वह छोटा-सा शहर बसा है।

वांकानेर राज्य भी राजकोट की तरह सौराष्ट्र का एक द्वितीय श्रेणी का राज्य था। वह विस्तार तथा आय में राजकोट से कुछ अधिक और आबादी में उससे कुछ कम था। वहां का शासन-प्रबन्ध बिगड़ गया था। कर्मचारियों के भ्रष्टाचार के कारण वहां का राजा तंग आ गया था। अनुशासनहीनता और कार्यदक्षता का अभाव दिन-दिन बढ़ता जाता था। ऐसी दशा में किसी सज्जन ने राजा साहब को परामर्श दिया कि यदि राजकोट से कबा गांधी को बुलाकर उनके हाथ में वांकानेर राज्य की बाग-डोर दी जाय तो रियासत बर्बादी से बच जायगी। कर्मचारी शीघ्र ही ठिकाने पर आ जायंगे। राजा साहब को यह सलाह पसन्द आगई और उन्होंने कबाकाका के साथ बातचीत शुरू कर दी। राजकोट के दीवान-पद को छोड़कर वांकानेर का दीवान-पद लेने के लिए कबाकाका कुछ शर्तों-पर राजी हो गए। राजकोट की नौकरी से त्याग-पत्र देकर वह वांकानेर गये और वहां के राज्य-प्रबन्ध का काम अपने हाथ में ले लिया।

सबसे पहले उन्होंने वांकानेर राज्य के चालू काम-काज का गहरा अध्ययन किया। कुछ समय बाद रियासत के आंतरिक प्रबन्ध में आवश्यक परिवर्तन करना शुरू कर दिया। उनके कुछ परिवर्तन राजा साहब को पसन्द नहीं आए। वह अप्रसन्न हो गए और वचनबद्ध होने पर भी अपने को रोक नहीं पाए। उन्होंने कबाकाका के प्रबन्ध में हस्तक्षेप कर ही दिया। एक पत्र भेजकर राजा साहब ने कबाकाका को सूचित किया

कि अमुक परिवर्तन ठीक नहीं है, उसे पूर्ववत कर दिया जाय। कबाकाका को यह पत्र बुरा लगा; परन्तु उस समय उन्होंने धैर्य से काम लिया। इस घटना को पूरे दो महीने भी न बीते होंगे कि राजा साहब के पास से उन्हें दूसरा पत्र मिला, जिसमें कर्मचारियों के छोटे-मोटे परिवर्तन के बारे में उलहना दिया गया था। इस पत्र के उत्तर में कबाकाका ने धैर्य व शांति के साथ राजा साहब को संक्षिप्त उत्तर भेजा, "मैंने जो किया है, सोच-समझकर किया है और राज्य के हित के लिए ही किया है।"

थोड़े समय बाद उन्होंने कबाकाका के एक बड़े निर्णय को उलटने के लिए प्रत्यक्ष हस्तक्षेप किया, जो कबाकाका के लिए सर्वथा असह्य था।

जमीन महसूल के रूप में राज्य के पास जो गल्ला इकट्ठा हो जाता था उसे नीलाम करके व्यापारियों को बेच दिया जाता था और वह धन राजकोष में जमा कर दिया जाता था। नीलाम का तरीका यह था कि पड़ोस के राज्यों में अनाज का भाव पूछ लिया जाता था और उसके आधार पर राज्य की ओर से गल्ला नीलाम कर दिया जाता था। कबाकाका ने इस प्रथा के अनुसार अन्य राज्यों के नीलाम के भाव मंगवा लिये और व्यापारियों को एकत्र करके राज्य के गल्ले की बोली शुरू करवाई। जब कबाकाका की समझ से उचित मूल्य तक बोली पहुंच गई तब उन्होंने अपनी जिम्मेदारी पर राजा साहब से सम्मति लिये बिना ही नीलाम समाप्त कर दिया।

इस पर कुछ असन्तुष्ट कर्मचारियों ने राजा साहब से कबाकाका की शिकायत की।

शिकायत सुनकर राजा साहब गुस्सा हो गये और उन्होंने कबाकाका के इस कार्य में हस्तक्षेप करना चाहा, परन्तु उनकी चली नहीं।

कबाकाका के लिए अब वांकानेर में ठहरना कठिन हो गया। राजकोट से जब उनको आमन्त्रित किया गया था तब राजा साहब के साथ बातचीत में मध्यस्थ नवलशंकरभाई थे। उनके पास कबाकाका ने पत्र द्वारा संदेश भेज दिया कि शर्तों का प्रत्यक्ष भंग किया गया है। अब मैं इस राज्य में अधिक समय रुकना नहीं चाहता। मुझे तुरन्त राजकोट लौट जाना है। आप मेरे लिए सवारी का प्रबन्ध करा दें। जबतक सवारी का प्रबन्ध नहीं होता, मैं भूखा-प्यासा रहूंगा। इस राज्य की सीमा से बाहर न निकल जाऊंगा तबतक पानी की एक घूंट भी लेना मेरे लिए अनुचित है।

वांकानेर के महाजनों ने और राजा साहब के प्रतिनिधियों ने कबा-

काका को शान्त करने और मना लेने की बड़ी कोशिश की, परन्तु कबा-काका नहीं माने।

वांकानेर से कबाकाका के लौट आने के बाद प्रायः दो सप्ताह बाद राजा साहब का एक पत्र कबाकाका के पास आया। उसमें क्षमा मांगी गई थी और वांकानेर का मन्त्रित्व पुनः स्वीकार करने के लिए उनसे अनुरोध किया गया था। कबाकाका ने उस पत्र को ध्यान से पढ़ा और उसमें उनको पश्चात्ताप की झलक दीख पड़ी। अतः वे राजा साहब का अनुरोध स्वीकार करके दुबारा वांकानेर गये; परन्तु वहां मुलाकात में जो बात-चीत हुई उससे उन्हें संतोष नहीं हुआ। उन्होंने परख लिया कि नित्य के काम में भी राजा साहब अपना हस्तक्षेप छोड़ना नहीं चाहते और पूरा उत्तरदायित्व सौंपने के लिए दिल से तैयार नहीं हैं। इसलिए पुनः वांकानेर के दीवान-पद का बोझा उठाना कबाकाका ने उचित नहीं समझा।

उन दिनों सभी रियासतों में राज्य-कर्मचारियों का वेतन प्रतिमास नहीं चुकाया जाता था। पांच-सात महीने या वर्ष-डेढ़ वर्ष बाद राजा लोग अपनी सुविधा के अनुसार इकट्ठा वेतन चुकाया करते थे। राज-कर्मचारियों को बनियों के यहां खाता खोलने की सुविधा कर दी जाती थी, ताकि घर-खर्च चलता रहे।

इस प्रणाली के अनुसार कबाकाका को भी अपनी वांकानेर की नौकरी का वेतन तबतक कुछ नहीं मिला था। जब राजा ने देखा कि कबा-काका मानने वाला नहीं है, तब उन्होंने उनसे लिखित त्यागपत्र की मांग की। कबाकाका ने तत्काल अपना त्यागपत्र लिख दिया और उसमें स्पष्ट कर दिया कि "चूंकि आपने दो बार मुझे धोखा दिया है और मेरे प्रबन्ध में आपको जहां कुछ भी हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए था वहां बार-बार हस्तक्षेप किया है और इस प्रकार हमारी शर्त का भंग किया है, इसलिए मैं मन्त्री-पद से त्यागपत्र देता हूं व शर्त के अनुसार अपना पूरा वेतन चाहता हूं।"

राजा साहब को त्यागपत्र की भाषा चुभी और उन्होंने त्यागपत्र लौटा दिया। फिर कबाकाका पर राजा साहब ने जोर डाला कि धोखा देने की बात का और शर्त भंग का उल्लेख छोड़कर केवल सीधा-सादा त्यागपत्र लिख दें, परन्तु कबाकाका ने ऐसा करने से इन्कार करते हुए साफ कह दिया कि जो वास्तविक बात नहीं है, वह क्यों लिखूं? मेरे लिए यहां से जाने का दूसरा कारण ही क्या है?

राजा साहब ने कबाकाका से त्यागपत्र के बदलवाने का बहुतेरा

प्रयास किया और न बदलने पर सारा-का-सारा वेतन न देने की धमकी दी, किन्तु कबाकाका अविचलित रहे। सत्य को छिपाकर खुशामद करने की बात पर उन्होंने तीव्र विरोध व्यक्त किया।

अन्त में राजा साहब ने अधिक बहस करना छोड़कर कहा, "आप त्यागपत्र लिखिए ही मत। आपने आजतक राज्य की जो सेवा की है उसको ध्यान में रखकर मैं आपको दस हजार रुपये देता हूं। उन्हें ले लीजिए और झगड़ा समाप्त कीजिए।"

कबाकाका इसके लिए भी राजी नहीं हुए और उसको अस्वीकार करते हुए बोले, "अगर आपको देना है तो बाकायदा मेरा त्यागपत्र स्वीकार करके शर्त के अनुसार पूरा वेतन दीजिए, अन्यथा मुझे एक कौड़ी भी नहीं चाहिए।"

राजा ने कहा, "सोच-समझ लीजिए। बिना लिखा-पढ़ी के कोई इतनी बड़ी रकम सहज में नहीं दे देता। सुना है आप अपने पुत्र (यह संकेत विद्यार्थी मोहनदास गांधी के लिए था।) को पढ़ने के लिए विलायत भेजने का विचार कर रहे हैं। उस समय यह रकम काम आ जायगी। अपने लिए नहीं तो अपने बच्चों के लिए ही सही, आप इसे ले लीजिए।"

कबाकाका ने राजा साहब की बात का दो टूक उत्तर दिया, "आप के समान कृपालु राजा-महाराजा अनेक मिल जायँगे, जो अंजलि भर-भरकर देने वाले होंगे, परन्तु मेरे समान राजसेवक विरले ही मिलेंगे, जो सचाई पर पर्दा डालने से इन्कार करें और इतनी बड़ी रकम को लात मार दें।"

राजा साहब और कबाकाका के बीच जब यह विवाद चल रहा था तब उन दोनों की जान-पहचान के और मध्यस्थता करने वाले एक और सज्जन वहां उपस्थित थे। उन्होंने कबाकाका को समझाने की कोशिश की और कहा, "राजा के रूठने पर क्या होता है, यह तो आप जानते ही हैं। फिर जब राजा अपनी इच्छा से आपको दस हजार रुपये दे रहे हैं तो उसको स्वीकार कर लीजिए। यह रकम थोड़ी नहीं है।"

यह कहकर उन्होंने कबाकाका को उत्तर देने का मौका दिये बिना ही रुपयों की थैलियां उठाकर कबाकाका की सिकरम में रखवा दीं। कबाकाका तुरन्त उठ खड़े हुए और स्वयं अपने हाथों से उन थैलियों को उन्होंने सिकरम से उतारकर ड्योढ़ी के चबूतरे पर रख दिया। इसके बाद सिकरम पर सवार होकर राजकोट के लिए चल दिए।

वांकानेर से लौट आने पर पालीताणा, मांगरोल आदि रियासतों से कबाकाका को निमन्त्रित किया गया। लेकिन अब इतनी दूर नई जगह

जाकर नए सिरे से घर बसाने का उत्साह उन्हें नहीं रहा था। जब कबा-काका वांकानेर गये थे तब भी घर राजकोट में ही था, तथा बापू वहां के हाई स्कूल में पढ़ते थे। नौकरी का कोई सिलसिला बैठ नहीं रहा था, इसी बीच कबाकाका की दमे की बीमारी बढ़ गई और बारबार दमे के दौरे उन्हें परेशान करने लगे। इस बीमारी के समाचार सुनकर राजकोट के ठाकुर साहब बावाजीराज कबाकाका से मिलने आये। ठाकुर साहब को पता तो चल ही गया था कि वह नौकरी की खोज में हैं। मिलने पर उन्होंने कबाकाका से कहा, "गांधी, आपको और कहीं जाने का विचार नहीं करना चाहिए। राजकोट में आपका अपना विशिष्ट स्थान बना ही हुआ है। बीमारी से उठने पर अपना दीवान-पद सम्हाल लें।"

असल में बात यह थी कि कबाकाका के वांकानेर चले जाने के बाद राजकोट रियासत का राज्यप्रबन्ध शिथिल पड़ गया था और राजकोष खाली हो गया था। मेरे दादाजी ने, जो उस समय राज्य की नौकरी में थे, बताया था कि पुलिस के महकमे वाले का वेतन पहले प्रतिमास दिया जाता था, पर कबाकाका के वांकानेर जाने पर छः-छः महीने तक उसे चुकाने की व्यवस्था नहीं हो पाती थी।

जब बीमारी का दौरा समाप्त हुआ और कबाकाका अच्छे हो गए तो वे राजकोट के ठाकुर के बुलावे की प्रतीक्षा करते रहे। पर शायद ठाकुर साहब अपनी बात भूल गए थे। कई दिन बीत जाने पर भी जब बुलावा नहीं आया तब कबाकाका ने कहीं निकट ही नौकरी की तलाश शुरू की। जूनागढ़ जाने का निश्चय हो गया। किन्तु जाने ही वाले थे कि फिर उन्हें दमे का दौरा उठ आया। बीमारी की बात सुनकर श्री बावाजीराज दुबारा कबाकाका से मिलने आये और स्वास्थ्य की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा, "आपके पास काम न होने के कारण बार-बार बीमारी का हमला होता है। इस बार बीमारी का दौरा कम होते ही आप मुझे खबर दें। मैं आपको मन्त्री-पद सौंप दूंगा।" यह कहकर ठाकुर साहब घर लौटे और उन्होंने दूसरे ही दिन बाकायदा आज्ञापत्र निकालकर कबाकाका को राजकोट के दीवान-पद पर नियुक्त कर दिया।

इसके कुछ समय बाद, अपने पुत्रों के विवाह-संस्कार में सम्मिलित होने के लिए कबाकाका को पोरबन्दर जाना पड़ा परन्तु सिकरम की दुर्घटना हो गई। उसमें उन्हें बहुत चोट आई और वह बड़ी कठिनाई से राजकोट लौट पाए। बिस्तर छोड़ना उनके लिए सम्भव नहीं रहा। इस बीमारी का ख्याल करके ठाकुर बावाजीराज ने राज्य के दीवान-पद का भार

स्वयं सम्हाला और कबाकाका को पूरा वेतन देना जारी रखा। छः महीने तक लगातार इस प्रकार उपकृत होना कबाकाका को उचित नहीं लगा और उन्होंने ठाकुर साहब से त्यापपत्र स्वीकार करने को कहा। किन्तु राजा साहब ने उनकी बात नहीं मानी। इस प्रकार दूसरी छमाही भी बीत गई, किन्तु चोट बहुत भारी थी और नाजुक जगह पर लगी थी, इसलिए उसमें नासूर हो गया और वह ऐसा विकट था कि कबाकाका अपने काम पर उपस्थित नहीं हो सके।

इसी बीच बावाजीराज और उनके कुटुंबियों के बीच जमींदारी के बारे में कुछ मनमुटाव हो गया। इस संघर्ष में कबाकाका ने न्याय जमींदारों के पक्ष में देखा, इसलिए उन्होंने ठाकुर साहब से जमींदारों की बात मान लेने का आग्रह किया। ठाकुर साहब बुरा मान गए। पर उन्होंने कबाकाका से इतना ही कहा, "आपके साथ हमारा इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी आप विरोधी पक्ष का समर्थन क्यों करते हैं?"

अपना मत दबा देना कबाकाका के स्वभाव में नहीं था। ठाकुर साहब से इस प्रकार बातचीत होने के तुरन्त बाद कबाकाका ने उन्हें सूचित कर दिया, "अब आप कृपया दूसरे किसी दीवान को खोज लीजिए। अब मैं अधिक सेवा नहीं कर सकूंगा। मेरा स्वास्थ्य भी सुधरने के बजाय दिन-दिन गिरता जा रहा है।" इस प्रकार कबाकाका को, बिस्तर पर रहने पर भी, लगभग एक वर्ष तक पूरा वेतन मिलता रहा। त्यागपत्र स्वीकृत हो जाने के बाद भी तीन वर्ष तक, अर्थात् जीवन के अन्त तक, उन्हें राजकोट के ठाकुर की ओर से पेंशन के रूप में पचास रुपये माहवार मिलते रहे।

बरसों तक रोग-शय्या में रहने पर भी कबाकाका के स्वभाव में चिड़चिड़ापन या बेचैनी नहीं आई। उनकी भक्ति-परायणता कायम थी और उनका चित्त शान्त और स्वस्थ रहता था। हमारे बापू अपने पिता की सेवा में बड़ी एकाग्रता से लगे रहते थे। कबाकाका मोहनदास को 'मनु' कहकर पुकारते थे। यदि कबाकाका को कोई आवश्यकता होती तो पहली आवाज वह मनु को ही देते थे और 'मनु' तत्काल उनके पास उपस्थित हो जाता था। प्रातःकाल उठते ही मनु अपने पिता को दतौन देता, उनके शौच हो आने का इन्तजाम करता, उनके पैर धो देता, उनको नहलाता और उनके लिए दवा पीसकर उसका नियमपूर्वक सेवन कराता। इसके बाद वह अपने स्वाध्याय में लीन हो जाता था। पुतली काकी भी कबाकाका की बहुत सेवा करती थीं।

मनु और करमचन्द बापा का एक-दूसरे के प्रति बेहद प्रेम और

विश्वास था। कबाकाका के अन्तिम दिनों में किसीने उनसे पूछा, "काका, आपके बाद आपका स्थान कौन लेगा?"

उन्होंने बहुत गम्भीर होकर धीरे से कहा, "मेरी नाक मनु रखेगा। वह कुल को उजागर करेगा।"

अपने पिताजी की सेवा करने से बापूजी स्वयं कितने कृतार्थ थे, इस पर चर्चा करते हुए बापूजी ने मुझसे एक बारबहुत ही गम्भीरता के साथ कहा था, "आजकल शिक्षा का जो प्रवाह चल पड़ा है उसकी निरर्थकता लोगों की समझ में जाने कब आयगी? सच्चा शिक्षण सेवा में ही निहित है, हमें अपने आश्रम के विद्यार्थियों को बड़ों की सेवा करना सिखाना चाहिए। अपने शिक्षक की और मातापिता की सेवा करना कोई हजार सफों के पढ़ लेने से भी अधिक है। मैं जो उन्नति कर पाया हूं उसका श्रेय मेरी पितृसेवा को ही है। मैंने तो इतना भी नहीं पढ़ा होगा, जितना तुम लोगों को आश्रम में पढ़ने को मिल रहा है। मेरी बुद्धि का और मेरे हृदय का विकास, मेरे चारित्र्य का गठन और मेरी लगातार होती रहने वाली प्रगति, सभी कुछ बचपन की मेरी पितृसेवा की आभारी है। उसी की बुनियाद पर मेरा ज्ञान पनपा है। जिसे इस बात का अनुभव लेना हो वह सेवा करके देखे। निश्चय ही सेवा में उसे अपना सर्वांगीण विकास दिखाई देगा।"

: ६ :

मेरे पितामह

मेरे दादाजी ने सन् १८५३ से लेकर १९३७ तक, अर्थात् ८४ वर्ष की सुदीर्घ आयु पाई और अपना जीवन पवित्रता से गुजारा।

उनका नाम श्री खुशालचन्द गांधी था। श्री उत्तमचन्द गांधी उनके दादा थे। ओताबापा के दो विवाह हुए थे। पहली पत्नी को कड़वीमां और दूसरी को लक्ष्मीमां कहा जाता था। कड़वीमां के चार पुत्रों में सबसे छोटे पुत्र मेरे परदादा श्री जीवन गांधी और लक्ष्मीमां के दो पुत्रों में बड़े श्री करमचन्द गांधी थे। इस प्रकार मेरे परदादा और कबागांधी सौतेले भाई थे। परन्तु मेरे दादा पर कबाकाका का वात्सल्य अपने सगे बेटे के समान ही था।

हमारे परिवार में हाई स्कूल की पढ़ाई पूरी करने वालों में शायद मेरे दादाजी ही सबसे पहले युवक थे। गणित के पर्चे में पर्याप्त नम्बर न आने के कारण उनकी गिनती 'नान मैट्रिक' में की गई। लेकिन तब 'नान मैट्रिक' होना भी बड़ी बात थी। दादाजी के बाद उनके भाइयों में केवल बापूजी ही मैट्रिक तक पढ़े व बैरिस्टर हुए।

'बापू' और 'बापूजी'—इन दोनों सम्बोधनों का अर्थ अब प्रायः एक ही हो गया है। लेकिन जब मैं बच्चा था तब हमारे घर में इनका अर्थ भिन्न था। उस समय बच्चे अपने पिता को 'बापू' और पितामह को 'बापूजी' कहते थे। इस प्रथा के अनुसार मैं अपने दादा को 'बापूजी' कहता था। दादाजी के सभी चचेरे भाइयों के लिए उनके नाम के साथ 'बापूजी' का प्रयोग करना मेरे जैसे पौत्र के लिए आवश्यक था। जब मोहनदास बापूजी के साथ हमारे घर का सम्बन्ध अति निकट का हो गया, तब उनका नाम लेना अशिष्ट माना जाने लगा। अतः माता-पिता की शिक्षा से मैं उन्हें बापूजी और अपने दादा को 'बड़े बापूजी' कहने लगा। देवदासजी तथा रामदासजी अपने पिता को बचपन से 'बापू' कहकर पुकारते थे; किन्तु मैं उनका पौत्र था, इसलिए मुझे उनको 'बापू' कहने का अधिकार नहीं था।

जब बापूजी देश-भर के 'बापूजी' बन गए और राष्ट्र-पिता कहलाने लगे तब सारे देशवासी बापू और 'बापूजी' दोनों शब्दों का एक-सा प्रयोग करने लगे।

बड़े बापूजी (मेरे दादाजी खुशालचन्दजी) 'बापूजी' (मोहनदासजी) से अठारह वर्ष बड़े थे। जब बड़े बापूजी चार वर्ष के हुए तब उन्होंने अपनी माता की गोद खोई और चौदह बरस के होने पर उनके पिता का सहारा टूट गया। जब करमचन्द बापा पोरबन्दर के दीवान के पद पर थे उस समय जीवनबापा छाया परगने के परगना हाकिम थे। एक दिन सवेरे वे दतौन करते-करते मकान के ऊंचे चबूतरे पर से अकस्मात गिर पड़े और उनके सिर में गहरा घाव होगया। पता चलने पर कबाकाका घोड़े पर दौड़े हुए तुरन्त पोरबन्दर से छाया पहुंचे और अपने बड़े भाई को अपने साथ पोरबन्दर लिवा ले गए। वहां पर उन्होंने बहुत चिकित्सा व सेवा-सुश्रूषा की, परन्तु जीवन बापा के लिए यह घाव विघातक साबित हुआ। उनके चल बसने पर मेरे दादाजी के माता-पिता का स्थान पुतलीकाकी और कबाकाका ने लिया और उन्होंने इतने वात्सल्य और सजगता के साथ उनको पाला-पोसा कि मेरे दादाजी को अपने माता-पिता का अभाव बिल्कुल महसूस नहीं हुआ।

उम्र के हिसाब से मेरे दादाजी करमचन्द बापा के तीनों पुत्रों से बहुत बड़े थे, इसलिए वे घर में सबसे बड़े भाई के समान ही माने जाते थे। तीनों भाई पूरी तरह मेरे दादाजी का आदर करते थे। उनमें भी अपने से बड़ों के प्रति पूज्यभाव रखने वाले बापूजी ने बचपन से ही बड़े बापूजी का प्रेम और विश्वास सम्पादित कर लिया था। जब बापूजी ने अंग्रेजी पढ़ना शुरू किया उस समय घर में मेरे दादाजी ही अकेले ऐसे थे, जिनसे थोड़ी-बहुत अंग्रेजी पूछी जा सकती थी। इसलिए जब किसी विषय के समझने में कठिनाई होती तो बापूजी मेरे दादाजी के पास पहुंच जाया करते थे।

पढ़ चुकने के बाद बड़े बापूजी ने किसी रोजगार की तलाश शुरू की। वह विवाहित हो चुके थे। कबाकाका पर अपना जीवन-भार अधिक समय तक डाले रखना उन्हें अच्छा न लगता था। सबसे पहले उनको राजकोट रियासत के किसी भायात के लड़कों को पढ़ाने का काम मिला। परन्तु वह काम सदा चलने वाला नहीं था। इसी बीच राजकोट में कोतवाल की जगह खाली हुई और दादाजी की नियुक्ति हो गई। बाद में वह रियासत-भर के पुलिस सुपरिंटेंडेंट हो गए। इसके बाद राजकोट में ही म्युनिसिपल आफिसर और अन्त में राज्य के आडिटर की नौकरी उनको दी गई। शुरू से अन्त तक उन्होंने अपनी नौकरी में अपना हाथ स्वच्छ रखा। करम-चन्द बापा से उन्हें रिश्वतखोरी से अछूता रहने की जो विरासत मिली थी उसे घरेलू कठिनाइयों के बावजूद उन्होंने पूरी तरह निभाया।

दादाजी कोसों तक घोड़े को भगाते हुए ले जाया करते थे, तमंचे से अचूक निशाना लगाते थे और ऊंट की तेज सवारी पर कई मंजिल तय कर लेते थे। इसके अतिरिक्त घोड़े व ऊंट पर बैठकर ऊंची और चौड़ी बाड़ों को कूद जाने का शौक भी उन्हें था।

जब बड़े बापूजी पुलिस सुपरिंटेंडेंट थे तब की एक कहानी है। उनके पास खबर आई कि राजकोट की आजी नदी के उस पार कुछ डकैत गायों को हांके लिए जा रहे हैं। जो-कुछ सामान और दो-चार सिपाही उस समय उपलब्ध हुए उन्हें लेकर दादाजी तुरन्त डकैतों के पीछे चल पड़े। पुलिस को देखकर डकैतों ने गोफन घुमा-घमाकर जोरों से पत्थर बरसाने शुरू किये। फिर उन्होंने खेतों की मेड़ों पर आग लगा दी और धुएं के बादलों की ओट में भागना शुरू किया। इस पर भी बड़े बापूजी आगे ही बढ़ते गए और अन्त में बरसती लाठियों और पत्थरों के बीच उन्होंने तीन-चार डकैतों को गिरफ्तार कर लिया। इसके बाद सौराष्ट्र की 'मीयाना' नाम

की उस उद्दाम जाति के चोर-डकैतों का आतंक राजकोट को नहीं भोगना पड़ा।

इसी प्रकार राजकोट में होने वाली जुआखोरी को खत्म करने के लिए भी बड़े बापूजी ने बहुत प्रयत्न किया।

म्युनिसिपैलिटी का काम जब दादाजी करते थे तब कभी-कभी मैं उनके साथ जाया करता था। कड़ाके की धूप में घंटों वह राजकोट शहर की गली-गली में घूमते थे, कूड़े-कर्कट और नाली की आवश्यक सफाई स्वयं खड़े रहकर करवाते थे।

राजकोट के ठाकुर बावाजीराज के न रहने और नई राजसत्ता के आने पर रियासत के राजकाज में गांधी परिवार का प्रभाव समाप्त हो गया। नए आनेवालों के बीच खुशालचन्द गांधी-जैसे व्यक्ति के लिए स्थान कम रह गया था। इसलिए पेंशन की उम्र पूरी होने से पहले ही उनको नौकरी से अलग कर दिया गया। राज्य ने पेंशन कुछ भी न दी, केवल मुक्त करते समय छः महीने का वेतन अधिक दे दिया। इसके खिलाफ शिकायत करना व्यर्थ समझकर बड़े बापूजी ने मन को शांत रखा और पचास वर्ष से भी कम आयु में प्रवृत्तिमय जीवन छोड़कर निवृत्तिमय जीवन अंगीकार कर लिया। यद्यपि उस समय उनका स्वास्थ्य अच्छा था व काम करने का उत्साह भी था, फिर भी कमाई के लिए नए रोजगार की खोज में वे नहीं पड़े और उन्होंने धन-संग्रह का मोह त्याग दिया। उस समय उनके तीन पुत्र बड़े होकर काम में लग चुके थे और घर के खर्च का बोझ उन्होंने उठा लिया था।

लगातार तीस वर्ष से भी अधिक समय तक बड़े बापूजी का स्वाध्याय और पूजा-पाठ नित्य आठ-दस घंटे तक चलता रहा। अस्सी वर्ष की आयु के बाद जब आंख की रोशनी कम हो गई और अपने-आप पढ़ना कठिन हो गया तब नियमपूर्वक दूसरों से पुस्तकों का श्रवण करने लगे। संस्कृत और गुजराती धर्म-ग्रंथों का अध्ययन बहुत गहराई के साथ उन्होंने किया था। मैंने देखा था कि पचहत्तर वर्ष की आयु के बाद भी उनमें नई-नई पुस्तकें पढ़ने और तत्वज्ञान की बारीकियों का नई दृष्टि से अनुशीलन करने का उत्साह था। वृद्धावस्था के कारण वह दिन-भर पढ़ने और पढ़ी हुई पुस्तकों के उद्धरण लिखने के परिश्रम से थक जाया करते थे। यह देखकर मैंने एक बार बड़ी नम्रता के साथ कहा, "बापूजी, अब तो आपको आराम लेना चाहिए।" मेरा प्रस्ताव उन्होंने तुरन्त अस्वीकृत कर दिया और मुझको समझाने लगे, "बुढ़ापे में ज्ञान-संग्रह के प्रति-

रिक्त और काम ही क्या है, जिसमें मैं समय बिताऊं? आज का संचित ज्ञान अगले जन्म में काम देगा। नये जन्म में वचपन से ही वुद्धि तेजस्वी वनेगी।"

अस्सी वर्ष की आयु के वाद जब उनकी देह जरा-जीर्ण हो गई और अंग शिथिल पड़ गए तब भी वह व्राह्म मुहूर्त्त में बिस्तर छोड़कर हाथ में माला व गोमुखी ले लेते थे और स्थिरासन होकर सूर्योदय तक जप तथा चित्त को ध्यानावस्थित करने का अभ्यास किया करते थे। इसके बाद स्नानादि से निवृत्त होने पर दुबारा पूजा में बैठ जाते थे और मध्याह्न तक श्रीमद्भगवद्गीता का पाठ व मनन किया करते थे। बीमारी का अवसर छोड़कर उन्होंने चालीस वर्ष तक नित्य गीता के छः अध्यायों के पाठ का नियम रखा।

केवल धार्मिक स्वाध्याय करके ही उन्होंने सन्तोष नहीं माना। बापूजी के क्रांतिकारी जीवन का अनुशीलन करने में भी उन्होंने जीवन-भर अपनी वुद्धि-शक्ति का प्रयोग किया। बापूजी की जिस किसी बात को वह समझ पाए व जिसमें उनको सत्य प्रतीत हुआ, उसे उन्होंने स्वीकार कर लिया और अपनी परिपक्व आयु में भी अपने रहन-सहन व जीवन में जो परिवर्तन कर सकते थे, उन्हें प्रसन्नतापूर्वक किया।

बापूजी के बैरिस्टरी की शिक्षा के लिए इंग्लैंड जाने के दिन से, बड़े बापूजी ने, उनके साथ जो सहयोग आरम्भ किया उसे अन्त तक निभाया। एक बड़ा भाई, अपने से आयु में अठारह वर्ष छोटे भाई की बात को शिरोधार्य करे और छोटे भाई के मार्गदर्शन के अनुकूल अपने पूरे जीवन में परिवर्तन करे, ऐसा प्रसंग दुर्लभ ही कहा जायगा। रियासत की नौकरियों में अपने बालकों को प्रविष्ट कराना ठीक नहीं है, यह बापूजी की बात बड़े बापूजी ने मान ली। अफ्रीका जैसे दूर देश में अपने पुत्रों को भेजने की बापूजी की मांग को तुरन्त सम्मति दे दी और एक-एक करके चारों पुत्रों को बड़े बापूजी ने बापूजी के हाथ सौंप दिया। यदि बड़े बापूजी चाहते तो अपने पुत्रों को ऐसे रोजगारों में लगे रहने का आग्रह कर सकते थे, जिसके सहारे पर्याप्त कमाई होती और घर में लक्ष्मीजी की कृपा हो जाती; पर ऐसी स्थूल अभिलाषा को उन्होंने नहीं अपनाया, बल्कि अपने छोटे भाई मोहनदास की सूचना के अनुसार सत्कार्य एवं सत्पथ पर बने रहें, यही मनोकामना उन्होंने अहर्निश रखी।

बड़े बापूजी प्रति तीन-चार वर्ष के वाद साबरमती आश्रम में बापूजी के पास आया करते थे। उनकी भेंट का भव्य दृश्य देखते ही बनता था।

दादाजी की तरह दादीजी भी बहुत भक्तिपरायण और कर्मठ थीं। हमारे घर में नौकर-चाकर कभी-कभी ही होते थे और जो रहे वे भी तब जब दादीजी वृद्ध हुईं और कुएं से पानी लाना उनके वश का नहीं रहा। रसोई-पानी, चौका-बर्तन सब-कुछ अपने हाथ से करने के उपरान्त गायों का सारा काम भी वह स्वयं किया करती थीं। इतना सब करने पर भी नित्य नियम से दर्शन के लिए मन्दिर आने-जाने में सुबह-शाम मील-भर से ज्यादा चला करती थीं। दोपहर में जहां भागवत की कथा हो, वहां जाती थीं और रात को हमें कृष्ण-चरित की व दूसरी कथाएं सुनाया करती थीं। अपनी दादीजी से सुनी हुई पौराणिक कथाओं का मुझपर गहरा असर पड़ा है।

जब बापूजी का स्वराज्य-आंदोलन तेजी पर था व सत्याग्रह के सिल-सिले में लाठी-मार और जेल-यात्राएं बढ़ गई थीं, तब दादीजी का उत्साह दर्शनीय था। जेल जाने वाले या लाठी का प्रहार सहने वाले युवक जब उनके पास आते तब वह उनके शौर्य को बढ़ावा देतीं और उन्हें आशीर्वाद देतीं। वह बिल्कुल निरक्षर थीं, परन्तु अखबार में आने वाली बातों से परिचित रहती थीं और उनका लोकस्वभाव का ज्ञान गहरा था। अपने बुढ़ापे में उन्होंने महीन कपड़ा त्याग दिया था और हाथ के सूत की मोटी व भारी साड़ी पहनना शुरू किया था।

दादीजी व दादाजी दोनों की एक महत्वाकांक्षा थी कि अपने मोहन-दासभाई की अलौकिक जीवन-साधना का सफल परिणाम अपने जीवन-काल में ही देख लें और मृत्यु से पहले ही स्वराज्य का अनुमान हो जाय। अंशतः उनकी यह मनोकामना पूर्ण भी हुई। सन् १९३५-३६ में भारत के आठ प्रान्तों में कांग्रेस का मन्त्रिमंडल कायम हो गया। उनको बापूजी की इस सफलता पर बहुत सन्तोष हुआ। इसके वर्ष भर बाद, कुछ ही महीने के अन्तर से, पहले दादीजी और बाद में दादाजी स्वर्गवासी हुए।

बड़े बापूजी का अन्तकाल बड़ा सुखद था। मृत्यु के समय उनकी आयु ८[illegible] वर्ष की थी। एक दिन मध्याह्न के समय गीता पर प्रवचन सुनकर लौटने के बाद वे बैठे-ही-बैठे मूर्तिवत हो गये। कुछ देर बाद आंखें खुलने पर उन्होंने बताया कि अब मुझे संसार में किसी प्रकार की आकांक्षा नहीं है, केवल गीता-पाठ सुनाया जाय।

मेरे काका श्री नारायणदासजी गांधी और उनके पुत्र भाई पुरुषोत्तम गांधी उनके अन्तकाल में उनके पास पहुंच गये थे। दोनों ने मिलकर गीता-पाठ का आरम्भ किया और उसे सुनते-सुनते बड़े बापूजी बाह्य जगत

से निवृत्त हो गए। सांस और हृदय चलता रहा और ध्यानावस्थित की भांति वह परम-शान्ति से तीन-चार पहर लेटे रहे। इसके बाद देह से जीवन-ज्योति उड़ गई और मुखमंडल पर एक प्रकार का शांत तेज छा गया।

: १० :

बालक मोहन

विदेश से आने वाले कुछ लेखकों ने बापूजी के बारे में अपना अभिप्राय बताते हुए लिखा है, "देखने में गांधी का शरीर रूपवान नहीं लगता था, किन्तु उनकी असुन्दर मुखाकृति पर भी एक प्रकार की ऐसी आभा दमकती थी कि उनके दर्शन के लिए गया हुआ व्यक्ति बहुत प्रभावित हो जाता था।" परन्तु बापू के मुख और शरीर की सुन्दरता के बारे में मेरी दादीजी कहा करती थीं कि मोहनदासभाई बचपन में इतने रूपवान थे कि उन्हें बार-बार गोद में लेने को जी ललचाता था। बड़ा सौम्य मुखड़ा था उनका। उनके बाल कुछ घुंघराले थे और शरीर अपने पिता का-सा गोरा था। नुकीली नाक, सुन्दर आंखें और भाल चौड़ा व चमकता हुआ था।

दादीजी ने यह भी बताया था कि वैसे तो मैं मोहनदासभाई की भाभी थी, परन्तु जब मैं ससुराल आई तब वह बिल्कुल छोटे थे। पुतलीकाकी का मन उनपर लगा ही रहता था, और सबसे छोटे होने के कारण वह उन्हें बहुत प्यार करती थीं। फिर भी बहुत बड़े परिवार की गृहस्थी के काम से पुतलीकाकी को फुरसत कम मिलती थी और वह छोटे मोहनदासभाई को बहलाने-घुमाने का काम हम बहू-बेटियों के जिम्मे कर देती थीं।

मोहनदासभाई साधारण बच्चों की अपेक्षा रोते कम थे, इसलिए उनको गोद में लेकर घूमने तथा खेलने में हमें आनन्द आता था। बाद में पुतलीकाकी ने मोहनदासभाई की रखवाली का कार्य रम्भाबाई को सौंप दिया था। रम्भाबाई का वात्सल्य मोहनभाई पर बहुत था और मोहनभाई भी रम्भाबाई से बहुत हिल गए थे।

बापूजी का जन्म होने तक उनकी दादीजी लक्ष्मीमां जीवित थीं। अपने दो पुत्र करमचन्द गांधी और तुलसीदास गांधी में से उन्होंने छोटे पुत्र के साथ अपना उत्तर-जीवन बिताना पसन्द किया। तुलसीदास गांधी का घरेलू नाम चकन गांधी था। कबाकाका को राजकाज का बोझ ज्यादा उठाना पड़ता था और बार-बार पोरबन्दर छोड़कर बाहर जाना पड़ता था, इसलिए घर का कार्यभार हलका करने में चकनकाका उनको भरसक सहायता देते थे। यों तो सभी भाई एक ही मकान में रहते थे और त्यौहार-पर्व आदि में एक साथ भोजन करते थे, परन्तु साधारण जीवन में सबके चौके-चूल्हे अलग-अलग थे। कबाकाका के कमरे से लगा हुआ जो कमरा था उसी में लक्ष्मीमां रहती थीं; पर उनके खान-पान व सेवा-शुश्रूषा का प्रबन्ध चकनकाका करते थे।

कबा गांधी और पुतलीमां के बच्चों में से प्रथम तीन तो सामान्य ढंग से पल गए, परन्तु बालक मोहन ने आकर अपने माता-पिता की चिन्ता को बहुत बढ़ा दिया। वैसे मोहन शरारत करने वाले, दूसरों को सताने वाले या बड़ों को तंग करने वाले नहीं थे, उनका स्वभाव सीधा था, परन्तु बचपन से ही उनमें पारे के-जैसी चंचलता थी। वह कहीं चैन से बैठते ही नहीं थे। जब देखो, भागते-फिरते थे और आंखों से ओझल हो जाते थे। पुतलीमां भारी गृहस्थी के बोझ में इतनी दबी हुई थीं कि वह अपने मोहन के लिए पूरा समय नहीं दे पाती थीं। स्वयं कबाकाका भी उन पर निगरानी नहीं रख पाते थे। पर उनको चपल और स्फूर्ति से भरे हुए इस बालक के लिए बड़ी आशंका रहती थी। अपनी इस चिन्ता को हलका करने के लिए उन्होंने एक दिन अपने छोटे भाई चकनकाका से रम्भाबाई को प्राप्त कर लिया था।

बापूजी के बड़े भाई और बहनों के नाम पिछले प्रकरण में बता दिये गए हैं। उन सबके घरेलू नाम इस प्रकार थे: लक्ष्मीदास गांधी—'काला', करसनदास गांधी—'करसनिया', मोहनदास गांधी—'मोनिया', और रलियात बहन—'गोकी'। बापू की इन बड़ी बहन को हम लोग गोकी फइबा (बुआ) कहते हैं।

सन् १९५२ में जब मैं बुआ से मिला तो उन्होंने अपने भैया के बारे में बहुत-सी बातें सुनाईं:

मैं 'मोनिया' से सात वर्ष बड़ी हूं। कालाभाई के बाद और करसनिया तथा मोनिया के पहले मेरा नम्बर था। मोनिया बहुत खिलखिलाकर हँसता था। मैं कई बार उसे गोद में लेकर चलने की कोशिश करती थी,

पर मां मुझे डांटती थीं। वह कहती थीं, "तू उसे गिरा देगी," मोनिया फाटक के वाहर जाता तो मां मुझे उसके साथ नहीं जाने देती थीं। मां खुद भी मोनिया के पीछे नहीं जाती थीं। केवल रम्भावाई ही उसके पीछे-पीछे जाती थीं। घर से वाहर निकलने पर गाय, घोड़े, वैलगाड़ियों, ऊंट आदि से कुचल जाने का तो खतरा था ही, उसके खो जाने का भी डर था। एक वार वह गीत गाती हुई लड़कियों की टोली के पीछे-पीछे चल दिया। घर में किसी को पता न चला। लड़कियां झुंड बनाकर वस्ती के वाहर एक सुनसान जगह पर पूजा करने के लिए जाया करती थीं। इधर पिताजी (कवाकाका) ने गांव-भर में मोनिया की खोज करवा डाली। रम्भावाई ने गली-गली छान डाली और मां ने घर का कोना-कोना देख डाला, पर मोनिया न मिला। वड़ी देर के वाद एक जानपहचान वाली लड़की मोनिया को ले आई। तव कहीं सवको शांति हुई। इसके वाद पिताजी ने रम्भावाई से कह दिया कि वह मोनिया को अकेला विल्कुल न छोड़े।

घर में वैठना मोनिया को अच्छा नहीं लगता था। भूख लगने पर घर में आता और खा-पीकर तुरन्त खेलने चला जाता। जव घर में रहता तव पिताजी के सामने तो थोड़ा शांत रहता, पर जैसे ही पिताजी वाहर चले जाते, घर की चीजों की उलट-पुलट करने लग जाता। कभी-कभी पिताजी की पूजा करने की जगह पहुंचकर वह पूजा के वर्तनों को उलट देता। ठाकुरजी की मूर्त्ति को चौकी से नीचे रखकर वह स्वयं चौकी पर वैठ जाता।

कुछ वड़े हो जाने के वाद घर की जमीन पर जगह-जगह गोल-गोल लकीरें वनाने में उसको आनन्द आता था। वड़ों को लिखते देखकर वह भी लिखने का प्रयत्न करता था। मां कहतीं, "मोनिया, ऐसा मत कर। जमीन खराव हो जायगी।" वह जवाव देता, "नहीं विगड़ती, मां।" और फिर अपने काम में मगन हो जाता था।

मन्दिर में खेलने जाने का उसे वहुत शौक था। वहां कुआं भी था और पेड़ भी। वहां कहीं गिर न जाय इसलिए रम्भावाई चुपके-चुपके उसके पीछे हो लेती। पर मोहनभाई उसे देखता तो पुकार उठता, "मुझे रम्भा नहीं चाहिए। मुझे रम्भा नहीं चाहिए।" पिताजी उसे समझाते, "रम्भा तुझे कहां पकड़ती है? तुझे जहां जाना है जा। कहीं खो जायगा तो हम तुझे कहां ढूंढ़ते फिरेंगे?" मोनिया उत्तर देता, "मैं नहीं खो जाऊंगा। मुझे रम्भा नहीं चाहिए अकेला जाऊंगा।" परन्तु उसको स्वतंत्र घूमने में वाधा न हो इस प्रकार रम्भावाई उसके पीछे-पीछे ही रहती थी।

बदन से मोहनभाई सदैव छरहरा ही रहा। कालाभाई और करसन-भाई की तरह उसका बदन दोहरा नहीं हुआ।

खेलने में मोहनभैया अकेले रहना अधिक पसन्द करते थे। दूसरे बच्चों से खेलते तो कभी किसी बच्चे की ऐसी शिकायत न आती कि मोनिया ने मुझे मारा है या तंग किया है। कभी-कभी मोहनभैया खुद मार खाकर रोता-रोता आता पर पिताजी या माताजी जरा पुचकार देते तो वह तुरन्त चुप हो जाता।

खेल-कूद में उसको पेड़ों पर चढ़ना अच्छा लगता था। मंदिर में लगे हुए पपीते और अमरूद के पेड़ों से वह बहुधा पके फल तोड़ लाता था। गिर पड़ने के डर से पिताजी उसे पेड़ पर चढ़ने से बार-बार मना करते परन्तु वह मानता नहीं था। कभी-कभी कालाभाई उसको पेड़ पर चढ़ा हुआ देखकर टांग पकड़कर नीचे उतार देते थे। तब वह रोता हुआ मां के पास चला आता और कहता "मां, भाई ने मुझे मारा।"

मां कहतीं, "तू भी उसे मार दे।"

मोनिया उत्तर देता, "ऐसा सिखाती हो! क्या मैं मारूं? बड़े भाई को मारूं? मैं किसी को क्यों मारूं?"

मां कहतीं, "बच्चे आपस में लड़ाई-झगड़ा करते ही हैं। भाई-बहन भी आपस में मार लिया करते हैं। अगर भाई ने तुझे मारा तो तू भी मार दे!"

मोनिया उत्तर देता, "बड़े भाई भले मार दें। वह बड़े हैं। मैं नहीं मारूंगा। जो मारते हैं उन्हें मारने से तू क्यों नहीं रोकती? मारनेवाले से न मारने को कहना चाहिए या मार खानेवाले को मारना सिखाना चाहिए?"

तब मां मोनिया से कहतीं, "तुझे कहां से ऐसा जवाब सूझता है? कौन ऐसी बातें तुझे सिखाता है? जाने विधाता ने तेरे लिए क्या लिखा है!"

मोनिया को जब पाठशाला में बैठाया गया तब उसका मन पढ़ने में लग गया। दूसरे बच्चे पाठशाला जाने से बचने के लिए तरह-तरह के ढोंग करते और तरकीब लड़ाते, परन्तु मोहनभैया समय होते ही खुशी-खुशी पाठशाला जाता।

बुआजी ने आगे बताया—मेरे पिताजी मेरी मां के लिए बहुत चिन्तित रहते थे। चौथी बार की वह शादी थी। अपना वंश चलानेवाला कोई हो, इसलिए उन्होंने यह शादी की थी। पहली तीन पत्नियों से एक भी बेटा नहीं हुआ था। अब जब बेटे हुए तो पिताजी को यह आशा न थी कि बेटों की कमाई खाने के लिए वह स्वयं जीवित रहेंगे। परन्तु मां को बेटे सुखी रखें, यह उनकी अभिलाषा थी। बार-बार पिताजी मां से कहा

करते थे कि तेरी कोख को यह मोनिया जरूर उजागर करेगा। यह संस्कारी है और इसका भाग्य ऊंचा है। यह पढ़कर होशियार होगा।

पाठशाला जाने में जिस प्रकार बचपन से ही मोहनभैया नियमित था, उसी प्रकार खाने के बारे में भी चुस्त और सादा था।

बापूजी ने पोरबन्दर की जिस प्रारम्भिक पाठशाला में शिक्षा पाई वह हमारे परिवार के मकान से दो मिनट के रास्ते पर थी। आजकल उसमें किसी व्यापारी का कोयले का गोदाम है। पर उन दिनों पोरबन्दर में वह महत्व की पाठशाला थी। वहां पर पुराने जमाने के पंडित फर्श पर धूल बिछाकर उसपर अंगुली से अक्षर बनाना सिखाते थे। इसलिए वह धूलिशाला कहलाती थी।

बालक मोहन स्वभाव से ही सच्चाई का पक्षपाती था। भूलकर भी वह सत्य से विचलित नहीं होता था। उसके इस स्वभाव के कारण उसके साथ खेलने वाले बालकों ने उसे ऊंचा स्थान दे दिया था।

एक बार बालक मोहन के साथी बच्चों ने मन्दिर के खेल में ठाकुरजी को झूला झुलाने का निश्चय किया। साधारणत: ऐसे खेल के लिए गारे की मूर्ति बनाकर ठाकुरजी के स्थान पर बिठाई जाती थी, किन्तु इस बार एक-दो बालकों को सूझा कि लक्ष्मीनारायण के मन्दिर में अनेक प्रकार के ठाकुरजी सिंहासन पर बैठे हैं, उनमें से दो-एक को उठा लाया जाय। सबको यह प्रस्ताव पसन्द आया और पांच-छ: बालकों की टोली लक्ष्मीनारायण के मन्दिर की ओर चल पड़ी। उनमें दो-तीन बालक 'मोनिया' से कुछ बड़े थे। दो-एक छोटे भी थे। ठाकुरजी को उठा लाने का काम सबसे छोटे साथी पर डाला गया। यहां हम उसे चन्दू कहेंगे।

वह समय पुजारी के आराम का था। अत: उसकी अनुपस्थिति का लाभ लेकर चन्दू ने चुपचाप एक के बाद एक देवमूर्त्ति को अपने कुर्ते के पल्ले में रखना शुरू किया। इस पराक्रम में मूर्तियां आपस में टकराकर बज उठीं और पुजारिन को बच्चों की कारस्तानी की आहट मिल गई। उसने पुजारी को आवाज दी तो चटपट चन्दू वहां से नौ-दो-ग्यारह हो गया। बाकी बच्चे भी भागे और पुजारी उन्हें पकड़ने के लिए पीछे दौड़ा। एक बड़े बालक ने चन्दू से उन मूर्त्तियों को फेंक देने के लिए कहा। पुजारी की नजर बचाकर चन्दू ने उन मूर्त्तियों को आनन्दबाबा के मन्दिर के आंगन में फेंक दिया। पुजारी के हाथ एक भी बच्चा न आया और सब-के-सब हवा हो गए।

उनमें अधिकांश बच्चे गांधी-परिवार के थे और सब भागकर अपने-

बापूजी जहां जन्मे
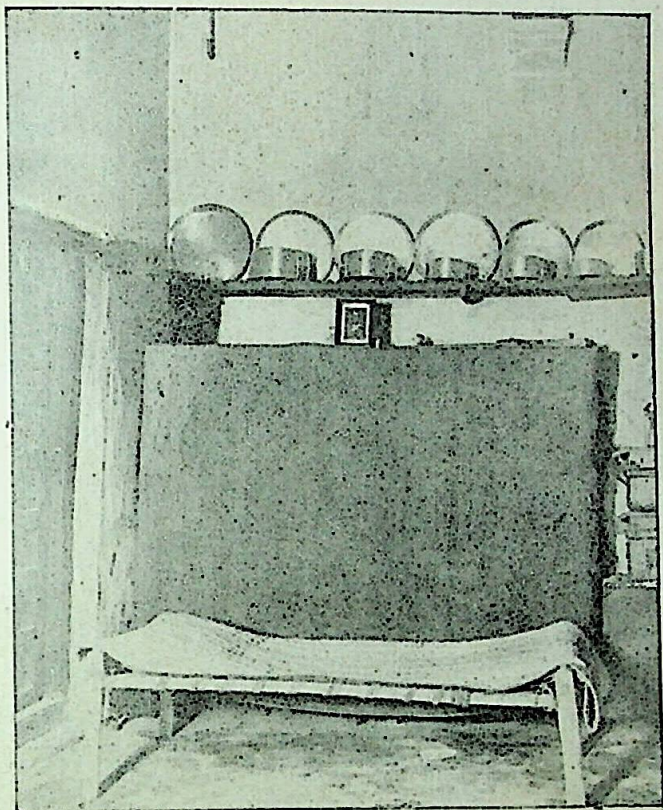
बाल मोहन

विद्यार्थी मोहन

अपने घर में—ओता गांधी के मकान में—जा घुसे। मन्दिर की नित्य पूजा की मूर्त्तियों के बिना पुजारी कैसे लौट सकता था? अतः उसने चन्दू के पिता से, जो बापूजी के चचेरे भाई थे, शिकायत की। चन्दू के पिता तेज स्वभाव के थे। शिक्षा देने के लिए बच्चों को पीटने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता था। फिर वह पक्के वैष्णव थे। लक्ष्मीनारायण के मन्दिर की मूर्त्तियों को चुराना उनकी दृष्टि में गंभीर अपराध था।

उन्होंने चन्दू, उसके बड़े भाई और अन्य सब बच्चों को बुलाकर पूछा, "बताओ, मूर्त्तियां किसने उठाईं? कहां रखी हैं?" परन्तु किसी ने सत्य नहीं बताया। चन्दू के बड़े भाई ने कहा, "हम मन्दिर में खेलने गए थे। पुजारी बेकार ही हमारे पीछे पड़ गया है।" अन्त में बालक मोहन को बुलाकर पूछा गया तो उसने निर्भय होकर सारी बात बता दी। उसने कहा, "चन्दू ने मूर्त्तियां आनन्दबाबा के मन्दिर में डाल दी हैं। कहां पर डाली हैं, यह वही जानता है। मन्दिर में खेल के लिए हम लोग मूर्त्तियां लेने गए थे।"

इस घटना से मोहन के बाल-मित्रों ने समझ लिया कि मोनिया तो ऐसा ही है। बात बना नहीं सकता। जैसा-का-वैसा कह देता है। इसके बाद से उन्होंने उसके साथ बराबरी का बर्ताव करना बन्द कर दिया। इस प्रकार बाल मोहन को एक विशेष प्रतिष्ठा मिल गई। आंख-मिचौनी, गिल्ली-डंडा आदि खेलों में वह बहुत तेज था।

पोरबन्दर में जहां गांधी-परिवार का मकान है वह मुहल्ला बनियों और ब्राह्मणों का है। उससे चार-पांच सौ कदम उत्तर की ओर 'शीतला चौक' नाम का खुला हुआ चौक है, जिसमें शीतला देवी का मन्दिर है।

उस समय उस चौक की दूसरी ओर अधिकतर मकान मुसलमानों के थे। बापूजी के एक बालबंधु ने मुझे बताया कि इस शीतला चौक में हिन्दू-मुसलमानों के लड़के इकट्ठे होकर खेला करते थे। चांदनी रात में ब्यालू से निपटकर इधर से हम हिन्दू बच्चे जाते और उधर से मुसलमान बच्चे आते थे। ये सब प्रायः आठ-दस वर्ष की उम्र के होते थे। घंटे-डेढ़-घंटे तक सभी बालक मर्दाने खेल खेलते थे। कभी-कभी खेल में थोड़ी-बहुत कहा-सुनी हो जाती थी। ऐसे समय मध्यस्थता का काम मोहन को सौंपा जाता था। इस बात का कोई ख्याल नहीं किया जाता था कि औरों के मुकाबले उम्र में वह छोटा और शरीर में दुर्बल है।

स्वयं मोहन को आपस में भिड़ना और गुत्थमगुत्थी के खेल खेलना पसन्द नहीं था। वह हिन्दू या मुसलमान किसी के पक्ष में नहीं खेलता था। किन्तु जो बच्चे आपस में जोर दिखाते थे उनका निरीक्षण वह पूरी सजगता

से करता था। किसने पटकी खाई, कौन चित हुआ, इसका फैसला वह बड़ी स्पष्टता से देता था। उसका निर्णय मिलने पर उसके विरुद्ध कोई बालक आपत्ति नहीं करता था।

यदि कभी कोई दुराग्रही बालक अड़ जाता और जबरन अपनी हार को जीत बताने का प्रयत्न करता तो मोहन कहता था, "बेअदबी मत करो। अलग बैठ जाओ, तुम चित हो चुके हो।"

पोरबन्दर में गांधी-परिवार के मकान में इतना स्थान नहीं था कि उसके सामने या पीछे कोई बाग-बगीचा बनाया जा सके। अतः तिमंजिले की खुली छत की मुंडेर पर बहुत से गमले रख दिये गए थे। उनमें तुलसी के तथा तरह-तरह के फूलों के पौधे थे। उनकी हिफाजत का काम परिवार के बच्चों ने अपने बीच बांट लिया था। मोहन अपने गमलों के पौधों को सबसे अच्छा रखने के लिए बहुत परिश्रम करता था। घड़े भर-भरकर तीन मंजिल ऊपर पानी ले जाने में उसे कभी थकावट नहीं होती थी।

गोकी फइबा बताती हैं कि जब हम लोग पोरबन्दर से राजकोट आए तब घर के आंगन में मोहन ने बड़ी सुन्दर छोटी-सी फुलवारी तैयार की थी। जब वह हाईस्कूल में पढ़ता था तब सवेरे टहलने जाने का और शाम को फुलवाड़ी में खोदने आदि का काम नित्य नियम से करता था। राजकोट की इस फुलवाड़ी में उसने अमरूद, पपीता, रीठा, आदि के वृक्ष; चौलाई, मेथी, धनिया, तुरई आदि की सब्जियां और जूही आदि फूलों की बेल व पौधे लगा रखे थे। शाम को कभी-कभी वह गेंद खेलने जाता था, परन्तु फुलवारी में वह कसकर काम करता था। दिन-भर में वह जरा भी समय व्यर्थ नहीं खोता था। या तो वह अपनी पुस्तकों में डूबा रहता था या फुलवाड़ी में काम करता रहता था। इसके अलावा वह निश्चित समय पर पिताजी की सेवा के लिए उपस्थित हो जाता था।

मोहन के बालजीवन को अपनी आंखों से देखनेवाले उनके बालसाथी बताते हैं कि उसकी दिनचर्या उस समय भी व्यवस्थित थी। पूर्वाकाश में उजाला होते ही वह उठ बैठता था। फिर प्रातःविधि सें निवृत्त होने-और नहाने के लिए गांव के परकोटे के बाहर पिंजरापोल के पासवाले बागीचे में पहुँच जाता था। वहां कुएं पर मोट चला करती थी, इसलिए स्नान की अच्छी सुविधा थी। मोहन के अन्य बालसाथी भी वहां स्नान के लिए जाते थे और वे सब स्वयं अपने कपड़े धोते थे। मोहन और उसके बालसाथी गांव के ऊँचे घराने के बच्चे थे। ऊंचे घरानेवालों में गांव के मोटे और हाथ से कते-बुने कपड़े की प्रतिष्ठा घट गई थी और मिल के बने कपड़े

को वढ़ावा मिल रहा था। कबा गांधी के समय में अहमदावाद की मिल के बने 'बन्दूक छाप' धोती-जोड़े की प्रतिष्ठा थी। छोटा मोहन और उसके साथी भी इसी प्रकार की धोतियां पहनते थे। भले घर के ये बालक आपस में होड़ लगाते थे कि कौन अच्छी धुलाई करता है।

मोहन-जैसे लड़के को भी अपने बालसाथियों की देखादेखी बीड़ी पीने का शौक हुआ। किन्तु उसकी यह विशेषता थी कि लुक-छिपकर बीड़ी पीने के बदले उसने मर जाना अधिक अच्छा समझा। जब अपनी आत्महत्या करना ठीक नहीं लगा तब अपने सत्य पर बट्टा न आने देने के लिए उसने उसे छोड़ देने की प्रतिज्ञा की। अपनी आत्मकथा में उन्होंने इसका रोचक वर्णन किया है।

विद्याध्ययन के समय में सुपारी न खाने का नियम मोहन ने ले रखा था। उस जमाने में पोरवन्दरवासियों में सुपारी का प्रयोग बहुत प्रचलित था। इसलिए यह छोटा-सा त्याग भी उस समय के हिसाब से मोहन की विशेषता का प्रतीक था।

: ११ :

तरुण मोहन

पोरबन्दर के एक लकड़ी के व्यापारी ने मुझे बचपन की एक घटना सुनाते हुए बताया कि एक बार मैंने मोहनभाई के, अपने पिताजी के साथ राजकोट चले जाने के पूर्व, गुस्से में भरकर जोर की चपत लगा दी। यद्यपि वे मुझसे लगभग तीन वर्ष बड़े थे, उन्होंने उलटकर हाथ नहीं चलाया। केवल मुझे अपने पिता के सामने ले जाकर खड़ा कर दिया और कबा गांधी ने मुझे आंख दिखाकर छोड़ दिया। इसके बाद मोहनभाई ने वदले का कोई भाव नहीं रखा। जब हमारा तरीका या खेल मोहनभाई को अच्छा न लगता था तब वे अलग से खड़े हो जाते थे और कहते थे, "ए मारुं काम नहिं", अर्थात् ऐसे हुड़दंग में तुम लोगों का साथ देना मेरा काम नहीं है। जब हममें से कोई ज्यादा शरारत करता था तो मोहनभाई डपटकर कहते थे, "तूं उद्धत न था", अर्थात् तू उद्दंड मत बन, असभ्यता मत कर।

जब कभी विद्यार्थियों के दो दल बन जाते और उनके मुख्य लड़के आपस में द्वेष करने लगते, तब मोहनभाई उन्हें समझा-बुझाकर उनमें मेल-मिलाप कराने का प्रयत्न करते। जब ताकतवर लड़के कमजोरों को सताते तब मोहनभाई निर्बलों का साथ देते। एक ओर तो वह मित्रों की टोलियों से अलग रहते थे और जरा भी समय बेकार नहीं बिताते थे, दूसरी ओर जिससे मित्रता करते थे उसके साथ उसे निभाने में दूसरों का विरोध भी सहन कर लेते थे।

राजकोट के हाईस्कूल में पढ़ने के समय से एक व्यक्ति के साथ उनकी घनिष्ठता बढ़ गई थी। बाद में वह उनके साथ दक्षिण अफ्रीका भी गया था। उसके नाम का निर्देश किये बिना ही 'आत्मकथा' में बापूजी ने बताया ह कि जबतक उन्होंने उसका अनिष्ट आचरण प्रत्यक्ष नहीं देखा, तबतक उसके बारे में आने वाली शिकायतों को वह अनसुनी ही करते रहे थे।

वह मित्र एक मुसलमान लड़का था। मुसलमान होने के कारण नहीं, उसके लक्षण अच्छे न होने के कारण घर वालों ने प्रारम्भ से ही मोहन-भाई को सचेत किया था कि वह उसकी मित्रता छोड़ दें। परन्तु अपने बड़े भाई और अन्य हितैषियों की इस सूचना को उन्होंने नहीं माना था और उत्तर दिया था, "मैं उसके ऐबों को सुधारूंगा, आप चिन्ता न करें।"

मोहनभाई ने जब मांस खाने का निश्चय किया तब इसी लड़के ने मांस प्राप्त करने में उनकी सहायता की थी; किन्तु जब उन्होंने यह निषिद्ध आहार न करने का संकल्प किया तब इस मित्र के विरोध का उनपर कोई असर नहीं हुआ।

मोहनभाई बैरिस्टरी पढ़ने के लिए विलायत गये तो वहां पाई-पाई का हिसाब उन्होंने रखा और अपने आहार-विहार में भरसक कमखर्ची की; परन्तु इस मुसलमान भाई की मित्रता उन्होंने वहांसे भी निभाई। अपना खर्च काटकर भी उसको पैसों की कुछ सहायता भेजी।

इस मित्रता के पीछे मोहनभाई की कृतज्ञता की भावना काम कर रही थी। मोहनभाई जिस पाठशाला में पढ़ते थे उसमें छोटे-बड़े लड़कों के बीच संघर्ष बढ़ जाने पर यह मुसलमान मित्र छोटों का पक्ष लेता था और अपनी शारीरिक शक्ति पर्याप्त होने के कारण बड़े लड़कों की गलत बातों को चलने नहीं देता था। ऐसे सेवाभावी बहादुर की आदतें और भी सुधर जायं, यह तरुण मोहन की मनोकामना थी। परन्तु जब उन्होंने अनुभव किया कि उनके सारे प्रयत्न व्यर्थ जा रहे हैं तब सांप की केंचुली की भांति उस मित्र से सारी घनिष्ठता उन्होंने तत्काल दूर कर दी।

बापूजी ने 'आत्मकथा' के 'चोरी और प्रायश्चित्त' शीर्षक प्रकरण में विस्तार से बताया है कि किस प्रकार उन्होंने माता-पिता से छिपाकर अपने हाथ के कड़े का थोड़ा-सा हिस्सा कटाकर बेच डाला था। उसमे उन्होंने अपने पिता की क्षमावृत्ति और उदारता का परिचय कराया है।

परन्तु उनके उस समय के कठिन मनोमंथन का जो आंखों देखा वर्णन उनकी बड़ी बहन ने मुझे सुनाया, उससे उनके हृदय की दृढ़ता का परिचय मिलता है।

गोकी फइबा ने कहा, "मुझे उस शाम की बात एकदम याद है। मोनिया जब बाहर से आया तो उसके हाथ के कड़े में फूल नहीं था। बा-बापू (पुतलीमां-कबाकाका) दोनों को इस बात का पता चला तो उन्होंने पूछा, "मोनिया, कड़ा तो है, फूल क्या हुआ? कहीं खो गया क्या?" इसका मोहनभाई ने इतना ही जबाब दिया, "मैं क्या जानूं?" फिर किसी ने कुछ नहीं कहा। "खो गया होगा" कहकर बा-बापू दोनों शान्त हो गए। मोनिया को वे कभी टोकते नहीं थे।

फइबा ने आगे की बात बताते हुए कहा, "इसके बाद मोहनभाई अपने पढ़ने के काम में लग गया। परन्तु डेढ़-दो घंटे के बाद वह फिर बा के पास आया और उसने उनसे सही बात बता दी। बाद में पूछा, "बा, मेरी इस भूल पर बापू मुझे मारेंगे?"

बा ने कहा, "जा, अपने बापू से भी सही बात बता दे। वे मारेंगे नहीं। तुझे क्यों कोई मारेगा? चाहे तो तू मत कह, मैं ही बता दूंगी और कहूंगी कि तुझे न मारें।"

मोनिया बोला, "मेरी भूल है तो मैं ही बापू को बताऊंगा। मुझे ही बताना चाहिए।"

ऐसा कहकर मोहनभैया बा के पास से गया और थोड़ी देर में उसने एक चिट्ठी लिखकर बापू के हाथ में दी। उसे पढ़कर बापू ने कहा, "कड़े का फूल क्या, समूचा कड़ा भी यदि तू ले जाय या खो दे तो भी मेरे लिए तुझसे बढ़कर कड़ा नहीं है। मैं तुझे क्यों मारूंगा? मैंने कभी तुझे हाथ से छुआ भी है?"

मोनिया बोला, "लेकिन बापू, जो चोरी करे उसे मारना नहीं चाहिए? मैं चोर नहीं कहलाऊंगा?"

फइबा ने कहा, "मोनिया की इस बात को सुनकर बापू रो पड़े। उनकी आंखों से आंसू टपकने लगे। मोनिया के लिए उनके हृदय में बहुत प्रेम था। उसके ऊपर घर में कोई गुस्सा नहीं करता था।"

राजकोट में कवाकाका बीमार थे। पुतली बा का समय उनकी शुश्रूषा में अधिक वीतता था और मोहनभाई की बड़ी भाभी रसोई का काम संभालती थीं। स्कूल जाने का समय होने पर मोहनभाई आवाज लगाते—भाभी, रसोई तैयार है?

भाभी कहतीं, "दाल-भात तैयार है। शाक छौंककर तवा चढ़ा रही हूं।"

मोहन कहते, "बस, जो तैयार है वही परोस दो। जो बाकी है उसकी राह देखूंगा तो स्कूल में देर से पहुंचूंगा।" यह कहकर वह रसोई में जा बैठते और रात की बासी रोटी खाकर स्कूल चले जाते।

कबाकाका को अपने अन्तिम दिनों में मोहनभाई की यह आदत ठीक नहीं लगती थी। वे कहते थे, "मोनिया, जरा रुककर गरम खाना खाकर जाना। काला और करसन ताजा भोजन करते हैं। तू बासी मत खा। अभी रसोई हुई जाती है। देर हो जाय तो घोड़ागाड़ी में चला जाना।"

इसपर मोहन अपने घुटनों को दिखाकर कहते, "बापू, सच्चे गाड़ी-घोड़े तो यही हैं। मुझे पैदल ही जाने दीजिए। भोजन के लिए मैं ठहरूंगा तो मेरा नम्बर अन्तिम आयगा।"

ग्रहण के दिन हमारे घरों में खाना-पीना बन्द रहा करता था। पूरे घर की सफाई होती थी और छूत निकाली जाती थी। मां कहतीं, "मोहन, आज खाना नहीं है।" मोहन उत्तर देते, "यह नहीं होगा। मोनिया को खाना तो चाहिए ही। चाहे रूखी रोटी ही दे दो।" हार मानकर पुतली-मां दूध से भाखरी[1] बनाकर रख लेतीं और ग्रहण का विचार न करके मोहनभाई वह खा लेते। इसी प्रकार जन्माष्टमी के दिन मोहनभाई कहते कि हमारे जन्म के दिन जब लड्डू बनते हैं तो भगवान के जन्म के दिन हम क्यों भूखे रहें?

बापू के विवाह के संबंध में फइबा ने बताया कि पहले दो बार बापू की सगाई हो चुकी थी। परन्तु दोनों कन्याएं छोटी आयु में ही मर गईं। उन दिनों कन्या के मरने पर श्मशान में ही नई कन्या का तिलक किया जाता था। कस्तूरबा के साथ तिलक हुआ। तीसरी बार जब विवाह-संस्कार की बात चली तब बापूजी ने अपनी अनिच्छा प्रदर्शित की और माता-पिता से कहा, "इतनी छोटी उम्र में शादी क्या करना है!" पिताजी ने उत्तर दिया था, "तुम अपने बच्चों की शादी बड़ी उम्र में करना।

---

१. गेहूं के आटे को मोन डालकर बनाई हुई मोटी कुरकुरी रोटी।

मैं तो तुम्हारी शादी अभी करूंगा। मेरे लिए तुम अनमोल निधि हो। मुझे तो अपने जीतेजी सब आनन्द मनाने हैं।"

उसके बाद पिता का मन रखने के लिए मोहनभाई ने शादी का विरोध नहीं किया। पर गोकी फइबा बताती हैं कि शादी के अवसर पर भी मोहनभाई ने सादगी ही रखी। करसनभाई और दूसरे चचेरे भाई ने तो साज-शृंगार किया, परन्तु मोहनभाई ने सादे कपड़े पहने। उन्होंने सोने का हार पहनने से इन्कार किया और कहा, "मिट्टी के इस शरीर पर पीली मिट्टी लादने से क्या लाभ!"

उन दिनों लगातार चार-पांच दिन तक सज-धज के साथ दूल्हे की सवारी निकाली जाती थी, पर मोहनभाई केवल संस्कार के लिए जाते समय पिताजी का मन रखने-भर के लिए घोड़े पर बैठे थे। वह विवाह सम्पन्न होने के बाद अपने विद्यार्थी-जीवन में फिर से मग्न हो गए थे।

असमय ही कबाकाका का स्वर्गवास हो जाने के कारण मोहनभाई के विलायत जाने के मार्ग में अनेक विघ्न आ खड़े हुए। पाठक जानते हैं कि किस प्रकार मां ने तीन प्रतिज्ञाएं लेकर मोहनभाई को विलायत जाने दिया।

परन्तु पुतलीमां अपने मोनिया की चिन्ता में बीमार हो गईं और दिन-दिन उनका शरीर क्षीण होता गया। जिस दिन बापू को बैरिस्टरी की उपाधि मिलने की खबर आई उस दिन पुतलीमां अपनी रुग्ण-शैया पर बैठ गईं और पुत्र की इस सफलता पर उनके हर्ष के आंसू बह चले। बड़े भाई को बुलाकर उन्होंने कई बार पूछा, "मोनिया कब आयगा? अब कितने दिन हैं? उसका मुंह देखकर मरूं तो मुझे शान्ति मिलेगी।"

लोगों ने उनको धैर्य बंधाने का प्रयत्न किया, पर उन्हें अपने जीवन का भरोसा नहीं रहा था। उन्होंने कहा, "अगर मैं मोनिया का मुख न देख पाऊं तो एक बात अवश्य करना—विलायत से आने पर नासिक ले जाकर उसकी शुद्धि करवाना और उसके हाथ से राजकोट की पूरी जाति को भोज दिलाना।"

बापूजी के विलायत से लौटने पर जब उनको माताजी के देहावसान का समाचार सुनाया गया तो उनको बहुत धक्का लगा। वे 'आत्मकथा' में लिखते हैं:

"पिताजी की मौत से जो चोट मुझे पहुंची उससे अधिक इस मृत्यु-समाचार से पहुंची। मेरे बहुत से मनोरथ मिट्टी में मिल गए।....."

: १२ :

पिता और काका

हमारे परिवार में ऐसी परम्परा चली आ रही थी कि भतीजों के जीवन पर काकाओं का अधिक प्रभाव रहा। इसके अनुसार मेरे काका श्री मगनलाल गांधी ने भी अपने मोहनदासकाका से संस्कारिता और दक्षता पाई तथा आगे चलकर बापू ने खुद मगनकाका को अपना चुना हुआ प्रथम वारिस बनाया। मुझे भी शिक्षा-दीक्षा देने में मगनलालकाका का मुख्य हाथ था। मेरे जीवन में तो मगनलालकाका इतने समा गए हैं कि जब मैं पिता शब्द का उच्चारण करता हूं तब पिता और काका दोनों की मूर्त्ति मेरे समक्ष उपस्थित हो जाती है।

पिता और काका दोनों भाइयों का साहचर्य, सहजीवन, सहपठन प्रायः अविच्छेद्य हो गया था। दोनों की आयु में भी अधिक अन्तर नहीं था। काका पिताजी से कोई दो वर्ष छोटे थे। दोनों में अधिक प्राणवान छोटे भाई थे, इसलिए घर में उनका ही प्रभाव अधिक रहता था। दोनों के स्वभाव में भी बहुत अन्तर था।

पिताजी का स्वभाव छुटपन से ही शान्त और सीधा था। मगन-काका तीखे, अक्खड़ और उत्पाती थे। वह सुबह से शाम तक ऊधम मचाते रहते और किसी के भी वश में नहीं आते थे। दोनों हाई स्कूल में पढ़ने लगे। पाठशाला से लौटने पर पिताजी घंटों मेरे दादाजी के काम में हाथ बटाते थे। बाजार से सौदा लाने और घर के दैनिक व्यय का हिसाब लिखने का काम उन्हीं के जिम्मे था। संध्या के समय वह दूर तक टहलने जाया करते थे और देवदर्शन करके घर लौटते थे। उनको खेलकूद में दिलचस्पी नहीं थी और शरीर से भी वह कुछ दुर्बल रहा करते थे। उधर मगनकाका अखाड़ेबाज थे। उस समय राजकोट के नवजवानों में दंड-बैठक, मुगदल, और दूसरे मर्दानगी तथा साहस के खेलों का अच्छा उत्साह था। अपनी मंडली में मगनकाका प्रायः प्रथम रहा करते थे। अन्धेरा होने पर खेल और व्यायाम के बाद घर आने से पहले ग्वालों के घर जाकर वह गाय का पाव-भर ताजा दूध अवश्य पी लेते थे। तब राजकोट आज की तरह बड़ा शहर नहीं था। वहां ग्रामजीवन ही अधिक था। वह मेरे दादाजी के घोड़ों और तमंचों का भी लाभ उठाने में नहीं चूकते थे। फलतः उनका शरीर असली काठियावाड़ी योद्धा का-सा पुष्ट था। कक्षा में शिक्षक जो

लेखक के

पिता
श्री छगनलाल गांधी

काका
श्री मगनलाल गांधी
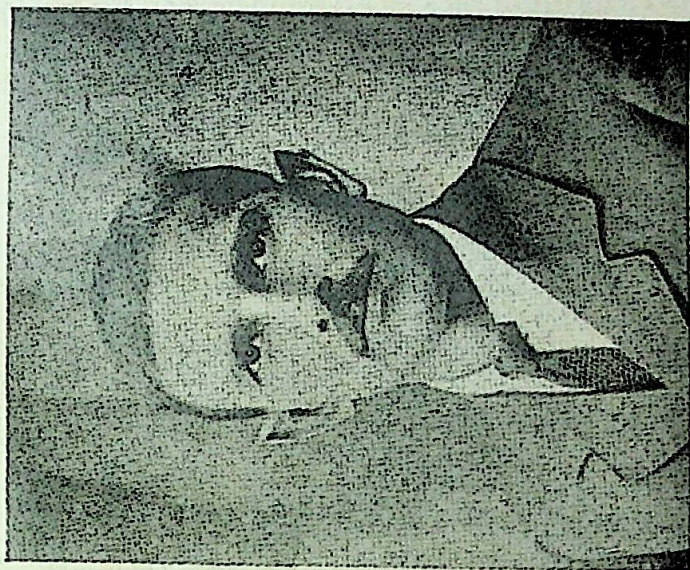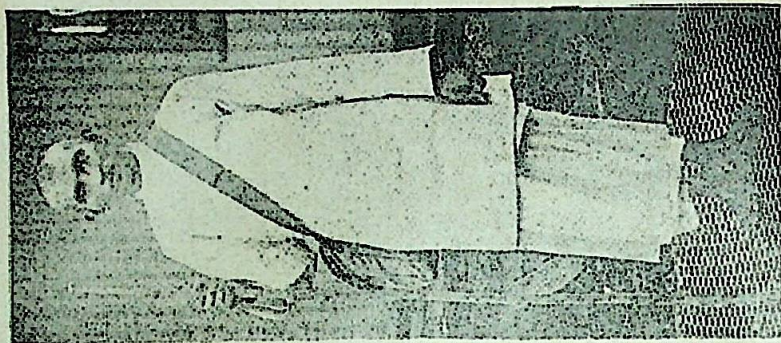
फीनिक्स में

कुछ सिखाते उसे वे बड़ी एकाग्रता से सुनकर ध्यान में रख लेते थे और पाठशाला से लौटने के बाद पुस्तकों में हाथ नहीं लगाते थे।

पिताजी ने प्रथम बार सन् १९०० में बम्बई जाकर मेट्रिक्युलेशन की परीक्षा दी, परन्तु उत्तीर्ण न हो सके। दूसरे वर्ष अहमदावाद भी परीक्षा-केन्द्र बन गया और पिताजी के साथ मगनकाका भी मैट्रिक्युलेशन की परीक्षा देने के लिए वहां गए। पिताजी उत्तीर्ण हो गए, परन्तु मगनकाका रह गए। उनको भी हाई स्कूल में दूसरा वर्ष खर्च करना पड़ा। कालेज की पढ़ाई का खर्च पूरा करना दादाजी के बूते के बाहर था। घर का आर्थिक बोझ हलका करने की भी बहुत आवश्यकता थी, इसलिए ग्रेजुएट होने का स्वप्न त्यागकर पिताजी को लाचार कुछ काम खोजने में लग जाना पड़ा। उन्हें राजकोट-स्थित ब्रिटिश पोलिटिकल एजेंट के कार्यालय में उम्मीदवार के तौर पर तीन महीने के लिए क्लर्क की नौकरी मिल गई।

जब पिताजी इस सरकारी नौकरी की तलाश में थे, उन्हीं दिनों बापूजी दक्षिण अफ्रीका से राजकोट लौटे और उन्होंने वहां अपनी बैरिस्टरी जमाने का श्रीगणेश किया। उसी समय उन्होंने पिताजी को अपने साथ काम में ले लिया।

पिताजी ने मुझे बताया कि बापूजी के बारे में उनकी सबसे पहली स्मृति तबकी है जब बापूजी इंग्लैंड से बैरिस्टर बनकर लौटे थे। उस समय राजकोट में एक बड़ा जाति-भोज हुआ था। उसमें नये बैरिस्टर बापू ने परोसने का काम किया था और पिताजी भोजन करने वाले बच्चों की पंक्ति में थे। भोज बापूजी की शुद्धि के सिलसिले में उनके बड़े भाई की ओर से दिया गया था। इंग्लैंड जाने में बापू ने जो समुद्रयात्रा की उसके कारण उनको भ्रष्ट घोषित किया गया था और राजकोट की मोढवणिक जाति से वह और उनके साथ उनके भाई बहिष्कृत कर दिये गए थे। लौटने पर बड़े भाई ने उन्हें नासिक ले जाकर उनकी शुद्धि करवाई थी और प्रायश्चित्त के रूप में यह भोज देना पड़ा था। इस भोज में परोसने का सत्कृत्य करने पर जाति के बड़े-बूढ़ों ने बापू को और उनके भाइयों को धर्मभ्रष्टता के पातक से मुक्त करके धर्मशीलता की मुहर प्रदान करदी। उस समय पिताजी की आयु दस वर्ष की और मगनकाका की आठ वर्ष की थी। बापूजी से वे क्रमशः चौदह और बारह वर्ष छोटे थे।

बापूजी के दक्षिण अफ्रीका के लिए रवाना होने से दो दिन पहले ही मगनकाका राजकोट से बम्बई पहुंचे। १९०२ के नवम्बर में उन्होंने अहमदावाद केन्द्र से मैट्रिक की दुबारा परीक्षा दी और बम्बई घूमने और

भविष्य के काम-काज के लिए बापूजी से सलाह लेने के इरादे से वह बम्बई गये थे। उनके पास पूरे कपड़े भी नहीं थे। बापूजी से मुलाकात होते ही बापूजी ने मगनकाका से पूछा, "मेरे साथ दक्षिण अफ्रीका चलोगे? यहां नौकरी के चक्कर में पड़ने से फायदा क्या? वहां नया पुरुषार्थ करके स्वावलम्बी बनोगे।"

"अभी तो मेरा मैट्रिक का नतीजा ही कहां आया है!" मगनकाका ने कहा।

"पास-नापास होने की चिन्ता क्यों करते हो? इसके पीछे दिन बरबाद करने से क्या फायदा? पास हो जाओगे तब भी रोजगार की तलाश तो करनी ही पड़ेगी। यहां दर-दर ठोकरें खाने के बाद मुश्किल से नौकरी मिलेगी। नौजवानों को तो परदेश जाने का साहस करना चाहिए।" बापूजी ने कहा।

"मुझे आपके साथ चलना बहुत अच्छा लगेगा, पर परीक्षा-फल की चिन्ता मन में रहेगी। फिर भी आप कहते हैं तो मैं चलूंगा। लेकिन दो दिन के लिए मुझे पिताजी के पास राजकोट हो आने की छूट दे दें।" मगन-काका ने कहा।

"अब इतना समय नहीं रह गया है। मैं तार करके खुशालभाई से स्वीकृति प्राप्त कर लेता हूँ।" बापू बोले।

"अच्छा, जैसा आप उचित समझें।" और इसके बाद बापूजी ने बड़े बापूजी के पास तुरन्त नीचे लिखा तार भेजा, "यदि आप और देवभाभी स्वीकृति दें तो मैं मगनलाल को अपने साथ दक्षिण अफ्रीका ले जाना चाहता हूं।"

उत्तर में बड़े बापूजी का तुरन्त तार आया, "अगर आपको उचित प्रतीत होता हो और मगनलाल जाने को तैयार हो तो अवश्य ले जाइये।" इस प्रकार अपने माता-पिता से मिले बिना ही एकाएक मगनकाका विदेश-यात्रा को चल पड़े। उनके लिए उचित कपड़ों आदि का प्रबन्ध पिताजी ने कुछ अपने पास से और कुछ खरीद कर किया।

इसके बाद बापूजी के साथ का दूसरा प्रसंग, जिसका पिताजी को पक्का स्मरण रह गया है, हरे कवर वाली पत्रिका का था। उस पत्रिका की हजारों प्रतियों पर पते लिखने और उन्हें रवाना करने में पिताजी से बापूजी ने कई दिन परिश्रम कराया था। यह वही पत्रिका थी जिसके कारण डरबन के बन्दरगाह पर कदम रखते ही अंग्रेजों की भीड़ ने बापू-जी पर हमला किया था।

बापूजी के संपर्क में आने का पिताजी का तीसरा अवसर चिरस्थायी बन गया। वह संपर्क कैसे बढ़ता चला गया, इसका पता पिताजी की उस समय की डायरी के पन्नों से चलेगा, जो संयोगवश मेरे हाथ लग गई हैं। पिताजी ने लिखा है:

१४-१२-१९०१—मोहनदासकाका (सारा परिवार) नेटाल से पोरबन्दर उतरे और राजकोट आये।

१७-१२-०१—मोहनदासकाका कलकत्ते गये।

१९-१२-०१—मेरे मैट्रिक पास होने का तार आया।

१६-१-०२—डी० ए० पी० ए० द्वारा एजेंसी में दाखिल होने के लिए अर्जी दे दी।

२५-१-०२—अर्जी मंजूर हो गई और आफिस जाना शुरू किया।

२६-२-०२—कलकत्ते से मोहनदासकाका लौटे।

४-३-०२—मोहनदासकाका के टाइपराइटर पर टाईपिंग सीखना प्रारम्भ किया।

१४-३-०२—शार्टहैंड शुरू किया। एजेंसी में जाना बन्द किया।

१८-३-०२—मोहनदासकाका के साथ मुकदमे के सिलसिले में जामनगर गया।

३-४-०२—मोहनदासकाका के साथ वेरावल आया। प्रभासपाटण देखा।

६-४-०२—वेरावल से लौट आये।

३०-६-०२—मोहनदासकाका का बम्बई जाना निश्चित हुआ।

५-७-०२—मोहनदासकाका ने प्लेग कमेटी की अन्तिम रिपोर्ट दे दी।

७-७-०२—पोरबन्दर वाले सेठ दाऊजी और दादा अब्दुल्ला मोहनदासकाका से मिलने आये, उनको लेने स्टेशन गया।

८-७-०२—मोहनदासकाका शहर सुधार-समिति के काम में घिरे रहे।

९-७-०२—दाऊजी सेठ और अब्दुल्ला सेठ पोरबन्दर लौटे।

१०-७-०२—बम्बई जाने के लिए मोहनदासकाका के साथ रवाना। पढ़ने के लिए गोकुलदास (बापूजी की बड़ी बहन के पुत्र) बनारस और हरिलाल गोंडल गये।

११-७-०२—बम्बई पहुंचे। रेवाशंकर भाई के यहां माटुंगा के बंगले में ठहरे।"

इस संक्षिप्त-सी डायरी से स्पष्ट हो जाता है कि बापूजी के संपर्क में आते ही मेरे पिताजी किस वेग से उनके प्रवाह में बहने लगे। यद्यपि उस समय भी बापूजी अपने जीवन में स्वार्थ-त्याग, संयम, परोपकार-भावना आदि पर जोर दे रहे थे तथापि उनकी साधुता इस हद तक नहीं पहुंची थी कि कोई उनकी सेवा में आत्म-कल्याण या निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए उपस्थित हो, परन्तु बापूजी का जीवन-प्रवाह इतना ओज-पूर्ण था कि पिताजी-जैसे कम स्वतंत्र व्यक्तित्व वाले गंगा में झरने की भांति लुप्त हो जाते थे। बापूजी के संपर्क में आते ही पिताजी के पास मानो अपना कुछ रह ही नहीं गया।

बापूजी ने बम्बई में जुलाई से लेकर नवम्बर तक के पांच महीने भी मुश्किल से बैरिस्टरी नहीं की कि अनपेक्षित आमंत्रण के कारण उन्हें तत्काल फिर नेटाल जाना पड़ा। जबतक बैरिस्टरी का काम चला, पिताजी को भी अर्जियां लिखने और छोटे-मोटे मुकदमों में क्लर्क का काम करने का उचित अंश बापूजी से मिलता रहा। नेटाल से दो-तीन मास में ही लौटने की बात थी, इसलिए वहां से लौट आने तक के लिए बम्बई में बापूजी ने अपना दफ़्तर चालू रखा। पूज्य कस्तूरबा के पास भी किसी के रहने की आवश्यकता थी और मणिलालकाका की पढ़ाई का भी प्रश्न था। इसलिए बापूजी ने पिताजी को वह उत्तरदायित्व सौंपा और कुछ मासिक वेतन निश्चित कर दिया। मणिलालकाका के अतिरिक्त और पुत्रों की पढ़ाई का सवाल उस समय बापूजी के सामने नहीं था, क्योंकि बड़े पुत्र हरिलालकाका के लिए गोंडल के छात्रावास में रहकर पढ़ने की व्यवस्था हो गई थी और शेष दो पुत्र रामदासकाका और देवदासकाका अभी बहुत छोटे थे।

इस बार नेटाल पहुंचने पर बापूजी तो कुछ ही दिन बाद ट्रांसवाल चले गए और मगनकाका को उन्होंने डरबन से प्रायः तीस मील की दूरी पर टोंगाट नामक कस्बे में भेज दिया। नेटाल के आदिवासी जूलू लोगों के बीच गोरे व्यापारियों की दूकानदारी इतनी नहीं चल पाती थी जितनी कि भारतीयों की और उनमें भी गुजराती व्यापारियों की चलती थी। टोंगाट और स्टेंगर नामक दो कस्बे उत्तरी नेटाल के जंगल में छुटपुट झोंपड़ी में दूर-दूर तक फैली हुई जूलू आबादी के लिए सौदा-पत्ती करने के मुख्य केन्द्र थे। मगनकाका के टोंगाट पहुंचने के चार-पांच वर्ष पहले से ही गांधी-परिवार के कुछ लोगों ने मिलकर वहां पर एक दूकान चालू कर रखी थी। उनमें करमचन्द बापा के छोटे भाई श्रीतुलसीदास गांधी के सबसे बड़े पुत्र श्रीअभेचन्द गांधी मुख्य थे, जिनकी दुकान आज पचास वर्ष बाद भी वहां चल रही है।

मगनकाका टोंगाट की दुकान में एक नये साझी के रूप में सम्मिलित हुए। मगनकाका ने पूरा परिश्रम करके थोड़े ही समय में व्यापारिक रीति-नीति सीख ली। बाद में उन्हें उस दूकान में भेज दिया गया जो टोंगाट की दूकान की शाखा के रूप में स्टेंगर के घने जंगल में चल रही थी। जंगल के बीच में वह एकाकी दूकान थी और मगनकाका के साथ उन्हीं की आयु के केवल दो नौसिखिए युवक और थे। वहां पहुंचने तक मगनकाका को जूलू बोली नहीं आती थी। यद्यपि मगनकाका का शरीर व्यायाम करते रहने के कारण कसा हुआ, गठीला और पहलवान का-सा था, फिर भी वह महाकाय जूलुओं के सामने बच्चे-जैसे थे। वे काले-काले अधनंगे और लाठीधारी लोग जब दूकान में आ बैठते थे तब भय का वातावरण छा जाता था, परन्तु मगनकाका और दूसरे दोनों साथी अपना साहस बनाए रहते थे, दिन और रात वहां जमे रहते थे। इस प्रकार धीरे-धीरे वहां वह दूकान जम गई और खासी आमदनी होने लगी।

दक्षिण अफ्रीका में बापूजी को दो महीने के बदले चार महीने हो गए तो उन्होंने पिताजी को बम्बई सूचित किया कि अब देर तक उनका भारत लौटना संभव नहीं दीखता; अतः बापूजी के पत्र के अनुसार पिताजी ने उनका बम्बई का कार्यालय समेट लिया और बा का आवश्यक काम कर देते तथा मणिलालकाका की पढ़ाई का काम भी चलता रहा। लगभग एक वर्ष तक अर्थात् १९०३ के दिसम्बर मास तक यह सिलसिला चलता रहा। बाद में पिताजी ने सोचा कि बिना काम के इस प्रकार समय बिताने और मोहनदासकाका से वेतन लेते रहना ठीक नहीं है। इसलिए उन्होंने किसी सालिसिटर के कार्यालय में अपने लिए नौकरी पक्की कर ली। उस नौकरी में एक महीना बीतने पर दक्षिण अफ्रीका में घर बसाने के बारे में जोहान्सबर्ग से बा के पास बापूजी के पत्र आने लगे। बापूजी जोहान्सबर्ग में प्लेग-निवारण आदि के कार्य में इतने अधिक व्यस्त थे कि उनको पत्र लिखने का समय ही नहीं मिलता था। इसलिए वह अपने स्टेनोटाइपिस्ट को बोलकर पत्र लिखाते थे और वह उन्हें अंग्रेजी में टाइप करके भेज देता था। बा को ये पत्र सुनाने का काम पिताजी के ही जिम्मे था। ऐसे एक पत्र में बापूजी ने पिताजी के लिए भी लिखा था, "यदि तुम्हारी इच्छा हो तो तुम भी बा के साथ दक्षिण अफ्रीका आ जाना।"

बा के प्रस्थान करने में अभी विलंब था, इस बीच टोंगाट के एक साझी का साथ मिल जाने पर पिताजी उसके साथ डरबन जा पहुंचे। बापूजी के पास ट्रांसवाल पहुंचना तो कठिन था, क्योंकि वहां के लिए अनु-

मतिपत्र प्राप्त करना आसान न था। इसलिए टोंगाट जाकर मगनकाका से मिल जाने के बाद पिताजी ने डरबन नगर में अपने लिए कुछ काम खोजने का प्रयत्न किया। डरबन के गुजरातियों के साथ मिलने-जुलने पर पिताजी का परिचय श्रीमदनजीत से हुआ, जो 'इंडियन ओपीनियन' साप्ताहिक के संपादक थे। उन्हीं दिनों बापूजी ने 'इंडियन ओपीनियन' को अपने प्रचार का प्रधान साधन बनाया था और उसमें गुजराती व अंग्रेजी दोनों भाषाओं के लेख देते रहते थे। श्रीमदनजीत उसे हिन्दी, तमिल, आदि चार भाषाओं में छापकर प्रकाशित करते थे। उन्होंने पिताजी को भारत से आनेवाले पत्रों से गुजराती और अंग्रेजी में समाचारों का सार तैयार करने का काम दे दिया। पिताजी का काम उन्हें पसन्द आया और धीरे-धीरे वह छापेखाने का सारा काम उन्हें सौंपकर बाहर आने-जाने लगे। इस प्रकार पिताजी 'इडियन ओपीनियन' के गुजराती विभाग के संपादक बन गए और प्रतिमास आठ पौंड वेतन पाने लगे। यद्यपि पिताजी के मन में ट्रांसवाल पहुंचने की और वहां की सुवर्णनगरी जोहान्सबर्ग में कमाई करके काफी पैसा पाने की मनोकामना बनी हुई थी, तथापि कुछ ही समय में उनके जीवन का प्रवाह बदल गया।

तीन महीने के बाद बापूजी जोहान्सबर्ग से डरबन आये। रात को एक गुजराती मित्र के घर पर ब्यालू करते समय नेटाल-संबंधी कई प्रश्नों पर चर्चा होती रही। इस बीच बापूजी ने उनसे कहा, "छगनलाल, तुम्हारे लिए ट्रांसवाल-प्रवेश के अनुमति-पत्र की व्यवस्था मैंने कर ली है। आठ दिन के अन्दर-अन्दर वह तुम्हें मिल जायगा।"

यह सुनकर श्रीमदनजीत बोले, "छगनलाल को अब ट्रांसवाल जाकर क्या करना है? वह तो 'इंडियन ओपीनियन' में काम कर रहे हैं। मैं अब स्वदेश लौटना चाहता हूं।"

"फिर इस छापेखाने का क्या होगा?" बापू ने पूछा।

"अखबार का काम तो आजकल वेस्ट और छगनलाल कर ही रहे हैं। अबतक आपसे मैंने जो ऋण ले रखा है, उसके बदले में यह सारा छापाखाना मैं आपको सौंप देता हूं।" मदनजीत ने उत्तर दिया।

बापूजी आये थे टोंगाट के किसी काम के लिए, पर अब यह नई चिंता उनके सिर पर आगई। मदनजीत का इन्टरनेशनल प्रेस काफी घाटे में चल रहा था और बापूजी बैरिस्ट्री की अपनी कमाई में से देशभाइयों के हित के विचार से घाटा पूरा करने के लिए काफी रकम देते रहते थे।

डरबन पहुंचकर दूसरे दिन उन्होंने नया संकल्प और उसे कार्यान्वित करने की योजना मेरे पिताजी को सुनाई और उसमें सहयोग करने के लिए उन्हें आमंत्रित किया। इस अनोखे प्रस्ताव से पिताजी जितने अचम्भे में पड़े, उतने ही चिंता से भी घिर गए। बापू के प्रस्ताव को स्वीकार करना कठिन जान पड़ता था और उनकी भली बात को अस्वीकार करना सरासर अनुचित प्रतीत होता था। पिताजी बताते थे कि उस प्रस्ताव को स्वीकार करने से पहले मुझे भारी मनोमंथन से गुजरना पड़ा। ट्रांसवाल जाने की तीव्र इच्छा मेरे मन में थी। जितना अधिक धन कमाया जा सके कमाकर बड़े बापूजी के पास भेजना चाहता था। किन्तु दूसरी ओर बापूजी की प्रभावशाली बात मन को पिघला रही थी। रस्किन का बताया हुआ जीवन का उन्नत आदर्श सही प्रतीत होता था। फल-बाग लगाना, परिश्रमी और सादा जीवन बिताना, भाइयों के साथ प्रेम-पूर्वक रहना और सबसे बढ़कर बापूजी का नित्य सान्निध्य प्राप्त होना, मुझे बहुत अच्छा लगा। यह सारी कल्पना मुझे विशेष कल्याण प्रद प्रतीत हुई और मैंने बापूजी की बात को स्वीकार कर लिया।

प्रेस को चलाने और घाटा दूर करने की चिन्ता के इस बोझ को लिये बापूजी टोंगाट गये। वहां उन्होंने श्रीअभेचन्द गांधी की दूकान के पीछे लगा हुआ छोटा-सा बागीचा देखा। उससे उनके विचारों को मौलिक प्रेरणा मिली। वह सोचने लगे कि परिवार के ये सब लोग दूकानदारी में खप रहे हैं, इसके बदले यदि वे पर्याप्त भूमि लेकर फलों के बाग का काम करने लगें तो वह अधिक श्रेयस्कर होगा। ऐसा करने से जीवन का यह कृत्रिम ढांचा भी मिट जायगा और आर्थिक समस्या का हल भी निकल आयगा। इस प्रकार दोनों बातें उनके मन में एक साथ मंडराने लगीं। एक यह कि प्रेस का घाटा किस प्रकार दूर किया जाय और दूसरी यह कि टोंगाट की दूकानदारी के चक्कर में उलझे हुए नौजवानों को खेतीबाड़ी के काम की ओर कैसे मोड़ा जाय।

टोंगाट से लौटने पर बापूजी इस प्रश्न पर गम्भीर चिंतन करते हुए डरबन से जोहान्सबर्ग के लिए रवाना हो गए। जाते हुए यह बताते गए कि प्रेस की व्यवस्था के लिए वह एक सप्ताह बाद फिर डरबन आ जायंगे। सप्ताह के बीत जाने पर जब बापूजी जोहान्सबर्ग से डरबन के लिए चले तब श्री पोलक उनको विदा करने के लिए स्टेशन तक साथ-साथ गये और ट्रेन के छूटते समय उन्होंने जॉन रस्किन की छोटी-सी पुस्तक 'अन्टू दिस लास्ट' बापूजी के हाथ में रखदी और उनसे कहा कि इस यात्रा में आप इसे अवश्य पढ़ लीजिएगा।

श्री पोलक बापूजी के उन गोरे मित्रों में से थे जो निरामिष भोजन के आग्रही थे और अपने जीवन को सादा और सच्चा बनाने के लिए सुबह-शाम बापूजी के साथ गहराई से मनन-चिंतन किया करते थे। उनकी दी हुई पुस्तक ने बापूजी के लिए गुरुमंत्र का काम किया। कुछ अरसे से जो विचार बापूजी के अन्तर में मंडरा रहे थे वे अब मूर्त्त रूप में उनके सामने आ गए। पुस्तक पढ़ चुकने के बाद सारी रात वह नहीं सो पाए। बहुत ही उग्र मनोमंथन चलता रहा। अन्त में उन्होंने नागरिक जीवन का परित्याग करके किसान के ग्राम-जीवन को अपनाने का निश्चय किया।

श्री वेस्ट ने भी बापूजी के प्रस्ताव को स्वीकार किया। चार-छः दिन के अन्दर ही फीनिक्स वाली जमीन खरीद ली गई और प्रेस को वहां ले जाने की जोरदार तैयारियां शुरू कर दी गईं।

इन्टरनेशनल प्रेस जब डरबन में था तब श्री वेस्ट को सोलह पौंड वेतन मिलता था। एक होशियार अंग्रेज कंपोजीटर को अठारह पौंड और दूसरों को भी काफी अच्छा वेतन दिया जाता था। फीनिक्स जाते समय इन सबमें से केवल दो व्यक्तियों को पूरे वेतन पर ले जाने का अपवाद करना पड़ा। बाकी सबका वेतन बहुत कम कर दिया गया। कई लोग तो फीनिक्स गये ही नहीं। जो गये उनमें दो अपवाद छोड़कर शेष सबको प्रतिमास तीन-तीन पौंड वेतन देने का नियम बनाया गया।

कुछ ही दिन बाद फीनिक्स में प्रेस के लिए आवश्यक छप्पर खड़ा कर दिया गया। तब बापूजी फिर जोहान्सबर्ग से आये और आठ-दस दिन के अन्दर सारा प्रेस डरबन से फीनिक्स ले गये। प्रेस का सामान फीनिक्स पहुंचने के दूसरे ही दिन टोंगाट से मगनकाका और आनन्दलालकाका भी वहां आ पहुंचे। इन सबके रहने के लिए घर नहीं था। प्रेस की मशीनें, सामान और कागज आदि रखने योग्य केवल एक छप्पर ही तैयार हुआ था। उस जमीन के पुराने मालिक ने नौकरों के लिए जो छोटी-छोटी कोठरियां बनवाई थीं वे भी खंडहर बन चुकी थीं। एक प्रकार से फीनिक्स का प्रारम्भिक निवास सर्वथा जंगल का ही निवास था। रसोई आकाश की छत्रछाया में करनी पड़ती थी और केवल खिचड़ी पका लेने के लिए भी कम पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता था।

: १३ :

जंगल में मंगल

अफ्रीका एक विराट और अद्भुत भूखंड है। उसके दक्षिणी भाग में पूर्वीय तट पर नेटाल नाम का प्रान्त है। वह ब्रिटिश दक्षिण अफ्रीका में सम्मिलित है। वहां पर समुद्र-तट से लगभग ६ मील अन्दर की ओर फीनिक्स का वह स्थान है, जो इतिहास में गांधीजी के धर्मक्षेत्र, साधनाक्षेत्र और कर्मक्षेत्र के रूप में अमर रहेगा।

नेटाल प्रांत के प्रसिद्ध बन्दरगाह और भव्य नगर डरबन से उत्तर दिशा में जाने वाली 'नार्थकोस्ट रेलवे' पर सातवें स्टेशन का नाम फीनिक्स है। उस समय उसके आसपास कोई बस्ती नहीं थी। वहां गन्ने की खेती बहुत होती थी और स्टेशन से मुख्यतः गन्ने का निर्यात हुआ करता था।

बापूजी ने जो भूमि ली थी वह फीनिक्स स्टेशन से केवल ढाई मील पर थी। इसीलिए उसका नाम फीनिक्स सेटिलमेंट (फीनिक्स बस्ती) रखा गया था। वहां बापूजी साधारण व्यवहार में तो अपनी भाषा का ही उपयोग करते थे, किन्तु उस देश में अंग्रेजों और अंग्रेजी का प्रभुत्व था और अंग्रेजों के साथ नित्य ही व्यवहार करना पड़ता था, इसलिए इस बस्ती का नाम अंग्रेजी में रखा गया। वहां के कार्यकर्त्ताओं और वेतनभोगी कर्मचारियों के लिए 'सेटिलमेंटवासी' शब्द का प्रयोग होने लगा।

अनायास प्राप्त हुए इस 'फीनिक्स' नाम से बापूजी बहुत प्रसन्न थे, क्योंकि उस समय उनके अन्तर में जो भावना उमड़ रही थी वह इस शब्द से बहुत सुन्दर रूप में व्यक्त होती थी। यूनान के प्राचीन कथाकारों ने 'फीनिक्स' पक्षी की पवित्रता, बलिदान-निष्ठा और अमरता के बारे में बड़ा ही लोमहर्षक वर्णन किया है। उन कथाओं के अनुसार 'फीनिक्स' पक्षी संसार में एक ही होता है, उसका जोड़ा नहीं होता। जब समय आता है तब वह अपनी देह को अपनी आन्तरिक ज्वाला से उसी प्रकार भस्म कर देता है, जिस प्रकार दक्ष-यज्ञ में शिवजी का स्मरण करते हुए सती ने किया था। पूरी तरह भस्म हो जाने के बाद राख की उसी राशि से पुनः फीनिक्स पक्षी उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार वह सदैव अमर रहता है। बापूजी ने जिस श्रद्धा से सर्वोदय के सिद्धांत अपनाये थे और उनपर अपना जीवन न्योछावर करने का संकल्प किया था, उसको मूर्त्तरूप देने के लिए फीनिक्स

की इस भव्य कल्पनावाले नाम से अधिक अच्छा नाम कौन-सा मिल सकता था ?

फीनिक्स वाली जमीन जब खरीदी गई तब उसके अधिकतर भाग में घास उगा हुआ था। दो-तीन एकड़ के टुकड़ों को छोड़कर वहां कभी हल या कुदाल का स्पर्श नहीं हुआ था। जमीन भी समतल नहीं थी। जगह-जगह सौ-दो-सौ फुट तक के ऊंचे टीले थे। कुछ टीले पथरीले और कंक-रीले थे, किन्तु बहुत-सा हिस्सा काली मिट्टी वाला था। भूमि कभी जोती नहीं गई थी, इसलिए उसकी उर्वरा-शक्ति भरपूर थी। परिश्रमी किसान के लिए वह सोने से भी अधिक मूल्यवान थी। काली मिट्टी इतनी भुर-भुरी थी कि अच्छी वर्षा हो जाने पर जोते हुए खेत में प्रायः घुटनों कत पैर धंस जाते थे। चौमासे में वहां अनेक बार मूसलाधार वर्षा हुआ करती थी और छः महीने ऐसे होते थे जबकि पूरा-का-पूरा सप्ताह शायद ही सूखा बीतता हो। लगातार तीन महीने भी सूखे नहीं बीतते थे। जमीन के एक कोने पर छोटा-सा बागीचा था, जिसमें सतरे, आम, अमरूद, शहतूत आदि के बहुत पुराने जर्जरित पेड़ थे। दूसरी ओर दूर के कोने पर नाटे बबूलों का घना जंगल था। उसमें हिरन, लोमड़ी और सेही आदि जानवर रहते थे। शेष चारों ओर घास थी। मुख्य भूमि की पश्चिमी दिशा में एक बड़ा झरना था, जिसके सामने की ओर भी संस्था की जमीन थी। पूर्वी किनारेवाला नन्हा सूखा-सा झरना संस्था की पूर्व सीमा बनाता था। बड़े झरने के, जो बारहों मास बहता था, दोनों किनारों पर सघन वृक्ष थे और कुछ शाखाएं झरने पर छत्र की तरह छाई हुई थीं। इन पेड़ों पर अनेक बार हरे रंग के पतले लम्बे सांप झूलते हुए नजर आते थे।

और भी कई प्रकार के सांप घासपात में, रास्तों पर व आंगन में विचरा करते थे। एक ही दिन में पांच-पांच छः-छः सांपों से भेंट हो जाना असाधारण बात न थी। ये सांप कई प्रकार के थे—कोई छिगुनी के-से पतले तो कोई हाथ की कलाई से मोटे; कोई त्रिकोणाकृतिवाले, तो कोई दूर से ही मनुष्य की आंखों में विष की पिचकारी छोड़नेवाले; कोई निर्दोष तो कोई जमीन से उछलकर मनुष्य के मुख पर दांत मारकर उसे तत्काल खत्म कर देनेवाले। बाघ-भेड़ियों आदि का वहां नाम-निशान नहीं था। पक्षी बहुत प्रकार के थे, परन्तु उनमें मोर, कोयल, तोते, गुरगल, गोरैया और कौआ आदि का कहीं दर्शन भी नहीं होता था। ब्राह्ममुहूर्त्त से भी पहले से गाने वाले चण्डूल, सुन्दर चित्र-विचित्र परों के सुनहले पक्षी, सख्त मिट्टी के पक्के घोंसले बनानेवाले कारीगर पक्षी, लाल सीनेवाले छोटे पक्षी और

सुबह-शाम क्षितिज में पंक्ति-बद्ध विचरण करनेवाले श्वेत बगुले आदि वहां बहुत थे। इन पक्षियों के कंठ से जो सुमधुर कलरव आकाश-मंडल में आठों पहर, भिन्न-भिन्न स्वरों में प्रतिध्वनित होता रहता था, उसके कारण फीनिक्स-क्षेत्र की वह सुदीर्घ, गम्भीर एवं पवित्र शान्ति और भी अधिक शांतिप्रद बन जाती थी।

आदमियों के कोलाहल से भी वह भूमि शून्य थी। हां, फीनिक्स के स्टेशन से इनांडा की ओर जो पगडण्डी जाती थी उस पर सुबह-शाम रेलवे ट्रेन के समय थोड़े से आदिवासी जूलू लोग अपनी बोली में ऊंचे स्वर से बातें करते हुए निकल जाते थे। सामने वाली दूर की टेकड़ियों पर अलग-अलग झोंपड़ों में दो-चार जूलू और दो-एक गिरमिट-मुक्त भारतीय परिवार थोड़ी-थोड़ी दूरी पर बसे हुए थे। उनके दीपक का टिमटिमाना संध्या के समय फीनिक्स-क्षेत्र से दीख पड़ता था। जब कभी भारतीय परिवार में लड़ाई-झगड़ा हो जाता था तो उनकी एक-दूसरे को कोसने की आवाज सुनाई पड़ती थी। इसके अतिरिक्त वह स्थान पूर्णतया शांत था।

जाड़ों में हवा बड़ी तेज चलती थी और घरों के किवाड़ों के दरार से ऐसी पैनी आवाज निकलती थी मानों गीदड़ रो रहे हों। पाला बहुत पड़ता था। सवेरे-सवेरे घर से निकलने पर अंगुलियां गल-सी जाती थीं। गर्मी के दिनों में धूप और उमस का जोर रहता था, पर लू का अनुभव याद नहीं आता। छोटे दिनों में शाम को पांच-सवा पांच बजे ही सूर्यास्त हो जाता था और गर्मी के लम्बे दिनों में शाम को सवा सात बजे तक सूर्य का दर्शन होता रहता था।

ऐसी समृद्धि में भी पीने के पानी का भारी कष्ट था। खेतों के लिए सिंचाई का कोई प्रबन्ध नहीं था। पौधों को पानी देने के लिए लम्बे ढाल उतरकर झरने से बहंगी में पानी लाना पड़ता था और पीने के लिए वर्षा का पानी छप्परों के सहारे बड़ी-बड़ी टंकियों में इकट्ठा करना पड़ता था। झरने में पत्तियां सड़ती रहती थीं। इसलिए उसका पानी पिया नहीं जा सकता था। टीले इतने ऊँचे थे कि वहां कुआं नहीं बन सकता था। प्रकृति की कृपा ही थी कि लोहे की टंकियों के बिलकुल खाली होने से पूर्व ही वर्षा हो जाती थी और छत का पानी उनमें भर जाया करता था। जबतक संस्था में पक्के रास्ते तैयार नहीं किये गए तबतक चलना-फिरना कठिन था। एक तो घास-फूंस, फिर कीचड़ और इससे भी बड़ा संकट सांपों का। बाजार तो वहां से ठीक चौदह मील पर डरबन में ही था। दूध भी वहां से आता था। सामने के टीलों पर रहनेवाला उत्तर भारत का

गिरमिट-मुक्त किसान कभी-कभी डेढ़ मील चलकर अपनी गाय का थोड़ा-सा दूध दे जाता था। सौदा तथा प्रेस का सामान लाने-लेजाने के लिए एक खच्चर गाड़ी रखी गई थी; पर स्टेशन के लिए पगडण्डी का रास्ता तो ढाई मील का था और गाड़ी को चार मील का चक्कर काट-कर जाना पड़ता था।

फीनिक्स के ऐसे बीहड़ स्थान पर बापूजी की टोली ने अपना अड्डा जमा दिया। प्रेस का छप्पर इतना वड़ा था कि उसमें अंग्रेजी, गुजराती, हिन्दी और तमिल भाषा के टाइपों के केस तथा दस-बारह कम्पोजीटरों के लिए स्टूल रखने की व्यवस्था हो गई। अंग्रेजी व गुजराती सम्पादकों के लिए अलग-अलग कार्यालय, हिसाब-किताब, डाक आदि का अलग विभाग और बापूजी के लिए काम करने का विशेष स्थान बना दिया गया। एक साथ सोलह पन्ने छाप सकने वाली बड़ी मशीन, ट्रेडल, काटने की मशीन, खड़े-खड़े काम करने की कई मेजें, ऊंची-ऊंची अलमारियां, आदि बहुत-सा सामान साफ-सुथरे ढंग से सजा दिया गया। चारों ओर कांच की खिड़-कियां बनाई गई थीं। इस कारण कहीं हवा या उजाले की कमी नहीं थी। मशीन चलाने के लिए भारी-भरकम तेल इंजन था। उसके लिए अलग कोठरी बनी थी। इसी इंजन के डायनमों से पूरे प्रेस में बिजली की बत्तियां लगाई गई थीं। मिट्टी के तेल के बड़े लैंप भी टंगे थे। संक्षेप में, प्रेस का मकान सादा था, पर उसमें प्रेस के लिए सब सुविधाएं थीं, पर रहने की उसमें कोई गुंजाइश नहीं थी।

साप्ताहिक के छपने का काम नियमित और व्यवस्थित हो जाने पर सभी कार्यकर्त्ता अपने रहने की जगह ठीक करने में, छपाई के काम से बचने वाला समय देने लगे। कार्यकर्ताओं में पहले-पहल दो-तीन अंग्रज, दो-चार तमिल-भाषी, दो-चार हिन्दी-भाषी, एक-दो आदिवासी जूलू नौकर और पांच-छः गुजराती थे। डरबन से जो कार्यकर्त्ता स्वेच्छा से अपना वेतन घटाकर आये थे उन सबको निजी खेती और बागीचे के लिए एक-एक, दो-दो एकड़ जमीन दे दी गई। दो बढ़इयों की सहायता लेकर सभी ने अपनी-अपनी जमीन पर नालीदार चद्दरों से एक-एक कमरा खड़ा कर लिया। प्रायः सभी ने अपने मकान टीले पर बनाए थे, इसलिए सभी सौ-पचास गज के निकटस्थ पड़ोसी बन गए। अपने निवास-स्थान की चारों ओर की घास को सभी ने हटा दिया और थोड़ा-थोड़ा आंगन भी समतल बना लिया, इसलिए उस स्थल ने एक छोटी-सी सुन्दर बस्ती का रूप ले लिया। लोगों ने अपनी रुचि के अनुसार अपने मकान के आस-पास छोटा-सा बगीचा भी लगा लिया।

मेरे पिताजी और मगनकाका ने मिलकर चार एकड़ जमीन ली। वह अलग-अलग तीन जगह बंटी हुई थी। बड़ा हिस्सा मुख्य टीले के ऊपर था। इस टुकड़े में टीले के ऊंचे भाग पर घास निकालकर, उन्होंने एक बड़ा चौकोर कमरा बनाया और उसके सामने कुछ दूर पर रसोईघर का एक छोटा कमरा। झोपड़ों की विशेषता यह थी कि उनमें सील तथा वर्षा के पानी से बचत के लिए लकड़ी के चौकीनुमा ऊंचे फर्श बनाये गए थे, जिससे फर्श के नीचे से गोल खंभों के बीच में होकर चौमासे का पानी निकल जाता था और फर्श पर सील नहीं होती थी। फर्श की ऐसी रचना के कारण चूहों की परेशानी और सांपों के निवास का डर भी कम हो गया था। दीमक का त्रास वहां था ही नहीं। झोपड़ों की दीवारें नालीदार चादरों को लकड़ी के चौखटों पर जड़कर बनाई गई थीं। छत भी वैसी ही थी। यथास्थान कांच की चौड़ी खिड़कियां रखी गई थीं। इस प्रकार कहने को झोपड़ियां होने पर भी वे सुविधा में हवादार बंगलों से कम न थीं।

मेरे पिताजी के जिम्मे अधिकतर अखबार के लिए लिखने-पढ़ने वा वही-खाते का काम रहता था। तीसरे-चौथे दिन वह डरबन जाकर साप्ताहिक के लिए विज्ञापन प्राप्त करने, चन्दा वसूल करने और सौदा खरीदने का काम करते थे। मगनकाका दूसरे कम्पोजीटरों के साथ कंपोजिंग, मशीन चलाने और दूसरी आवश्यक कारीगरी का काम करते थे। बहुत थोड़े दिनों में वह इन कामों में प्रवीण हो गए। प्रेस का समय समाप्त होते ही वह घर जाकर बढ़इयों के साथ जुट जाते और इस प्रकार उन्होंने बढ़इगिरी भी सीख ली। फिर बागीचे के काम में कसकर लग गए और फल के पौधों की बड़े ही प्रेम और परिश्रम से परवरिश करने लगे। फलतः दो-तीन साल में ही हमारे घर का बगीचा नामी हो गया।

सर्वोदय-जीवन की जिस उन्नत कल्पना को बापूजी ने एक रात के जागरण व उग्र मनोमंथन के बाद अपना लिया था, उसको एक वर्ष के अन्दर ही फीनिक्सवासी साहसिक युवकों ने अपने प्रखर पुरुषार्थ से कार्यान्वित कर दिखाया। इसका मुख्य श्रेय बापूजी के अपने जीवन की वेगवान प्रणाली, विचारों की उन्नत और पारदर्शक स्पष्टता और उनकी सतत निष्ठा को है। नगर-जीवन के सुखों की मनोरम अभिलाषा व विपुल धन-राशि प्राप्त करने की तीव्र लालसा से विमुख करके जंगल में मंगलमय जीवन बिताने के लिए बापूजी ने ही उन साहसिक व पुरुषार्थी युवकों को लालायित किया। कदम-कदम पर उनके लिए स्पष्ट योजना बनाई, द्विविधा न हो ऐसा मार्ग-

दर्शन कराया, उनमें अटूट विश्वास, अविचल आत्मश्रद्धा और अदम्य उत्साह भर दिया।

जब रहने के लिए ठौर-ठिकाना हो गया तब बापूजी ने उन युवकों को परामर्श दिया कि वे अपने-अपने परिवारों को भी फीनिक्स में बुला लें।

: १४ :

धूमिल स्मरण

इस संसार का सर्वप्रथम आलोक मैंने तब देखा जब मेरे पिताजी मैट्रिक्युलेशन की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। उन्हीं दिनों पूज्य बापूजी ने दक्षिण अफ्रीका से लौटकर राजकोट में अपनी बैरिस्टरी जमाने का श्रीगणेश किया था और उन्होंने मेरे पिताजी को राजकोट के अंग्रेजी हाकिम की क्लर्की से बचाकर अपने साथ काम में लगा लिया था। मेरे जन्म के समय की यह ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना साबित हुई कि मेरा भविष्य सुधर गया। वह समय सन् १९०१ के वर्ष की समाप्ति का था।

मेरा जन्म अपने नानाजी के घर पर पोरबन्दर में हुआ था। मेरे नानाजी श्री हीराचन्द वोरा राजकोट में सुप्रसिद्ध तथा प्रामाणिक सर्राफ थे और मुख्यतः सोना-चांदी का व्यापार करते थे। परन्तु देनदारों से वसूली के लिए अदालत की दहलीज पर कदम न रखने के आग्रह के कारण उनकी बहुत-सी पूंजी फंस गई और वह अपना रोजगार बन्द करके यात्रा को निकल गए।

बताया जाता है कि मेरे नानाजी उन प्रगतिशील व्यक्तियों में से एक थे जिन्होंने सौराष्ट्र में अपनी कन्याओं को पहले-पहल पाठशाला में भेजा था और अपने पुत्रों को उन्होंने यूनिवर्सिटी की ऊंची शिक्षा दिलवाई थी।

बापूजी जब बैरिस्टरी पढ़ने विलायत जा रहे थे तब मोढ़ बनियों की बिरादरी के दकियानूसी वृद्धों का मुकाबला करने में, उन्होंने बापूजी को सक्रिय सहयोग दिया था और विलायत से बापूजी के लौट आने पर राजकोट की बिरादरी में उनका पुनः प्रवेश कराने में गांधीजी के बड़े भाई को मेरे नानाजी ने बड़ी सहायता दी थी। धनी सेठ होते हुए भी अपनी तुलना में निर्धन स्थिति के श्री खुशालचन्द गांधी के पुत्र के लिए केवल संस्कारिता

को देखकर अपनी कन्या को देना उस जमाने में उनकी प्रगतिशीलता का ठोस प्रमाण माना गया था।

पोरबन्दर में जब मेरा जन्म हुआ तब नानाजी के दिन बदल गए थे और किराये के बहुत सादे मकान में वह रहते थे।

सुदामाजी के मन्दिर और ओताबापा के प्राचीन मकान के प्रायः अधबीच में यह मकान था। अपने बचपन में पन्द्रह-सोलह की आयु तक मेरे मन में इस बात का गौरव जाग्रत रहा कि मैं सुदामा तथा गांधीजी के गांव का एक बालक हूं। इस भावना से मुझे अनेक बार ऊंचे उठने में सहायता मिली।

अपने नानाजी के यहां किस आयु तक मैं रहा, इसका मुझे पता नहीं। परन्तु तब के दो-तीन धुंधले स्मरण अब भी मेरे चित्त पर अंकित हैं:

मगनकाका हम लोगों को लिवाकर जब फीनिक्स के लिए रवाना हुए तब मैं मुश्किल से चार वर्ष का था। हिन्द महासागर की मेरी उस प्रथम यात्रा में हमारे संघ में मगनकाका, मेरी माताजी, मेरी चाचीजी और मैं मिलकर साढ़े तीन प्रवासी थे और दूसरे डेढ़ प्रवासी थे मेरे दूर के काका श्री आनन्दलाल गांधी की पत्नी झवेर काकी और उनकी छोटी पुत्री विजया।

जब मगनकाका स्टेंगर वाली दूकान छोड़कर बापूजी के आमंत्रण पर फीनिक्स गये तब उनके साथ आनन्दलालकाका भी दूकान और व्यापार का मोह छोड़कर किसान का जीवन बिताने स्टेंगर से फीनिक्स आ गये थे।

जिस स्टीमर में हम गये उसका रंग-रूप, नाम आदि तो मुझे याद नहीं हैं, पर इतना याद है कि हमारे संघ को स्टीमर में दो तंग कोठरियां मिली थीं। दिन-भर मगनकाका उन कोठरियों से बाहर रहते थे, और मेरी माता, दोनों काकी और हम दोनों बच्चे कोठरी की संकरी टांड पर बिछे बिस्तर पर बैठे रहते थे। हमारी कोठरी की कांच की खिड़की पर समुद्र की कोई बड़ी लहर जब टकराती थी तब डर के मारे हम सब उस संकरी टांड पर एक-दूसरे के और भी निकट सटकर बैठ जाते थे। हम लोगों का यह डर दूर करने के लिए कभी-कभी मकनकाका हमें ऊपर के खुले डेक पर ले जाते थे; डेक के किनारे लोहे का जंगला उस स्टीमर पर शायद नहीं था। आड़ के लिए केवल मोटा रस्सा बांध लिया गया था। डगमगाता स्टीमर जब पानी की ओर बहुत ज्यादा झुक जाता तब ऐसा प्रतीत होता था कि बस अब वह बिल्कुल करवट लेकर पानी पर लेट जायगा और हम सब पानी में जा गिरेंगे, पर तुरन्त ही वह दूसरी ओर झुकना शुरू करता और हम गिरने से बच जाते। यह सारा दृश्य भयावह था, फिर भी उस समय समुद्र

का दर्शन करते मुझे तृप्ति नहीं होती थी। मगनकाका जब लौटाकर कोठरी में ले जाते थे तब बुरा लगता था। एक बार जब वर्षा हो रही थी, मगन-काका हमें ऊपर वाले डेक पर टहलाने ले गए। देखते-ही-देखते समुद्र की एक बड़ी लहर ने डेक पर आकर झपट्टा मारा और चारों ओर पानी फैल गया और सब यात्री इधर-उधर भागे। उस समय कोहराम मच गया। मगनकाका ने मजबूती से मेरा हाथ थाम लिया, परन्तु मैंने अपनी माताजी का पल्ला नहीं छोड़ा। ऐसी विपत्ति में मुझे अपनी माता पर ही अधिक भरोसा रहा। मगनकाका ने मुझे अपने पास लेने के लिए ज्यों-ज्यों जोर दिया, मैं और भी जोर से अपनी माता से चिपका रहा। बाद में किस प्रकार डेक से उतरकर हम लोग अपनी कोठरी में पहुंचे, इसका स्मरण मुझे नहीं है।

महासागर की वह लम्बी यात्रा कब पूरी हुई, हम लोग स्टीमर से कब उतरे और फीनिक्स पहुंचे, उसका भी कोई स्मरण अब मुझे नहीं है। इतना याद है कि जब हम फीनिक्स पहुंचे तो टीन के एक छोटे से चौकोर कमरे में हमारा डेरा था। रात को वहां इतनी भीड़ हो जाती कि निकलने भर की उसमें जगह न रहती। इसलिए मैं एक कोने में दुबककर बैठ जाया करता था। शाम की रसोई तब नहीं बनती थी। जंगल की जमीन में और ऊपर से बूंदा-बांदी का डर होने के कारण एक ही समय की रसोई मुश्किल से बन पाती थी। चिराग जलने पर घर के बड़े लोग बिना कुछ खाये-पिये ही बिस्तर लगाकर लेटने के इन्तजाम में लग जाते थे। पिताजी और मगनकाका कई बार ऊपर की टीन की छतपर भी बिस्तर लगाते थे। सब लोग जब इस काम में लगे होते थे तब एक कटोरे में थोड़े से दूध में भिगोई हुई डबलरोटी मेरी मां मुझे दिया करती थीं, जिसे मैं बड़ी देर तक कोने में बैठा-बैठा बड़े स्वाद से खाया करता था।

हमारे रहने का तंग चौरस कमरा कुछ दिन बाद बदल दिया गया। उसकी छत का ढाल ऐसा बनाया गया कि बरसात के पानी का टपकना रुक जाय।

.इसी मुख्य कमरे के पश्चिम में एक बरामदा और एक कमरा और बढ़ाया गया। पूर्व में बाक़ायदा रसोईघर तैयार किया गया और उसमें धुआँ निकलने के लिए ईंटों की चिमनी बनाई गई। मकान-भर में और कहीं ईंट-चूना काम में नहीं लिया गया था। टीन और लकड़ी के बने इस खूबसूरत मकान में खिड़कियां कांच की लगाई गई थीं। उसमें लोहे की छड़ या जाली नहीं डाली गई थी, रात को भी वे खुली रहतीं और खिड़की के

रास्ते घर में प्रवेश करना बिल्कुल सुगम था। परन्तु उस जंगल में न कोई जानवर ही हमारे घर में घुसा, न कोई चोर। अफ्रीका के आदि-निवासी घर से लगी हुई सड़क से दिन-रात आते-जाते थे, पर उनमें से किसी को चोरी करने का लालच नहीं हुआ। हमारे घर की जैसी ही रचना वाले और भी दो-तीन मकान सौ-दो सौ कदम की दूरी पर तैयार हुए, जो वेस्ट साहब और आनन्दलालकाका आदि के थे।

फीनिक्स के कार्यकर्त्ता-परिवारों में अभी कोई और लड़का नहीं था, जिसके साथ मैं खेलूं। इसलिए मुझे सारा दिन अपनी माता के पास उस बड़े घर में अकेले ही बिताना पड़ता था। पास के घर में आनन्दलालकाका की पुत्री विजया बहुत कम हमारे यहां खेलने आती थी, क्योंकि हम लोगों को घर से बाहर निकलने में काफी रोका जाता था।

इस मुसीबत में नई मुसीबत यह आई कि घर में स्लेट-पेन का आगमन हुआ। मैं पांच साल का हो गया था इस कारण अब मेरी पढ़ाई शुरू हुई। उस समय की शिक्षा-पद्धति के अनुसार मुझे स्लेट पर इकाई के प्रथम अंक को घंटे-दो-घंटे तक नित्य ही बारबार दोहराते रहना पड़ता था। माताजी के लिखे हुए मूल अंक की लकीर को अपनी छोटी-सी पेन से दोहराते-दोहराते जब वह पौन इंच मोटी लकीर बन जाती और मैं बिल्कुल थककर उदास हो जाता तब मुझपर माताजी को दया आती और वह मेरे हाथ से तख्ती छीनकर अलग रखती हुई मुझसे कहतीं, "जाओ, खेलो घर के बाहर।" परन्तु इस प्रकार खेलने की छुट्टी पाने पर भी मेरा उत्साह सूख जाता और खेल-कूद के बदले घर के पास ही मैं थोड़ा-सा चक्कर लगाता। शाम के समय जब आनन्दलालकाका के यहां से विजया आती तब मैं उसके साथ-साथ कुछ खेल लेता।

प्रत्येक संध्या को आकाश में ज्यों-ज्यों अंधेरा बढ़ने लगता त्यों-त्यों मेरे सिर पर संकट मंडराने लगता। एक से लेकर सौ तक की सारी गिनती मुझे उस समय बड़ों को सुनानी पड़ती थी। विजया एक सांस में सारी गिनती सुना देती, पर मुझसे कई भूलें हो जातीं। वैसे मैं आयु में बड़ा था और फिर लड़का! इस कारण, मेरी भूल जरा भी सहन नहीं की जा सकती थी। बारबार डांट-डपटकर मुझे सुनाया जाता: "लाज ही नहीं है बेशरम को! तुझसे तो यह लड़की होशियार है!" "निरा बुद्धू ही है, बेहतर था कि लड़की ही जनमता।"

अगर पाठ लेते समय मैं अकेला ही होता तब तो मुझे और भी अपमान सहन करना पड़ता था। उस समय मेरी मंदबुद्धि के लिए घर के बड़े लोग

बड़ा अफसोस प्रकट करते थे और विजया की बुद्धिमत्ता की बड़ी प्रशंसा करते।

इसका परिणाम यह हुआ कि गिनती याद होनी तो अलग रही, उसके प्रति मेरी अरुचि बढ़ने लगी। खुद इकाई-दहाई रटके होशियार बनने की आकांक्षा मेरे मन में पैदा न हुई, पर विजया की होशियारी पर मुझे रोष जरूर होने लगा, यहां तक कि जब वह अपने ताऊजी के घर चार-पांच दिन के लिए टोंगाट जाती थी तब मैं मन-ही-मन मनाता रहता था कि वह अब लौटकर फीनिक्स न आये।

धीरे-धीरे मेरी पढ़ाई, अर्थात् गिनती लिखने और सुनाने की विद्या, कसम खाने-भर को आगे बढ़ी, लेकिन घर वालों को उससे सन्तोष नहीं हुआ। मैं सुस्त विद्यार्थी न रहूं, तेज बन जाऊं, इसके लिए वे सब अधीर हो उठे और मुझे सुस्त से चुस्त बनाने का बीड़ा मगनकाका ने उठाया। मैं भुलक्कड़ न रहूं, मेरा प्रमादीपन सत्वर दूर हो जाय और बचपन से ही मैं तेजस्वी विद्यार्थी बन जाऊं, इस आकांक्षा से रोज संध्या को घंटा-दो-घंटा मेरे लिए मगनकाका श्रम करने लगे।

जब मेरी माताजी पढ़ातीं, तब वह भी मुझे अप्रिय लगती थीं, पर जब मगनकाका ने मुझे अपने हाथ में लिया, तब मेरे मन का भय बहुत बढ़ गया और मैं उनकी निगाह से बचने की कोशिश करने लगा।

प्रातःकाल से लेकर शाम तक मगनकाका मुद्रणालय में और घर के बगीचे में कठोर परिश्रम करते और शाम को घर आकर सोने से पहले मुझे पढ़ाने का काम करते। थके-थकाये तो वह होते ही थे, उस पर जब गिनती सुनाने में मुझसे भूल हो जाती तब उनका क्रोध उमड़ पड़ता। वह मुझ पर धमकते और अपनी सारी ताकत से मेरा कान पकड़कर उसे इस हद तक ऐंठते कि मेरे पैर जमीन से ऊपर उठ जाते। कुछ क्षण बाद उनके क्रोध में और भी बाढ़ आती और मेरा कान छोड़कर वह तड़ातड़ मेरे दोनों गालों पर चार-पांच तमाचे लगा देते। ऐसा मालूम होता मानो गाल पर अंगारे धर दिये हों, पर मुझे यह साहस नहीं होता था कि अपने हाथ से मैं अपने गाल को संहला लूं। अश्रुधारा चलती हो, गला सूख रहा हो, फिर भी पाषाण मूर्त्ति के समान निश्चल खड़ा रहकर गिनती सुनाने का प्रयास मुझे चालू रखना पड़ता था। लेकिन जब मेरा चित्त ही विह्वल हो उठा हो तब बिना भूल के गिनती सुनाना कैसे संभव हो सकता था। नतीजा यह होता कि काका की क्रोधाग्नि और भी भड़क उठती और उस समय जो भी डंडा-लकड़ी उनके हाथ पड़ जाती उससे मेरे हाथ-पीठ आदि की काफी मरम्मत हो जाती।

किसी-किसी दिन मुझे भरपूर पीट डालने पर भी काका का क्रोध शांत नहीं होता था, तब मुझे नसीहत देने के लिए वह नया उपाय काम में लाते थे। चार-पांच बार यह प्रयोग उन्होंने किया होगा। हमारे घर के बरामदे में लकड़ी का एक बड़ा बक्स पड़ा रहता था, उसे खाली कर के वह मुझे उसमें बन्द कर देते थे। लकड़ी के उस सन्दूक में बड़ी-बड़ी दरारें थीं, इसलिए मुझे हवा तो मिल जाती, पर मेरा नन्हा-सा जी बेहद व्याकुल हो जाता। मैं बहुत छटपटाता, हाथ-पैर पटकता, उस भारी ढक्कन को लातें मार-मार कर खोलने का प्रयास करता और चिल्लाता, परन्तु मेरी इन चीखों को उनके हृदय तक पहुंचने से उनका प्रचंड क्रोध रोक लेता था। मेरी यह ताकत कहां कि मैं उस ढकने को जोर लगा के खोल दूं, जिसको मेरे पहलवान काका ने अपने पैरों से दबाया हो। मेरी माता और काकी की आंखों से भी अश्रु बहते, परन्तु किसी का साहस नहीं था, जो क्रोध-भरे मकनकाका से कुछ कहे।

जब मेरी कुछ न चलती तब हार मानकर, थककर, मैं उस बक्से में चुप पड़ जाता। थोड़ी देर बाद अपने-आप जब काका के क्रोध का आवेग कुछ कम होता तब बक्से के ढक्कन पर से उतरकर मगनकाका उसे खोल देते और मुझे बाहर निकालकर खड़ा करते।

ऐसी पिटाई और सजा से जब मुझे छुट्टी मिलती तब संध्या बीत जाती, आकाश में गाढ़ा अन्धकार छाया हुआ रहता। मैं मूढ़वत आकाश को देखता रहता। मगनकाका मुझे छोड़कर जब तक अपने कमरे में चले नहीं जाते तब तक मुझे भरोसा नहीं होता कि अब और पिटाई न होगी।

माताजी मेरा हाथ पकड़कर मुझे ले जातीं, नहला-धुलाकर नये कपड़े पहनाकर सुला देतीं। पिताजी प्रायः घर में रहते ही नहीं थे। वह आधी रात तक मुद्रणालय में उलझे रहते थे और वैसे भी मगनकाका के अनुशासन में बाधा डालना उन्हें उचित नहीं लगता था।

ताड़ना के इस प्रसंग के कारण जितना कष्ट और उद्वेग मार खाने वाले चित्त पर कायम रहा उससे सौ गुना अधिक पछतावा और दुःख मारने वाले के चित्त पर रहा।

उन प्रसंगों को याद करके मगनकाका कहा करते थे, "उस समय मैं सचमुच नर-राक्षस ही था। अगर बापूजी ने मेरा यह जंगली स्वभाव बदल न दिया होता तो उस क्रोधांधता ने न जाने कितने पाप आज तक मेरे हाथ से करवाये होते।"

नित्यप्रति बरसती रहनेवाली इस कठोरता ने मेरी वुद्धि के द्वार खोलने में नाममात्र भी सहायता नहीं पहुंचाई। मेरी मन:स्थिति ऐसी हो गई कि ग्रपनी माता, काकी, पिता ग्रादि किसीके पास जाने का, बात करने का मुझे साहस नहीं रहा। घर में कहीं कुछ ग्रच्छा नहीं लगता था, खाते समय थाली में जो परोसा जाता, चुपचाप खा लेता, जितना समय तख्ती लिखने के लिए बाध्य किया जाता, लिख लेता ग्रौर बाकी का सारा समय घर से बाहर दूसरे ग्रादमियों के साथ बिताने के लिए मेरा जी छटपटाता रहता। दुःख की बात यह थी कि फीनिक्स-भर में जो एकमात्र समवयस्क बालक विजया थी वह भी जब हमारे घर ग्राती तो ग्रपनी मां के हाथ ग्रक्सर पिट जाती। उसकी मां कुछ-न-कुछ घर-काम में उसे लगा रखती थी ग्रौर ज़रा-सी गलती होने पर बेलन या ग्रौर जो चीज हाथ ग्राये वह उस पर फेंककर उसे मारती थी। मुझे स्वयं विजया के यहां जाने में ग्रपने घर वालों का डर लगता था। फिर मेरे मन में यह भावना जाग्रत कर दी गई थी कि लड़का होकर लड़की के घर खेलने जाना शरम की बात है। सार यह कि घर वालों के ग्रतिरिक्त किसी ग्रन्य मनुष्य के सहवास के लिए मैं बहुत तरसता रहता था।

मेरी यह कामना तब पूरी होती जब डरबन से कुछ मित्र मेरे पिताजी ग्रौर काका से मिलने फीनिक्स ग्राते ग्रौर दिन-भर हमारे यहां ग्रतिथि बनकर रहते। महमान का ग्राना मेरे लिए होली-दिवाली के त्योहारों का-सा सुखद होता था। महमानों के साथ मिलकर जब मगनकाका हास्य-विनोद ग्रौर गाना बजाना करते तब वहांसे उठकर मैं कहीं नहीं जाता था। उस संध्या को गिनती सुनाने के संकट से भी मुझे मुक्ति मिल जाती ग्रौर जब ग्रतिथि लोग फीनिक्स से लौट जाते तब मेरा मन फिर भारी हो जाता।

ग्रतिथियों के ग्रागमन की भांति रविवार का ग्रागमन भी मुझे बहुत ग्रच्छा लगता था। मगनकाका का स्वभाव कुछ ग्रांधी-पानी का-सा था। जब ग्रांधी उठती है तब ऐसी खतरनाक मालूम देती है मानो पूरे-के-पूरे जंगल को जड़ से उखाड़ फेंकेगी। बड़ा पेड़ या छोटा पौधा कुछ भी नहीं बच पायगा, परन्तु जब ग्रांधी का उन्माद शांत हो जाता है तब शीतल-मंद-सुगंध वायु से वातावरण भर जाता है ग्रौर सर्वत्र ग्रानन्द छा जाता है।

इसी प्रकार जब मगनकाका का क्रोध मिट जाता तब वह सबका ग्रानन्द-विनोद भी बहुत कराते थे। रविवार को दोपहर के बाद घर के सब लोग मिलकर घूमने जाते थे। माता, काकी ग्रौर दूसरी बहनें जंगल की पगडंडी पर दौड़तीं। जो ग्रागे निकल जाती उसको सबकी बधाई मिलती। मगन-

काका किस्म-किस्म के फल-पौधों की पहचान कराते। चार-पांच मील उस दिन हम लोग चलते। जब मैं थक जाता तब बारी-बारी से पिताजी और मगनकाका मुझे कंधे पर बिठा लेते। फिर तो मैं चारों ओर वनराजि की शोभा देखता। बादलों में खेलता हुआ सूरज देखता और मगनकाका भी मुझे सुन्दर-से-सुन्दर दृश्य दिखाते। उस समय बेखटके मैं पूछता कि यहां अमरूद किसने बोया? सबसे पहला बीज किसने बनाया? यह अंधेरा कहां से आगया? केले में बीज क्यों नहीं हैं? इन बातों का उत्तर जरा भी गुस्से के बिना पिताजी और काका देते तथा मेरी जिज्ञासा का समाधान करने का प्रयत्न करते।

इस प्रकार मेरा पांचवां वर्ष एक ओर से अतीव शुष्क और दूसरी ओर महीने में चार-छः बार आनन्द के दिनों का अनुभव करता हुआ बीता। एक ओर गणित की कठोर और दुर्बोध विद्या के पीछे मेरा मन मुर्झा गया और दूसरी ओर फीनिक्स के आसपास की वन-श्री तथा पक्षियों की ओर मेरी दिलचस्पी बढ़ने लगी।

: १५ :

कस्तूरबा का आगमन

अपने घर की चहारदीवारी के भीतर जब मेरी जान बहुत तंग आ गई; घर वालों के पास बैठकर बात करने का साहस नहीं होता था और घर से बाहर और किसी से बोलने-खेलने का मौका ही नहीं था, तब वहां के वातावरण में एक के बाद दूसरे परिवर्तन हुए और मेरा मन खिल उठा।

दो नवयुवक फीनिक्स में आये—हरिलालकाका और गोकुलदासकाका। मैं उनके सामने बिल्कुल बच्चा ही था और वे भरे-पूरे जवान मालूम होते थे। श्री हरिलाल गांधी बापूजी के सबसे बड़े पुत्र अर्थात् पिताजी के चचेरे भाई और श्री गोकुलदास बापूजी की बड़ी बहन गोकी फइबा के इकलौते पुत्र अर्थात् पिताजी के फुफेरे भाई थे। इस प्रकार अब मुझे मगनकाका के अतिरिक्त दो छोटे काका ऐसे मिले जो मुझे डांटते-डपटते नहीं थे, बल्कि प्रसन्न रखते थे। बारी-बारी से अपनी साइकिल पर बैठाकर मुझे फीनिक्स

स्टेशन तक घुमा लाते थे। मैं ठीक तरह बैठ सकूं, इसके लिए वे साइकिल के डंडे पर मुलायम तकिये बांध लेते थे।

जहां तक मुझे स्मरण है, इन दोनों के पास उस समय फीनिक्स में कोई काम या उत्तरदायित्व नहीं था। शायद वे कुछ दिन भ्रमण के लिए ही फीनिक्स आये थे। अच्छे-अच्छे कपड़े पहनने में दोनों एक-दूसरे से बढ़कर थे। फिर भी मुझे ऐसी याद है कि गोकुलदासकाका हरिलालकाका से कपड़ों आदि की शान में बढ़ जाते थे। हरिलालकाका के बाल घुंघराले थे, पर गोकुलदासकाका के बालों की मांग तथा उसे बनाने का ढंग मुझे अधिक अच्छा लगता था। दोनों के हास-परिहास में हरिलालकाका का हास-परिहास बढ़कर रहता था; परन्तु मुझ पर गोकुलदास काका की मंद मुस्कराहट का प्रभाव अधिक पड़ता था। गोकुलदासकाका के साथ-साथ घूमने-फिरने में मुझे अधिक आनन्द आता था। वे लोग कुछ सप्ताह, या दो-चार महीने, फीनिक्स में रहकर चले गए थे। बापूजी के पास जोहान्सबर्ग गये अथवा भारत लौट आये, यह मुझे याद नहीं। केवल इतना याद है कि वे लौटकर फिर फीनिक्स नहीं आये। बहुत दिन बाद---शायद वर्ष डेढ़ वर्ष बाद---हरिलालकाका के बापू के साथ ट्रांसवाल में जेल जाने की बात सुनी और गोकुलदासकाका की मृत्यु के समाचार फीनिक्स पहुंचे। भारत आने पर गोकुलदासकाका की अकाल मृत्यु हो गई थी और मृत्यु के समाचार से हमारे परिवार में भारी शोक छा गया था।

बापूजी के लिए ऐसे होनहार भानजे की मृत्यु का आघात कम नहीं था। गोकुलदास उनके लिए अपने निजी पुत्र से अधिक थे। गोकी फइबा ने बापूजी के प्रेम का उल्लेख करते हुए मुझसे कहा था कि वह "हरिलाल और गोकुल को एक-समान देखते थे।"

बापू ने एक शाम को गोकी फइबा से कहा, "लड़कों को बाहर पढ़ने भेजना है। एक को बनारस और एक को गोंडल के छात्रावास में भेजना चाहता हूं। बनारस किसे भेजूं, यह सोच रहा हूं। अपने आप में निर्णय नहीं करना चाहता। मेरे लिए दोनों एक बराबर हैं। मैं चिट्ठी डालूंगा और जिसका भाग्य बनारस जाने का होगा उसे वहां और दूसरे को गोंडल भेजूंगा।"

फिर बापू ने पड़ोस के एक छोटे बालक को बुलाया। उसके एक हाथ में एक रुपया दिया और दूसरे हाथ में पैसा। उस बालक से कहा कि जाओ, इस घर में जहां तुम्हारा जी चाहे, इन दोनों सिक्कों को अलग-अलग जगह छिपा आओ। जब वह बालक सिक्कों को छिपा आया, बापू ने अपने

पुत्र और भानजे से कहा, "जाओ, सिक्का ढूंढ़कर ले आओ।" थोड़ी देर बाद गोकुलदासकाका रुपया ढूंढ़ लाये और हरिलाल काका पैसा। यह देखकर बापू ने अपनी बहन से कहा, "गोकुलदास बनारस जायगा, उसे जल्दी तैयार करो। वह भाग्यवान दीखता है।"

जिस भानजे पर बापूजी की इतनी अधिक ममता थी, उसकी अकस्मात मृत्यु पर भी वह शोक का घूंट पी गए और मृत्यु का उत्साह से स्वागत करने की शक्ति प्राप्त करने के लिए तीव्रता से चिन्तन-मनन करने लगे। इस संबंध में बापूजी के दो पत्र यहां उद्धृत कर देना अप्रासंगिक न होगा। पहला पत्र है मेरे दादाजी और एक अन्य स्वजन के नाम और दूसरा है मगनकाका के नाम।

ता० १४-५-१९०८

वंद्य मेघजीभाई और खुशालभाई,

आपका पत्र मिला। अपने मन के कुछ उद्गार मैंने रलियातबहन के पत्रों में प्रकट किये हैं। इसी पत्र के साथ वह पत्र भी नत्थी है। उसे आप पढ़ें, उस पर विचार करें और बहन रलियात को पढ़कर सुनाएं। यदि बहन भाई करसनदास के पास हों तो वहां उस पत्र को भेज दें और बहन रलियात की मनःस्थिति के बारे में मुझे सूचना देने की कृपा करें।

गोकुलदास गया सो जाना। अपने संबंध के कारण स्वभावतः ही इन पंक्तियों को लिखते-लिखते मुझे रोना आता है। किन्तु अपने मन के विचार, जो बहुत अरसे से मन में मंडरा रहे हैं, आज बहुत प्रबल हो उठे हैं। मैं देखता हूं कि हम सब विकट जाल में फंसे हुए हैं। जैसी हमारे परिवार की दुर्दशा है वैसी ही हमारे देश की भी दुर्दशा मुझे नजर आती है। इन दिनों मेरे मन में जो विचार मुख्य हैं, उन्हीं को मैं यहां आपके सामने रख रहा हूं।

गलत लिहाज या शर्म के कारण अथवा गलत मोह में फंसकर हम अपने बालकों के शादी-ब्याह करने की जल्दी मचाते हैं। इस बखेड़े के पीछे सैकड़ों रुपये बरबाद करते हैं और फिर विधवाओं के मुख देख-देखकर तरस खाते हैं। ब्याह करना ही नहीं, ऐसे तो मैं कैसे कहूं? पर कुछ हद तो कायम करें। बालकों की शादी कराकर उन्हें हम दुःख में ढकेल देते हैं। वे फिर संतान पैदा करके झंझट में पड़ जाते हैं। हमारे नियम के अनुसार स्त्रीसंग तो केवल प्रजोत्पत्ति के लिए ही विहित है। इसके अलावा जो है वह विषय ही है। हम लोग इस पथ का यत्किंचित अनुसरण करते हों ऐसा प्रतीत नहीं होता। यदि मेरा यह कथन गलत नहीं है तो मानना पड़ेगा कि अपनी ही तरह अपने बालकों के शादी-ब्याह रचाकर हम उन्हें विषयी

बना रहे हैं और इस प्रकार यह विषय-वृक्ष बढ़ता ही चला जाता है। इसको धर्म मानना मुझे स्वीकार नहीं है।

अधिक नहीं लिखूंगा। आपने वहां के हालत लिख भेजे हैं, पर मैं और क्या उत्तर दूं? अपने मन की बात ही मैं लिख सकता हूं। यद्यपि मैं आप लोगों से छोटा हूं फिर भी आपके द्वारा मैं अपने विचार सारे परिवार के सामने रख रहा हूं। इसी को आप मेरी कुटुम्ब-सेवा मानें। यदि इन उद्‌गारों को आप मेरा अपराध समझें तो उसके लिए क्षमा करें। चौदह वर्ष तक स्वाध्याय और मनन करने के बाद और सात वर्ष के आचरण के बाद अपने इन विचारों को अवसर देखकर आपके पाह रख रहा हूं।

—मोहनदास के दंडवत् प्रणाम

गोकुलदास काका की नई-नई ही शादी हुई थी और वह अपने पीछे एक छोटी बालिका और विधवा पत्नी छोड़ गए थे। इस कारण परिवार-भर में कुहराम मच गया था। इस पर बापूजी ने जो आश्वासन का पत्र भेजा उससे उन लोगों को बड़ी सांत्वना मिली।

इस पत्र के ठीक आठ दिन बाद बापूजी ने मगनकाका के नाम पत्र भेजा। उसमें जीवन-मरण के बारे में अपने विचारों को उन्होंने बिल्कुल स्पष्ट रख दिया था। उस समय ट्रांसवाल में सत्याग्रह का दौर चल रहा था। जनरल स्मट्स ने समझौते का दिखावटी हाथ फैलाया था और उस समझौते को अमल में लाने के कारण बापूजी का जीवन खतरे में पड़ गया था। मीरआलम पठान ने जिस दिन बापूजी पर आक्रमण किया था, मालूम होता है, उसके पहले दिन बापूजी ने यह पत्र मगनकाका को लिखा था।

जोहान्सबर्ग

ता० २१-५-१९०८

चि. मगनलाल,

तुम्हारा पत्र मिला। मेरे लिए चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। मुझे लगता है कि मुझे अपनी बलि चढ़ानी ही होगी। स्मट्स आखिर तक दगा देगा, ऐसा मैं नहीं मानता। पर लोग अधीर हो उठे हैं। वे मेरी जिन्दगी पर प्रहार करने को तुले हुए हैं। यदि ऐसा हो तो संतोष मानना। जिसे मैं कल्याण की बात समझता हूँ उसे पूरा करने में यदि जिन्दगी कुरबान करनी पड़े तो उससे बढ़कर मृत्यु और कौन-सी हो सकती है?

जब ईश्वर ने गोकुलदास को बुला लेना उचित समझा तब मौत की बात से जी उदास क्यों हो जाय? यह दुनिया फानी है। तो फिर मेरा

जीव इस दुनिया से चल बसे तो उसके लिए चिन्ता क्यों करें? मृत्यु-पर्यन्त मुझसे कुछ अनुचित कार्य न हो, यह इच्छा रखना पर्याप्त है। भूल से भी अपने हाथ से कुछ अनुचित न हो, इसकी चिन्ता मन में रखनी चाहिए। मुझे मोक्ष मिल जाय ऐसी स्थिति पर भी तो मैं अभी पहुंचा नहीं हूं, पर मेरी ऐसी मान्यता है कि इन दिनों मेरे विचार जिस लीक पर चल रहे हैं उनके उसी लीक पर रहते हुए यदि मैं अपना शरीर छोड़ जाऊंगा तो पुनर्जन्म मिलेगा जिससे सद्यः मोक्षप्राप्ति होगी।

—मोहनदास के आशीर्वाद

हरिलालकाका और गोकुलदासकाका के फीनिक्स से चले जाने के कुछ समय बाद कस्तूरबा फीनिक्स में आ गईं। पारसी महिला की तरह की उनकी गहरे बादामी रंग की साड़ी, पैरों में मोजे और गले की पैनी आवाज आज भी नहीं भूला हूं।

बा के साथ बापूजी उस समय फीनिक्स आये हों, ऐसा याद नहीं पड़ता। मणिलालकाका, रामदासकाका और देवदासकाका बा के साथ आये और बापूजी का जो घर बन्द-सा पड़ा रहता था वह अब खुल गया। वह अब 'बड़ा घर' कहलाने लगा और हमारे घर में सारे दिन बड़े घर की ही चर्चा होने लगी। पूज्य बा जब हमारे घर पर आतीं तब घर के लोग उनका बहुत आदर करते, परन्तु वह तो हमारे रसोईघर की पैड़ी पर बिना कुछ बिछाये ही बैठ जाती थीं। मेरी माता, काकी और बा तीनों देर तक साथ बैठी रहती थीं। वे बहुत धीरे-धीरे बातें करती थीं और उनके मुख पर दुःख और भय की गंभीर छाया नजर आती थी।

बापूजी के बारे में सब बहुत चिंतित हो रही थीं। मेरे पिताजी दिन में कई बार मुद्रणालय से आकर पूज्य बा को समाचार सुना जाते थे। फिर जूलू लोगों के बारे में बातचीत चलती थी। वे यहां तक पहुंचे, वहां तक पहुंचे, ऐसी चर्चाएं होती रहती थीं।

फीनिक्स का स्थान जूलू लोगों के प्रदेश के मध्य में था। फीनिक्स-वासी भारतीयों को अपने विरुद्ध गोरों की सहायता करते देखकर जूलू लोग तत्काल फीनिक्स पर धावा बोल सकते थे और उसे नष्ट कर सकते थे, परन्तु यह बापूजी की महिमा थी कि गोरों की मदद के लिए जाकर भी वह जूलू लोगों के दुश्मन नहीं, मित्र ही बने, जूलुओं के सेवक कहलाए और जूलू लोग सदा के लिए फीनिक्स के मित्र बन गए।

उन्हीं दिनों हमारे घर में एक घटना घटी। कुछ दिन तक मेरी काकी बीमार रहीं और घर में एक छोटा बालक बढ़ा। उसका नाम केशव-

लाल रखा गया। शुरू-शुरू में मैं उसे काकी का भाई समझता रहा जबकि वह भाई मेरा होता था। उसको अपनी गोद में लेकर खिलाने में मुझे बड़ा आनंद आता था। अब घर में रहकर दिन काटना कुछ आसान प्रतीत होने लगा था। दोपहर में पूज्य बा हमारे घर आती थीं, इसलिए स्लेट और पेंसिल लेकर अपनी मां के पास बैठे रहने का कष्ट मुझे कम समय भुगतना पड़ता था।

देवदासकाका और रामदासकाका भी हमारे यहां आने लगे थे। पर थोड़ी ही देर रुककर वे अपने घर लौट जाते। वे दोनों मुझसे क्रमशः डेढ़ और तीन वर्ष बड़े थे, इसलिए उनके खेलों में मैं बराबरी नहीं कर सकता था।

पूज्य बा के आने के बाद बापूजी भी कुछ दिन फीनिक्स में रह गए। उनके आने पर रोज संध्या के समय उनके घर पर 'सभा' होती थी। उस 'सभा' में मेरी माताजी बहुत अच्छे-अच्छे भजन सुनाती थीं। आगे चलकर जो आश्रम की सायं-प्रार्थना कहलाई उसका पूर्वरूप यह सभा ही था। फीनिक्स-भर के गोरे-काले सभी लोग उस समय बड़े घर पर एकत्र होते थे और मेज-कुरसी पर बैठकर भजन आदि गाते थे। सबके बीच में बापूजी बैठते थे और उनकी बात सब लोग बड़ी शांति से सुनते थे।

बापूजी जब फीनिक्स से चले गए तब नित्यप्रति हमारे घर में तुलसी-रामायण की कथा होने लगी। माता-पिता और काका-काकी चारों इकट्ठे बैठकर चौपाई गाते थे। माताजी और मगनकाका का कंठ एक-दूसरे का पूरक होता था और वातावरण माधुर्य से भर जाता था। मैं इन मीठे सुरों को सुनता-सुनता अक्सर सो जाया करता था।

: १६ :

मेरी शरारतें

शैतानी प्रकट हो जाने या रंगे हाथों पकड़े जाने पर मार पड़ेगी, यह जानते हुए भी मैं शैतानी करने से बाज न आता था। वैसे ऊधम और शरारत सभी बच्चे करते हैं, पर मैं अपने घर में अकेला बालक था, इसलिए शायद मेरी शैतानी और ही प्रकार की थी। साइकिल का पम्प घर में

चाहे कितनी ऊंचाई पर क्यों न धरा हो, मैं ऊपर चढ़कर उसे उतार लाता और फिर पानी से भरी बाल्टी में उसे डुबोकर दूर-दूर तक पिचकारियां छोड़ता। पिताजी के हजामत के सामान में से उस्तरा निकालकर उससे सफाई के साथ साबुन काटना, सीने की मशीन पर चुपके-चुपके हाथ आजमाना, दिन के समय मोमबत्ती जलाना, पानी की टंकी का नल खोलकर फव्वारे छोड़ना, घर रंगने के लिए आये हुए सामान को जहां-तहां प्रयोग में लाना, इत्यादि, उलट-पलट में कम नहीं करता था।

मगनकाका बगीचे के काम के लिए नया चाकू लाये थे। फलवृक्षों की टहनियां काटने के लिए उसकी बनावट खास ढंग की थी। उसकी धार उस्तरे की-सी तेज थी। मैंने चुपचाप वह चाकू उठाया और घर के पीछे बैठकर अपनी स्लेट-पेंसिल को नुकीली करने लगा। पत्थर की वह पेंसिल तेज चाकू से अच्छी तरह छिलने लगी, पर नोक बनने पर आई तो दाएं हाथ का झटका ऐसे जोर का लगा कि बाएं हाथ के अंगूठे का सारा नाखून कटकर अलग हो गया। अपने ही हाथ से घायल हुआ था, इसलिए मैं जरा भी नहीं चिल्लाया। मिनटों तक बहते खून को अपने कपड़े से बन्द करने की कोशिश में लगा रहा, पर वह बन्द नहीं हुआ। मैं अंगूठा थामे हुए बैठा रहा। इस बीच मेरी माताजी किसी कारण वहां से निकलीं। इतना रक्त बहता देखकर वह मुझे घर में ले आईं और घाव पर पट्टी बांध दी। दर्द कम नहीं था, पर रोऊं तो कैसे? किसी ने मुझे मारा या डांटा नहीं, इस बात का ही मुझे कम संतोष नहीं था।

हमारे आंगन में नहाने और खेती के औजार आदि रखने के लिए एक कच्चा झोंपड़ा बना था। उस झोंपड़े से सटी हुई कच्ची लकड़ियों का छोटा-सा मंडप था और उस मंडप के सहारे मगनकाका ने अंगूर की बेल लगाई थी। पहली बार उस बेल में अंगूर फले थे। दक्षिण अफ्रीका में अंगूर बहुत मिलते थे, पर घर के बगीचे के अंगूरों का आकर्षण और ही था। छोटे-छोटे गोल-गोल, हरे-हरे दानों के गुच्छे मंडप से नीचे की ओर लटकते हुए बहुत ही लुभावने लगते थे। इतने छोटे अंगूर खट्टे होते हैं, इसका मुझे पता था; परन्तु उन खट्टे अंगूरों को खाने के लिए मेरा जी ललचा रहा था।

एक दिन मुझे मौका मिल गया। घर में कोई नहीं था। पिताजी और काका मुद्रणालय में थे और माता तथा काकी बड़े घर गई थीं। दोपहर का समय था। मैं अंगूर के मंडप के नीचे पहुंचा। हाथ तो मेरा उतना ऊंचे पहुंचनेवाला था नहीं। बांस या लकड़ी से अंगूर का गुच्छा तोड़ता तो बेल बिगड़ जाती और काका नाराज होते। आखिर मैंने ऊपर चढ़कर

सावधानी से एक गुच्छा तोड़ लेने की ठानी। मंडप की लकड़ियां बहुत पतली थीं। फिर भी धीरे-धीरे एक-एक लकड़ी पकड़कर लटकता-फांदता मैं मंडप की छत तक पहुंच गया। फिर आगे बढ़कर मंडप के बीच में पहुंचा और धीरे-धीरे अंगूर के उस गुच्छे तक पहुंच गया जो मुझे सबसे सुन्दर प्रतीत हो रहा था। जैसे ही हाथ बढ़ाकर उस गुच्छे को तोड़ने को हुआ कि बिना कुछ आवाज या झटके के धड़ाम से जमीन पर आ गिरा। अच्छा हुआ कि मुंह के बल न गिरकर बिल्कुल चित गिरा। गिरते ही ऊपर को देखा तो वह लकड़ी दो टुकड़े हो गई थी, जिसके ऊपर मैंने अपना सारा वजन डाला था। पतली लकड़ी तो वह थी ही, वर्षा के पानी से सड़ भी गई थी। चोट ऐसी आई थी कि अपने-आप उठ-बैठना कठिन मालूम हुआ। कम-से-कम आठ-नौ फुट की ऊंचाई से गिरा था। मुश्किल से उठा और धीरे-धीरे चलकर अपन कमरे में बिछी हुई चारपाई पर चुपचाप जा लेटा। चोट कहीं फूटी नहीं थी, खून नहीं निकला था, परन्तु रीढ़ और कमर की हड्डियां अन्दर से दुख रही थीं। मैं तनकर सीधा बिस्तर पर लेटा रहा। शरीर को आराम मिला और कुछ देर के लिए आंख भी लग गई। जब आंख खुली तो माताजी सामने खड़ी थीं। मैं उठ बैठा। वह बोलीं, "आज तो तू बड़ा सयाना बना हुआ है। बात क्या है? खैर, अच्छा किया जो दोपहर में थोड़ी देर लेट गया, दिन-भर खेलते रहना ठीक नहीं होता।"

जबतक मैं अकेला था, मेरा नटखटपन घर और आंगन तक ही सीमित था। पर अब कस्तूरबा स्थायी रूप से फीनिक्स में आकर बस गई थीं। रामदासकाका और देवदासकाका से मेरी दोस्ती बढ़ चली थी और धीरे-धीरे मैं भी बड़ा हो रहा था। थोड़े दिन बाद विली नाम का चौथा लड़का भी फीनिक्स में आया और इस प्रकार वहां हमारी पूरी चौकड़ी बन गई।

दोपहर के समय जब मगनकाका और दूसरे बड़े लोग प्रेस में जाते थे हम चारों की चौकड़ी बेखटके फीनिक्स के इस सिरे से लेकर उस सिरे तक दौड़ती फिरती थी और अनेक प्रकार के 'अव्यापारेषु व्यापार' करती थी।

बापू के घर के पूर्व में फीनिक्स के पुराने मालिक का एक पुराना बाग था। उसमें अधिकतर पेड़ पुराने हो चुके थे, इसलिए उसे बड़ा बाग कहा जाता था। उन बूढ़े वृक्षों पर भी फल खूब आते थे। उस बाग की रखवाली आनन्दलालकाका के जिम्मे थी। उसमें से एक भी फल कोई ले न जाय,

इसके लिए वे बहुत चौकन्ने रहते थे। हम लोगों को लगता था कि ये जो इतने फल लग रहे हैं और पके हुए पेड़ पर लटकते हैं वे खाने के लिए हैं या सड़ाने के लिए? यदि आनन्दलालकाका हमारी टोली को बगीचे के निकट देख लेते तो डांट-डपटकर तुरंत भगा देते थे। इसलिए उनके पीछे उस बगीचे पर धावा बोलने में हमें आनन्द आता था। वे बेचारे प्रेस का काम छोड़कर भरी दुपहरी में कई बार बगीचे की देख-भाल के लिए चक्कर काटते, किन्तु हम भी अपना इंतजाम पक्का रखते थे। मैं छोटा था, ऊंचे पेड़ों पर चढ़ना मेरे लिए कठिन था, इसलिए चोरी की जगह से दूर खड़ा रहकर पहरा देने और किसी की आहट पाते ही खबर करने का काम मेरे जिम्मे था। रामदासकाका सबसे बड़े थे, इसलिए उन बड़े वृक्षों की ऊंची डालियों पर चढ़कर फल गिराने का काम उनका था। देवदासकाका और विली फलों को जमीन पर से बटोरने का काम करते थे। शहतूत का एक महावृक्ष प्रायः ४० फुट ऊंचा था और ऐसा ही पपीते का एक पुराना पेड़ करीब २५ फुट ऊंचा था। इन दोनों वृक्षों के फल बहुत मीठे होते थे। रामदासकाका फल गिराकर जबतक नीचे उतरते, तबतक उनके गिराए हुए फलों का मीठे-से-मीठा भाग नीचेवाले उदरस्थ कर चुकते थे। खरी मेहनत करने वाले घाटे में रहते, किन्तु रामदासकाका कभी झगड़ा नहीं करते थे। फल खाते समय यदि हमें दूर से आहट सुनाई देती तो हम पगडंडी छोड़कर उल्टी दिशा में पलायन कर जाते और झाड़-झंखार पार करके बापू के मकान के पीछे स्नानघर में पहुंच जाते थे। वहां हाथ-मुंह धोकर साफ-सुथरे हो जाते, जिससे किसी को पता भी न चले कि हमने फल खाये हैं। फलों की मौज उड़ाने की तुलना में चोरी करके भी पकड़े न जाने की अपनी चतुराई का हम अधिक आनन्द अनुभव करते थे।

उस बागीचे में जब संतरों की बहार आती तब एक धावे में सौ-दो-सौ संतरों को चीर डालना हमारे लिए मामूली बात थी। संतरों के पेड़ों के पास ही दो-तीन पौधे बहुत ही तीखी मिर्च के थे। उनमें इंच-सवा-इंच की लाल सुन्दर मिर्चें लगती थीं। उन्हें लवंगी मिर्च कहते थे। साधारण मिर्च से वे आठ-दस गुनी तेज होती थीं। उन्हें मुंह में रखते ही सारा मुंह आग-आग हो जाता था और आंखों से पानी बहने लगता था। इन मिर्चों को कौन ज्यादा खा सकता है, इस पर हमारे बीच होड़ लगती थी। फिर हम बहुत-से संतरे तोड़ लाते थे। संतरा छीलकर अपने हाथ में रखते थे और लवंगी मिर्च मुंह में रखते ही ऊपर से समूचा संतरा मुंह में दबा लेते थे। इस प्रकार एक के बाद एक करके दस-पंद्रह मिर्चें और उनसे दुगने-

तिगुने संतरे खा जाते थे। कौन जीतता था, इसकी तो अब मुझे याद नहीं है, परन्तु इस होड़ में मैं कोई खास पीछे नहीं रहता था।

धीरे-धीरे फीनिक्सवासियों के नये बगीचों में भी फल लगने लगे। आनन्दलालकाका ने अपने घर के पास काले अंगूर बो रखे थे। हरे अंगूर तो हमें बहुत मिलते थे, पर काले अगूर हमारे लिए नये थे। अपने बगीचे की सार-संभाल के लिए आनन्दलालकाका ने एक नौकर रखा था, जो उत्तरप्रदेश का था। उसे हम 'भैयाजी' कहते थे। वह हमें देखते ही हाथ में फावड़ा या खुर्पी लेकर हमारे पीछे पड़ जाता था और कभी-कभी हमें उसके हाथ का प्रसाद भी मिल जाता था, फिर भी हम किसी-न-किसी युक्ति से आनन्दलालकाका की द्राक्ष-कुजों तक पहुंच ही जाते थे और अंगूरों पर हाथ साफ करके उनके पकने की नौबत नहीं आने देते थे। इसी प्रकार उनके बगीचे के अनन्नास, जो कच्चे होने पर इमली से भी कहीं ज्यादा खट्टे होते थे, चुनचुनकर चट कर डालते थे।

एक बार मगनकाका ने नहाने के कमरे में एक टोकरी के अन्दर हमारे बगीचे के दस-पन्द्रह आम पकने के लिए रखे। दक्षिण अफ्रीका में आम नई चीज थी। फीनिक्स-भर में शायद यह पहली फसल थी। दूसरे ही दिन शाम तक हमारी टोली ने उस टोकरी में एक भी आम नहीं रहने दिया।

फीनिक्स-भर में हमारी नजर से किसी भी बगीचे के नये फलों, ताजे भुट्टों आदि का बचना कठिन था ही, पर अब हमने एक खेल ऐसा शुरू किया, जिसके कारण बिना बगीचेवाले एक सज्जन भी हमसे तंग आ गए। वह मद्रास की ओर के ईसाई थे, जो बिना परिवार के एक छोटी कोठरी में रहते थे। जब वे अपने काम पर प्रेस में जाते, तब हम लोग उनकी कोठरी पर पहुंचते और किसी-न-किसी तरह उसे खोल लेते। वहां उनके सिगरेट के डिब्बों से चमकीले कागजों और चित्रों पर हाथ साफ करते। फिर उनके अंडों के संग्रह को बरबाद कर डालते। वे मांसाहारी थे और शिक्षक बनने की बात सोचते थे। हमारा ख्याल था कि उनको नुकसान पहुंचाकर हम उन्हें विशुद्ध शाकाहारी बना देंगे। फीनिक्स में अंडे आदि मिल नहीं सकते थे, इसलिए वे बाहर से अंडे मंगाकर कनस्तर में रखते थे। मछली के डिब्बे भी मंगाकर रखते। बाहर आंगन में एक शिला पड़ी रहती थी। उसपर जोर से एक-एक अंडा पटककर हम उसे फोड़ देते थे। बारी-बारी से हम सब लड़के अंडा पटक-पटककर देखते थे कि किसकी पटक की आवाज अच्छी हुई और अंडे का पीला रस किसने अधिक

दूर तक फैलाया। इस तरह दर्जनों अंडे बर्बाद करने के बाद हम उनके मछली के डिब्बे खेत में दूर फेंक देते थे।

मांस या मछली हमारे लिए अभक्ष्य हैं, किसी जीव को मारने में पाप लगता है, यह भावना मन में दृढ़ थी, इसलिए मैंने किसी जीव को कभी मारा तो नहीं, परन्तु शिकारियों की देखा-देखी चिड़ियों को जाल में फांसना, ऊंची-ऊंची घास में घुसकर घोंसलों को ढूंढ़ निकालना, घोंसलों में रखे हुए रंग-बिरंगे अंडों को गिनना, अंडे से निकले हुए छोटे बच्चों की चीं-चीं सुनना और उन्हें घोंसलों से निकालकर डराना, सताना इत्यादि खेलों में मैं अपना काफी समय व्यतीत करता था। दूसरे बाल-साथी न होते तब भी अकेले-अकेले मैं देखा करता था कि कौन-सी चिड़िया ने कहां पर कैसा घोंसला बनाया है? उसके अंडे कितने और किस रंग के हैं? वह कैसा गाना गाती है? चुपके से उन घोंसलों तक पहुंच जाने की शिकारी जीवन की कला वैष्णव बालक के लिए दुर्लभ ही मानी जायगी, लेकिन फीनिक्स में यह मुझे सुलभ हो गई थी।

मेरी शरारतें फलों, पक्षियों, उनके अंडे-बच्चों तक ही सीमित नहीं रही। देवदासकाका और छोटे भाई केशू पर भी मैं प्रयोग करने लगा।

हमारे घर से कुछ दूरी पर एक कच्चा कुआं था जो सात-आठ हाथ गहरा होगा। चौमासे के बीत जाने पर उसमें एक बालटी पानी भी मुश्किल से निकलता था। उस कुएं की तली का ज्यादा भाग कीचड़ से भरा रहता था। जो थोड़ा-सा पानी होता उसे लेने के लिए नीचे तक उतरना पड़ता था और इसके लिए बांस की टूटी-सी सीढ़ी लगी रहती थी। उस सीढ़ी के सहारे नीचे उतरकर हम—रामदासकाका, देवदासकाका और मैं—उस गारे से मिट्टी के खिलौने बनाया करते थे। एक दिन देवदासकाका और मैं कुएं को देखने गये और ऊपर से झांककर नीचे के कीचड़ का परीक्षण करने लगे। नीचे झांकते-झांकते न जाने क्यों मेरे मन में यह जिज्ञासा जागी कि यदि इसमें कूदा जाय तो चोट आयगी या नहीं? स्वयं यह प्रयोग करने का साहस मुझे नहीं हुआ। इसलिए झट से मैंने एक कदम पीछे हटकर देवदासकाका को, जो कुएं की तली की ओर झांक रहे थे, धक्का दे दिया। देवदासकाका ने बड़ी फुर्ती से अपना संतुलन सम्हाला और वह सीधे अन्दर कूद पड़े। पैरों के बल गिरने से उन्हें चोट तो नहीं आई, पर कीचड़ में उनके सारे कपड़े सन गए। गिरने से भी ज्यादा गुस्सा उनको कपड़ों के सन जाने के कारण आया। तुरन्त ही वह सीढ़ी से कुएं से बाहर निकल आए और मगनकाका से शिकायत करने के लिए प्रेस की ओर

दौड़े। उनको शिकायत करने से रोकने के लिए मैं भी उनके पीछे-पीछे दौड़ा, परन्तु मैं उन्हें रोक नहीं सका। उस दिन मेरा सद्भाग्य ही था जो मगनकाका ने मुझे पीटा नहीं। घर होता तो शायद वह मेरी खासी मरम्मत करते; लेकिन प्रेस के सभी लोगों ने मुझे इतना कहा-सुना कि वह मार से भी ज्यादा काम कर गया।

ऐसे ही एक बार अपने छोटे भाई केशू को भी अपनी शरारत का निशाना बनाया। जब मेरी काकी भोजन बनाने जाती थीं तब अक्सर मुझे केशू के पालने के पास बिठा जाती थीं और उसे देर तक झुलाते रहने का कर्त्तव्य मुझे पूरा करना पड़ता था। मुझे इस तरह घर में बंधा रहना बहुत अखरता था। परन्तु मुझमें इतना बल नहीं था कि मैं साफ-साफ कह देता—"मैं नहीं झुलाऊंगा, मुझे खेलने जाना है।"

सोचते-सोचते एक दिन मुझे इस झंझट से छूटने की युक्ति मिल गई। मैंने सोचा कि केशू को इतना रुलाया जाय कि वह चुप ही न हो, फिर काकी को उसे लेना ही पड़ेगा और तब मुझे छुट्टी मिल जायगी।

यह दीवाली के बाद की बात है। फीनिक्स के शुरू के दिनों में दिवाली के अवसर पर हम लोगों के लिए डरबन से छोटे-छोटे पटाखे मंगा दिए जाते थे। उनमें रंगीन दियासलाई की डिबियां भी होती थीं, जो मुझे बहुत प्रिय थीं। मैंनें अपने पास की डिबिया की एक सींक जलाई, उसका बचा हुआ जलता भाग केशू की छाती पर छुआ दिया और तुरन्त ही सींक को खिड़की से बाहर फेंक दिया। केशू चिल्लाकर रोने लगा। काकी दौड़ कर आईं। मुझ से पूछा कि क्या हुआ? पर जवाब कौन देता? काकी ने सारा झूला देखा और उसके आसपास भी देख डाला। अन्त में जब केशू का कपड़ा उतारा गया तो उसकी छाती के नीचे जलने का निशान दिखलाई पड़ा। काकी सारी बात समझ गईं। जब काका घर आये और उन्हें यह क़िस्सा मालूम हुआ तो मेरी खूब मरम्मत हुई और अपने छोटे भाई से प्रेम करने का सुबह-शाम कई दिनों तक उपदेश सुनना पड़ा। उसके बाद कभी मैंने अपने छोटे भाई को खिलाने का काम छोड़कर खेलने जाने का दुस्साहस नहीं किया।

फीनिक्स में हमारे सोने के कमरे में मोमबत्ती और दियासलाई रखी रहती थी। रात के समय बड़े कमरे में मिट्टी के तेल का लैंप होता था और अन्यत्र मोमबत्ती से काम चलता था। मुझे कोई दियासलाई या मोमबत्ती को हाथ नहीं लगाने देता था। मैंने लुकछिपकर मोमबत्ती जलाने का समय खोज लिया। दोपहर के समय जब पिताजी और काका

भोजन के बाद प्रेस चले जाते थे और माताजी और काकी रसोईघर में भोजन करने बैठती थीं तब मैं सोने के कमरे में पहुंच जाता था और उसे खिड़की से लगी हुई लकड़ी की चौखट पर खड़ा कर देता था। फिर उसकी दीप-शिखा को निहारता था और पिघलते हुए मोम को, जो धीरे-धीरे नीचे को उतरकर विविध आकृतियां बनाता था, देखता रहता था।

यह क्रम नियमपूर्वक बीस-पच्चीस दिनों तक चलता रहा। एक दिन अकस्मात् माताजी उसी समय कमरे में आ पहुंचीं जब मैं मोमबत्ती जलाकर उसकी लौ देखने में मगन था। माताजी को देखते ही मैंने मोमबत्ती को बुझाने के लिए उस पर हाथ से झपाटा मारा और वह टीन की दीवार और लकड़ी के खम्भे के बीच लुढ़क गई। उसकी लपट दृष्टि से ओझल तो हो गई मगर बुझी या नहीं, यह न मैंने देखा, न माताजी ने ही जांचा। पढ़ना छोड़कर ऐसी हरकत करने के लिए माताजी ने मुझे थोड़ी-सी डांट बताई और फिर वह रसोईघर में लौट गईं। मैं भी खेलने के लिए निकल गया। इसके बाद १० मिनट भी न बीते होंगे कि कमरे में से धुआं निकलने लगा। मेरी काकी ने यह सबसे पहले देखा और बालटी लेकर वह वहां दौड़ गईं। देखा तो लकड़ी का बड़ा खंभा जल उठा था और लपटें छत तक जा पहुंची थीं। माताजी और पूज्य कस्तूरबा भी वहां तुरन्त पहुंच गईं। कोई आदमी तो उस समय आस-पास था नहीं, इसलिए उन तीनों ने ही उस आग को जैसे-तैसे बुझाया। जली हुई लकड़ी का वह निशान जब मैं भारत लौटा तबतक ज्यों-का-त्यों उस घर में बना हुआ था और मेरे नटखटपन की याद दिलाया करता था।

इन सब घटनाओं से फीनिक्स-भर में मेरा नाम 'बन्दर' पड़ गया था। प्रेस में जब जाता तो वहां भी मशीनों से उलझकर मैं कुछ-न-कुछ उलटा-सीधा कर ही डालता था। इसलिए यन्त्र चलाने वाले लोग मुझसे सतर्क रहा करते थे।

: १७ :

देवदास काका के साहचर्य में

देवदासकाका भी शरारती कम नहीं थे। परन्तु वे मेरी तरह बदनाम नहीं हुए। उनके खेलों में निपुणता अधिक थी, तोड़-फोड़ कम। नए-नए खेलों का आरम्भ देवदासकाका ही करते थे। कभी-कभी रामदासकाका खेल में शामिल हो जाते थे, कभी अकेले ही खेला करते थे। मुझे जब घर से छुट्टी मिल जाती, मैं सीधा देवदासकाका के पास पहुंच जाता था और उनका अनुसरण करता था। फुर्ती से पेड़ों पर चढ़ जाने, पतंग बनाकर उड़ाने, निशाने पर पत्थर मारने इत्यादि में मैं उनसे बहुत पिछड़ा हुआ था।

प्रेस के पास जो झरना था उसमें कई जगह इतना गहरा पानी था कि हम डूब सकते थे। अगर कोई बड़ा आदमी हमें उस गहरे पानी में नहाते हुए देख लेता तो हमारे कान गर्म होते और हमें बाहर निकलना पड़ता था। इसलिए हम दोनों प्रेस से दूर, जहां झरना बड़े-बड़े पेड़ों की आड़ में छिपा था, चले जाया करते थे। वहां कपड़े किनारे रखकर हम दोनों ही करीब चार फुट गहरे पानी में कूद पड़ते और देर तक तैरने का आनन्द लिया करते थे। थक जाने पर पानी में लेटे-लेटे ही वृक्ष की झुकी हुई डालियों को पकड़ लेने की सुविधा थी। पहले-पहल मैंने जो थोड़ा तैरना सीखा, वह इस तरह देवदासकाका के ही कारण।

फीनिक्स में पीने के पानी की दिक्कत थी, इसलिए टीन की ऊंची-ऊंची टंकियां मकान की छत के सहारे लगाकर वर्षा के पानी का संग्रह करना पड़ता था—यह बात पहले बताई जा चुकी है। हमारे घर के लिए एक टंकी का पानी पूरा नहीं पड़ता था, इसलिए डरबन से एक दूसरी नई टंकी मंगवाई गई। फीनिक्स स्टेशन से प्रेस तक गाड़ी आ सकती थी; परन्तु टीले पर, जहां हमारे मकान थे, वहां तक गाड़ी का पहुंचना संभव नहीं था। इसलिए नई टंकी को प्रेस के पास ही उतार लिया गया। चार-पांच दिन के बाद रविवार की छुट्टी के रोज, फीनिक्स के बड़े-बड़े आदमी उस टंकी को हमारे घर तक ले आने के लिए इकट्ठे हुए। ऐसा बड़ा और नया काम जहां हो रहा हो वहां देवदासकाका और मैं न पहुंचूं यह भला कैसे हो सकता था? सबके पहुचने से आध-पौन घंटे पहले हम दोनों वहां जा पहुचे। जमीन पर लेटी हुई वह टंकी इतनी ऊंची थी कि हम एक-दूसरे के कंधे पर चढ़कर भी उसे ऊपर तक नहीं छू सकते थे। हमने चारों

ओर घूम-घूमकर उसे देखा। फिर उसका ढक्कन खोलकर उसका मुआयना किया। वह एक लम्बे-चौड़े कमरे-जैसी मालूम देती थी।

दो-चार बार भीतर-बाहर से देखने के बाद हमें वह पसंद आ गई। देवदासकाका ने मुझसे कहा, "चलो, हम इसके भीतर ही बैठ जायं। जब यह लुढ़कती हुई ऊपर जायगी तब अन्दर-ही-अन्दर लुढ़कने का बड़ा मजा आयगा।" मुझे उनकी यह बात जंच गई और हम दोनों टंकी के भीतर बैठ गए। हमने उसका ढक्कन लगा दिया, ताकि हमें कोई देख न ले। जब हमने बड़े लोगों के आने की आहट सुनी तो देवदासकाका ने चुप रहने का इशारा किया और हम दोनों मौन होकर बैठ गए। सूर्यास्त होने में देर नहीं थी, इसलिए बड़े लोग आते ही टंकी लुढ़काने में पिल पड़े और लुढ़काते हुए एक-डेढ़ फर्लांग का चढ़ाव पार करके हमारे घर तक ले आए। सारे समय हम दोनों अपनी सांस थामे हुए टंकी के भीतर-ही-भीतर लुढ़कने का आनन्द लेते रहे। जब टंकी ऊपर पहुच गई और उसे खड़ा करने का मौका आया तब देवदासकाका ने अन्दर से धक्का देकर टंकी का ढक्कन गिरा दिया और कूदकर निकल आए। उनके पीछे मैं भी बाहर निकला। देवदासकाका साथ में थे, इसलिए मुझे डर नहीं था। मुझे पक्का विश्वास था कि उनको न कोई मारेगा, न डांटेगा। फिर भी, मुझे कुछ ऐसा याद है कि दो-तीन बड़े व्यक्तियों ने देवदासकाका को घेर लिया था और उनपर प्रश्नों की झड़ी लगा दी थी। शायद हम दोनों के कान भी जरा-जरा गर्म किये गए थे, परन्तु हमने तो इस नए प्रकार की सवारी में आनन्द ही पाया था। बहुत दिनों तक हमें अपनी इस यात्रा का गौरव महसूस होता रहा।

पहले जहां मुझे अपना अकेलापन अखरता था वहां अब हर समय देवदासकाका का साथ अनुभव करता था। इतना ही नहीं, मेरे दिल में उनका नेतृत्व बस गया था। बड़ों की बातों को, बड़ों के सदुपदेश को मैं जल्दी से मंजर नहीं कर सकता था, पर देवदासकाका के इशारे भी मुझे शिरोधार्य होते थे। उनसे कभी मेरी 'तू-तू मैं-मैं' हुई हो, ऐसा याद नहीं पड़ता। मेरे कारण चाहे उनको कष्ट भुगतना पड़ा हो, तो भी उस छोटी आयु में भी किसी दिन उन्होंने मुझे कोई कड़वी बात नहीं कही। मैंने भी जानबूझकर कभी उनका अनादर नहीं किया। उस समय मुझपर उनके जीवन का प्रेरक असर फीनिक्स के किसी भी दूसरे आदमी से ज्यादा पड़ा। बापूजी के प्रत्यक्ष संपर्क में मैं तबतक नहीं आया था। माता-पिता तथा काका का प्रभाव मुझपर बहुत था, परन्तु खुश होकर मैं जिनका अनुकरण करता था, वह मेरे बाल-साथी देवदासकाका ही थे।

देवदासकाका के संग घूमने-फिरने में उनसे मैंने कई खेल सीखे। डर छोड़कर साहस से विचरना सीखा। रामदासकाका भी हमारे साथ खेल में सम्मिलित होते थे, परन्तु मैं तो अधिकतर देवदासकाका के पीछे ही चलता था।

फीनिक्स में एक सात-आठ फुट ऊंचा छप्पर तैयार हुआ था। उस पर सीधे खड़े होकर कूद पड़ने का खेल हम महीनों तक खेलते रहे। कुछ ही दिन के अभ्यास के बाद मैं उसमें निपुण हो गया था। रामदासकाका, देवदासकाका और मैं, तीन में से कोई भी उस ऊंचाई से कूदने में एक-दूसरे को मात नहीं दे सकता था।

याद नहीं पड़ता कि हमारी इस प्रकार की मटरगश्ती बेरोकटोक कितने दिन चली, लेकिन कुछ समय बाद हमारी दिन-भर की इस स्वच्छंदता पर कुछ-कुछ अंकुश लग गया। पहले पूज्य कस्तूरबा हमारे घर पर आकर मेरी माताजी और काकी से ही बातें करती थीं, पर अब वह मेरे पिता और मगनकाका से भी बातें करने लगीं। और बातों का तो मुझे पता नहीं, पर बा का एक वाक्य मुझे खूब याद है, जो वह दोहरा-दोहराकर पिताजी से कहा करती थीं, "छगनलाल, आ देवा-रामा ने पण हवे कंइक शीखवोने !" (छगनलाल, इन देवा-रामा—देवदा स-रामदास—को भी अब कुछ पढ़ाओ न !) बा का कहने का मतलब यह था कि जिस प्रकार घर में मुझे पढ़ाया जाता था, उसी प्रकार रामदासकाका और देवदासकाका को भी पढ़ाया जाय। बा स्वयं पढ़ी-लिखी नहीं थीं और बापूजी फीनिक्स में नहीं थे। इसलिए उनको अपने मन की बात मेरे पिताजी के पास ही रखनी पड़ती थी।

बा की सूचना पर अमल हुआ। सवेरे नहा-धोकर देवदासकाका और रामदासकाका हमारे घर अपने बस्ते के साथ आने लगे। प्रायः दो घंटे तक वे माताजी के पास पढ़ते थे। घर की रसोई के लिए साग-सब्जी तैयार करने और चावल आदि से कंकड़ बीनने के साथ-साथ मेरी माताजी पढ़ाने का काम भी करती थीं। मैं देखता था कि पढ़ाते समय वह कभी ऊंचे स्वर से या डाटकर कुछ नहीं कहती थीं। वह सदा "देवदासभाई, रामदासभाई, इस तरह नहीं, इस तरह"—जैसे मीठे और आदरयुक्त शब्दों का प्रयोग करती थीं। जितने समय ये दोनों भाई हमारे यहां रहते थे उसमें एक क्षण भी बरबाद नहीं होता था। लिखना-पढ़ना और प्रारम्भिक गणित सीखना उनका मुख्य कार्यक्रम था। देवदासकाका गुणाकार आदि बहुत जल्दी सीख जाते थे। गुजराती पाठ्यपुस्तक में भी उनकी प्रगति

इतनी अच्छी थी कि उनके चले जाने पर माताजी मुझसे कहतीं, "देख प्रभु, देवदासभाई और रामदासभाई कितने होशियार हैं। तू उनकी तरह तेजी से पढ़ा करे तो फिर डांट क्यों खानी पड़े।"

: १८ :

बापूजी की पहली सीख

बापूजी कब-कब फीनिक्स आये, कितने दिन फीनिक्स में रहे और कब जोहान्सबर्ग लौट गए, इस बात का स्मरण कोशिश करने पर भी नहीं होता। स्मृति-पटल पर जो बहुत धुंधली याद है वह इतनी ही कि कभी-कभी कई महीनों के बाद बापूजी दो-एक दिन के लिए फीनिक्स आ जाते थे। उनकी अनुपस्थिति में भी उनके संबंध में कुछ-न-कुछ बातचीत फीनिक्स के बड़े लोगों में चलती रहती थी। बड़े लोगों की बातों का धीरे-धीरे हम पर भी प्रभाव पड़ने लगा और हमारे खेलकूद का तरीका भी कुछ-कुछ बदलना शुरू हो गया। निर्माण करने की वृत्ति हमारे चित्त में पैदा होती गई। प्रत्येक बालक अपने-अपने घर के आंगन में छोटी-छोटी क्यारियां तैयार करने लगा और उसमें मेथी, मूली, मटर आदि बोने लगा। रोज शाम को ऊंचा टीला उतरकर झरने से छोटी-छोटी बहंगियों में लादकर पानी लाने और अपनी-अपनी क्यारी में पानी देने का परिश्रम हम उत्साह से करने लगे। जब हमारे नाम की आकृति में बोई हुई मेथी उग निकलती तब हमारे आनन्द की सीमा न रहती। हमारे लिए खेती के छोटे-छोटे औजार ला दिये गए थे। छोटी-सी कुल्हाड़ी भी हमें मिली थी। कभी-कभी हम सब अपनी कुल्हाड़ियां लेकर जंगली पौधों के झुरमुट में चले जाते थे। वहां मोटे तनेवाले पौधों पर हम अपनी कुल्हाड़ियों की शक्ति आजमाते और लंबी, गोल, सुन्दर लकड़ियां और टहनियां लाकर अच्छी-सी झोपड़ी खड़ी करने के खेल खेला करते।

झोपड़ी का खेल हमें बहुत व्यस्त रखने लगा। अपने हाथ से झोपड़ी खड़ी करने के बाद उसमें बैठकर हम खाने-पीने का इंतजाम करते थे। अपनी ही बोई हुई क्यारियों में से मटर, भुट्टे, टमाटर आदि ले आते थे और बाकायदा पंक्ति बनाकर उन्हें परोसकर खाते थे। फिर वहीं बैठकर

कागज के तरह-तरह के खिलौने तैयार करते थे। प्रेस के फालतू कागजों में से हमें रंगीन और बड़े-बड़े कागज मिल जाया करते थे। कागजों को बटोरने में, उनका सही उपयोग करने में रामदासकाका निपुण थे। डाक में आने वाले प्रत्येक लिफाफों को वह इकट्ठा कर लेते थे। पुराने टिकटों को इकट्ठा करने में बड़ा परिश्रम किया था। अपने सारे टिकट-संग्रह को रामदासकाका ने हमारी सहायता लेकर गिन डाला। शायद साढ़े तीन हजार से अधिक टिकट इकट्ठे थे। लम्बे-चौड़े कागजों पर एक ही रंग व एक ही कीमत के टिकट बिल्कुल सीध में लगाये गए थे। इतना बड़ा संग्रह चार-पांच महीने के अन्दर तैयार हो गया था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि जंगल में स्टेशन से दूर रहने पर भी फीनिक्स में साप्ताहिक पत्र का काम कितना फैला हुआ था और कितनी डाक वहां आती थी।

हमारी बाल-मंडली का ऐसा ही सिलसिला चल रहा था कि एक दिन फीनिक्स-भर में आनन्द की लहर दौड़ गई। बापूजी आने वाले थे। प्रेस और घर में विशेष सफाई होने लगी। बड़े लोगों के मुख पर एक नया उत्साह झलकने लगा। हम बालकों ने भी बापूजी के स्वागत के लिए कुछ आयोजन करने का विचार किया। शायद रामदासकाका के सुझाव पर हमने एक बढ़िया झोपड़ी बनाने और बापूजी को दिखाने का निश्चय किया।

हम जंगली पेड़ों से अपनी कलाई के बराबर मोटी लकड़ियां काट लाये। हममें सबसे ऊंचे रामदासकाका थे। हमने इतने ऊंचे खंभे गाड़े कि उनपर बनी छत से उनका सिर न टकराये और फैलकर सोया जा सके। शीघ्र ही हमारी यह लंबी-चौड़ी झोपड़ी बन गई। ऊपर घास और पत्तों से छप्पर छा लिया गया। धरती पर गोबर से लिपाई करने की बात हमें सूझ ही नहीं सकती थी, क्योंकि वहां लिपाई हमने कभी नहीं देखी थी। सोच-विचारकर हम लोग प्रेस से बड़े-बड़े कागज ले आये और उन्हें बिछाकर सुन्दर फर्श बना दिया। फिर कागज के छोटे-छोटे फानूस तैयार करके उनमें मोमबत्तियां जलाईं और हमारे उस छोटे-से घर में दिवाली-सी जगमगा उठी, परन्तु बापूजी को हम वह नहीं दिखा पाये, क्योंकि वह रात को बहुत देर से आये, तबतक हम सो चुके थे।

दूसरे दिन सवेरे जल्दी उठकर, चटपट नहा-धोकर और साफ कपड़े पहनकर मैं बापूजी के घर पर जा पहुंचा। उस समय वह बरामदे के किनारे बैठे हुए दतौन कर रहे थे। दो-एक बड़े आदमी जो वहां पर खड़े थे उनसे उनकी बातचीत चल रही थी। मेरे-जैसे बालक का वहां जाना उनकी जरूरी बातों में बाधा-रूप हो सकता था, परन्तु मुझे किसी ने रोका

नहीं, इसलिए बापूजी के चरण छूकर मैं उनके बिल्कुल पास आकर खड़ा रहा।

बापूजी के पास खड़े-खड़े मेरा ध्यान सबसे पहले उनके सुनहले दांतों पर गया। उनकी बत्तीसी में नीचे के दो दांत सुनहले थे। हंसने-बोलने पर उनकी चमक बड़ी अच्छी मालूम होती थी। बाद में देवदासकाका ने बताया कि वे दांत सोने के नहीं, 'प्लेटिनम' के थे। 'प्लेटिनम' सोने से सख्त और महंगी धातु होती है। उन दांतों को देखकर और उनकी विशेषता सुनकर मेरे मन पर बापूजी के बहुत बड़े आदमी होने की छाप गहरी हो गई। मेरे पिताजी और काका के काका होने के नाते मेरे लिए वह बड़े तो थे ही, परन्तु उनके चमकीले सुनहले दांतों का प्रभाव मुझ पर अधिक पड़ा। फिर मेरे लिए कुछ नया अनुभव भी था कि इतने बड़े होने पर भी वह हंसते हैं और हमारे घर के और फीनिक्स के बड़े लोगों की तुलना में वह सब से ज्यादा और बराबर हंसते हैं।

दतौन समाप्त होते-होते और भी बच्चे वहां आ गए और बापूजी ने बड़ों के साथ बात करना छोड़कर हमसे खेलना शुरू किया। वह बारी-बारी से हमको अपने कंधे पर उठाकर बरामदे के पासवाली ढलवां हरियाली पर लुढ़काने लगे। हम फिर-फिर दौड़कर उनके कंधे पर चढ़ते और वह फिर-फिर हमें लुढ़का देते। कोई आधे घंटे तक यह आनन्द तथा कोलाहलमय खेल चलता रहा।

पहर-भर दिन चढ़ा तब बापूजी हम लोगों को लेकर फीनिक्सवासियों के घरों में चक्कर लगाने और सबके कुशल समाचार पूछने निकले। उस समय वह जालीदार कपड़े की आधी बांह की सफेद कमीज और सफेद पतलून पहने थे।

हम बापूजी के पीछे-पीछे चल रहे थे। जब उनकी जालीदार कमीज देखने से फुरसत मिली तो मैंने देखा कि रामदासकाका हमारी टोली में नहीं हैं। इसलिए मैंने जोर से पुकारा, "लामदाश काका! ओ लामदाश काका!" बापूजी ने तुरन्त मुझे टोककर कहा, "'लामदाश' क्या कह रहा है? 'रामदास' बोल!" मैं फिर से बोला, "लामदाश।" तब बापूजी ने सब बच्चों से कहा, "बोलो, बच्चो हिप-हिप हुर्र्र्रे!" सब मिलकर ऊंची आवाज से बोले, "हिप-हिप हुर्र्र्रे!" बापूजी ने हमसे फिर इसे दुहराने को कहा। फीनिक्स की दिशाएं गूंज उठीं। पांच-सात बार सब मिलकर बोल चुके तब उन्होंने मुझसे "हुर्र्र्र्रे" बुलवाया। ठीक-ठीक बोल देने पर उन्होंने मुझसे कहा, "बोलो, हुर्र्र्रे रामदासकाका।"

मैं बोला, "हुर्र्र्र्रे रामदासकाका।" चलते-चलते बापूजी ने मुझसे बार-बार यह उच्चारण करवाया, और जब मेरा 'ल' मिटकर शुद्ध 'र' बन गया तब जाकर "हुर्र्र्र्रे रामदासकाका" कहने की झंझट से मुझे मुक्ति मिली। 'ल' से 'र'—यह बापूजी से मिला हुआ मेरा पहला पाठ था। उस दिन से लेकर अन्तिम समय तक जो असंख्य पाठ बापूजी ने मुझे पढ़ाये वे उतने ही वात्सल्य से परिपूर्ण थे।

इस समय मेरी आयु छः वर्ष की थी।

दूसरी बार जब बापूजी फीनिक्स आये तब मेरे बदन पर बहुत से फोड़े निकल आये थे। मैं उनके पास खेलने गया, तो उन्होंने इन फोड़ों को देखा और हमारे घर पर आये। मेरी माताजी से कुछ बातचीत करके उनको बता गए कि मुझे टमाटर खिलाया जाय।

इसके बाद बापूजी ने मुझसे पूछा, "क्यों, तू टमाटर खायगा?"

"खाऊंगा।"

"तो देख, पके हुए लाल-लाल टमाटर मत खाना। हरे, कच्चे टमाटर खाना। खाने में कुछ कड़वे तो लगेंगे, परन्तु उनसे रक्त की शुद्धि जल्दी होगी।"

मैंने हरे टमाटर खाना आरम्भ कर दिया। खाने में वह अच्छे नहीं लगते थे, परन्तु बापूजी ने दवाई के रूप में खाने को कहा था, इसलिए मन मारकर भी उन्हें खाता था और अपने साथियों के सामने अपनी शान में बट्टा नहीं लगने देता था।

उन दिनों बापूजी खाने और खिलाने के शौकीन थे। वह आते तो इतवार की छुट्टी के दिन सारा फीनिक्स एक पंक्ति में बैठकर भोजन करता था। कई प्रकार के बढ़िया-बढ़िया पक्वान्न बनते थे। किसी दिन सब लोग बापूजी के घर पर भोजन करते तो किसी दिन हमारे घर पर सबकी दावत होती थी। गुजरात, महाराष्ट्र और कर्नाटक में प्रचलित 'पूरनपोली' या 'बेड़मी' बापूजी को अन्य मिष्ठान्नों से अधिक प्रिय थी। पूरनपोली के साथ घी अत्यधिक मात्रा में खाया जाता है। नमकीन चीजों में उन्हें पकौड़ी, पकौड़े, मद्रासी इडली-जैसा गुजराती ढोकला पसंद थे। जब कभी बापूजी हमारे घर पर भोजन करते तब नमकीन, मिठाई आदि की तैयारी करने में बा और काकी को काफी परिश्रम उठाना पड़ता। इसी प्रकार प्रत्येक शुक्रवार की रात भी मेरी स्मृति में विशेष रूप से रह गई है। साप्ताहिक 'इंडियन ओपीनियन' को तैयार करने की वह रात होती थी। कभी-कभी सारी रात जागरण करना पड़ता था। बापूजी हमारे साथ जागते

थे और खड़े-खड़े रात-भर काम करते थे। ऐसे अवसर पर काम करने वालों की थकान दूर करने तथा उनका उत्साह बनाये रखने को आधी रात के समय सबके लिए बापूजी खीर बनवाते थे और सहभोज करते थे।

लेकिन इन दावतों तथा बढ़िया-बढ़िया पक्वान्नों का सिलसिला शुरू-शुरू में ही रहा। आगे चलकर जब बापूजी ने अपने जीवन में भारी परिवर्तन का आरम्भ किया तब ये दावतें बन्द हो गईं। हमारे घर में बहुत तेज मसालेवाली और मिर्चवाली शाक-सब्जी तथा पकौड़ी आदि खाना मगनकाका ने बन्द कर दिया और भोजन में थोड़ी-सी भी त्रुटि होने पर उग्र बन जाने वाले मगनकाका अब प्रायः सौम्य बन गए। घर में जो अंग्रेजी रहन-सहन धीरे-धीरे बढ़ रहा था वह भी रुक गया। भोजन के समय मेज पर छुरी-कांटे से ही भोजन करने की शान घट गई। रविवार को घर में स्वाद की अनेक वस्तुएं बनाने के बदले सादा भोजन लेकर घर से बाहर कहीं अमराई या अन्य सुन्दर स्थान पर वनभोज का सात्विक आनन्द लेने का प्रचलन बढ़ा।

इस प्रकार फीनिक्स के जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन होने लगे।

: १६ :

पारिवारिक छात्रावास

बापूजी फीनिक्स में अपनी पूर्ण युवावस्था में थे और अकेले उनके ही बल पर उस सुदूर देश का वातावरण अनेकविध प्रवृत्तियों से गूंज उठा था। शीतकाल में जिन प्रदेशों में बर्फ पड़ती है वहां कुछ वृक्ष ऐसे होते हैं जो हिमस्नान के तुरन्त बाद ही फूल उठते हैं।

बापूजी की शक्तियां भी फीनिक्स में इसी प्रकार खिल उठी थीं और उन्होंने हर पहलू में अपने जीवन की सात्विकता प्रस्फुटित कर दी थी। मानवदौर्बल्य तो उनको छू तक नहीं सकता था। वैयक्तिक, सामाजिक, राजकीय, पारिवारिक—सभी क्षेत्रों में उन्होंने उत्तरोत्तर महत्वपूर्ण अनुष्ठानों का सूत्रपात कर दिया था। एक ओर उन्होंने जीवन-भर के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत धारण किया था और दूसरी ओर सत्याग्रह का बीड़ा उठाया था। अपने निकट के नौजवानों की सारी युवावस्था धनसंग्रह करने

के पीछे ही बरबाद न होती रहे, इसके लिए उन्होंने जहां सारा जीवन-क्रम आमूल बदलने का अनुष्ठान किया था वहां फैशन और आहार-विहार के नित-नये प्रलोभनों पर रोक लगाने के लिए भी वह जी-जान से कोशिश कर रहे थे। यह सब सुन्दर था, प्रशंसनीय था; परन्तु सबसे श्रेष्ठ और भव्य था शिक्षण के क्षेत्र में उनका नवीनतम प्रयोग। यह प्रयोग उन्होंने वहां शुरू तो किया, पर वहां के सत्याग्रह-आंदोलन के कारण उसमें वह अधिक समय नहीं दे सके और वह प्रयोग अधूरा ही रह गया। हिन्दुस्तान आकर बापूजी की वह इच्छा साबरमती आश्रम और गुजरात विद्यापीठ में पूरी हुई।

बापूजी ने जिस प्रथम छात्रावास का सूत्रपात किया, उसमें विश्व-बन्धुत्व और मानवता के विकास की बड़ी समर्थ कल्पना थी। आर्य संस्कृति की उत्क्रांति भी उसमें निहित थी। हमारी उस पाठशाला में देश-देश के शिक्षकों और सभी धर्मों के विद्यार्थियों का समूह एकत्र हुआ था और उस सुयोग का भरपूर लाभ लेने का कौशल बापूजी के पास था। नेटाल और ट्रांसवाल के जो भारतीय सत्याग्रही जेल गये थे उनके पुत्रों को शिक्षा देने का उत्तरदायित्व बापूजी ने अपने ऊपर ले लिया था। इस प्रकार जो नये-नये लड़के फीनिक्स आये थे उनमें मद्रास के ईसाई और गुजरात के मुसलमान लड़के भी थे। इन सबके लिए पढ़ने का स्थान फीनिक्स के छोटे-छोटे झोपड़ों में निकल आया; परन्तु छात्रावास के योग्य किसी मकान की सुविधा नहीं थी। फिर गृहपति कौन हो, यह भी एक समस्या थी। बापूजी ने इस समस्या को बड़े साहस के साथ हल किया। फीनिक्स-वासियों के प्रत्येक परिवार में दो-दो तीन-तीन विद्यार्थियों को घर के ही सदस्यों की भांति रखने की योजना उन्होंने बनाई और घर-घर जाकर महिलाओं को समझा-बुझाकर उसी योजना का प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने माताओं से सिफारिश की कि इन विद्यार्थियों की देखभाल उसी प्रकार सावधानी और परिश्रम से की जाय, जैसे कि अपने बच्चों की की जाती है। इस प्रकार कुटुंबों को विकसित करके उनको जनसेवा से ओत-प्रोत कर देने की उज्ज्वल महत्वाकांक्षा उन्होंने रखी। यह साबरमती के सत्याग्रह आश्रम की राष्ट्रीयशाला और गुजरात विद्यापीठ का सर्वप्रथम अंकुर था।

हमारे घर में तीन विद्यार्थी भरती हुए। वे सभी मुझसे ड्योढ़ी-दुगुनी आयु के थे। उनमें सबसे होशियार और सयाने इब्राहीम का स्मरण मुझे रह गया है। आनन्दलालकाका के घर पर प्रेमजी नामक विद्यार्थी था। उसको लेकर रोज कोई-न-कोई बखेड़ा उठ खड़ा होता था और विवाद

चलता था। बापूजी के घर में जो विद्यार्थी थे उनमें माणिक्यम् को मैं नहीं भूला हूं। छोटे विद्यार्थियों पर वह चपतों की झड़ी लगाने में कुशल था। वह हमारी पाठशाला का बड़ा विद्यार्थी तथा 'मानीटर' था तथा दो घंटे बाद बदलते हुए शिक्षकों के आने में विलम्ब होने पर वर्ग की व्यवस्था संभालता था। पाठशाला के आचार्य थे श्री कोर्डिस।

हमारी पाठशाला और छात्रालय में किसे अधिक अच्छा कहा जाय, इसका निर्णय सरल नहीं है। मैं खुद अपने घर में माता-पिता के पास था, इसलिए छात्रालय के बारे में मेरा कथन निर्णायक नहीं हो सकता। फिर भी मेरी राय में विद्यार्थियों की पढ़ाई के मुकाबले उनके रहने तथा भोजन की व्यवस्था अधिक अच्छी थी। अतिथि-विद्यार्थियों की सुख-सुविधा के लिए जो कुछ आवश्यक होता था, सब सावधानी से किया जाता था। हिन्दू के घर में मुसलमान बालक को परायापन महसूस न हो, कदम-कदम पर उसे अपने घर की याद न सताए, इसके लिए भरसक कोशिश की जाती थी। हमारे घर में उन्हें घर का सबसे बढ़िया भाग रहने को दिया गया था। वहां तीन पलंग, फर्श पर बढ़िया जाजम, छोटी-छोटी मेजें आदि सजाए गए थे। मैं उस कमरे में पहुंचने पर महसूस करता था, मानो किसी धनी घर में जा पहुंचा हूं। वहां शान्ति बहुत रहती थी। वे विद्यार्थी बहुत धीमे-धीमे बातचीत करते थे। घरवालों को उनकी उपस्थिति महसूस न हो, इसकी वे बहुत सावधानी रखते थे। जहां तक मुझे याद है, वे मुश्किल से आठ-दस महीने हमारे यहां टिके थे, परन्तु जबतक वे रहे, हमारे घर का वातावरण बहुत नीरव और गम्भीर था। भरसक कोशिश और सेवा करने पर भी हमारे घर के बड़ों और अतिथि-विद्यार्थियों के बीच कुछ मानसिक संघर्ष चलता ही रहता था। दोनों ओर हृदय का विकास बापूजी के आदर्श तक नहीं पहुंचा था।

फीनिक्स में बापूजी ने हमारे लिए प्राथमिक पाठशाला की भी नींव रखी। पढ़नेवालों में हम तीन—रामदासकाका, देवदासकाका और मैं—के अतिरिक्त बाहर के भी दो-तीन लड़के आने लगे, जो उम्र में मुझसे बड़े और शरीर से भी काफी मजबूत थे। प्रेस में काम करनेवालों में से दो-तीन सज्जनों ने पढ़ाने का काम हाथ में ले लिया। गणित मेरे पिताजी, गुजराती मगनकाका और अंग्रेजी श्री कोर्डिस सिखाने लगे। बाहर से आनेवाले बच्चे गिरमिटमुक्त भारतीय लोगों के थे। उनके झोपड़े हमारे रहने की टेकरियों के सामने वाली टेकरियों पर थे। उन्हें मील-डेढ़ मील से भी अधिक चलना पड़ता था। हिन्दी में बातचीत करना पहले-पहल

उनके साथ ही हम लोग सीखे। न जाने क्यों, उस समय हम हिन्दी को कलकतिया बोली के नाम से पहचानते थे। इसका कारण शायद यह रहा होगा कि उत्तरप्रदेश, बिहार आदि से गिरमिट में बंधकर दक्षिण अफ्रीका जाने वाले मजदूरों की समुद्र-यात्रा कलकत्ते से हुआ करती थी, इसलिए उन सबको और उनकी बोली को 'कलकतिया' कहा जाता था।

ये दूसरे बच्चे हमसे डरने के कारण या हिन्दी और गुजराती की बोली के अन्तर के कारण हमसे कुछ अलग-अलग थे। पढ़ने के समय आकर अलग बैठ जाते और पढ़ाई खत्म होने पर आपस में बातचीत करते हुए लौट जाते थे। उनके पुराने, बिना चमक-दमक के कपड़ों के कारण उनका अनादर न करने और यथासंभव उनकी सहायता करने की भावना हमारे दिल में जागृत हो गई थी; क्योंकि जब पिताजी और मगनकाका आदि हमें पढ़ाते थे तो वे हमारी बात सुनने के पहले उनकी बात सुनते थे। उन्हें समझाने में भी वे अधिक समय लगाते थे। बच्चे दबकर, धीरे से प्रश्न का उत्तर देते तो उन्हें निस्संकोच होकर जोर से बोलने और शर्मिन्दा न होने के लिए बढ़ावा दिया जाता था। मगनकाका तो उनके किसान-जीवन की, उनके परिश्रम करने की शक्ति की और सादे रहन-सहन की बार-बार हमारे सामने प्रशंसा करते थे और उनसे सरलता व सादगी सीखने की शिक्षा भी देते रहते थे। मेरे मन पर इस बात का गहरा असर पड़ता था और क्लास से छूटने के बाद जब कलकतिया लड़के अपने घर को लौटते तब मैं भी उनके साथ-साथ थोड़ी दूर तक जाता और आपस में उनका भाईचारा देखा करता था। दोस्ती करने के लिए उनसे बात करने की कोशिश भी करता था, परन्तु कभी खुलकर वे मिले ही नहीं। शायद उनके चित्त में यह भय जम गया था कि उजले घर के ये बालक हमारा मजाक उड़ायंगे।

वे कुछ महीने ही पढ़ने आये। फिर न मालूम क्या हुआ, उन्होंने आना बन्द कर दिया। बाद में उधर का कोई लड़का हमारे साथ पढ़ने नहीं आया। समय बीतने पर धीरे-धीरे हमारी शिक्षा काफी आगे बढ़ी और पाठशाला का भी विकास हुआ, पर अड़ोस-पड़ोस के विद्यार्थियों और लोगों से हमारी घनिष्ठता नहीं बढ़ी।

फीनिक्स की इस सर्वप्रथम शाला में स्वयं बापूजी ने एक भी दिन वर्ग लिया हो, ऐसा मुझे स्मरण नहीं है, परन्तु जब कभी वह फीनिक्स आते तब पाठशाला देखने अवश्य आते थे। वह बच्चों की पढ़ाई इतनी नहीं देखते थे जितनी कि सफाई। एक बार उन्होंने मेरे कान में मैल देख

लिया और नहाते समय कान में भी मैल न रहने देने के लिए मुझे समझाया। इसके बाद, पाठशाला जाने से पहले मुझे अपनी माताजी को दिखाना पड़ता था कि शरीर पर कहीं मैल तो नहीं है। कई बार तो स्वयं पिताजी मेरे पैरों का मैल धोते और मेरे नाखून काट देते थे।

पाठशाला में हमारी पढ़ाई व्यवस्थित रूप से शुरू होने के कुछ दिन बाद फीनिक्स के वातावरण में अकस्मात् गम्भीरता आ गई। मैंने देखा कि घर के बड़ों के मुख पर उदासी छा गई है। कुछ समय तक मेरी समझ में इसका कारण नहीं आया। फिर बड़ों की बातचीत से मुझे ज्ञात हुआ कि "मोहनदासकाका किसी संकट में हैं।" बाद में यह सुना कि बोथा नामक किसी गोरे ने बापूजी, हरिलालकाका और दूसरों को भी कैदखाने में डाल दिया है। वहां पर उन लोगों को खाने के लिए केवल मक्की का बना दलिया ही मिलता है, जो उन्हें लकड़ी के चम्चम से खाना पड़ता है। पहनने के लिए उनको पूरे कपड़े भी नहीं मिलते।

इस समाचार के बाद कई महीनों तक जब बापूजी फीनिक्स नहीं आये तब इस बात का अनुमान हुआ कि हम लोगों की परिस्थिति इन गोरों के बीच कैसी विकट है। बोथा की जेल से निकलने के बाद बापूजी को राजनीति के कामकाज में और भी ज्यादा उलझना पड़ा। फिर भी फीनिक्स के शिक्षण के प्रयोग को आगे बढ़ाने का उन्होंने आग्रह रखा और वहां बाहर के छात्रों को रखने की योजना बनाई।

यद्यपि फीनिक्स के उस छात्रावास का प्रयोग अल्पजीवी साबित हुआ तथापि फीनिक्स की पाठशाला धीरे-धीरे बढ़ती गई। जहां तक मुझे याद है, उस पाठशाला का बाह्य स्वरूप तीन महीने से अधिक शायद ही कभी एक-सा रहा हो। समय-समय पर पाठ्यक्रम, पाठ्य-पुस्तकों और शिक्षकों में परिवर्त्तन होता रहता था। परन्तु पाठशाला सतत चलती रही। श्री कोर्डिस के फीनिक्स छोड़ने के समय तक वह उनके ही मकान में थी।

हमारे छात्रावास की स्थापना के सम्बन्ध में सन् १९०९ की २ जनवरी के 'इंडियन ओपीनियन' में फीनिक्स की पाठशाला के सम्बन्ध में एक सूचना प्रकाशित की गई थी। ता० ९-१-१९०९ को छात्रावास के बारे में विशेष सूचना छपी थी, जिसका महत्वपूर्ण अंश यह है:

"फीनिक्स के कार्यकर्त्ताओं में जो परिवार वाले हैं वे अपने घर में आठ-आठ लड़कों तक के रहने-खाने की व्यवस्था कर सकेंगे। विचार यह है कि जिसे अपने यहां रखा जाय उसे अपने निजी बालक के समान ही सम्हाला जाय। यह प्रथा हिन्दुस्तान में पुराने समय में चलती थी। जहां तक बन पड़े

उसको फिर से शुरू किया जाय। हर प्रकार के हिन्दुस्तानी को लिया जायगा।

"खाने-पीने में किसी भी प्रकार का भेद नहीं किया जायगा। लड़कों को कुछ परिवर्तन के साथ वही भोजन दिया जायगा जो फीनिक्सवासी लेते हैं। अर्थात् आधी बोतल दूध, दो औंस (एक छटांक) घी, आटा, मीली मील (पुपु) अर्थात् मक्का का दलिया, दाल, चावल, हरी सब्जी, ताजे फल, मींगी (प्रधानतया मूंगफली) खांड और डबल रोटी। इसमें से कौन-सा भोजन किस समय दिया जाय, यह हमारे सामान्य नियम के अनुसार निश्चित किया जायगा।

"इस भोजन में चाय, कॉफी या कोको का समावेश नहीं किया जायगा। अपने ज्ञान और अनुभव के आधार पर हमारा विश्वास है कि चाय आदि बच्चों को तो हानिकारी है ही, बड़ी आयुवालों को भी हानिकारी है।

"कुछ डाक्टरों का कहना है कि चाय आदि के प्रचार से लोगों में रोगों की वृद्धि हुई है। फिर चाय, कोको और कॉफी साधारणतया गुलामी से काम करने वाले मजदूरों द्वारा पैदा कराई जाती है। नेटाल में गिरमिटियों से इनकी खेती कराई जाती है। कोको कांगो में होता है। वहां गिरमिट में बंधे हुए हब्शियों से काम लेने में जो जुल्म किया जाता है उसकी कोई हद नहीं है। चीनी प्रायः गुलाम मजदूरों से ही पैदा कराई जाती है। यह हम लोगों को सुविदित है। इन सब बातों को गहराई से जांचना कठिन है, फिर भी उक्त तीन चीजों—चाय, कॉफी, कोको—का उपयोग जितना कम किया जाय, अच्छा। फिर आज, जबकि हिन्दुस्तान में स्वदेशी का आग्रह जोरों से किया जा रहा है, इन तीनों चीजों का त्याग उचित ही है।

"लड़कों का पहनावा एक-सा रखना सुविधाजनक होगा। पायजामा, कुर्ता, नेकर, सैंडल, धूपटोपी, तौलिया, रुमाल आदि का हिसाब एक पौंड तेरह शिलिंग छः पेन्स लगाया गया है। टोपी सब अपने-अपने समाज की पहनेंगे। धूपटोपी धूप में काम करते समय पहनी जायगी। जो मां-बाप यह पोशाक पहनना या इतना खर्च करना न चाहें अथवा इतनी सादगी सिखाना पसन्द न करें, वे एक अलग सन्दूक में अपने घर के कपड़े दे दें।

"सोने के लिए खाट देने का हमारा इरादा नहीं है, किन्तु जेल की तरह के तख्त का प्रबन्ध करने का विचार किया गया है, क्योंकि हमारी राय में वे अधिक आरोग्यप्रद होते हैं। रजाई-गद्दों के बदले कम्बलों का प्रयोग भी हमें अधिक आरोग्यप्रद प्रतीत हुआ है। इस प्रकार बिस्तर में तीन कम्बल, एक तकिया, चार चादर और तकिए के तीन गिलाफ अवश्य होंगे।

"पढ़ने का शुल्क नहीं रखा गया है। प्रेस में काम करने वाले ही

पढ़ायेंगे और उनको वहां से आजीविका मिल जाती है। इसके लिए प्रेस ने सम्मति दे दी है। फिलहाल एक समिति बनाई गई है, जो शिक्षा-पद्धति आदि के बारे में विचार करती रहेगी।"

यद्यपि 'इंडियन ओपीनियन' के इस लेख में बापूजी के हस्ताक्षर नहीं हैं, फिर भी लिखावट से स्पष्ट है कि यह स्वयं उनका ही लिखा हुआ है। यह लेख गुजराती में है।

: २० :

शिक्षा का नवीन प्रयोग

बापूजी ने फीनिक्स में पहले-पहल जो पाठशाला प्रारम्भ की उसमें उन्होंने परीक्षाओं का या दूसरी-तीसरी-चौथी आदि श्रेणियों का नाम तक नहीं रखा था। यही नहीं, फीनिक्स की पाठशाला के लिए कोई विशेष शिक्षक भी नहीं बुलाया गया था। बरसों तक फीनिक्स की पाठशाला चली, परन्तु वहां पर एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं बुलाया गया जिस पर शिक्षक की छाप लगी हो, अर्थात् जो पेशेवर शिक्षक रहा हो, क्योंकि बापूजी ने हमारी पढ़ाई की सारी नींव ही और ढंग से रखी थी।

पढ़ाई की पुस्तकें कौनसी हों, पाठ्यक्रम क्या हो, या पढ़ाई की कसौटी क्या हो, इस संबंध में बापू ने न कोई आदेश दिया, न कोई विशेष आग्रह रखा। बालकों को पढ़ाने वाले व्यक्ति सुयोग्य हों और विद्यार्थी पर अच्छा प्रभाव डालने वाले हों, इस बात की सावधानी बापूजी ने रखी और यह काम फीनिक्स में बसे हुए कार्यकर्ताओं को ही उन्होंने सौंपा।

बापूजी के प्रेम-भरे परिचयों के कारण यह फीनिक्स को सुयोग प्राप्त हुआ था कि वहां पर अनेक देश और अनेक धर्म के लोग आ इकट्ठे हुए थे। जर्मन, अंग्रेज, अफ्रीकी, चीनी, ईसाई, पारसी, मुसलमान, यहूदी तथा वैष्णव, सबका पंचमेल फीनिक्स में माधुर्य से और हार्दिकता से चल रहा था। परस्पर घृणा, ऊंच-नीच का भेद, या पग-पग पर कटुता का वहां अस्तित्व नहीं था। उस समय के अपने बालपन के दिन याद करने पर मैं यही अनुभव करता हूं कि मुझे एक विशाल परिवार में और सुन्दर सुरक्षित वातावरण में दिन-रात विचरने का अवसर मिला था। मेरे लिए पिताजी

और मगनकाका-जैसे आदरणीय और माननीय थे, उसी प्रकार हमारी पाठ-शाला के जर्मन शिक्षक कोर्डिस भी आदरणीय और माननीय थे।

बापूजी ने अपने जीवन में एक-से-एक बढ़कर आश्रम और विद्यालय बनाये तथा संचालित किये, किन्तु उन सबमें कोर्डिस-शाला अपने ढंग की निराली थी। वहां के चेतनमय वातावरण की स्मृति आज भी मुझमें स्फूर्ति पैदा करती है।

श्री कोर्डिस का घर फीनिक्स में मिट्टी से बना हुआ और घास से छाया हुआ पहला घर था। उसके चारों ओर मनोहर बगीचा था। कभी-कभी वह एक हब्शी नौकर रख लेते थे, पर अधिकतर काम स्वयं ही करते थे। इतने बड़े मकान में अकेले रहने पर भी वह उसे आइने के समान स्वच्छ और पूर्णतया व्यवस्थित रखते थे। उनकी नस-नस में जर्मन खून दौड़ रहा था। इसलिए नजाकत तो वे सहन कर ही नहीं सकते थे। हम लोगों के शरीर चपल बनें और हमारी तितिक्षा-शक्ति बढ़े, इसके लिए वह सदैव जाग्रत रहते थे।

श्री कोर्डिस के पढ़ाने का ढंग भी अनोखा था। मुंह से बोलकर सम-झाना मानो उन्हें पसन्द ही नहीं था। जोर-जोर से अपनी बात दुहराकर, विद्यार्थी के दिमाग में घुसेड़ देने का प्रयास करते हुए मैंने उन्हें कभी नहीं देखा। न किसी अन्य यूरोपवासी शिक्षक को ही ऐसे चीखते हुआ पाया। वह अपने आग्रह को प्रकट करके प्रत्यक्ष अनुभव कराकर शिक्षा देते थे। उदाहरणार्थ, सुलेख सिखाने के लिए दो फुट लम्बी और लगभग आधा इंच व्यास की पेन्सिलें उन्होंने हमारे लिए मंगाई थीं। लिखते समय उस पेन्सिल का ऊपर का सिरा हमें अपने दाएं कंधे की सीध में रखना पड़ता था और नीचेवाला सिरा पकड़ने में अंगूठे को और तर्जनी को बिलकुल सीधा रखना पड़ता था। यदि लिखते-लिखते अंगूठे या तर्जनी की जरा भी गोला-कृति हो जाती या हम अंगुली पर ज्यादा दबाव दे देते, अथवा ऊपरवाला सिरा दाएं कंधे की सीध को छोड़ देता तो कोर्डिस साहब चुपके से हमारी पीठ के पीछे आ धमकते और पेन्सिल को छीनकर उससे हमारी अंगु-लियों के जोड़ों पर दो-चार तड़ातड़ वार कर देते थे। उनकी दृष्टि हमारे भले-बुरे अक्षरों पर उतनी नहीं रहती थी जितनी कि हमारे लिखने, बैठने और पेन्सिल पकड़ने के तरीके पर।

उनकी पाठशाला में प्रत्येक विद्यार्थी को अनुशासन का पालन बड़ी सावधानी से करना पड़ता था। पाठशाला की समाप्ति पर वह हमें एक कतार में खड़ा करके व्यायाम कराते थे। किसी की एड़ियों के बीच का

कोण थोड़ा-सा भी वदल जाय या घुटना जरा भी झुक जाय तो उसकी आफत आ जाती थी।

कोर्डिस साहव का इशारा होते ही उनके वताए हुए पेड़ पर हमें बन्दर की-सी तेजी से चढ़ जाना पड़ता था और पेड़ से उतरते समय जहां से वह वताएं तत्काल धरती पर कूद पड़ना होता था। कूदने में कोई लड़का ढील करे और हाथ में पकड़ी हुई डाल को आज्ञा पाते ही छोड़ न दे तो कोर्डिस साहव का मुंह क्रोध से लाल हो जाता था। उनकी हुंकार सुनकर अपने-आप डाली हाथ से छूट जाती थी।

कोर्डिस साहव के सजा देने के दो तरीके थे। जरा-जरा-सी बात पर वह विद्यार्थी को दीवार की ओर मुंह करके खड़ा होने के लिए मजबूर करते थे।

अनुशासन, व्यवस्था, स्वच्छता आदि पर कोर्डिस साहव जितना जोर देते थे उतना पुस्तकों की पढ़ाई पर नहीं देते थे। रामदासकाका को अंग्रेजी सिखाने के लिए उन्होंने काफी परिश्रम किया था, परन्तु अधिकतर वह पदार्थ-विज्ञान के ही पाठ विनोदपूर्ण ढंग से पढ़ाया करते थे। खरगोश, विल्ली, कुत्ते, चूहे आदि के आंख, पैर, पंजे और दूसरे अवयवों में जो अन्तर होता है, वह समझाते थे। तरह-तरह के प्राणियों के चित्र वताते थे। भौगोलिक चित्रों को सूक्ष्मदर्शक कांच से बड़ा करके दिखाते थे और ऐसे विषयों की सचित्र पोथियां पढ़ाते थे।

मेरे पिताजी को इस तरह की पढ़ाई पसन्द नहीं थी। उनको यह समय की वरवादी प्रतीत होती थी और उनके वैष्णव मानस को पशु-पक्षियों के शिकारी अवयवों की बातें अग्राह्य थीं। परन्तु फ़ीनिक्स में वह एक ही पाठशाला थी, इसलिए वह मुझे वहां भेजने के लिए मजबूर थे।

मगनकाका इस कोर्डिस-शाला में नियमपूर्वक समय निकालकर आया करते थे और गुजराती तथा गणित पढ़ाते थे। उस समय हम बड़ी एकाग्रता से उनके पास पढ़ते थे। दिन-भर में यही घंटा हमें पढ़ाई का प्रतीत होता था। अन्य समय मानो शरीर की आदतें वनाने में बीतता था। मेरा अनुमान है कि यदि पूरे चार वर्ष भी कोर्डिस साहव की वह पाठशाला चली होती तो जर्मन स्फूर्ति और कठोर आदतें हम लोगों के जीवन में स्थायी हो जातीं।

कोर्डिस साहव के अतिरिक्त दूसरे विदेशी शिक्षकों में, जिनका मुझे स्मरण है, श्री पोलक बहुधा फीनिक्स आते थे। वह जोहान्सबर्ग के कार्यालय में वापूजी के पास काम करते थे। रस्किन की उस पुस्तक के वह प्रशंसक थे ही, जिसके कारण वापूजी की 'सर्वोदय' की कल्पना सुस्पष्ट हुई थी

और फीनिक्स में डेरा जमाया था। यहां के विकास में उनको भी दिलचस्पी थी। फीनिक्स की स्थापना व 'इंडियन ओपीनियन' के संचालन में उनका महत्वपूर्ण सहयोग था। बरसों तक 'इंडियन ओपीनियन' के अंग्रेजी विभाग का संपादन श्री पोलक ने ही किया था। उन्होंने अपने लिए भारतीय नाम 'केशवलाल' चुना था। जब वे फीनिक्स आते थे तो कई बार पोलक साहब मुझसे अपनी अंगुली पकड़वा लिया करते और अंग्रेजी में अनेक प्रश्न पूछा करते थे। मैं अंग्रेजी नहीं के बराबर समझता था, इसलिए वह अपना प्रश्न बार-बार छोटा करके पूछते थे और मुझसे उत्तर प्राप्त करते थे। इस प्रकार उन्होंने अंग्रेजी में मेरा प्रवेश कराया। वह इतनी धीमी आवाज में बोलते थे कि अपनी कर्णेंद्रिय को मुझे तीक्ष्ण बनाना पड़ता था। उनका स्वभाव इतना विनोदी और सरल था कि उनके पास जरा भी संकोच का अनुभव नहीं होता था।

ऐसे ही दूसरे अंग्रेज श्री आइज़क थे, जिनके फीनिक्स आने पर सभी बच्चे खुश हो जाते थे। उनका स्वभाव विदूषक का-सा था। प्रातःकाल से रात तक वे हसाने की कोई-न-कोई बात हमारे सामने रखते ही रहते थे। सीधी तरह बोलना और बात करना मानो वह जानते ही न थे। कभी कुर्सी पर बैठकर अपने पैर का अंगूठा नचाते, कभी मेंढक की चाल चलते, कभी चौंककर भाग निकलते और बच्चों की सारी टोली को अपने पीछे दौड़ाते। जब वह अभिनय के साथ रीछ और बन्दरों की कहानी सुनाते तब मानो वह जानवर ही हमारे सामने उपस्थित हो जाते थे। किन्तु उनके भरपूर हास्यरस में अवांछनीय बात जरा भी नजर नहीं आती थी।

फीनिक्स-निवासी भारतीय व्यक्तियों में श्री सेम ऐसे थे, जो हमें पढ़ाने के लिए पाठशाला में नहीं आते थे, फिर भी परोक्ष रूप से वह हमारे शिक्षक ही थे। वह फीनिक्स के मुद्रणालय के इंजीनियर थे। यंत्रों को सुधारना, साफ रखना, अखबार छापना, पुस्तकों की जिल्द बांधना, इत्यादि कार्य श्री सेम के हाथ में था। अपने काम में कुशल इतने थे कि काम करते हुए उनके हाथ काले होने पर भी उनके हाथ से कागज या किताब पर धब्बा नहीं लगता था। यह देखकर हमें बड़ा आश्चर्य होता था। वह शिकार भी खेला करते थे। ऊंचे वृक्ष की शाखा पर जाते हुए सांप को वह एक ही बार बन्दूक चलाकर नीचे गिरा देते थे। जब हिरन का शिकार करने जाते तब ऊंची घास में छिप-छिपकर चलने की उनकी कला देखने में मुझे बड़ा आनन्द आता था। शिकारी होने पर भी वह बालकों के बड़े प्रेमी थे। हम लोग बगीचों में चोरी करें या नटखटपन करें प्रेम की कोई

मशीन से छेड़खानी करें तो अनेक बार उनकी पैनी नजर हम पर पड़ जाती थी। परन्तु उन्होंने कभी हमें डांटा-डपटा नहीं, न हमारी शिकायत ही किसी से की, केवल धीरे-से हमें समझा दिया करते थे। उनकी बात हम मान भी लेते थे। वह मद्रासी ईसाई थे और उनका पूरा नाम 'गोविंद-स्वामी' था।

श्री क्वीन नाम के एक चीनी सज्जन भी फीनिक्स में कुछ समय के लिए आये थे। उनके बारे में मुझे इतना याद है कि उनके पीछे-पीछे हम फीनिक्स के बगीचों में घूमते थे। उनके विचित्र उच्चारण सुनने में हमें मजा आता था। उनका वेश और हावभाव हमे अजीब-सा लगता था।

एक थे श्री किचन। वह जहां-तहां बिजली की रोशनी लगाते रहने में उलझे रहते थे। शाम के समय वह बेकार कनस्तरों को खेतों में ढंग से रखकर अपनी पिस्तौल से चांदमारी किया करते थे। मुझे ऐसा याद है कि वह बापूजी के मकान में ही रहते थे और उस घर के निर्माता भी वही थे। श्री पोलक से पहले 'इन्डियन ओपीनियन' के अंग्रेजी विभाग का संपादन-कार्य श्री किचन ही करते थे। पता नहीं क्यों, वह बहुत पहले ही फीनिक्स से चले गए थे और कुछ वर्ष बाद मैंने सुना कि उन्होंने आत्महत्या करली।

डरबन से जब दाऊद शेठ, रुस्तमजी शेठ, उमर शेठ आदि फीनिक्स आते थे, तब उनके आतिथ्य के लिए हमें काफी दौड़-धूप करनी पड़ती थी। उनके लिए आवश्यक चीजें दौड़कर हमें ही लानी पड़ती थीं। फीनिक्स में कहां पर कौन-सा नया शाक किस पौधे पर है इसकी जानकारी मुझे अधिक रहा करती थी और उनके लिए नई तरकारी लाने का काम करने में मुझे उनसे खूब शाबाशी मिलती थी।

ये अतिथि भी हमारे शिक्षक थे, क्योंकि उनके द्वारा फीनिक्स के एकांत कोनेमें हमारा संबंध शेष दुनिया से थोड़ा-बहुत जुड़ जाता था।

इस प्रकार यदि बापूजी फीनिक्स में महीनों तक नहीं आते थे तो भी उनकी छाया दिन-रात हम पर बनी रहती थी और उनके कारण हमारी उस जंगल की पाठशाला में एक प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय विद्यापीठ का-सा वातावरण कायम रहता था तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्कार हमें जाने-अनजाने मिलते रहते थे।

श्रेणी और वार्षिक परीक्षा का क्रम न होने पर भी फीनिक्स की पाठ-शाला में पढ़ाई का स्तर 'मैट्रिक्युलेशन' तक पहुंचाने का था। परन्तु अनेक शिक्षकों के बदलते रहने के कारण यह काम पूरा न हुआ। हमारी पढ़ाई

कुछ ढीली ही रही। जो योजना बनाई गई थी उसकी रूपरेखा ६ जनवरी १९०९ के 'इंडियन ओपीनियन' में इस प्रकार प्रकाशित हुई थी :

"इस पाठशाला के प्रधान उद्देश्य लड़कों के चारित्र्य का विकास करना है। कहा गया है कि सच्चा शिक्षण बच्चे अध्ययन करने पर प्राप्त करते हैं। अर्थात् तब उनमें ज्ञान प्राप्त करने की अभिरुचि पैदा होती है। ज्ञान तो अनेक प्रकार का होता है। कुछ हानिकारक होता है। इसलिए यदि विद्यार्थियों का चारित्र्य सुगठित न किया जाय तो वे विपरीत ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। बिना तरीके के, जो आया सो पढ़ाते रहने के कारण, कई लोग नास्तिक हो जाते हैं और बहुत पढ़े हुए होने पर भी कई चरित्र-हीन बन जाते हैं। इसलिए लड़कों की नीतिमत्ता सुदृढ़ करने में उन्हें सहायता देना इस पाठशाला का मुख्य उद्देश्य है।

"लड़कों को उनकी स्वभाषा, अर्थात् गुजराती अथवा हिन्दी और शक्यतः तमिल तथा अंग्रेजी का ज्ञान दिया जायगा। अंकगणित, इतिहास, भूगोल, वनस्पति तथा प्रकृति का ज्ञान दिया जायगा। जो लड़के आगे बढ़ पायंगे उन्हें बीजगणित और रेखागणित भी सिखाया जायगा। मैट्रि-क्युलेशन तक तैयारी करा देने की धारणा रखी गई है।

"धर्म-शिक्षण के लिए माता-पिता जिस धर्मगुरु को चाहें, भेज सकते हैं। हिन्दू लड़कों को हिन्दू माता-पिता की इच्छा के अनुसार हिन्दू धर्म के मूल तत्त्व सिखाए जायंगे। हिन्दुस्तानी ईसाइयों को ईसाई धर्म के तत्त्व श्री वेस्ट और श्री कोर्डिस थियोसफी के आधार पर सिखायेंगे। मुसलमान लड़कों को जुम्मे के दिन डरबन जाने की इजाजत दी जायगी। हमारा विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति की तालीम धर्म की तालीम के बिना व्यर्थ है। इसलिए प्रत्येक माता-पिता का कर्तव्य है कि वह अपने-अपने धर्म का शिक्षण और जिसे सांसारिक ज्ञान बताया जाता है, दोनों ही एक साथ दें। गहराई से विचार करने पर पता चलेगा कि जिसे हम सांसारिक शिक्षण कहते हैं, वह भी धर्म को सुदृढ़ करने की ही तालीम है। हमारा विश्वास है कि इस उद्देश्य से रहित जो शिक्षा दी जाती है वह बहुधा हानिकारक होती है।

"भारत के प्रति बच्चों का प्रेम बढ़ाने और उन्हें स्वदेशाभिमानी बनने में सहायता देने के हेतु से भारत का प्राचीन और अर्वाचीन इतिहास सिखाया जायगा।

"यह विचार हमारे लोगों को भी सही जंच जाय और जिस ऊंची स्थिति का मैं चित्रण कर रहा हूं, वह हम प्राप्त करें, ऐसी चाह रखोगे तो ईश्वर हमें ऐसा अवसर देगा।"

: २१ :

हमारे संस्कार

फीनिक्स में पाठशाला और पारिवारिक छात्रावास का जब से श्रीगणेश हुआ, तबसे कुछ ऐसा ही वातावरण वहां उत्पन्न हो गया था कि अन्य विषयों की पढ़ाई में हम सावधान न भी रहें, धर्म के विषय में किसी के सामने नीचा न देखना पड़े, इस बात की जागरूकता तथा अभिलाषा हमारे अंदर बनी रहती थी।

उस समय जितने बालक पढ़ रहे थे उनमें हिन्दुओं की संख्या आधे से कम थी। विद्यार्थी अथवा शिक्षक एक-दूसरे के धर्म पर छीटाकशी या वादविवाद नहीं करते थे। पर अपने-अपने धर्म की अच्छी-अच्छी बातें सुनने-सुनाने का उत्साह उस वातावरण में था। भारतीय ईसाई अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी तौर-तरीके और इतवार की सम्मिलित प्रार्थना में अपना गौरव विशेष रूप से प्रदर्शित करते थे। हिन्दुओं के त्यौहारों का उत्साह छिपता नहीं था। वे बार-बार आनेवाले त्यौहार मनाने में अपनी विशेषता अनुभव करते थे। मुसलमान लड़के अपने दीन और कुरान की प्रशंसा के गीत गाते हुए नहीं अघाते थे। लेकिन धर्म की भिन्नता के कारण हमारे बीच कभी अनबन का प्रसंग पैदा नहीं हुआ।

फिर भी अपने बालकों की संस्कारिता शुद्ध रहे और वे संगति-दोष के शिकार न बनें यह हमारे माता-पिता के लिए चिन्ता का विषय था। बापूजी के जैसी ऊंची श्रद्धा को अपनाना उन लोगों के लिए कठिन था, जो सनातन धर्म के परम्परागत भावनाशील अनुयायी थे।

हमारे घर में जो तीन विद्यार्थी थे उनमें दो मुसलमान थे। उनकी देखभाल और सुविधा के लिए हमारे घरवालों को कम परिश्रम नहीं करना पड़ता था। कस्तूरबा को बापूजी ने इससे भी कड़ी कसौटी पर चढ़ाया था। हमारे घर में सौम्य प्रकृति तथा धनी घराने के गुजराती लड़के थे, परन्तु बा के यहां उग्र प्रकृति के ईसाई लड़के थे, जो मद्रास की ओर से श्रमिक के रूप में आकर दक्षिण अफ्रीका में बसे हुए गिरमिट-मुक्त परिवारों के बालक थे।

मेरे माता-पिता कट्टर वैष्णव परम्परा पालनेवाले थे। अभी तक मैं वह दिन नहीं भूला हूं जब हमारे घर में बापूजी के मुसलमान मित्रों को आदरपूर्वक भोजन कराने के बाद, मेरी माताजी और काकी उनके उपयोग

में आए हुए पीतल के बर्तनों को अग्नि में तपाकर ही रसोईघर में रखती थीं। मेरे पिताजी के लिए भी मुसलमानों की पंक्ति में भोजन करना एक विकट समस्या थी। उन्होंने अपने-आपको बापूजी के हाथों में पूर्णतया छोड़ रखा था, इसलिए वह बापूजी के अनुसार चलने का भरसक प्रयास करते थे और अपने मन की बात मन में ही रखते थे। परन्तु उनको विधर्मियों के साथ बापूजी की घनिष्ठता विकट समस्यारूप प्रतीत होती थी। पिताजी के मुख से मैंने इस संबंध में अधिक नहीं सुना, क्योंकि उन्हें ज्यादा बोलने की आदत नहीं है। लेकिन उनकी पुरानी डायरी में कहीं-कहीं दो-चार शब्द मिल जाते हैं, जिनसे उनके मनोमन्थन का पता चलता है। उस समय दक्षिण अफ्रीका में बापूजी 'भाई' के नाम से प्रसिद्ध थे और पिताजी ने अपनी डायरी में उनका उल्लेख मोहनदासकाका के साथ-साथ केवल 'भाई' के नाम से भी किया है। डायरी के कुछ उद्धरण इस प्रकार हैं:

४ जनवरी १९०६ : शाम को ६ बजे हमारी ट्रेन जोहान्सबर्ग स्टेशन पहुंच गई। रामा, देवा, मणिलाल, बापू, और श्रीमती पोलक स्टेशन पर मुझे लिवाने आये थे। उनके साथ ७ बजे घर पहुंचा। नहाने-धोने के बाद भोजन के लिए सब मेज पर जा बैठे। सारी अंग्रेजी रीतियां देखकर अजीब लगा। मन में अनेक विचार आये—हमारी रीति अच्छी या इनकी, यह निश्चय नहीं कर पाया। भोजन में ब्रेड, शाक, दाल-भात आदि वस्तुएं थीं। भोजन के बाद कोको था। भोजन के आरम्भ होने से पहले 'भाई' ने गीताजी के प्रथम अध्याय के २४ से २७ श्लोक पढ़े और गुजराती में उनका अर्थ पढ़ा। दस बजे सो गया। सोने की सुविधा बड़ी अच्छी थी।

५ जनवरी १९०६ : ५ बजे उठकर साढ़े ६ बजे स्नान आदि से निवृत्त हो गया। मोहनदासकाका के कहने पर मणिलाल मेरे बूट पालिश करने के लिए ले गया। इसकी मेरे मन पर गहरी छाप पड़ी, जिसे लिख सकना मेरी शक्ति के बाहर है। सभी लोग बिना कुछ खाये-पिये काम के लिए निकल पड़े। मैं भाई के साथ उनके दफ़्तर तक पैदल गया, जो करीब दो मील की दूरी पर है। रास्ते में 'इंडियन ओपीनियन' साप्ताहिक के संबंध में बातचीत हुई। ठीक साढ़े नौ बजे भाई ने दफ़्तर में काम शुरू कर दिया। दफ़्तर में काम करनेवाली कन्या को देखकर मन में कई विचार आये। दोपहर के समय भाई ने और दफ़्तर के सब लोगों ने केले और मूंगफली का अल्पाहार किया। उसके बाद प्रेस के खर्च का हिसाब बारीकी से जांचा गया और शाम को साढ़े पांच बजे भाई के साथ मैं घर आया। रात को भोजन के समय अंग्रेज मित्र पोलक-दम्पति का खुलकर मिलना-जुलना देखकर विचार में पड़ गया।

६ जनवरी १९०६ : भोजन के समय भाई के घर श्री पोलक के विवाह के सिलसिले में कुछ सज्जनों को दावत दी गई थी। अंग्रेज, मुसलमान, हिन्दू, सब थे। भोजन के समय का विनोद मुझे अत्यधिक जान पड़ा।

७ जनवरी १९०६ : कल के मुकाबले आज चक्की पीसने में थकावट कम हुई।

११ जनवरी १९०६ : स्मिथ, पोलक और श्रीमती पोलक भाई के घर में ही रहते हैं और बहुत आजादी का बर्ताव करते हैं, यह देखकर बहुत विचार आते हैं।

१२ जनवरी १९०६ : मैंने श्री बीन को और भाई ने श्री वेजरनाजर को 'इंडियन ओपीनियन' में तमिल और हिन्दी विभाग बन्द करने के लिए भेजा।

१४ जनवरी १९०६ : बापूजी के कई पत्र लिखे और उर्दू कायदा सीखना शुरू किया।

२० जनवरी १९०६ : ईसा हाजी शुगरकेन कालोनी की ट्रेन से आये। उनको लिवाने के लिए भाई और उमर शेठ के साथ मैं भी गया। दोपहर में सब मेहमान श्री आइज़क, कैलनबैक, ईसा हाजी, उमर शेठ व हाजी हबीब हाजिर थे। पोलक हिन्दुस्तानी पोशाक पहने थे। भोजन में मैं अलग बैठा था।

२७ जनवरी १९०६ : शाम को ६ बजे की गाड़ी से मैं फीनिक्स से डरबन गया। कनाट के ड्यूक डरबन में थे। रात को साढ़े सात बजे भाई जोहान्सबर्ग से आये। सब लोग सीधे कांग्रेस-भवन में गये। ढाई तीन सौ व्यक्तियों तक का सहभोज हुआ। मैं हिन्दू मित्रों के साथ बैठा।

१६ मार्च १९०६ :....के पत्र से मालूम हुआ कि भाई ने प्रिटोरिया में मुसलमानों से माफी मांगी। पढ़कर गहरे विचार में पड़ गया।

डायरी की इन पंक्तियों से अनुभव होता है कि ईसाई, मुसलमान आदि के साथ एक-रूप हो जाना पिताजी के लिए आसान नहीं था। पर बापूजी की श्रद्धा इस प्रकार की थी कि जहां सामान्य लोग अंधेरा और निराशा देखते थे वहां बापूजी को जीवन और प्रगति की झलक दिखलाई पड़ती थी। जहां औरों को संकट तथा विनाश नजर आता था, वहां बापूजी को सफलता और कल्याण के स्पष्ट दर्शन होते थे। ऐसा न होता तो वह अपने घर के छोटे बच्चों के साथ अन्य धर्मों के बच्चों के रात-दिन रहने की व्यवस्था क्यों करते?

हमारे घर में जो अन्य तीन धर्मों के बालक थे, उनमें से इब्राहीम का असर मुझपर अधिक पड़ा। वह पढ़ने में जैसा चतुर था वैसा ही बोलने में भी। उसकी स्वच्छता से रहने की आदत भी आकर्षक थी। उसका बात करने का ढंग भी बड़ा लुभावना था।

फीनिक्स-भर में छोटे-बड़े सभी व्यक्ति इब्राहीम की होशियारी की तारीफ किया करते थे। इधर मैं अपनी मूढ़ता के लिए बदनाम-सा था और अपने बारे में ऐसी निन्दा सुन-सुनकर मेरी भावना ऐसी बन गई थी कि जब मैं किसी की तारीफ सुनता तो मुझे वह स्वर्ग से उतरा हुआ-सा प्रतीत होता था। उसकी शक्ति एवं चातुर्य का मूल किस बात में है, इसकी खोज में मैं लगा रहता था। फिर जो कुछ समझ में आता उसकी आजमाइश भी किया करता था।

कई दिनों तक अवलोकन और मनन करते रहने के बाद इब्राहीम के चातुर्य और उसकी समझदारी का मूल मैंने खोज निकाला। उसकी नाक की जड़ में, जहां चश्मा रखा जाता है, एक चोट का चिह्न था। उसके कारण बात करते समय उसकी नाक की खाल खिचा करती थी और उसकी लम्बी पैनी नाक नाचती हुई दिखलाई पड़ती थी। मुझे यकीन हुआ कि उसकी विशेषता का मूल उसकी नाक का यह चिह्न है। यदि ऐसा ही चिह्न मेरी नाक पर भी हो जाय तो मैं भी उसी के बराबर अक्लमन्द और शरीफ माना जाऊंगा। बस मैं एक कोने में जा घुसा और वहां पर छिपे-छिपे मैंने एक कटोरी की धार से अपनी नाक की खाल छीलना आरम्भ कर दिया। लगातार चार-पांच दिन तक यह उपक्रम जारी रहा। रोज शाम को थोड़ी-थोड़ी चमड़ी घिसकर सवेरे उठते ही शीशे में अपना मुंह देखता कि ठीक इब्राहीम का-जैसा चिह्न नाक पर बना या नहीं। किन्तु बदकिस्मती से वह निशान भौंड़ा बन गया। नाक में दर्द काफी रहा, परन्तु अपना चातुर्य बढ़ाने के लोभ-वश मैंने उसे बर्दाश्त किया। जब वह घाव भर गया तब दुबारा मैंने अपनी नाक की जड़ छीलकर चिह्न को सुधारने की कोशिश की, पर वह चिह्न सुधरा ही नहीं। आखिर मैंने हार मानी और मन में संतोष कर लिया कि मेरे नसीब में बुद्धूपन ही बदा है और इस प्रकार मन को समझाकर मैंने वह प्रयास छोड़ दिया।

फीनिक्स में जो गोरे आते थे वे हम पर अपनी श्रेष्ठता की धाक जमाने का प्रयास करते हुए नहीं मालूम पड़ते थे। पोलक तथा आइज़क आदि हमारे यहां राज्यकर्त्ता की हैसियत से नहीं आते थे, किन्तु बापूजी-जैसे व्यक्ति ने अपने कट्टर विरोधियों को प्रेम और कष्ट-सहन के बल से

जीत लेने का जो अनुष्ठान प्रारम्भ किया था, उसको देखने और उसमें सहायता करने के लिए बापूजी के निमंत्रण पर आते थे। जबतक वे हमारे साथ रहते थे, अभिन्न होकर रहते थे। बापूजी की भी यह सूचना थी कि उनका स्वागत हृदय से किया जाय, जिससे भारतवर्ष की और भारत-वासियों की प्रतिष्ठा में वृद्धि हो। इस सूचना का अमल विशेषतः मेरे पिताजी और काका करते थे। वे उनके साथ सारा दिन बिताते थे। उनकी हर प्रकार की आवश्यकता पूरी करने की कोशिश करते थे। इस कारण भी गोरे लोगों की श्रेष्ठता मेरे मन में बस गई थी। एक मुख्य कारण उनकी भाषा भी थी। मैं देखता था कि चारों ओर अंग्रेजी भाषा की ही प्रतिष्ठा है। इसलिए वे लोग मुझे अधिक सामर्थ्य वाले प्रतीत होते थे। हर जगह, हर कोने में सारी बातचीत अंग्रेजी में ही होती थी। प्रायः सभी पुस्तकें अंग्रेजी में ही मिलती थीं। हम लोगों को जो सुन्दर व सचित्र बालसाहित्य मिलता था वह भी अंग्रेजी में होता था। हंसी-खेल की कहानियां अंग्रेजी में ही मिलती थीं। 'चिल्ड्रन्स एनसाइक्लोपीडिया' नाम का सुन्दर मासिक पत्र जब आता था और उसके चित्र, उसकी विज्ञान की बातें तथा चमत्कार-पूर्ण कथाएं मगनकाका हमें सुनाते थे, तब अंग्रेजी का श्रेष्ठत्व मेरी कच्ची बुद्धि को बहुत ही प्रभावित करता था। उस समय मैंने अपने अनुभव से यह महसूस किया था कि जो कोई अंग्रेजी समझ और बोल नहीं पाता, वह पूरा आदमी ही नहीं है। ऐसे व्यक्ति को अपने चारों ओर का वार्त्ता-लाप तथा विनोद चुपचाप मूढ़वत सुन लेना पड़ता था। मेरे मन में गोरे लोगों के प्रति देवत्व की भावना अंकुरित हो गई थी और मुझे अंग्रेजी भाषा ही विद्या की साक्षात मूर्त्ति प्रतीत होती थी।

: २२ :

स्वभाषा तथा पर-भाषा

बापूजी के सबसे बड़े पुत्र हरिलालकाका मुख्यतः पढ़ाई के उद्देश्य से ही अपने पिता से निराश होकर घर से निकल भागे थे। बुद्धि, दक्षता और कष्ट-सहन में हरिलालकाका बापू के साथियों से कम शक्तिवाले नहीं थे, परन्तु बापूजी स्कूल और कालेजों में दिये जानेवाले शिक्षण के खिलाफ

थे और काका आधुनिक उच्चशिक्षण प्राप्त करना चाहते थे। इसलिए हरिलालकाका-जैसे संवेदनशील व्यक्ति का उनके पास रहना कठिन हो गया। स्वयं बापूजी बैरिस्टर थे और इंग्लैंड जाकर ऊंची शिक्षा प्राप्त कर आए थे। इतना ही नहीं, अपनी उस विद्वत्ता का नित्य के काम-काज में पूरा-पूरा उपयोग भी कर लेते थे। फिर भी अपने पुत्रों को उस शिक्षा से वंचित रखने का उनका दृढ़ आग्रह था। उस आग्रह की ऊंची भूमिका को समझना आसान नहीं था, फलतः हरिलालकाका के लिए आवश्यक हो गया कि वह अपने पिता का आसरा छोड़कर अपने-आप ऐसा शिक्षण प्राप्त करें, जिससे संसार में उनकी गिनती पढ़े-लिखों में हो।

फीनिक्स की पाठशाला के श्रीगणेश की जो बातें मैंने लिखी हैं, वे सन् १९०८-९ की हैं। बापूजी ने हम लोगों को पढ़ाने का जो यह नया उपक्रम किया था, उससे पहले ही हरिलालकाका बापूजी को छोड़कर जोहान्सबर्ग से भारत चले आए थे और अहमदाबाद के हाई स्कूल में मैट्रिक की शिक्षा प्राप्त कर रहे थे।

पिताजी के संग्रह में बापूजी का लिखा एक पुराना लेख मिला है, जो १७ सितम्बर, १९०९ को लन्दन से लिखा गया था। उस समय राजकोट में गुजराती साहित्य परिषद का तीसरा अधिवेशन होनेवाला था। इस निमित्त से बापूजी ने स्वभाषा के बारे में यह निबन्ध लिखा था। उसपर से पता चलता है कि बापूजी ने फीनिक्स की पाठशाला में अंग्रेजी की पढ़ाई पर क्यों जोर नहीं दिया। लेख इस प्रकार है :

"हिन्दुस्तान में आजकल नई हवा चल रही है, किन्तु हिन्दू, मुसलमान, पारसी सभी 'मेरा देश' या 'हमारा देश' की रट लगा रहे हैं। इस सम्बन्ध में हमें फिलहाल राजनैतिक दृष्टि से नहीं सोचना है। भाषा की दृष्टि से विचार करने पर हमारी समझ में सीधे यह बात आती है कि 'हमारा देश' की पुकार हम अपने अन्तर से करें, इससे पहले अपनी भाषा का स्वाभिमान हमारे दिल में पैदा होना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दुस्तान-भर में छोटे-बड़े सभी लोग अपनी-अपनी भाषा के बारे में ध्यान देने लगे हैं—यह एक सन्तोष की बात है। ऐसे उद्गार भी सुनाई पड़ते हैं कि कुछ ऐसा होना चाहिए कि प्रत्येक भारतवासी आपस में एक भाषा का प्रयोग कर सकें। भविष्य में यह सम्भव भी हो सकता है। यह तो सभी लोग स्वीकार करेंगे कि वह भाषा हिन्द की ही होनी चाहिए। लेकिन यह कदम भविष्य में जोर पकड़ सकता है। 'मैं हिन्दुस्तानी हूं' यह गौरव हमारे दिल में पैदा होना चाहिए और इसी के अन्तर्गत यह गौरव भी उदित होना

चाहिए कि 'मैं गुजराती हूं।' अगर ऐसा न हुआ तो हम न तेरह के रहेंगे, न त्रेपन के; न हम घर के रहेंगे, न घाट के।

"प्रत्येक प्रान्त के अग्रणी दूसरे प्रान्तों की भाषाओं का ज्ञान प्राप्त न करें तो काम नहीं चलेगा। गुजराती के लिए बंगाली, मराठी, तमिल, हिन्दी आदि भाषाएं सीखना आसान है, कठिन नहीं है। जितनी माथापच्ची और जितना प्रयास गलतफहमी में पड़कर हम लोग अंग्रेजी भाषा पढ़ने में करते हैं, उससे आधा प्रयास भी यदि देश की भाषाओं को सीखने के लिए करें तो देश में नया वातावरण पैदा हो जायगा और इस तरह बड़ी मात्रा में हिन्दुस्तान का उद्धार हो सकेगा।

"हिन्दुस्तान की शिक्षा के बारे में लार्ड मेकाले ने जो विचार प्रकट किये हैं, उन पर मैं मोहित था। दूसरे भी बहुत से लोग उनसे मोहित हैं। लेकिन अब मेरा मोह टूट गया है और मैं चाहता हूं कि औरों का मोह भी खत्म हो जाय। परन्तु इस पर अधिक चर्चा के लिए यह स्थान नहीं है। यदि ऊपर की बातें सही हैं तो यह भी सही है कि गुजराती भाषा के लिए हम अलग विचार कर सकते हैं। गुजराती लोग आपस में अंग्रेजी में बातचीत करें तो ऐसा कहे बिना रहा नहीं जाता कि यह निम्न स्थिति का सूचक है। अंग्रेजी के मोह के कारण हमारी मातृभाषा दरिद्र हो गई है। हम स्वयं उसका अपमान कर रहे हैं, इसलिए हम बिल्कुल ही दीन बन जाते हैं। जब मैं अपने विचार गुजराती में ठीक तरह से प्रकट न कर सकने और अंग्रेजी में कर सकने की स्थिति पर विचार करता हूं, तब मेरा सारा शरीर कांप उठता है। जिन्होंने अपनी भाषा का अनादर किया है वे भला देश का क्या भला कर सकेंगे? गुजरात की महान प्रजा किसी समय गुजराती को भूलकर दूसरी भाषा को अपनाए, यह स्वप्न में भी संभव नहीं हो सकता, और यदि यह संभव नहीं है तो जो लोग उस भाषा को छोड़ देते हैं वे देश के अर्थात् अपनी प्रजा के द्रोही हैं, यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा।

"यह वाक्य गलत नहीं है कि 'भाषा में प्रजा का चित्र प्रतिबिम्बित होता है।' इसीलिए गुजराती, बंगाली, उर्दू, मराठी परिषदें होने लगी हैं। यह बहुत अच्छे भविष्य का द्योतक है। जो भारतवासी स्वदेश से बाहर जाते हैं, उनको इस सम्बन्ध में बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है। उनपर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। यदि वे अपनी भाषा को भूल जायंगे तो पाप के भागी होंगे।

"कुछ अधिक अंग्रेजी पढ़े हुए लोगों के लेखों में मैंने पढ़ा है और कुछ को कहते हुए सुना है कि वे स्वयं गुजराती की अपेक्षा अंग्रेजी ज्यादा जानते हैं।

यह हमारे लिए बड़ी शर्म की बात है। वास्तव में जो व्यक्ति अंग्रेजी में लिखते या बोलते हैं, वे न तो सही अंग्रेजी लिख पाते हैं और न बोल ही पाते हैं यही स्वाभाविक है। यह सच है कि कुछ विचार हम अंग्रेजी में अधिक स्पष्टता से प्रकट कर सकते हैं, लेकिन यह भी हमारे लिए शर्म की ही बात है। अंग्रेजी व्याकरण और मुहावरे हम भलीभांति जानते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जबकि गुजराती व्याकरण और मुहावरे कोई भी भारतीय ठीक तरह से जान सकता है। उसमें भूतकाल के बदले वर्तमान काल का प्रयोग भूलकर भी कोई नहीं करेगा। हमारे अंग्रेजी लिखने में अंग्रेजी पढ़ने वालों की भी ऐसी भूलें बहुत ज्यादा नजर आती हैं। मुहावरे के दोषों का तो कोई अन्त ही नहीं है। गुजराती में हम सही उच्चारण न करें, ठीक तरह से संयुक्ताक्षर न बोलें, यह सम्भव है, लेकिन इस कारण हम गुजराती कम जानते हैं यह कहना गलत होगा। उच्चारण की भूलें भी सहज दूर की जा सकती हैं।

"ऐसी दलीलें सुनी जाती हैं कि जो विद्यार्थी अंग्रेजी पढ़ना चाहते हैं उनको अंग्रेजी बोलने का अभ्यास करना ही चाहिए। क्या यह भ्रम नहीं है ? जब गुजराती इकट्ठे हों तब यदि वे गुजराती में बोलेंगे तो अंग्रेजी के ज्ञान में कमी नहीं आयेगी, बल्कि वृद्धि ही होगी; क्योंकि ऐसा करने पर, हमारे सुनने में केवल अंग्रेजों की ही अंग्रेजी आयगी और हमारे कानों की शक्ति तीव्र होकर गलत अंग्रेजी तुरन्त पहचान लेगी।

"इंग्लैंड में आये हुए विद्यार्थी अपने अध्ययन में इतने अधिक व्यस्त नहीं रहते कि वे गुजराती पुस्तक पढ़ ही न सकें। जिसको आगे जाकर अपने देश की सेवा करनी है, सामाजिक काम करना है, उसे अपनी मातृ-भाषा के लिए समय निकालना ही होगा। यदि मातृभाषा को भुलाकर ही अंग्रेजी सीखी जा सकती हो तो देश-कल्याण का मूल हेतु मारा जायगा। इससे तो बेहतर है कि अंग्रेजी सीखी ही न जाय।

"फिर गुजराती भाषा कोई साधारण भाषा नहीं है। जिसमें नरसिंह मेहता, अखा भगत और दयाराम-जैसे कवि पैदा हुए हैं, उस भाषा को बहुत विकसित किया जा सकता है। फिर जिस भाषा के बोलनेवाले संसार के तीन महाधर्मों—हिन्दू, इस्लाम और जरथुस्ती—के अनुयायी हैं वह भाषा इतनी ऊंची हो सकती है, जिसकी कोई सीमा नहीं। एक ही विचार गुजराती भाषा द्वारा तीन तरीके से दर्शाया जा सकता है। पारसी जिसे खुदा, मुसलमान जिसे अल्लाहताला और हिन्दू जिसे ईश्वर कहेगा उसे अंग्रेजी में केवल 'गाड' के एक ही नाम से पुकारा जायगा।

"मुसलमानों के गुजराती लेखन में अरबी और शेखसादी की फारसी

की छाया होगी। पारसी की गुजराती में, जरथुस्त के ज़िन्दावेस्ता की छाया होगी, हिन्दू की गुजराती में संस्कृत की छाया होगी। हिन्दू और मुसलमान तो हिन्दुस्तान की सभी भाषाओं के लिए हैं, किन्तु पारसियों को मानो गुजराती के लिए ही खुदा ने ईरान से भेज दिया है। उनके उत्साही स्वभाव के कारण गुजराती भाषा को अत्यधिक लाभ पहुंच सकता है। फिर गुजराती अखबार आजकल उनके हाथ में हैं, इसलिए उनको पूरे उत्साह से गुजराती के भविष्य की रक्षा करनी चाहिए। उनसे एक ही विनती करनी आवश्यक है कि अब जब कि गुजराती आपकी मातृभाषा हो गई है और उसको आप छोड़ नहीं सकते तो उसका खून न करें। पारसी लेखक अच्छे विचार सरल गुजराती में पेश करते हैं, किन्तु भाषा के उच्चारण और हिज्जे के तो मानो दुश्मन ही हैं।

"सब गुजरातियों के लिए यह सोचने की बात है। हिन्दू, मुसलमान और पारसी, तीनों अपने अलग-अलग चौके में डटे हुए जान पड़ते हैं। मुसलमान अभी तक शिक्षण-क्षेत्र में गहराई तक नहीं गए हैं, इसलिए गुजराती पर उनका स्पष्ट असर नहीं दीखता। किन्तु अब वे पढ़ने लगे हैं। इस दिशा में हिन्दुओं और पारसियों को उन्हें आगे बढ़ाने का यत्न करना चाहिए।

"राजकोट में होनेवाली परिषद से मेरा नम्र निवेदन है कि उसके नेता गुजराती भाषा के जानकार हिन्दू, मुसलमान और पारसियों की एक स्थायी समिति का निर्माण करें। वह समिति गुजराती भाषा में तीनों कौमों द्वारा लिखे जानेवाले साहित्य पर निगरानी रखे और लेखकों को सलाह-मशविरा दे। ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि विचारशील लेखक अपने लेखों को ऐसी समिति से बिना कुछ पैसे दिए सुधरवा सकें।

"अन्त में विलायत जाने वाले भारतीयों से मैं कहूंगा कि अंग्रेजों का उदाहरण लेकर उन्हें आपस में अपनी मातृभाषा का ही प्रयोग करना चाहिए। ऐसा करने से भारत की उन्नति होगी और उसका एक कर्तव्य पूर्ण माना जायगा। ऐसा करना कुछ कठिन नहीं है।"

बापूजी के इन विचारों का अमल हमारे घर में निष्ठतापूर्वक और समझकर किया गया। मेरे पिताजी और मगनलालकाका को घर में अंग्रेजी बोलने की जरा भी आदत नहीं थी। मुझे याद है कि मैं यदि भूलकर गुजराती बातचीत में अंग्रेजी शब्द मिला देता था—जैसे कुरसी के लिए 'चेयर', चम्मच के लिए 'स्पून' और द्राक्ष के लिए 'ग्रेप्स' शब्द का प्रयोग करता था तो मगनकाका तुरन्त पूछते थे कि वह शब्द गुजराती है या अंग्रेजी, और फिर अंग्रेजी आमफ़हम शब्दों के लिए भी वह गुजराती शब्द सिखाते थे।

पिताजी मेरे योग्य सरल गुजराती साहित्य का संग्रह करते रहते थे और बार-बार उन पुस्तकों को दोहराने के लिए मुझे प्रोत्साहित करते थे। गुजराती के बाद उन्होंने मेरे हाथ में छोटी तथा सुन्दर हिन्दी पुस्तकें दे रखी थीं और बंगाली वर्णमाला सीखने का श्रीगणेश भी कराया था, परन्तु तब मेरा ध्यान गुजराती को छोड़कर और किसी भाषा पर लगता नहीं था।

हरिलालकाका बापूजी की इच्छा के विरुद्ध अहमदाबाद के हाई स्कूल में पढ़ने गये थे। मैट्रिक्युलेशन की परीक्षा में वह प्रथम बार उत्तीर्ण रहे थे। उन्होंने फ्रेंच भाषा ली थी। दुबारा भी वह फ्रेंच ही सीख रहे थे। इस सम्बन्ध में बापूजी ने यह पत्र लिखा था :

श्रावण विदी नवमी,
संवत् १९६७ (सन् १९११)

चि० हरिलाल,

. . .फ्रेंच पर तुम बेकार समय और पैसे नष्ट कर रहे हो, ऐसा मैं मानता हूं। ऐसा अमूल्य समय यदि संस्कृत के लिए तुम देते तो कितना कल्याण होता. इस बात का अनुमान मैं तुम्हें कैसे कराऊं? आजकल जिस वातावरण में तुम घूम-फिर रहे हो वह वातावरण भ्रष्ट है, इसलिए तुमको फ्रेंच की सूझी। शायद एक वर्ष देर से तुम पास होते, परन्तु संस्कृत सीख लेते तो कितना अच्छा रहता! संस्कृत के ज्ञान से हिन्दुस्तान की सभी भाषाओं के द्वार खुल जाते हैं। तुमने अपने हाथ से उन्हें बन्द कर दिया। दुबारा तुमने फ्रेंच का विषय लिया है, इसलिए यह लिख रहा हूं। अब भी तुम विचार करो और एक वर्ष परीक्षा को छोड़कर भी संस्कृत आरम्भ करो। ऐसा करने के लिए यदि तुमको घर के अध्ययन के लिए सात रुपयों के बदले आठ देने पड़ें तो भी मुझे अधिक सन्तोष होगा।

फिर भी तुम अपने मन की बात ही करना। तुम्हारे मार्ग में मैं विघ्न डालना नहीं चाहता। मेरी सलाह एक मित्र की सलाह है, यही समझना।

—बापू के आशीर्वाद

: २३ :

असली शिक्षा

बापूजी के जीवन में परस्पर-विरोधी बातों का आश्चर्यजनक योग था। एक ओर तो वह अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजियत से अपने देशवालों को दूर रखने का प्रयत्न करते थे, दूसरी ओर अंग्रेजों की अच्छी बातें सीखने की प्रेरणा करते थे। फीनिक्स के जीवन में ऊपरी सजधज से वह गोरों को मुग्ध कर देना चाहते थे; किन्तु भारतवासी परिवार भारतवर्ष के प्राचीन ऋषि-मुनियों के अकिंचन रहन-सहन में भी पीछे न रहे, यह भी उनकी अभिलाषा थी। खेती में, रसोई में और दूसरे काम-काज में वह हमें आधुनिक विज्ञान का पूरा लाभ दिलवाना चाहते थे और साथ ही गरीब-से-गरीब जीवन के आदर्श को अपनाना चाहते थे। मगनकाका और पिताजी, बापूजी की इस विचार-परम्परा के भक्त थे और गरीबी को अपनाने के संबंध में बापूजी बार-बार इन्हें परामर्श दिया करते थे। इन दोनों भाइयों के नाम लिखा हुआ बापूजी का निम्न पत्र विशेष उल्लेख योग्य है:

सन् १९०९

चि० छगनलाल और मगनलाल,

मुझे दुबारा वकालत का पेशा न करना पड़े, इसमें ही भलाई है। मेरे मन की यह गहरी इच्छा है। जबतक मैं जीवित हूं, फीनिक्स में हम लोग संपूर्ण गरीबी का अनुभव करें, ऐसा मैं चाहता हूं। ईश्वर से ऐसा हर समय मांगता हूं, लेकिन इसके विपरीत ही लक्षण देखता हूं। हम लोग सच्ची गरीबी भोगने लगें, ऐसा समय पूर्णरूप से आये यह मुश्किल दीखता है। डाक्टर मेहता की सहायता इसमें विघ्नरूप दीखती है। जबतक वह सहायता आती रहे तबतक "कल के लिए धेला भी पास नहीं है! क्या होगा?"— ऐसा अनमोल लाभ हमको नहीं मिलेगा, यह सन्देह मन में रहता है। उस स्थिति को मैं अनमोल लाभ गिनता हूं, क्योंकि संसार में प्रधानतया ऐसी स्थिति मौजूद है।

बुद्ध आदि की भी यही स्थिति थी और आगे के लिए भी उन-जैसों की ऐसी स्थिति रहेगी। इसके बिना आत्माराम को नहीं जाना जा सकता, यह मन में जच गया है। नरसिंह मेहता ने और सुदामाजी ने यह ज्ञान सही-सही सिखाया, ऐसा दृढ़ विश्वास मुझे बैठ रहा है।

इंद्रियों का भोग भोगते हुए यह कहना कि मैं उससे परे हूं, इंद्रियां अपना काम करती हैं, गलत है। हममें से एक भी व्यक्ति इस वाक्य का उच्चारण करने की योग्यता नहीं रखता और जबतक हम सच्ची गरीबी को नहीं अपनायंगे तबतक कोई भी यह वाक्य नहीं कह सकता। राजा आदि पुण्य के प्रताप से राजा बनते हैं, ऐसा मानना निराधार है। अपने कर्म के प्रताप से वे राजा बने हैं—ऐसा चाहें तो कह सकते हैं। लेकिन उसे पुण्यकर्म कहना तो आत्मा के गुणों की छानबीन करने पर गलत मालूम होता है।

—मोहनदास के आशीर्वाद

बापूजी बहुत ऊंची कसौटी के लिए अपने को तैयार कर रहे थे और अपने साथ के कार्यकर्त्ताओं को भी अकिंचन जीवन के आदर्श को अपनाने के लिए प्रेरित कर रहे थे।

बापूजी गरीबी का जितना स्तवन करते थे उतना ही महत्व जीवन को श्रेष्ठ और सुन्दर बनाने को देते थे। जीवन की स्थूल आवश्यकताओं में कमी करके नैतिक समृद्धि बढ़ाने पर जोर देते थे। यह कदापि उन्होंने पसन्द नहीं किया कि अपने संगी-साथी और देशवासी दीन-हीन और दरिद्र जीवन को स्वीकार कर लें। अपने घर के और अपनी संस्था के बालक और विद्यार्थी बड़े होने पर कमजोरी की और मायूसी की जिंदगी बिताने के लिए मजबूर न हों, लेकिन बड़ी आयु के होने पर सब बच्चे संसार में शान के साथ रह सकें, इस दृष्टि से बालकों को सिखाने-पढ़ाने पर बापूजी बहुत शुरू से जोर देते थे। इस सम्बन्ध में बापूजी के कुछ महत्वपूर्ण पत्रों से यह स्पष्ट हो जायगा :

— १ —

चि० छगनलाल, ता० २३-१-०२

तुम्हारी चिट्ठी मिली। पढ़कर खुशी हुई। अंग्रेजी में ही लिखते रहना। मुंशी का वेतन चुका देना। अपनी काकी (कस्तूरबा) के पास से पैसे ले लेना।

चि० गोकलदास और हरिलाल को 'काव्यदोहन' (गुजरात के प्राचीन कवियों द्वारा रचित महाभारत तथा भागवत आदि की कहानियों का संग्रह) से कहानियां सुनाना अच्छा होगा। 'काव्यदोहन' के सभी भाग मेरी पुस्तकों में हैं। उसमें से सुदामाचरित्र, नलाख्यान, अंगदविष्टि आदि आख्यानों को अर्थ के साथ सुनाओगे, तो अच्छा होगा। हरिश्चन्द्र का आख्यान मौखिक या पुस्तक से सुनाना। अंग्रेजी कवियों के नाटक सुनाना फिलहाल आवश्यक नहीं है। उनमें रस भी नहीं आयगा। और हमारे प्राचीन

आख्यानों से जितना सार ग्रहण करना है उतना अंग्रेजी कवियों से मिलने वाला नहीं है। लड़कों का बर्ताव वर्ग में सही रहे, इसके लिए सतर्क रहना। तुम और किसे पढ़ाने जाते हो, लिखना।

एक भी लड़के में कोई बुरी आदत पैदा न हो, इस बात की चौकसी रखना। यह भी ध्यान रखना कि सत्य के प्रति उनका रुख नित्य ही भक्ति-भाव का बना रहे।

पढ़ने के साथ-साथ व्यायाम भी पूरी तरह करवाना।

आदरणीय खुशालभाई और देव भाभी से दंडवत् कहना।

शुभेच्छुक
मोहनदास के आशीर्वाद

— २ —

जोहान्सबर्ग
ता० ५-२-०३

चि० छगनलाल,

मेरा बहुत अनिश्चित है। भरसक कोशिश करने पर भी तुमको संतोष देने वाले समाचार मैं नहीं दे सकता। यदि यहां रहने की बात न हुई तो मार्च में यहां से चल सकने की संभावना है। यदि यहीं रहना होगा तो छः महीने बाद कस्तूरबा आदि को बुला पाऊंगा। तुरन्त बुला लेने का मौका नहीं है। फिर भी यदि कर्तव्य से चूकने की स्थिति न होगी तो भरसक प्रयत्न करके मैं वहीं आऊंगा। यहां पर कोई रेशम की शय्या नहीं है। इससे अधिक निश्चित समाचार मैं अभी नहीं दे सकता।

चि० मणिलाल की पढ़ाई के निमित्त होन वाले वेतन-खर्च की चिन्ता मत करो। उसे वाद्य सीखने के लिए अवश्य भेजो। वहां जाने से उसे रोक लिया, यह ठीक नहीं किया। इसमें तुम्हारा दोष नहीं है, तुम्हारी काकी का है।

शुभेच्छुक
मोहनदास के आशीर्वाद

उक्त दोनों पत्र बापूजी ने दक्षिण अफ्रीका से मेरे पिताजी के नाम बंबई भेजे थे। इससे पता चलता है कि जब फीनिक्स आश्रम की कल्पना भी नहीं थी और रस्किन की पुस्तक को बापूजी ने देखा भी नहीं था, उस समय भी शिक्षण के संबंध में उनके विचार अस्पष्ट न थे, अपितु शिक्षा का आदर्श उनके चित्त में सुस्पष्ट ही था।

परन्तु जब ऊपर के पत्र लिखे तब बापूजी के समक्ष किसी विद्या संस्था या आश्रम को चलाकर बालकों को शिक्षा देने का प्रश्न नहीं था। यह प्रश्न फीनिक्स की स्थापना होने पर उनके सामने आया। फीनिक्स के आरंभ में मैं, देवदासकाका आदि छोटे बच्चे थे। मणिलालकाका बड़े थे। फीनिक्स के सभी बालकों में वह प्रथम विद्यार्थी थे। उनके नाम लिखे गए बापूजी के पत्र में उनकी शिक्षा-विधि अधिक मूर्त्त दीखती है।

— ३ —

प्रिटोरिया का कैदखाना

२५-३-०९

चि० मणिलाल,

जेल में अब मैंने बहुत सारा पढ़ डाला है। मैं इमर्सन, रस्किन, मैजिनी की कृतियां पढ़ता हूं। उपनिषद भी पढ़ता रहा हूं। शिक्षण का अर्थ ज्ञान नहीं है, किन्तु चारित्र्य के विकास या धर्म की भावना की जाग्रति है। इस संबंध में मेरा जो मत है वह इस प्रकार की पढ़ाई से दृढ़ हो रहा है। अपनी गुजराती में उसे हम 'केलवणी' के नाम से जानते हैं। यदि 'केलवणी' (शिक्षण) का उद्देश्य यही है—और मेरी समझ में उसका यही सही उद्देश्य है तो मैं कहूंगा कि तुम उत्तम प्रकार की 'केलवणी' ले रहे हो।

बा की सेवा करके उसके उलहनों को सहन कर लेना, चि० हरिलाल की अनुपस्थिति में चि० चंची (श्रीमती हरिलाल) का दिल दुखे नहीं, इस प्रकार उसकी आवश्यकताओं को अनुमान से समझकर देखभाल करना और रामदास तथा देवदास की संभाल रखना—इस सबसे बढ़कर शिक्षण क्या हो सकता है? इस काम में यदि तुम पार उतरोगे तो तुमने आधी से अधिक 'केलवणी' प्राप्त करली, ऐसा मान लेने में मुझे क्या हर्ज हो सकता है?

उपनिषद पर नाथूराम शर्मा की प्रस्तावना के एक वाक्य का मेरे मन पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। उन्होंने बताया है कि ब्रह्मचर्य की प्रथम अवस्था संन्यस्त की अंतिम अवस्था के समान ही है।

यह बात सर्वथा सही है कि निर्दोष अवस्था में, यानी केवल बारह वर्ष की आयु होने तक ही, मौज की जा सकती है। लड़का जब प्रौढ़ बनता है तब तुरंत ही उसे अपना उत्तरदायित्व समझना-सीखना चाहिए। इस वय के बाद प्रत्येक व्यक्ति को आचार-विचार, सत्य और अहिंसा में संयम की ओर बढ़ना चाहिए। यह काम इस तरह से नहीं करना चाहिए कि चित्त

को थकावट और उकताहट हो, बल्कि स्वाभाविक विनोद से करना चाहिए। मुझे याद है कि जब मैं तुम्हारी आज की आयु से छोटा था तब अपने पिताजी की सेवा-शुश्रूषा करने मे मुझे सच्चा आनन्द मिलता था। बारहवें वर्ष के बाद मैंने मौज-शौक की छाया तक नहीं देखी थी। यदि तुम वास्तविक सद्गुणों का अनुसरण करोगे, अपने जीवन को गुणमय बनाओगे, तो मैं मानूंगा कि तुमने मेरा 'केलवणी' का आदर्श पूरा किया है। इन गुणों से सुसज्ज होकर तुम संसार के किसी भी कोने में चले जाओगे तो अपना गुजारा प्राप्त कर सकोगे और आत्मज्ञ न—ईश्वर ज्ञान—की प्राप्ति की ओर मुड़ सकोगे। इसका यह अर्थ नह है कि तुम्हें अक्षरज्ञान नहीं लेना चाहिए, लेकिन उसे प्राप्त करने के पीछ तुम्हें बेचैन नह. होना चाहिए। उसके लिए काफी मौका रहेगा। फिर भी शिक्षण लेने का हेतु भी यही तो है कि वह सेवा-कार्य में सहायक बने।

यह मत भूलना कि भविष्य में हमारे लिए गरीबी रहेगी। संसार के बारे में मै जितना अधिक सोचता हूं यही समझ में आता है कि धनी होने के मुकाबले गरीब रहने में चित्त को अधिक समाधान मिलेगा। लक्ष्मीनन्दन बनने से, धनकुबेर बनने से, गरीब रहने में सार है। गरीबी के फल अधिक सुन्दर और मीठे होते हैं।

मैं मानता हूं कि जिन्होंने कई युगों के पहले यज्ञोपवीत का त्याग किया है उनका उसे पुनः स्वीकार करना गलत होगा। शूद्र और अन्य सब वर्णों मे जाति-भेद कम नहीं है। इस समय तो यज्ञोपवीत उलटी बाधा डाल रहा है। इस विषय पर भविष्य में विस्तार से चर्चा करूंगा।

—बापू के आशीर्वाद

—४—

चि० मणिलाल,

तुमको क्या करना है—इस सवाल से तुम मायूस हो गए। अगर तुम्हारे लिए मैं जवाब दूं तो कहूंगा कि तुम अपना फर्ज अदा करने वाले हो। फिलहाल तुम्हारा काम अपने माता-पिता की सेवा करना है। इससे आगे तुम्हें चिंतित नहीं रहना। आगे की चिंता तुम्हारे मां-बाप को है। जब वे चल बसेंगे तब वह चिंता तुम पर आयगी। इतना निश्चय तो होना ही चाहिए कि तुम्हें बैरिस्टरी का या डाक्टरी का पेशा नहीं करना है। हम गरीब हैं और गरीब रहना चाहते हैं। पैसे की आवश्यकता केवल भरण-पोषण के लिए होती है। फीनिक्स को उन्नत करना हमारा काम है, क्योंकि

उसके जरिए हम आत्मा को खोज सकते हैं और देश-सेवा कर सकते हैं। इतना यकीन रखना कि मैं निरन्तर तुम्हारे लिए चिन्ता करता हूं।

मनुष्य का असली पेशा यही है कि वह अपने चारित्र्य को ठोस बनाये। धन कमाने के लिए कुछ खास सीखना पड़े, ऐसा नहीं है। जो आदमी नीति का रास्ता कभी नहीं छोड़ता, वह भूखों नहीं मरता। और यदि वैसा समय आता है तो वह डरता नहीं है।

तुम निश्चित रहकर जो अभ्यास वहां हो सके उसे करते रहो। यह लिखते हुए तुमसे मिलकर अपने सीने से लगाने को जी करता है। ऐसा नहीं हो पाता, इसलिए आंख में पानी आ जाता है। यह निश्चय रखो कि तुम पर बापू कभी निर्दयता का बर्ताव नहीं करेंगे। मैं जो कुछ करता हूं, तुम्हारा भला समझ करके करता हूं। तुम जब दूसरों की सेवा कर रहे हो तो तुम्हें कभी मारा-मारा नहीं फिरना पड़ेगा, यह विश्वास रखो।

—बापू के आशीर्वाद

— ५ —

१२-१०-०६

चि० मणिलाल,

तुम किस श्रेणी में हो—इसका उत्तर नहीं दे सकते? अब बताना कि बापू की श्रेणी में हूं। पढ़ने का विचार तुम्हें क्यों आया करता है? अगर कमाने के लिए आता है तो ठीक नहीं है, क्योंकि ईश्वर सबके लिए चारा-दाना दे ही देता है। तुम मजदूरी करके पेट भर सकते हो। फिर हम को तो फीनिक्स में अथवा ऐसे काम में मरना है, जहां पर कमाई की बात की गुंजाइश ही कहां? अगर तुम्हें देश की खातिर पढ़ना है तो वह तो तुम इस समय भी कर रहे हो। यदि आत्मा को पहचानने के लिए पढ़ना है तो उसके लिए अच्छा बनना सीखना चाहिए। तुम अच्छे हो, ऐसा सब कोई कहते हैं। अब रही बात अधिक काम करने के लिए तुम्हारे पढ़ने की। इसके लिए जल्दबाजी की जरूरत नहीं है। फीनिक्स में जो हो सके वह करते रहो। फिर देख लिया जायगा। तुम्हारे लिए मैं चिंता करता हूं यह विश्वास हो तो तुम स्वयं चिंता छोड़ देना।

—बापू के आशीर्वाद

— ६ —

जोहान्सबर्ग
कार्तिक विदी पंचमी १९६६
(सन् १९०९ का अन्त)

चि० मणिलाल,

जबतक नीति को दृढ़ रखोगे और अपने कर्तव्य को पूरा करते रहोगे तबतक मैं तुम्हारे अक्षर-ज्ञान के बारे में निश्चित रहूंगा। शास्त्र में जिन यमनियमों को बताया गया है, उनको कायम रखो तो बस है। अपने शौक के लिए अथवा अपने को अधिक लायक बनाने के लिए अक्षर-ज्ञान बढ़ाओगे तो मैं उसमें सहायक बनूंगा। यदि नहीं बढ़ाते तो उलहना कभी न दूंगा। फिर भी यदि मन में कुछ निश्चय कर लो तो उस निश्चय पर स्थिर रहने का प्रयत्न करना। आजकल तुम प्रेस में क्या कर रहे हो, कब उठते हो, खेती में क्या कर रहे हो, यह लिखना।

—बापू के आशीर्वाद

मणिलालकाका की ही आयु के मेरे छोटे काका श्री जमनादास गांधी फीनिक्स आने से पहले भारत की सरकारी पाठशालाओं के ढंग के एक हाई स्कूल में राजकोट में पढ़ते थे। उनके नाम लिखे गए बापूजी के पत्रों में से कुछ वाक्य उद्धृत करने योग्य हैं:

"मैं स्कूली पढ़ाई के विरुद्ध नहीं हूं, लेकिन उसकी मोहर के विरुद्ध हूं। आजकल के स्कूलों में पहली बाधा यह है कि शिक्षक नीतिवान नहीं होते। दूसरी यह कि बच्चे शिक्षकों से अलग-से रहते हैं। कुछ विषयों के पढ़ने में बेकार समय नष्ट होता है, यह तीसरी और पाठशालाएं अक्सर हमारी हथकड़ी के चिह्नरूप होती हैं, यह चौथी बाधा है।"

दूसरे एक पत्र में बापू ने लिखा है:

"मैं अच्छे स्कूल के विरुद्ध नहीं हूं। लेकिन मेरा विश्वास है कि बहुत सारे लड़कों वाला स्कूल अच्छा हो नहीं सकता। फिर पाठशाला तो वास्तव में वही होती है, जहां पर लड़के चौबीसों घंटे रहते हैं। ऐसा न हो तो शिक्षण दो प्रकार का हो जाता है।"

इन पत्रों में बापूजी ने जो विचार व्यक्त किये हैं उन्हीं की परिपाटी वह फीनिक्स की पाठशाला में कायम करने के इच्छुक थे। एक प्रकार से फीनिक्स का वातावरण उसके लिए विशेष अनुकूल था, क्योंकि वह जंगल में एकान्त बस्ती थी। भारत के देहातों में जो सामाजिक कुरीतियां नजर आती हैं उनकी वहां छाया तक नहीं थी।

: २४ :

मेरी कमजोरी

ऐसे श्रेष्ठ वातावरण में मुझ-जैसे बालक को प्रगति के पथ पर अहर्निश अग्रसर होना चाहिए था; परन्तु गेहूं के खेतों में बथुआ की भांति मेरे चित्तक्षेत्र में कुंठित मनोवृत्ति के अंकुर क्यों जमे, यह समझ में न आने वाली समस्या है। लेकिन यह तथ्य है कि वहां के पुनीत वातावरण में भी अनेक कमजोरियों ने मुझे दबा लिया।

हमारी पाठशाला में मध्याह्न के समय जब छुट्टी होती और मेरी माताजी झरने पर कपड़े धोने के लिए जातीं तब मैं भटकता न रहूं और पढ़ने में चित्त लगाऊं, इस दृष्टि से वह लम्बे लम्बे जोड़-गुणा मुझे करने को दिया करती थीं। जब घर में कोई न रहता तब ये सवाल करते बैठना मेरे लिए कारावास-सा हो जाता था। मेरा जी जल उठता था और मैं स्लेट-पेंसिल को अपना जानी दुश्मन समझता था। जो सवाल पन्द्रह-बीस मिनट का होता, वह मेरे लिए घंटों का बन जाता था। नज़र अंकों पर गड़ी रहतीं, पर सही जवाब क्या है, इसकी सूझ नहीं होती थी। इस पर जब मां लौटकर आतीं और सवाल अधूरे देखतीं तब उनको सन्देह हो जाता कि मैंने सवाल किये ही नहीं, खेलता ही रहा हूं। जो किये होते उनमें भी उनको गलती मिलती और प्रत्येक भूल पर मुझको डाट-फटकार सहनी पड़ती। कुछ दिन बाद मेरे बाल-साथी देवदासकाका और रामदासकाका ने मुझ पर हमदर्दी दिखाई। वे घूमते-घामते मेरे घर की ओर आ निकलते और गणित में मुझे उलझा हुआ देखकर जल्दी-जल्दी सवालों को हल कर के मुझे जवाब बता देते और मैं स्लेट पर उत्तर लिखकर उनके साथ खेलने निकल जाता। जब माताजी लौटकर आतीं और सही उत्तर देखतीं तो प्रसन्न हो उठतीं और मुस्कराती निगाह से मुझे देखतीं। परन्तु उन्हें क्या पता था कि बेटे ने प्रगति नहीं, अधोगति प्राप्त की है।

यह छोटी भूल हो या बड़ी, इसने जीवन-भर के लिए गणित के क्षेत्र में मुझे कमजोर बना दिया। यही नहीं, गणित की चुस्ती खो देने के कारण मैं जीवन की अनेक दूसरी बातों में भी ढीला रह गया।

श्रुतलेख में भी मेरा कच्चापन कभी मिटा नहीं। पिताजी का लेखन बहुत सुन्दर था। मेरे अक्षर खराब न हों, इसके लिए उन्होंने शुरू से ही बहुत ध्यान दिया था, लेकिन पिताजी की यह विरासत मैं नहीं [illegible] सका।

मेरे लिए अक्षर से भी अधिक मुसीबत श्रुतलेख में तथा नकल करने में होनेवाली भूलों की थी। वैसे तो गुजराती भाषा में ह्रस्व-दीर्घ के बारे में शुरू से ही जैसी अराजकता फैली हुई थी वैसी शायद ही किसी अन्य भारतीय भाषा में रही हो। किन्तु मेरी भूलें केवल ह्रस्व-दीर्घ की या युक्ताक्षर की ही नहीं होती थीं। 'आ' और 'ए' की मात्रा की गलतियां भी बहुत होती थीं। लेखन को दो-तीन बार दोहराने पर भी छूटी हुई मात्राएं मेरी नजर में नहीं आती थीं।

गेंद के खेल में भी मैं कच्चा था। फीनिक्स में क्रिकेट का खेल बाकायदा बहुत कम होता था, परन्तु उसका छोटा-सा अनुकरण हम लोग किया करते थे। गेंद के भारतीय खेल भी हम खेलते थे और कई बार मगनकाका भी हमारे खेल में शामिल होते थे। मेरे लिए गेंद का हरएक खेल अक्सर आंसू बहाने का निमित्त बनता था। निशाना लगाने और गेंद पकड़ने के लिए मैं कम फुर्ती से नहीं दौड़ता था। गेंद को ध्यान से देखता था, परन्तु जैसे रेल का प्रवासी भागते-भागते, हांफते-हांफते स्टेशन के प्लेटफार्म पर पहुंच जाय और उसी समय सीटी बजाती हुई गाड़ी प्लेटफार्म छोड़ दे, वैसा ही अन्तर मेरे फैले हुए हाथों और गेंद में रह जाया करता था। मेरी टोलीवालों की नाराजी, मगनकाका का गुस्सा और मेरे मन की निराशा—तीनों के मिश्रित प्रभाव से समझ नहीं पड़ता था कि कहां भाग जाऊं, कहां छिप जाऊं।

श्रुतलेख में और गेंद पकड़ने में जो कमी छोटी आयु से ही मुझमें थी उसका कारण मुझे अपनी बीस-बाईस वर्ष की आयु में अकस्मात् मालूम हुआ, जबकि डाक्टर ने मेरी आंखों के लिए ठीक नम्बर का चश्मा दिया। मैंने देखा कि चन्द्रमा को बिना चश्मे के जिस स्थान पर देख पाता था, चश्मा चढ़ाने पर वह अधिक दाईं ओर दीख पड़ता था और तब मेरी समझ में आया कि वह मेरा दृष्टिदोष था। मैं जिस जगह पर गेंद समझकर हाथ फैलाता था, वहां से वह चार-पांच इंच दाईं ओर होकर निकल जाती थी। लेकिन उस समय मगनकाका भी मेरी उस शारीरिक त्रुटि को समझ नहीं पाये थे।

छोटे बच्चे की आंख के जन्म-जात दोष को सुधारने का प्रयत्न, विशेष रूप से भारत में साधारण स्थिति के माता-पिता के घर करना सम्भव नहीं था। परन्तु फीनिक्स के बालकों की शारीरिक, बौद्धिक आदि शक्तियों का विकास करने के लिए जाग्रत प्रयत्न करने की आकांक्षा पिता-काका के दिलों में पैदा हो गई थी।

बात यह थी कि बचपन में मेरी दाईं आंख की पुतली नाक की ओर के कोने में दबी हुई थी और वहां से हटकर घूम नहीं सकती थी। इस

पर मगनकाका ने मुझे डरबन लेजाकर डाक्टर से एक प्रकार का हरा पट्टा दिलवाया था। अपनी बाईं आंख पर वह मुझे बांधना पड़ता था। इस तरह सही काम करनेवाली आंख को बन्द कर देना मुझे बहुत बुरा लगता था और मौका मिलते ही बाईं आंख पर का वह पट्टा आंख से उतार फेंकता था; परन्तु मगनकाका बड़ी सतर्कता से मुझे ऐसा करने से रोकते थे। इस कठिन अभ्यास का सुफल मुझे यह मिला कि कोने में दबी हुई मेरी दाईं पुतली बाहर निकली और बहुत कुछ स्वाभाविक रूप से काम करने लगी।

यदि फीनिक्स के हमारे शिक्षक अपनी साधना और अन्य व्यवसायों से अधिक समय बचा कर शिक्षण-कार्य के लिए दे सकते तो बहुत संभव है कि मुझ-जैसे बालक की कई कमजोरियां निर्मूल हो सकतीं। फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि नैतिक शिक्षण का जो आग्रह वहां पर बापूजी ने सबके सामने रखा था और गरीबी की जो आराधना की थी उसके कारण शिक्षकों द्वारा पढ़ाई के लिए बहुत कम समय दिये जा सकने पर भी, हम विद्यार्थियों ने वहां पर अच्छे संस्कार के बीज अनायास ही कुछ-न-कुछ अवश्य ग्रहण किये।

: २५ :

निर्भयता की शिक्षा और अभ्यास

छुटपन में बच्चों को भूत-प्रेत और चूहे-बिल्ली के आतंक की कहानियां सुना-सुना कर उनमें भय के संस्कारों की जड़ जमा दी जाती है। ऐसे संस्कारों के कारण उनके भावी जीवन में आत्मबल और निर्भयता-जैसे उन्नत संस्कारों का सर्वथा अभाव हो जाता है। स्वयं बापूजी बचपन में कितने डरते थे, इसका उल्लेख उन्होंने 'आत्मकथा' में विस्तार से किया है। लेकिन वही बापूजी फीनिक्स में छोटे-बड़े सभी आश्रमवासियों को आत्मबल और निर्भयता की किस प्रकार शिक्षा देते थे, उसका विवरण यहां अप्रासंगिक नहीं होगा :

फीनिक्स में आश्रम-स्थापना के प्रारंभिक दिनों की बात है। बापूजी इस भयानक जंगल के खुले मैदान में सोया करते थे। उन दिनों उनका विरोधी दल उग्र बना हुआ था और उन पर खतरा मंडरा रहा था। फलतः उनकी रक्षा के लिए दो-एक बलिष्ठ नौजवान रतजगा किया करते थे।

जब बापूजी को पता चला कि उनकी रक्षा के लिए पहरा दिया जाता है तो उन्होंने उन सेवा-भावी युवकों को पहरा देने से रोक दिया।

जोहान्सबर्ग की बात है। गांधीजी के एक जर्मन मित्र श्री कैलनबैक उनकी रक्षा के लिए उनके पीछे-पीछे चला करते थे। एक दिन अपने दफ़्तर से बाहर जाने के लिए बापूजी ने खूंटी पर से अपना कोट उठाया। बगल की खूंटी पर कैलनबैक का कोट टंगा था। उसकी जेब में रिवाल्वर-सा कुछ दीख पड़ा। गांधीजी ने जेब में देखा तो वह सचमुच ही रिवाल्वर था। उन्होंने कैलनबैक को बुलाया और पूछा, "जेब में यह रिवाल्वर क्यों रखते हो?" कुछ झिझकते हुए कैलनबैक ने कहा, "कुछ नहीं, योंही रखा हूं।"

गांधीजी ने मुस्कराकर पूछा, "रस्किन और टाल्स्टाय के ग्रंथों में कहीं ऐसा भी लिखा है कि बेमतलब ही जेब में रिवाल्वर रखा जाय?"

इस व्यंग्य से कैलनबैक की झिझक और भी बढ़ गई। बोले, "मुझे पता लगा था कि कुछ गुंडे आप पर हमला करने वाले थे।"

"और आप उनसे मेरी रक्षा करना चाहते हैं?" गांधीजी ने गंभीरता से कहा।

"जी।"

कैलनबैग का उत्तर सुनकर गांधीजी खिलखिलाकर हंस पड़े। बोले, "चलो, अब तो मैं पूरा निश्चिंत हो गया। मेरी रक्षा का सारा बोझ परमेश्वर से आपने ले लिया। जबतक आप मौजूद हैं मुझे अपने को सुरक्षित मानना चाहिए।"

कैलनबैक इस व्यंग्य को सुन कर चुप खड़े थे। कुछ रुक कर गांधीजी ने फिर कहा, "क्या सोचते हो? भगवान पर श्रद्धा रखने का यह लक्षण नहीं है। सर्वशक्तिमान प्रभु सबकी रक्षा के लिए सर्वत्र है। इस रिवाल्वर से मेरी रक्षा करने की चेष्टा छोड़ दो।"

"भूल हो गई। अब मैं आपकी रक्षा की चिंता नहीं करूंगा," कैलनबैक ने नम्रता से कहा। और उन्होंने रिवाल्वर को वहां से अलग कर दिया।

इस घटना के बाद बापूजी के प्रति इतना वैमनस्य बढ़ गया कि स्वयं बापू को भी प्राणघातक हमला होने की आशंका जान पड़ी। उन्होंने मगन-काका के नाम लिखे निम्न पत्र में इसका उल्लेख भी किया है:

जोहन्सबर्ग
२१-५-१६०८

चि. मगनलाल,

तुम्हारा पत्र मिला। मेरे लिए चिंता करने की आवश्यकता नहीं है। मैं मानता हूं कि मुझे अपनी बलि चढ़ानी ही पड़ेगी। स्मट्स आखिर तक धोखा दे सकेगा, ऐसा मैं नहीं मानता। लोग अधीर हो उठे हैं। वे मेरे जीवन पर प्रहार करने को तुले बैठे हैं। उनको मौका मिल जाय, और यदि ऐसा हो तो संतोष मानना। जिस बात को मैं कल्पनामय समझता हूं उस बात के लिए जिंदगी की बलि चढ़ानी पड़े तो उससे अधिक सुखद-मृत्यु और कौन-सी हो सकती है!

—मोहनदास के आशीर्वाद

इस पत्र के कुछ ही दिन बाद जोहान्सबर्ग के राजमार्ग पर मीर आलम नामक पठान ने लोहे की सलाख से बापूजी पर घातक प्रहार किया था। यह दुर्घटना सर्वविदित है, लेकिन मीर आलम के प्रति गांधीजी ने जो व्यवहार किया, उससे न केवल वह अपनी करतूत के लिए लज्जित ही हुआ, प्रत्युत उन्हें अपना मार्ग-दर्शक मानने लगा।

अपने हाथ की दसों अंगुलियों की छाप न देने के कारण जब उसे देश-निकाला मिला तो बंबई पहुंचने पर उसने अपनी टूटी-फूटी अंग्रेजी में बापू के नाम एक पत्र भेजा, जिसका सार यहां देता हूं :

"मैं बंबई पहुंच गया हूं। आप कुशलतापूर्वक होंगे। ट्रांसवाल के सारे समाचार मैंने गुजराती अखबार में निकलवा दिये हैं। पंजाब पहुंचने पर वहां के अखबारों में भी निकलवाऊंगा।. . . लाहौर में अंजुमन इस्लाम की बैठक में मैं हाजिर रहूंगा और ट्रांसवाल की सारी खबर सुनाऊंगा। लाहौर जाकर लाला लाजपतराय से मिलूंगा और उनकी राय लूंगा।. . . .सीमा-प्रांत पहुंचने पर सब मित्रों से चर्चा करूंगा और जो बन पड़ेगा, करूंगा।. . . अफगानिस्तान में भी सबको वहां की स्थिति का परिचय दूंगा। श्री काछलिया, उमरजी सेठ, दाऊद मोहम्मद, रुस्तमजी पारसी और सोसाइटी के सब भाइयों से मेरा सलाम कहिएगा और मेरा पत्र मीटिंग में रखिएगा।". .

इससे प्रकट होता है कि एक जानी दुश्मन भी गांधीजी के आत्मबल का लोहा मान गया और उनका अनुयायी बन गया।

यही नहीं कि गांधीजी प्रवासियों को ही इन गुणों के लिए तैयार कर रहे थे, बल्कि इन भावों के पत्र भारत के नोजवानों को भी लिखते रहते थे। मगनकाका से छोटे नारायणदासकाका उन दिनों बंबई में नौकरी करते थे। बापू पत्रों द्वारा अपने आदर्शों का प्रचार किस प्रकार करते थे, इसका पता

निम्न दो पत्रों से चलता है :

लन्दन
७-८-१९०९

चि. नारायणदास,

तुम्हारा पत्र पढ़कर मुझे बहुत आनन्द हुआ। यह मैं जानता हूं कि हिन्दुस्तान के कुछ विद्वान लोग लड़ाई (दक्षिण अफ्रीका में की जाने वाली सत्याग्रह की लड़ाई) का रहस्य समझते नहीं हैं। यह इस बात का सूचक है कि हमारे मूल पूर्वजों ने आत्मबल का जो ज्ञान प्राप्त किया था वह अब दब गया है। उसे फिर से प्रकाश में लाने के लिए धैर्य की आवश्यकता होगी। समय तो जायगा, पर ज्यों-ज्यों समझदारी पैदा होगी त्यों-त्यों आत्मबल की कसौटी चमक उठेगी। मैं जिस आत्मबल के बारे में लिख रहा हूं वह मंदिर आदि में जाने के बाह्योपचार में निहित नहीं है। कभी-कभी तो ऐसे बाह्योपचार उस बल के विरोधी साबित होते हैं। यदि तुम 'इंडियन ओपीनियन' सावधानी से पढ़ते होगे तो यह कथन कुछ अंश में तुम्हारी समझ में आया ही होगा। वहां बैठे-बैठे भी तुम इस बल का प्रयोग कर सकते हो। सत्य और अभय का विकास उसका प्रथम पाठ है।

—मोहनदास के आशीर्वाद

जोहान्सबर्ग,
फागुन बिदी ४, संवत् १९६६
(सन् १९१० का प्रारंभ)

चि. नारायणदास,

तुम्हारा पत्र मिला। वहां रहकर भी तुम यहां के उद्देश्यों में सहायक बन सकते हो। मैं देख रहा हूं कि वहां पर भी हमें बहुत संघर्ष करना पड़ेगा। ऐसा करने के लिए तुम्हें अपना चारित्र्य सुदृढ़ करना चाहिए। तुमने हमारे धर्म के मूल तत्वों को जान लिया है? यदि तुम कहो कि मैं तो सारी गीता मुखपाठ कर चुका हूं, उसका अर्थ भी मुझे आता है, धर्म का मतलब जानता हूं, तो फिर इस प्रश्न को स्थान ही कहां रहता है ? लेकिन मूलतत्व जानने से मेरा मतलब है उसके अनुसार आचरण करना।

"दैवी सम्पत्ति में प्रथम गुण अभय है"—यह श्लोक तुमको याद होगा। तुमने अभयदान को थोड़े अंश में भी पा लिया है ? जो करना उचित समझो, उसे करने के लिए निडरतापूर्वक देह पड़ने तक भी प्रयत्न करोगे ? जब तक इस अंश तक अभय पद को प्राप्त न कर लो, तबतक उसका सेवन करते हुए उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते रहना। इतना करोगे तो तुम बहुत कुछ कर सकोगे। इस सम्बन्ध में प्रह्लाद, सुधन्वा आदि के दृष्टांतों को

तुम्हें याद करना चाहिए। ये सब दन्तकथाएं हैं, ऐसा मत मानना। हिंद के पुत्र ऐसे काम करने वाले हो गए हैं। इसीलिए उन आख्यानों को आज हम कंठस्थ करते हैं। आज भी प्रह्लाद और सुधन्वा, हरिश्चन्द्र और श्रवण भारत में नहीं हैं, ऐसा मत समझना। जब हम उस योग्य बनेंगे तब उनसे हमारी भेंट हो जायगी। वे बम्बई की अट्टालिकाओं में कभी नहीं आयंगे। पत्थर की जमीन में गेहूं की पैदावार की आशा करना व्यर्थ है। बम्बई में रहना हो तो यह बात मन के साथ दृढ़ कर लेनी चाहिए कि बम्बई नरक की खान है। वहां रहने में कोई सार नहीं है।

—मोहनदास के आशीर्वाद

इसके अलावा, आश्रमवासी बच्चों को निर्भयता की शिक्षा देने एवं अभ्यास कराने का वर्णन भी रोचक है। जब मैं मुश्किल से सात-आठ बरस का था, तब उस सूने जंगल में रात के समय घर के बड़े लोग मुझे अकेला छोड़-कर चले जाते थे और बापूजी के घर से पहर भर रात बीते लौटते थे। इस बीच में अंधेरे घर में निर्भय होकर सोया रहता। इसी प्रकार मुझे सर्वथा निडर बनाने के लिए मगनकाका ने भी विशेष यत्न किये। वह मुझे गहरे अंधेरे में करीब आधा फर्लांग की दूरी पर देवदासकाका के यहां संदेश देने भेज देते और जब मैं निडरतापूर्वक संदेश देकर लौट आता तो मेरी पीठ थपथपाते।

धीरे-धीरे यह क्रम रात में ढाई मील की दूरी तक जाने का हो गया और इस प्रकार बचपन में ही निर्भयता के संस्कार मुझमें पनप गए।

इन्हीं दिनों की एक अन्य घटना है, जिसके कारण मेरे बाल-हृदय पर पिताजी के साहस का गहरा प्रभाव पड़ा था। एक दिन रात को दो-ढाई बजे वह डरबन से प्रायः १६ मील की लंबी यात्रा करके बीहड़ और सुनसान जंगल से होकर साइकल द्वारा पहाड़ी के ऊबड़-खाबड़ रास्ते से घर आये थे। बापूजी ने उनको आधी रात में डरबन से फीनिक्स जाने की आज्ञा दी थी। अगले दिन सवेरे ३०-४० अतिथियों को लेकर बापूजी फीनिक्स पहुंचने वाले थे। पिताजी के फीनिक्स पहुंचने पर बापूजी के आदेशानुसार मेहमानों के लिए तत्काल रसोई करने का काम कस्तूरबा मेरी माताजी और दूसरों ने शुरू कर दिया।

दिन निकलते ही बापूजी अपने मेहमानों के साथ फीनिक्स आ पहुंचे और समय पर सब को भोजन मिल गया।

: २६ :

दुराग्रह की हद

फीनिक्स के जिस वातावरण में मेरा बचपन बीता उसमें झूठ बोलने का संस्कार ग्रहण करने की बात थी ही नहीं। वहां जो लोग थे उनका व्यवहार सरल था। कोई किसी से छल-कपट नहीं करता था। माता, पिता, काका आदि घर के बड़े, अपने-अपने नित्य के जीवन में सदाचारी और धर्मभीरु थे। फिर बापूजी का प्रभाव सारे फीनिक्स पर और हमारे घरवालों पर इतना अधिक था कि प्रतिदिन सत्यनिष्ठा और जीवन की पवित्रता को बढ़ाने का आग्रह प्रत्येक व्यक्ति के मन में गहरी जड़ पकड़ता जा रहा था।

ऐसे पुनीत वातावरण में सच को छोड़कर झूठ को पकड़ने की मेरी वृत्ति न जाने कैसे पनप रही थी। छोटी-छोटी बातों में मैं झूठ बोल देता और घर में बड़ों के लिए यह बड़ी समस्या बन गई थी कि मुझ से झूठ बोलना कैसे छुड़ाया जाय?

एक बार झूठ बोलकर मैंने मगनकाका के प्रकोप को अत्यंत बढ़ा दिया। घटना यों हुई: फीनिक्स में हमारा रसोईघर छोटा था, परन्तु वह बहुत स्वच्छ रहता था। अन्न-भंडार, बरतन मलने और हाथ-मुंह धोने की व्यवस्था इत्यादि भी उसी चौकोर कमरे में थी। एक दिन दोपहर के समय मेरी माताजी और काकी फीनिक्सवासी अन्य परिवारों में मिलने-जुलने के लिए गई हुई थीं और घर में मैं अकेला इधर-उधर उलट-पुलट कर रहा था। तभी घूमते-घामते देवदासकाका, रामदासकाका आदि दो-तीन लड़कों की मंडली हमारे यहां आ पहुंची। इन सबको चमत्कृत करने के लिए न जाने क्यों एकाएक मुझे एक नई बात सूझी। मैंने उनसे कहा, "चलो, एक खेल करें।" मैं आगे बढ़ा और सब मेरे पीछे-पीछे रसोईघर में आये। रसोईघर में घुस कर मैं एक मेज पर चढ़ गया और काफी ऊंचाई पर अपना हाथ पहुंचा कर मैंने टांड़ से लाल दवाई की एक बड़ी-सी पुड़िया निकाली। पुड़िया लेकर मैं मेज से उतरा और रसोईघर के कोने में रखे हुए पानी के पीपे के पास गया। उसमें हाथ-मुंह धोने का पानी रहता था और उसमें पीतल की टोंटी लगी हुई थी। पीपे का ढक्कन उठाकर मैंने अपने पास की लाल दवा—परमेंगनेट पोटाश—की पुड़िया से आधी दवा पानी में डाल दी। करीब तीन-चार बड़ी चम्मच के बराबर दवा उस दो-चार बाल्टी पानी में डालकर मैंने उसे कड़छुल से हिला दिया। उसके बाद टोंटी खोल दी। लाल पानी

की जलधारा उसमें से बह चली। उसमें अपने हाथ भिगोने के लिए मैंने सबको आमंत्रित किया। सभी लड़के बड़ी प्रसन्नता से देर तक यह तमाशा देखते रहे। आधे से ज्यादा पीपा खाली हो गया तब नल बंद करके और रसोई बन्द करके हम लोग बगीचों में खेलने को चल दिए।

मगनकाका रोज के नियम के अनुसार, काम से लौटने पर रसोईघर के उस पीपे के पास, हाथ-मुंह धोने के लिए आये। उनको वहां देखकर मैं सहम गया और उनकी निगाह बचाकर दूसरे कमरे में चला गया। मिनट-दो-मिनट ही बीते होंगे कि मगनकाका की आवाज सुनाई दी, "किसने यह पानी बिगाड़ा है?" मेरी काकी और मेरी माता दोनों अपने-अपने काम में लगी थीं। पीपे के पानी के लाल होने की बात का उन्हें पता भी नहीं था।

मगनकाका ने मुझे बुलाकर पीपे का वह पानी दिखाया और पूछा, "यह किसने बिगाड़ा है?"

"मुझे पता नहीं," मैंने साहस के साथ जवाब दिया।

"पता तो तुझे होना चाहिए; घर में तेरे अलावा और कौन है जो ऐसा करता?" काका ने कहा।

"हम सब यहीं खेलते थे। पर इसका मुझे पता नहीं।"

"तो क्या अपने-आप यह पानी रंग गया? तुममें से ही किसी ने इसमें रंग डाला होगा।"

"मुझे पता नहीं।"

काका ने और बहुत से सवाल किये, पर मैं अपनी बात पर डटा रहा।

तब उन्होंने डांट-डपट की, मेरे कान ऐंठे और चपतें लगाईं। परन्तु मैं अपने निश्चित उत्तर से जरा भी नहीं हटा। मैंने सोचा कि मार तो हर हालत में पड़ेगी ही। अपने मुंह अपने-आपको झूठा क्यों स्वीकार करूं? झूठ दोहराता रहूंगा तो वह सच मान लिया जायगा।

इधर मेरी जिद का जोर बढ़ता गया, उधर मगनकाका का चित्त मुझे सुधारने के लिए जोर पकड़ता गया। झूठ बोलने की मेरी यह बुराई कैसे मिटाई जाय, इस चिंता ने उनके हृदय को दुखी बना दिया। थप्पड़ों से जब मैं बाज नहीं आया तब वह मुझे घर से बाहर ले गए और बगीचे में बनी एक टट्टी में बंद कर दिया। मैं डरा नहीं और न सच बोलने की अक्ल ही मुझमें आई। थोड़ी देर बाद काका ने मुझे बाहर निकाला और सच कहलवाने के लिए बड़ी मीठी आवाज से उलट-पुलट कर प्रश्न किये। परन्तु मैं उनकी सारी बातें पी गया। फिर सजा मिली, पर मैं अपनी बात पर अडिग बना रहा। काका बहुत दुखी हुए।

काका-भतीजे के बीच का यह द्वन्द्व कोई डेढ़-दो घंटे चलता रहा। तब मेरी माताजी आईं और आंखों में आंसू भरकर बोलीं, "बालक को कहीं ऐसी सजा दी जाती है!" इतना कहकर वह मुझे हाथ पकड़कर ले गईं।

अपने दुराग्रह में मैं उस समय भले ही अपनी बात पर अड़ा रहा, पर मैं आज अनुभव करता हूं कि वह मेरी भयंकर भूल थी और मगनकाका ने जो किया वह बिल्कुल ठीक था। सत्य-पालन पर बिना इतना आग्रह रखे आश्रम की नींव पक्की नहीं हो सकती थी। मैंने झूठ बोला और मगनकाका आदि को इतना दुखी किया, इसका आज भी मुझे पछतावा है।

यह मगनकाका की महानता थी कि उस दिन के बाद उन्होंने कभी मेरे शरीर को हाथ नहीं लगाया। शायद उन्होंने यह भी निश्चय कर लिया कि आगे किसी भी बालक को न पीटा जाय।

इस प्रसंग के बाद मेरे मन को भी कुछ नया प्रकाश मिला। मेरे मन में यह भावना पैदा हुई कि घरवालों को कितना अधिक दुखी कर रहा हूं। उस दिन से पहले मेरे मन में भावना थी कि मैं सबकी डांट-फटकार के ही योग्य हूं और सबका अप्रिय हूं, परन्तु अब यह बात ध्यान में आई कि घर में मेरा स्थान कम नहीं है। माता के वात्सल्य ने और मगनकाका की क्षमा ने मेरे कठोर मन को पिघला दिया।

: २७ :

स्वदेशी की उपासना

बापू ने जब सर्वोदय के सिद्धांत लोगों के सामने रखे तब श्रम और त्याग को उन्होंने बहुत महत्व दिया। परन्तु घर में या संस्था में स्वदेशी यानी भारत की बनी चीजें बरतने की बात पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया था। यही नहीं, अंग्रेजी वेशभूषा के बारे में वह काफी सावधान थे। आगे चलकर जब उन्होंने स्वावलम्बन और सादगी पर ध्यान दिया तो स्वदेशी का मार्ग खुल जाना स्वाभाविक था।

आश्रम के नित्य के जीवन में स्वदेशी का पालन विधिवत रूप से अहमदाबाद में आश्रम की स्थापना होने पर शुरू हुआ। लेकिन जिस प्रकार

किसी वृक्ष के भूमि की सतह के ऊपर फलने-फूलने से पहले उसकी तैयारी होती है, उसी प्रकार स्वदेशी के लिए अभी से तैयारी हो रही थी।

एक दिन हमारे घर में कुछ नया सामान आया। पिताजी, मगनकाका मणिलालकाका और दो-एक अन्य फीनिक्सवासी उस नये सामान को उलट-पुलट कर बड़े ध्यान से देखते रहे। मुझे कुछ ऐसा स्मरण है कि उस सामान में कपड़े के दो-चार थान और अगरबत्ती, आदि छोटी-मोटी चीजें थीं। एक-एक चीज देखने के साथ-साथ उस पर चर्चा भी होती।

इसी बातचीत के सिलसिले में प्रथम बार मैंने बंगाल और पंजाब का नाम सुना। यह भी सुना की बंगाल में स्वदेशी कपड़े ही पहनने का प्रचार अधिक है। अब स्वदेशी माल खरीदने की चर्चा हमारे घर में होने लगी। मुख्यत: मणिलालकाका और मगनलालकाका ने उन स्वदेशी वस्तुओं की विशेष प्रशंसा की और दक्षिण अफ्रीका में रहते हुए भी अपने भारत देश का बना माल भविष्य में खरीदने का उत्साह प्रदर्शित किया।

कपड़े के जो थान आये थे उनमें खाकी जीन और मद्रासी कपड़े को अधिक पसन्द किया गया। इन दोनों कपड़ों का रंग फीका और मटमैला था। विलायत के बने जो कपड़े हम घर में बरतते थे उनकी तुलना में इन कपड़ों का रंग और चमक बहुत घटिया थी। फिर भी अपने देश की बनी इन स्वदेशी चीजों का मेरे चित्त पर गहरा प्रभाव पड़ा।

फीनिक्स के वातावरण में उस समय अपने देश के प्रति श्रद्धा-भक्ति की लहर जोरों पर थीं। जहां तक मुझे याद है, बापूजी और हरिलाल-काका तब ट्रांसवाल में जेल काट रहे थे। हरिलालकाका की पत्नी, जिनको मैं अपने मातृपक्ष की अत्यधिक निकटता के सम्बन्ध के कारण गुलाब मौसी कहता था, उन्होंने तथा मेरी माता ने मिलकर एक छोटा-सा गीत लिखा। उसका भाव था: देश-हित के लिए दौड़ो। तन-मन-धन को अर्पण कर जेल-महल में जाकर आनन्द करो। पू० कस्तूरबा और फीनिक्स की अन्य माताएं दोपहर बाद इकट्ठी बैठकर इस गीत को बड़े मधुर और गद्गद कंठ से गाती थीं। मैं बड़ी श्रद्धा से उसे सुनता था और खेल-कूद के समय उसे गुनगुनाया करता था। इस भजन के सरल शब्दों का मेरे मन पर जैसा गम्भीर प्रभाव पड़ा, वैसा ही गम्भीर प्रभाव पिताजी और काका की उस एक ही दिन की स्वदेशी वस्तुओं के सम्बन्ध की बातचीत का भी पड़ा। स्वदेशी के प्रति अपनेपन की भावना तभी से मेरे मन पर गहरी अंकित हो गई और तब बढ़िया-से-बढ़िया और चमकीला विलायती माल भी मेरे लिए इतना चित्ताकर्षक नहीं रह गया, जितना पहले था।

एक बात हमारे घर में अच्छी थी और वह यह कि जो कुछ नया परिवर्तन घर में करने का विचार अपनाया जाता था उसमें दो रायें क्वचित् ही होती थीं। पिताजी और काका दोनों ही नये परिवर्तन को लाने में सहयोग से काम करते थे और मेरी माताजी व काकी भी नई बात को अपनाने में पूरा मन लगाती थीं। इन सबमें मगनकाका सबसे आगे रहते थे और उनका सुझाव सब स्वीकार कर लेते थे। 'स्वदेशी' की ओर मुड़ते ही घर के लिए खरीदी जाने वाली चीजों पर मगनकाका ने कड़ी छानबीन शुरू कर दी। कपड़े का रंगढंग बदल दिया गया। मेरे लिए गहरे नीले रंग का मखमल का बना हुआ चमकीला 'सेलर्स सूट' (नाविक के पहनने के नमूने का कोट-पतलून) सिलवा दिया था, वह अलग कर दिया गया। खाकी कपड़े का जो स्वदेशी थान आया था, उसके मेरे लिए कोट और नेकर घर में ही बनवाये गए। उस कपड़े को काटकर सीने के लिए कई दिन तक संध्या के समय स्वयं मगनकाका, मेरी माताजी और काकी का सम्मिलित प्रयत्न चलता रहा। तीनों ने एक-दूसरे को सीना-काटना सिखाया और एक अच्छी-खासी कपड़े की जोड़ मेरे लिए तैयार हो गई। सेलर्स सूट मुझे बहुत प्रिय था, परन्तु जब घर का बना हुआ यह सादा कोट-नेकर तैयार हो गया तब उसे पहनकर मुझे ऐसा लगने लगा कि अब मैं छोटे लड़के से बड़ा आदमी बन गया हूं। कुछ दिन बाद जब हम लोग डरबन गये तब वहां के जान-पहचान वाले गुजराती मित्र और व्यापारियों ने मगनकाका के कौशल और साहस की बड़ी प्रशंसा की। वैसे डरबन नगर में जहां बच्चा-बच्चा भी इंग्लैंड के बने श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ सूट-बूट में बनठनकर घर से बाहर कदम रखता था, मेरी घर की सिली हुई खाकी व मोटी खुरदरी पोशाक कुछ विचित्र-सी दीख पड़ती थी. परन्तु स्वदेश-प्रेम, स्वदेशी की धुन और अपने पुरुषार्थ से अपनी चीज तैयार करने की निष्ठा को देखकर सभी भारतीय मित्रों में फीनिक्स के इस काम का स्वागत ही हुआ।

छोटे नाप के मेरे कपड़े बनाने में सफलता मिल जाने पर मगनकाका ने बड़ी कमीजें और कोट-पतलून बनाने का प्रयोग किया। बाजार से तैयार सिलेसिलाये कपड़े लाना प्रायः बन्द ही हो गया। कपड़ों के सम्बन्ध में आग्रह रखा गया कि वह अहमदाबादी मिल का ही हो। यहां तक कि इंग्लैंड की बनी नेकटाई पहनना भी मगनकाका ने त्याग दिया। विलायती नेकटाई के बदले रंगीन धागे से मेरी काकी द्वारा जालीदार नेकटाई तैयार करवाई और जबतक सूट-बूट रहा, डरबन जाते समय वही नेकटाई लगाते रहे।

कपड़ों की तरह और भी चीजों के प्रयोग के सम्बन्ध में देसी ही

खरीदने और बरतने का प्रयास बढ़ता गया। उसके बदले घर में ही मगन-काका ने बढ़ई के औजार बनाये और छोटी अलमारी, मेज, चौकी आदि चीजें अपने हाथ से बनाने लगे।

: २८ :

प्रतिज्ञा का बल

प्रतिज्ञा-पालन के सम्बन्ध में बापूजी बहुत ही कट्टर थे। जिस प्रकार भरत की प्रार्थना, विनती, तर्क आदि सबकुछ रामचन्द्र के सामने व्यर्थ सिद्ध हुए उसी प्रकार प्रतिज्ञा-पालन के सम्बन्ध में बापूजी के आगे उनके साथी-सम्बन्धी और अनुयायियों की सारी दलीलें और अपनी कमजोरी की स्वीकृतियां बिल्कुल बेकार साबित होती थीं। अपने निकट का कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कोई भी क्यों न हो, प्रतिज्ञा की मर्यादा का उल्लंघन करने की कोशिश करता तो बापूजी अत्यन्त दुखी होते।

बापूजी शुरू से ही अपनी संस्थाओं के कर्मचारियों को छोटी-मोटी प्रतिज्ञाएं लेने के लिए लगातार प्रोत्साहन दिया करते थे और फिर प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए उन्हें विवश कर देते थे। 'सादा जीवन और ऊंचे विचार' के ध्येय को अमल में लाने की निष्ठा से, जिन व्यक्तियों ने फीनिक्स में बसने का, बापूजी का आमंत्रण स्वीकार किया था, उनमें से सभी लोग बहुत दिनों तक फीनिक्स में नहीं टिक पाये।

जिन व्यक्तियों ने बापूजी के साथ रहकर प्रतिज्ञाएं लेने तथा उनका पालन करने का अभ्यास डाला, वे ही लोग धीरे-धीरे बापूजी के आश्रम-वासी बन गए। बापूजी का विश्वास था कि "जो मनुष्य व्रतबद्ध नहीं रहता वह किसी भरोसे का नहीं होता।" अपने सहकारियों और विद्यार्थियों को बापूजी इसी पैमाने से नापते थे।

वास्तव में बापूजी के पास संस्था-संचालन के लिए प्रतिज्ञा-पालन ही सबसे बड़ी निधि थी। वर्षा ऋतु के बादलों की तरह जब भावनाओं का जोर बढ़ जाता है तब किसी भी संस्था की स्थापना सहज में हो जाती है, परन्तु थोड़ा समय बीत जाने पर लोगों का जोश ठंडा पड़ जाता है। एक ओर कार्य-भार बढ़ता जाता है, दूसरी ओर कार्यकर्ताओं का आपस में मेलजोल

घटने लगता है और तीसरी ओर आर्थिक कठिनाइयां बढ़ जाती हैं। फीनिक्स की संस्था के संचालन में भी बापूजी को इन कठिनाइयों का सामना कम नहीं करना पड़ा। इस पर एक विशेष कठिनाई बापूजी के लिए यह थी कि फीनिक्स से तीन-चार सौ मील दूर ट्रान्सवाल में राजनैतिक संघर्ष में उन्हें अपना अधिकतर समय लगाना पड़ रहा था। इस मुसीबत में भी बापूजी ने फीनिक्स के ध्येय की ओर संस्था की प्रगति को शिथिल नहीं होने दिया। एक बार जिस ऊंचे विचार को अपना लिया उस विचार पर प्रतिज्ञापूर्वक डटे रहने की बापूजी की निष्ठा ने 'फीनिक्स' के विकास के मूल-स्रोत का काम दिया।

अपने नित्य जीवन में छोटी और बड़ी बातों पर प्रतिज्ञा-बद्ध रहने की बापूजी की लीक पर चलने का सफल प्रयत्न करने वालों में उस समय श्री कैलनबैक और मगनकाका मुख्य थे। इन दोनों ने बापूजी का विश्वास अधिक सम्पादन किया था। श्री कैलनबैक ट्रान्सवाल में अहर्निश बापूजी के साथ रहते थे और बापूजी के प्रत्येक काम को पूरा करने में सहयोग देते थे। मगनकाका फीनिक्स में रहकर अपनी सूझ-बूझ से बापूजी के निर्देश का भरसक पालन करते थे। इसलिए दोनों को क्रमशः बापू के हनुमान और लक्ष्मण का उपनाम विनोद में दिया जाता था। मगनकाका के नाम बापूजी का लिखा हुआ एक पुराना पत्र नीचे दिया जाता है। उस पर चैत्र सुदी सप्तमी की तिथि है, पर वर्ष नहीं है। संदर्भ से वह सन् १९०९ में लिखा प्रतीत होता है।

चैत्र सुदी ७

चि. मगनलाल,

तुम्हारे हिसाब से आज सप्तमी होनी चाहिए। छगनलाल के पत्र पर पड़ी हुई तिथि से मालूम होता है कि तुम्हारी व मेरी तिथि एक ही है। साथ वाले दोनों पत्र कल लिखे गए थे। तुम्हारा पत्र आज मिला। ठीक किया जो तुमने लिखा। मेरे पत्रों के मिलने के बाद भी तुम ऐसा ही पत्र लिखते। तुम लक्ष्मण तो हो ही, लेकिन ऐसा सुदृढ़ पत्र लिखकर तुमने भरत का काम किया है। जैसे-जैसे मैं विचार करता हूं, मुझे. . .की इस दीनता को देखकर रोने का जी होता है। एक बार. . . .ने मुझे निराश किया था, मैं रोया था।. . .ने चोरी करके मुझे धोखा दिया तब रोया था। आज फिर मेरी ऐसी स्थिति. . .ने की है। उनके ऊपर मेरी इतनी श्रद्धा और प्यार है कि उन्होंने जो अनुचित किया वह खुद मैंने किया हो, ऐसा मुझे महसूस हो रहा है। सवेरे भजन करने के बदले मन उसी विचार में उलझ गया।. . .को फीनिक्स छोड़ना था तो ठीक तरह से छोड़ा जा सकता था। इस समय तो वह साधारण नीति में भी चूक गए हैं। हद हो गई है।

इससे समझना चाहिए कि अभी और कितनी साधना करना बाकी है। इससे यह भी सूचित होता है कि मनुष्य को प्रतिज्ञा लेने की आवश्यकता है। जो करना हो उसके लिए मन को दे डालने का नाम है प्रतिज्ञा। मन को मुक्त रखने से सैकड़ों विघ्न आते हैं। प्रतिज्ञा प्रगति की कुंजी है। "मुझ से बन पड़ेगा तबतक मैं मांस नहीं खाऊंगा," ऐसा दरिद्र वचन मुझे मांस खिलाकर छोड़ेगा। "देह के गिरने पर भी मैं मांस नहीं खाऊंगा," ऐसा दृढ़ वचन मुझे बचायगा और ऊंचे ले जायगा। जिन तीन प्रतिज्ञाओं को विलायत जाते समय मैंने लिया था उन्होंने मुझे बचाया है।...ने ऐसी सुदृढ़ प्रतिज्ञा नहीं ली है। फीनिक्स में रहने के बारे में यद्यपि...ने मुझे जताया तो यह कि उन्होंने प्रतिज्ञा ली है, किन्तु उन्होंने अपने मन से प्रतिज्ञा नहीं ली दीखती, अन्यथा आज उनकी यह हालत न होती।

यदि चाहो तो इस पत्र को और साथ के दूसरे दोनों पत्रों को भी... के पास भेज सकते हो।

—मोहनदास के आशीर्वाद

: २६ :

सेवा सर्वोपरि

'स्वदेशी' की उपासना शुरू होने के कुछ महीने बाद पिताजी के साथ हमारे स्वदेश आने की बातचीत चली, परन्तु मि. वेस्ट के बीमार पड़ जाने के कारण आठ-नौ महीने हमें रुक जाना पड़ा। पिताजी और मि. वेस्ट दोनों 'इन्डियन-ओपीनियन' के संयुक्त व्यवस्थापक थे और दोनों एक साथ छुट्टी पर नहीं जा सकते थे। फिर मि. वेस्ट की बीमारी इतनी बढ़ गई थी कि उनकी तीमारदारी के लिए हर घर से बारी-बारी एक फीनिक्स-वासी को उनके बिस्तर के पास उपस्थित रहना आवश्यक था। फीनिक्स में डाक्टर-वैद्य की सुविधा नहीं थी, परन्तु बीमार की परिचर्या और शुश्रूषा में प्रमाद न हो, इसकी सावधानी बापूजी पूरे आग्रह से रखवाते थे। बापूजी ने मणिलालकाका के नाम जो दो पत्र लिखे हैं, उनसे इस संबंध में उनकी सजगता का अच्छा परिचय मिलता है।

१७-६-०६

चि. मणिलाल,

परोपकार करना, दूसरों की सेवा करना और ऐसा करने में अपने को रत्ती-भर भी बड़ा न मानना यही सच्ची शिक्षा है। यह बात अपनी आयु के बढ़ने के साथ तुम अनुभव करोगे। बीमार आदमी की सेवा करने के बराबर दूसरा उत्तम मार्ग क्या हो सकता है? धर्म का बहुत-सा अंश इस मार्ग में आ जाता है।

मि. वेस्ट को मुर्गी का शोरवा आदि हमने दिया, उसका विचार निष्पक्ष बुद्धि से करना आवश्यक है। बा को ऐसा शोरवा दिये बिना यदि उसके शरीर का अन्त हो जाता तो वह मुझे मंजूर था। परन्तु बा की स्वीकृति के बिना उसे मैं कदापि नहीं देने देता। देखो, देह को आत्मा से बढ़कर प्यारा नहीं होने देना चाहिए। देह से आत्मा को जो अलग पहचानता है वह देह की हिंसक रक्षा नहीं करेगा। यह सब अति कठिन बात है, किन्तु जिसके संस्कार अत्यंत पवित्र हैं वह उसे सहज बुद्धि से समझता है और इसका आचरण करता है। देह में रहकर ही आत्मा भला या बुरा कर सकती है, यह धारणा बहुत ही गलत है। इस धारणा से संसार में घोर पाप हुए हैं और हो रहे हैं। देह तो दमन करने के लिए हमें मिली है।

—बापू के आशीर्वाद

१२-१०-०६

चि. मणिलाल,

तुम मि. वेस्ट और दूसरों की सेवा करते हो यह तुम्हारी सर्वोत्तम पढ़ाई है। जो आदमी अपने कर्त्तव्य का पालन करता है वह निरन्तर पढ़ता ही है। तुम जैसा लिख रहे हो, अध्ययन को तुम्हें छुट्टी देनी पड़ रही है, यह सही नहीं है। तीमारदारी करने में तुम अध्ययन ही कर रहे हो।

अक्षरज्ञान को छोड़ना पड़ रहा है, यह सही बात है, पर सेवा का अवसर बार-बार नहीं मिलता। अक्षरज्ञान बाद में लिया जा सकता है। मन में यह विश्वास रखो कि जब तुम्हारा मन स्वच्छ है तो बीमार की सेवा के कारण तुम बीमार नहीं पड़ोगे। यदि बीमार हो भी गए तो मैं चिन्तित नहीं होऊंगा। अपना रहन-सहन सुधारना, यही अध्ययन है, दूसरा सब मिथ्या है।

बापू के आशीर्वाद

इन पत्रों से प्रकट होता है कि ट्रान्सवाल में अत्यधिक व्यस्त होते हुए भी फीनिक्स की छोटी-मोटी बातों से बापूजी पूरे जानकार रहते थे। अपने

लिए, अपने पुत्र के लिए और मगनकाका-जैसे अपने परिवार के युवकों के जीवन में त्याग और सेवा का आग्रह बढ़ाते जाते थे। स्वयं अहिंसा के कट्टर उपासक थे, फिर भी बीमार अंग्रेज मित्र को मांसाहार पहुंचाने की व्यवस्था करने की महान उदारता बापूजी के हृदय में थी।

मि. वेस्ट की बीमारी साधारण नहीं थी। मेरा ख्याल है कि गम्भीर प्रकार के 'टाइफाइड' के रोग से वह पीड़ित थे। सोलह-सत्रह वर्ष की आयु के अपने होनहार पुत्र को उनकी सेवा में लगाए रखने का महान साहस बापूजी-जैसे असाधारण पिता ही कर सकते हैं। यह भी बापूजी की छत्रछाया का प्रताप था कि पूरा भारतवासी परिवार एक अंग्रेज साथी की पूरी आत्मीयता से परिचर्या करे।

जबतक मि. वेस्ट अपनी लम्बी बीमारी से उठे नहीं तबतक तो पिताजी का फीनिक्स से बाहर निकलना शक्य नहीं रहा। बाद में फीनिक्स से चलने की तैयारी हो ही रही थी कि अकस्मात् मेरा छोटा भाई जल गया। एक दिन मध्याह्न के समय हम सब भोजन करने के लिए रसोईघर के साथ वाले बरामदे में बैठे थे। रसोईघर के सभी बरतन फर्श पर कायदे से रखकर पिताजी ने हम बच्चों को अपनी-अपनी थाली पर अर्ध गोलाकार ढंग से बिठाया और परोसने लगे। रोटी मिल जाने पर 'दाल-दाल' कहता हुआ कृष्णदास दाल की पतीली पर लपका और अपने-आप ढक्कन खोलने लगा। तीन वर्ष का बच्चा तो वह था ही। ढक्कन खोलने के झटके से वह जमीन पर गिर पड़ा और पतीली भी उलट गई। गरम-गरम दाल उसके कपड़े पर गिरी। पिताजी ने बड़ी शीघ्रता से कृष्णदास को उठा लिया और उसका कपड़ा उतार दिया, परन्तु कपड़ा उतारने में कृष्णदास के कंधा, गाल, कान आदि बुरी तरह से झुलस गए।

हाथ-के-हाथ घर में जो बना इलाज किया गया। जल जाने का विशेष उपाय वहां कोई नहीं जानता था। मगनकाका डरबन गये और दवाई ले आये। उन्होंने बताया कि चूना और तैल का मिश्रण है। जलने की जगह पर इस तेल की पट्टी बांधी गई। इतनी भारी पीड़ा रोये-कराहे बिना चुपचाप कृष्णदास सहता रहा। चार-पांच दिन तक घर में सब बहुत चिन्तित रहे। बाहर बड़ी तेज हवा चल रही थी और कृष्णदास के जलने के घावों को हवा से बचाना बहुत आवश्यक था। प्रायः सात-आठ दिन तक सुबह से शाम तक मुझे उसकी खाट के पास रहना पड़ा। उसकी पीड़ा को देखकर क्षण-भर भी वहां से हटने की इच्छा मुझे नहीं होती थी। खेल-कूद सब भूल गया। बीमार की सेवा का यह प्रथम अनुभव मुझे सदा याद रहेगा।

एक बार आश्रम की प्रार्थना में प्रवचन करते हुए बापूजी ने कहा था, "जब हम किसी बीमार की सेवा करें तब हमारे मन में इस प्रकार की भावना पैदा होनी चाहिए कि ईश्वर करे उस रोगी की सारी पीड़ा मुझे मिल जाय और उसकी वेदना दूर हो जाय।" बापू का यह आदर्श वचन बताता है कि दूसरों के सुख-दुःख को उन्होंने कितना आत्मसात् कर लिया था।

: ३० :

फीनिक्स आश्रम की समस्याएं

राजनैतिक संघर्ष में अत्यधिक व्यस्त होने पर भी बापू का ध्यान बराबर फीनिक्स आश्रम की ओर बना रहता था। वहां की समस्याओं के बारे में वह बराबर सोचते और आवश्यक आदेश देते रहते थे।

यहां मैं उनके दो-तीन पत्रों के कुछ अंश एक पुराने पत्र-संग्रह से दे रहा हूं। इन पत्रों पर तिथि या हस्ताक्षर नहीं हैं, फिर भी उन्हें पढ़ने से प्रतीत होता है कि बापू ने उन्हें फीनिक्स संस्था के संचालन के संबंध में लिखा था। मेरा अनुमान है कि ये पत्र मगनकाका के नाम ही लिखे गए होंगे :

— १ —

अपने प्रति असंतोष या मर्म वचनों के कारण यदि तुम हटना चाहो तो इसमें भेद-बुद्धि समझी जायगी और उन लोगों के लिए एवं तुम्हारे लिए मेरा जो कर्त्तव्य होगा उसमें मुझे बाधा आवेगी।....तुम हटने का रास्ता लो, इसमें उनका अकल्याण ही होगा। हम महाप्रयास में पड़े हैं। तत्त्वज्ञान की खोज कर रहे हैं।

— २ —

तुम जरा-सा विचार करो तो देख सकोगे कि कौन किसको निकाले, यह सवाल पैदा होता ही नहीं है। जब फीनिक्स की स्थिति कमजोर पड़ेगी तब निकालने-रखने की बात नहीं रहेगी। लेकिन जिसे खरा रंग लगा होगा वही रहेगा। उस समय तो यह प्रश्न आयगा कि कौन रुकेगा। आज हम वेतन नहीं दे रहे हैं, लेकिन खाना-भर दे रहे हैं। इसमें कमी करके कष्ट उठाकर सूखी रोटी खाकर कौन रहेगा, यही सवाल है।...

फीनिक्स भी फीनिक्स में ही रहेगा, यह बात कहां है? जहां फीनिक्स का हेतु है, वहीं फीनिक्स है।...हम सारी तैयारी हिंदुस्तान के लिए कर रहे हैं।...

मेरी आत्मा तुम समर्थ मानते हो वैसी ही तुम्हारी है। हमारी आत्मा के बीच कोई भेद नहीं है, किंतु तुम्हारे अंदर जिस मात्रा में अनात्मपन, भीरुता, संशय, अनिश्चय आदि हों, उन्हें निकाल दो तो हम दोनों एक समान ही हैं। अंतर इतना ही है कि महाप्रयास से मैंने बहुत सारे मोठ[1] बीन डाले हैं, उतने ही और उससे अधिक दृढ़तापूर्वक तुम साहस करोगे तो बीन सकोगे।

— ३ —

विपद के लिए धैर्य के समान और कोई उपाय नहीं है। सत्याग्रह आदि का जो साधन ट्रांसवाल में है वही देश में होना चाहिए, इसमें मुझे कोई शंका नहीं है। परन्तु...का पत्र बताता है कि तैयार तो फीनिक्स-जैसे स्थल में ही हो सकेंगे। स्मशान में सोते हुए भी निडर रहना, यह कर्तव्य है; परंतु स्मशान में सोने का प्रारंभ करने वाला मनुष्य, वहां पर लेटते ही मरा-मरा-सा हो जाय, यह संभव है। इस प्रकार मेरे और तुम्हारे लिए तो फिलहाल हिंदुस्तान स्मशान-रूप है। वहां पर बिस्तर लगाकर हम लोग मीराबाई के भजन 'बोल मा, बोल मा, बोल मा रे, राधाकृष्ण बिना बीजुं बोल मा'... (बोल मत, बोल मत, राधाकृष्ण के सिवा और कुछ मत बोल) इत्यादि गा सकें, ऐसी तैयारियां यहां पर करनी उचित हैं—करनी पड़ रही हैं।... किसी भी प्रकार से किसी भी समय प्राप्त होने वाली मौत को दिल से बधाई देने का बल मुझ में आयेगा, ऐसा आभास मुझे होता रहता है। ऐसा सभी को हो, यह चाहता हूं।

बालक होने के कारण मुझे उन समस्याओं का ठीक-ठीक पता नहीं, जो फीनिक्स संस्था के अंतरंग में बड़ों को चिंतित कर रही थीं। लेकिन बापूजी के इन पत्रों से थोड़ा-सा आभास मिलता है कि स्वेच्छा से स्वीकृत की गई गरीबी को निभाने के लिए फीनिक्सवासियों को अपने मन से बड़ा संघर्ष करना पड़ रहा था। मेरे स्मृति-पट पर फीनिक्स के उस समय के वातावरण का यह चित्र अंकित है कि महीनों तक फीनिक्स के मुख्य कार्यकर्त्ता आपस में कम बोलते थे। प्रेस में सब लोग अपने-अपने स्थान पर गुमसुम कार्य किया करते थे। वहां से छुट्टी पाकर अपने खेतों में व्यस्त रहते थे और रविवार के दिन बापूजी के मकान पर संध्या समय सभा करके भजन-कीर्तन आदि करते

---

१ मूंग का अथवा गुणों में मिश्रित दोषों को दूर करना है।

थे, परंतु बातचीत उस समय भी बहुत ही कम होती थी। फीनिक्स के शुरू-शुरू के दिनों में जो आपसी वार्ता-विनोद और खेल-कूद होते थे, वह अब नहीं थे। मि. पोलक को तो बापूजी ने अपने सहयोग के लिए फीनिक्स से जोहान्सबर्ग बुला लिया था। इस पर ट्रांसवाल में सत्याग्रह का संघर्ष कठिन-से-कठिनतर होता जा रहा था। स्वयं बापूजी और अन्य सत्याग्रही लगातार जेल का कष्ट उठा रहे थे। इस कारण भी फीनिक्स के वातावरण में हँसी-खुशी का कम हो जाना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त यह बात भी स्वाभाविक थी कि संस्था में धन के अभाव के कारण नई-नई मुसीबतें पैदा हों तो कार्यकर्त्ताओं के बीच मानसिक तनाव और छोटे-मोटे मतभेद बढ़ जायं।

अनेक बार संध्या के समय प्रेस के काम से लौटने के बाद हमारे घर के आंगन में पिताजी और मगनकाका दस-पन्द्रह मिनट तक अत्यंत चिंतित होकर फीनिक्स के अपने अन्य साथियों के संबंध में, विचार-विनिमय करते थे। और पिताजी अधिक उदास होकर तथा मगनकाका अधिक कठोर मौन धारण कर घर के बगीचे में परिश्रम करते रहते थे। यह दृश्य मुझे स्पष्ट याद है।

ऐसे समय में बापूजी को भी फीनिक्स की याद कितनी अधिक चिंतित रखती थी, यह प्रिटोरिया जेल से मि. पोलक के नाम भेजे एक पत्र से मालूम हो जाता है :

प्रिटोरिया जेल
२६ अप्रैल, १९०९

प्रिय श्री पोलक,

आर्थिक समस्या के बारे में मैं भारी उलझन महसूस करता हूं। फीनिक्स के ऊपर ऋण-भार बना रहे, इस बात से मुझे बहुत कष्ट पहुंचता है। मेरे घर के जो कुछ चन्द गहने आदि हैं और इंग्लैंड से कानून की जो नई किताबें मैं लाया हूं तथा मेरी किताबों में जो ला रिपोर्ट हैं, उनको बेचकर फीनिक्स का कर्ज अदा कर देना। इस कर्ज को पूरा करने के लिए आवश्यक हो तो एनसाइक्लोपीडिया तथा हमारे दफ़्तर की बड़ी तिजोरी भी बेच देना। कानून की पुस्तकें शायद प्लेफर्ड, वेल्सन अथवा गाडफ्रे खरीद लेंगे। यदि उनमें से कोई न ले तो इन चीजों की सूची बनाकर मित्रों में घुमाना। तिजोरी के तो १५ पौंड आने ही चाहिएं।

मणिलाल का लम्बा पत्र मुझे मिला है। अच्छा लिखा है।

कोर्डिस का भाषण कैसा हुआ और कहां किया गया, मुझे लिखना। बंबई से लौटने में ठक्कर कुछ किताबें व टाइप लाये क्या? मैं देख रहा हूं कि ठक्कर अपनी पत्नी के साथ छगनलाल के यहां रह रहे हैं। छगनलाल

तो बोलेंगे नहीं, पर इससे दोनों को नुकसान है। मित्र की स्थिति विकट हो जाती है। हद से ज्यादा बोझ छगनलाल को नहीं उठाना चाहिए। उनकी मां ने मुझसे कहा था कि छगनलाल की आदत हरे-भरे पेड़ के नीचे सूखने की है। यह सही है। फीनिक्स के दूसरे परिवारवालों को भी, जिनके यहां ज्यादा बच्चे हैं, अतिथि का बोझ अपने ऊपर नहीं लेना चाहिए, बल्कि पुरुषों को चाहिए कि वे अपनी पत्नी का बोझ हल्का करें।

मैं चाहता हूं कि सब फीनिक्सवासी टाल्सटाय की जीवनी और उनके प्रायश्चित्त-पत्र अवश्य पढ़ें। दो दिन में पढ़े जा सकेंगे। गुजरातियों को चाहिए कि वे कवि राजचन्द की उन दोनों पुस्तकों को पढ़ लें जो मेरे संग्रह में वहां पड़ी हैं। संध्या की प्रार्थना के समय प्रतिदिन दस मिनट उसे पढ़ा जा सकता है। राजचन्द के बारे में जितना अधिक मनन करता हूं मेरी राय दृढ़ होती जा रही है कि अपने समय के वह सर्वश्रेष्ठ भारतीय थे। उस पुस्तक को पढ़ने से मुझे बड़ी शान्ति मिली है। बार-बार पढ़ने योग्य पुस्तक है। अंग्रेजी साहित्य में इसकी तुलना में आ सके ऐसी विचारों की शुद्धि से पूर्ण पुस्तक टाल्स्टाय की पुस्तक के अतिरिक्त मुझे नहीं दीखती। कवि राजचन्द और टाल्स्टाय दोनों ने जैसा उपदेश दिया है वैसा अपने जीवन में भी आचरण किया है। उसमें गहरा अनुभव है।

मणिलाल को अपने अध्ययन के बारे में कुछ असंतोष है। इसको मैं समझ सकता हूं, वह रहेगा। हम सब भिन्न-भिन्न अनुभव ले रहे हैं। इस अनुभव में प्रथम श्रेणी के विद्यार्थियों की बलि दी जा रही है। उनको चाहिए कि वे जो-कुछ सिखाया जा रहा है वह भली-भांति सीख लें। मुझे उम्मीद तो है कि उसकी परीक्षा मैं स्वयं ले सकूं, ऐसा दिन मुझे मिल जायगा। मेरी अपेक्षा है कि मैं स्वयं उसे पढ़ाऊंगा। वह रेखागणित में कच्चा है यह मैं जानता हूं। इस समय परिश्रम करने और नियमित जीवन बिताने की वह आदत डाले। इससे उसे काफी लाभ होगा। बाग-काम में भी वह समय देता है यह अच्छा है। फिर उसे निश्चित होकर आनन्द से अपने काम में एकाग्र होना चाहिए।

फीनिक्स में सभी लड़के माणिकम् से तमिल सीखना शुरू कर दें। मगनलाल से कहना कि जिस प्रकार उसने अंग्रेजी काव्य याद कर लिये उसी प्रकार तमिल भी याद कर ले।

हरिलाल की पत्नी वियोग के कारण चिंता में रहती है या प्रसन्न रहती है? वा घर का काम अब कुछ कर सकती है? . . . स्कूल का मकान कहां

तक पहुंचा ? सभी छात्रों के खर्च में कुछ बढ़ती करने की आवश्यकता है। उनके माता-पिता से मिलकर छगनलाल उन्हें समझाएं।

स्वामी शंकरानंद के रुक जाने से मुझे खुशी हुई। हिंदू और मुसलमान कौमों के बीच जो सद्भाव है, उसको अधिक पुष्ट करने की कोशिश वे करेंगे ऐसी मुझे आशा है।....वेस्ट से कहना कि प्रत्येक रविबार को सबको एकत्र करके प्रार्थना करने का जो प्रारंभ किया है उसे किसी भी हालत में छोड़ना नहीं। श्रीमती वेस्ट की बीमारी के समय प्रार्थना-स्थल बदल देना अधिक उपयुक्त होगा। पर प्रार्थना बन्द रहनी ही नहीं चाहिए। मेरे पत्र की फीनिक्स से संबंधित बातों को वेस्ट के पास लिख भेजना। मैंने जो उत्तर मांगे हैं, छगनलाल ब्यौरे से लिख भेजें। मैं उम्मीद रखता हूं कि सात मई तक छगनलाल का पत्र मुझे मिल जायगा। —मो० क० गांधी

जेल में बैठे-बैठे सत्याग्रह आंदोलन की गति-विधि के बारे में बापूजी जितने उत्सुक रहते थे, उससे कहीं अधिक फीनिक्स संस्था की प्रगति और फीनिक्स में काम करने वालों की विचार-शुद्धि तथा जीवन-शुद्धि के लिए वह उत्सुक रहते थे। क्योंकि अपने और अपने साथियों का जीवन ऊंचा उठता रहे तो सत्य की लड़ाई में सफलता देर-सवेर मिल ही जायगी, इसमें बापूजी को लेशमात्र भी शंका नहीं थी।

: ३१ :

हमारी स्वदेश वापसी

दो-एक महीने बाद जब कृष्णदास बिल्कुल ठीक हो गया तो हम लोग फीनिक्स से हिन्दुस्तान आने के लिए चले। छः वर्ष समुद्रपार रहने के बाद पिताजी राजकोट लौट रहे थे। मुझे भी अपने दादा और दादीजी के दर्शनों की बड़ी उत्सुकता थी। मगनकाका ने अपने पुत्र केशु को भी हमारे साथ भेजने का निश्चय किया। फीनिक्स से जब हम चले तब हमारी संख्या बाल-बच्चों सहित छः थी। माताजी, पिताजी, केशु, कृष्ण, मेरी छोटी बहन नर्मदा और मैं। फीनिक्स के घर में रुकने वालों में तीन जने थे—मगनकाका, काकी और केशु की छोटी बहन राधा। भारत की यात्रा पूरी करके डेढ़ वर्ष बाद जब हम फीनिक्स लौटे तब मेरी बहन नर्मदा नहीं रही थी।

डरबन से हमारे स्टीमर को पोरबन्दर पहुंचने में ४१ दिन लगे। आजकल बम्बई से डरबन पहुंचने में १४ या १६ दिन लगते हैं। पिताजी ने मेल स्टीमर छोड़कर साधारण स्टीमर पसन्द किया। इससे लाभ यह हुआ कि उस छोटी आयु में ही मैं अफ्रीका के पूर्वी किनारे के महत्वपूर्ण बंदरगाहों का अवलोकन कर सका। डरबन से हम 'केज़र' नाम के स्टीमर में चले, जो जर्मन कम्पनी का था। उसका भोंपू ब्रिटिश स्टीमरों की तरह काला और मनहूस नहीं था। बहुत सुंदर लाल-पीले रंग के पट्टे उस पर थे। वह बहुत बड़ा और इतना पुराना था कि उसको हिन्द महासागर पार करने की इजाजत नहीं थी।

जंजीबार के बाद 'सोमाली' नाम के एक नए और छोटे जर्मन स्टीमर में हम लोग हिन्द महासागर पार करके भारत पहुंचे। लौटते समय भी हम उसी स्टीमर में गये, क्योंकि हमारा टिकट वापसी था, जिसकी मियाद डेढ़ साल की थी।

जब पोरबंदर पहुंचे तो बंदरगाह पर स्वागत के लिए आई हुई भीड़ के बीच मेरी माता ने मुझे नारायणदासकाका का परिचय दिया। नारायणदास काका सबसे पहले हमें बापूजी के बड़े भाई के यहां ले गए। उनका पूरा नाम था लक्ष्मीदास करमचंद गांधी। मोहनदासकाका के सगे बड़े भाई कोई बहुत बड़े आदमी होंगे, इस कल्पना से मैं उनके घर पहुंचा। गुजरात-सौराष्ट्र में बैठने के लिए जैसे झूले होते हैं वैसे झूले पर वह बैठे थे। हम सबने उनके चरण छुए। उनका भाल-प्रदेश बहुत विशाल था। पूरे घर में बड़ी गम्भीरता फैली हुई थी। वह विनोद, बातों की वह भरमार, जो फीनिक्स में बापूजी के आने पर रहती थी, उनके यहां मैंने नहीं देखा। थोड़ी देर पिताजी से उनकी कुछ बातें हुईं और हम उनके घर से लौटकर राजकोट के लिए चल पड़े।

राजकोट में दादाजी और दादीजी हमारी प्रतीक्षा में थे। हमारे स्टीमर को सवा महीने से अधिक बीत गया, इससे वह चिंतित हो रहे थे। जब हम पहुंचे, दोनों बुआ और दादीजी दौड़कर स्वागत के लिए आईं। घर के प्रवेश-द्वार पर ही जोशीजी महाराज पिताजी की जन्मकुंडली फैलाये हिसाब लगाने बैठे थे कि हमारी यात्रा में कोई विघ्न तो नहीं आ उपस्थित हुआ? जोशीजी का गणित पूरा होने से पहले ही हम लोग पहुंच गए।

राजकोट पहुंचकर मुश्किल से आठ-दस दिन पिताजी घर रह पाये। उनको मि. पोलक के साथ सारे भारत के प्रवास में जाना जरूरी हो गया; क्योंकि दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह के आन्दोलन में एक नया अध्याय शुरू हो गया था।

दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के इतिहास में उस समय की राजनीतिक परिस्थिति के संबंध में बापू ने लिखा है :

"दोनों ओर कुछ शिथिलता आई थी। सरकार ने देख लिया था कि जेलखाने भरने से चुस्त सत्याग्रही हारने वाला नहीं है।....हिन्दी लोग भी उग्र मुकाबला करने को तैयार नहीं थे। कड़ा मुकाबला किया जा सके इतनी संख्या में सत्याग्रही रहे ही नहीं थे। कुछ कायर बन गए थे, कुछ बिल्कुल पराजित मनोवृत्ति के हो गए थे और चुस्त बने रहने वाले सत्याग्रहियों को मूर्ख समझते थे। इधर मूर्ख लोग अपनेको समझदार मानते थे और ईश्वर पर, सत्याग्रह के संघर्ष पर तथा अपने साधन की सत्यता पर पूर्ण विश्वास रखकर जमे हुए थे। उन्हें भरोसा था कि अन्त में विजय सत्य की ही होगी।"

घनघोर अंधेरे में भी बापूजी का दमकता हुआ श्रद्धाबल ऐसा था कि निराशा उन्हें छू तक नहीं सकती थी। जल्दी ही ऐसा समय आया कि जेल के बाहर निकलकर राज्यकर्त्ताओं से चर्चा करने के लिए जाने का उनको अवसर मिला। पिछले प्रकरण में मि. पोलक के नाम प्रिटोरिया जेल से लिखा हुआ बापूजी का जो पत्र दिया गया है उसमें लिखने की तारीख २६ अप्रैल सन् १९०९ की है। तीन महीने की सजा काटकर बापूजी मई के मध्य में रिहा हुए और तुरन्त ही फिर से सत्याग्रह करके वह जेल गये तथा २४ मई को उनको तीसरी बार तीन महीने की सजा मिली। इसके तीन सप्ताह बाद ही, १६ जून १९०९ को ट्रान्सवाल की भारतीय जनता उठ खड़ी हुई। जोहान्सबर्ग में आमसभा की गई और बापूजी को तथा श्री पोलक को क्रमशः इंग्लैंड और भारत में प्रतिनिधि-मण्डल ले जाने के लिए नेता चुना गया। इधर बापूजी ने अपना मन जेल-महल में कष्टों की उपासना करने में लगाया था और अपनी संस्था के विकास करने तथा रचनात्मक कार्य में अपना सबकुछ होम देने का संकल्प किया था। लेकिन जनता ने उन्हें राजकीय समझौते के लिए प्रयत्न करने को विवश कर दिया। बापूजी ब्रिटिश पार्लमेंट के सदस्यों के पास दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों की बात रखने के लिए ता. २३ जून को केपटाऊन से रवाना हुए और १० जुलाई १९०९ को लंदन पहुंचे।

इधर भारत में श्री पोलक अकेले ही आये, क्योंकि उनके साथ भेजने के लिए ट्रांसवाल के भारतीयों ने जिन प्रतिनिधियों को चुना था उन सभी को वहां की सरकार ने जेलों में डाल दिया था।

यहां आकर श्री पोलक ने बंबई, कलकत्ता, मद्रास, इलाहाबाद आदि

कई शहरों में जाकर भारत के उस समय के राजकीय नेताओं को और अखबार वालों को ट्रान्सवालके सत्याग्रह की जानकारी दी। पिताजी ने भी उन के साथ दो-एक मास तक देश-भर में प्रवास किया और उनके काम में यथाशक्ति सहयोग दिया।

इस प्रवास से राजकोट लौटने के बाद तुरन्त पिताजी को बापूजी की सूचना मिली कि वह बैरिस्टरी पढ़ने के लिए विलायत जायं।

: ३२ :

बैरिस्टरी किस लिए ?

भारतीय प्रवासियों पर दक्षिण अफ्रीका में कानून के बल पर और सरकारी अफसरों की जोर-ज़बरदस्ती से जो अशोभनीय अन्याय दिन-प्रतिदिन होते रहते थे, उनका निवारण करने में बापूजी अपनी बैरिस्टरी की विद्या का भरपूर प्रयोग कर रहे थे। ट्रान्सवाल के जोहान्सबर्ग नगर में वकालत का काम करने के लिए बापूजी ने अपना कार्यालय खोल रखा था। उसमें बापूजी के साथ काम करने वाले अनेक सहायक थे, जिनमें मि. रिच, मि. पोलक-जैसे विद्वान अंग्रेज भी थे। अदालत में अपना मुकदमा लड़ने के लिए भोले और प्रायः अनपढ़ भारतवासियों को सद्‌बुद्धि वाले निःस्वार्थ और चतुर वकील की सहायता दक्षिण अफ्रीका में हर समय मिलती रहना जरूरी थी। अगर भारतीय और एशियाई लोगों के पक्ष में काम करने वाला कोई भी समर्थ वकील या बैरिस्टर न होता तो दक्षिण अफ्रीका से भारतीय व एशियाई लोगों की जड़ बड़ी जल्दी उखाड़ दी जाती।

दक्षिण अफ्रीका में जो सत्याग्रह-आन्दोलन चलाया जा रहा था उस आन्दोलन की नींव में असहयोग का उद्देश्य नहीं था। अंग्रेजी सरकार और अंग्रेजी अदालतें न्याय के पथ पर चलने की निष्ठा रखती हैं, यह भरोसा तब बापूजी के मन में था। इस कारण जब एक ओर वर्ण-विद्वेष वाले कानून का भंग करके वीर सत्याग्रही जेल जा रहे थे तब दूसरी ओर ट्रान्सवाल के हिन्दी व्यापारियों आदि के छोटे-मोटे मुकदमों की पैरवी करने का काम बापूजी के वकालत के कार्यालय द्वारा चलाया जा रहा था। बापूजी वकालत का यह सारा काम कर्तव्यबुद्धि से तथा निश्चित और स्वल्प मेहनताने से करते

थे। जब सत्याग्रह, जेल-यात्रा, फीनिक्स की संस्था आदि का काम बढ़ता गया और बापूजी के पास समय कम रहने लगा तब वकालत के काम का सिलसिला कायम रखने के लिए और व्यक्तियों को तैयार करना बापूजी ने आवश्यक समझा। फिर बापूजी का इरादा ट्रान्सवाल और दक्षिण अफ्रीका के काम से जल्दी-से-जल्दी छुट्टी पाकर भारत लौटने का था। इसलिए भी अपने पीछे काम संभाल सकें, ऐसे दो-चार नवयुवकों को बैरिस्टरी सिखाने की बात बापूजी ने अपने मन में पक्की की। इस दृष्टि से एक तो मि. पोलक से सोलिसिटर का अभ्यास-क्रम पूरा करने के लिए बापूजी ने आग्रह किया। दूसरे श्री सोराबजी शाहपुरजी अडाजनिया को, जो होनहार पारसी युवक थे, बैरिस्टर बनने के लिए बापूजी ने लंदन भेजा। वह बैरिस्टर होकर दक्षिण अफ्रीका लौट आये और सेवा का काम भी उन्होंने आदर्श रूप से शुरू कर दिया। परन्तु ऐसे भले और श्रेष्ठ व्यक्ति का बुलावा ईश्वर के दरबार से बड़ी जल्दी आ गया और दक्षिण अफ्रीका की भारतीय जनता शोकमग्न होकर उनका स्मरण ही करती रह गई।

बापूजी ने लन्दन जाकर बैरिस्टर हो आने के लिए मेरे पिताजी से भी कहा। मेरे पिताजी भारत में मैट्रिक पास थे और फीनिक्स में 'इन्डियन ओपीनियन' के संपादन का काम वर्षों तक करने से उनके अंग्रेजी-ज्ञान में काफी वृद्धि हुई थी। इसलिए लन्दन में पढ़ना उनके लिए आसान था। परन्तु सामान्य बुद्धि के व्यक्ति को बापू का यह तरीका समझ में आना कठिन था। अपने ही पुत्र, हरिलाल गांधी और मणिलाल गांधी स्कूल-कालेज में पढ़ने के लिए और यूनिवर्सिटी में जाकर बैरिस्टरी-जैसी उच्च-शिक्षा प्राप्त करने के लिए व्याकुल थे। तब बापूजी उस शिक्षा को निरर्थक एवं हानिप्रद बताकर उन्हें ऐसा करने से रोकते थे। लेकिन उन्हीं दिनों में सोराबजी, मेरे पिताजी आदि को विलायत पढ़ने के लिए भेजने की सारी व्यवस्था बापूजी ने स्वयं की।

बापूजी के स्वभाव की यह मौलिक विशेषता थी। रेलवे-मोटर आदि यंत्रों के चक्कर में न पड़ने के लिए बापूजी सबसे बारम्बार आग्रह करते थे, परन्तु देश-सेवा का काम पूरा करने के लिए उन साधनों का वह उपयोग भी कर लेते थे। इसी प्रकार प्रचलित यूनिवर्सिटियों की शिक्षा के विरुद्ध होते हुए भी बापूजी ने दक्षिण अफ्रीका का सेवा-कार्य पूरा करने के इरादे से मेरे पिताजी को विलायत भेजा। उनकी लंदन की पढ़ाई का खर्च बापूजी के परममित्र डा. प्राणजीवन मेहता ने दिया।

बैरिस्टरी की परीक्षा देकर पिताजी के लौटने में जब कुछ महीने बाकी

रहे तब राजकोट में हमारे घर के वातावरण में उत्साह बढ़ गया। मेरे छोटे चाचा जमनादास गांधी, जो उस समय हाई स्कूल में पढ़ते थे, बैरिस्टर के बड़प्पन की नई-नई बातें घर में सुनाते थे। जब बैरिस्टर बनकर पिताजी लौटेंगे तब घर में यह शोभा नहीं देगा, वह नहीं जंचेगा, आदि। बैरिस्टर के बेटे को इस तरह कपड़ा पहनना होगा, इस प्रकार शान से बातचीत करनी होगी, इत्यादि बातें सुन-सुनकर मुझे भी आभास होने लगा कि चार-छः महीनों के बाद सचमुच मैं भी बड़ा हो जाऊंगा और राजकोट की पाठशाला के लड़के मेरी ओर आश्चर्यचकित होकर देखेंगे।

परंतु अंग्रेजों-जैसा साहब बनने की इस धुन का कुप्रभाव मुझ-जैसे कोमल बुद्धि वाले पर बढ़े, इससे पहले ही ईश्वर ने हमारी रक्षा की। पिताजी को अकस्मात् इंग्लैंड से लौटना पड़ा। वहां की कड़ी सर्दी से वह बीमार पड़ गए। वहां के डाक्टरों ने उन्हें तीन-चार सप्ताह आराम के लिए इटली भेजा। परंतु वहां से लंदन लौटने पर दुबारा उनकी बीमारी बढ़ गई। इसलिए डाक्टरों ने उन्हें बिना परीक्षा दिये ही तुरन्त स्वदेश लौट जाने के लिए विवश किया।

इंग्लैंड से पिताजी लौटकर राजकोट आ गए। उसके आठ-दस दिन बाद बापूजी का तार आया। उसी समय फीनिक्स के लिए प्रस्थान की तैयारी शुरू हो गई।

: ३३ :

फिर फीनिक्स : बापू के प्रेरक पत्र

कई नगरों की झांकी देखते हुए हम बम्बई पहुंचे। शीघ्र ही स्टीमर पर जाने की व्यवस्था हो गई और दुबारा अपने जाने-पहचाने 'सोमाली' स्टीमर में पहुंचकर मेरा जी खिल उठा। समुद्र-यात्रा की जो तैयारियां की गईं उनमें बबूल के दातुनों की एक बड़ी गड्डी, बिस्कुट के डिब्बे, चावल व आलू की बोरी और मेरे लिए बम्बई के बनियों की-सी काली गोल टोपी आदि चीजें थीं।

'सोमाली' जर्मन स्टीमर के लिए हम लोगों का वापसी टिकट दूसरे दरजे का था, परन्तु हमारे जैसे बड़े परिवार के लिए आवश्यक बड़े कमरे

की दूसरे दरजे में कमी थी, इसलिए इस बार हमारी यात्रा पहले दरजे में हुई। जमनादासकाका के लिए, जो हमारे साथ जा रहे थे, टिकट तीसरे दरजे का लिया गया, क्योंकि वह नया लिया जाना था, इसलिए खर्च में बचत की जा सकी। उन्होंने आरामकुर्सी साथ में ले ली थी और उसी पर खुले डेक में उन्होंने सारी यात्रा तय की। मुझे पहले दरजे के उन सजे-सजाये कमरों के मुकाबले खुले समुद्र की लहरों को देखने और यात्रियों की चहल-पहल में अधिक आनन्द आता था। पिताजी के बदले छोटे काका के पास ही मैं अधिक समय बिताता था। छोटे काका रामायण और दूसरी पुस्तकें पढ़ने में दिन बिताते थे। मैं नाविकों की दिनचर्या देखने और स्टीमर की मशीनों की गतिविधि जांचने में उलझा रहता था। प्रायः तीन सप्ताह बाद एक दिन ब्राह्म मुहूर्त्त में हमारे जहाज ने डरबन के बन्दरगाह में प्रवेश किया। बिल्कुल तट पर लगने से पहले सूर्योदय होने की प्रतीक्षा की गई। जब हम पहुंचे तब मगनलालकाका और काकी को हमने एक दूसरे बड़े जहाज पर देखा। वे खड़े हुए मुस्करा रहे थे।

मगनकाका को प्रसन्न देखकर मुझे तसल्ली हुई, क्योंकि मुझे डर था कि उनसे मैंने जो चिट्ठी लिखनेका वादा किया था, वह पूरा न होने की वजह से वह नाराज होंगे। किन्तु उन्होंने एक शब्द भी मुझे नहीं कहा। मैं उतावला हो रहा था कि फीनिक्स की सारी बातें उनसे यहीं पूछ लूं। किन्तुदो-चार मिनट के बाद ही कुछ अंग्रेज अफसर हमारे बीच आ धमके और मगनकाका व पिताजी उनसे बातचीत में उलझ गए। अगर हम लोग गोरी चमड़ी के होते तो आध घंटे में ही स्टीमर से उतरकर शहर में पहुंच सकते थे, पर हम तो थे हिन्दुस्तानी। हम-जैसों के लिए डरबन के दरवाजों में सरलता से घुसने की गुंजाइश नहीं थी।

गोरे अफसर और पिताजी के बीच बहुत देर तक बातचीत हुई। इसके बाद उसने जमनादासकाका को अंग्रेजी में बड़ा कागज भरकर कुछ लिखवाया। उसे यकीन हो गया कि जमनादासकाका पढ़े-लिखे व्यक्ति हैं। पिताजी के पास अपना, मेरी माताजी का और सभी बच्चों का वापसी टिकट था और नेटाल में प्रवेश पाने का परमिट भी था। इसलिए अन्य भारतीयों के मुकाबले चुंगी के अधिकारी के चंगुल से हमारा छुटकारा जल्दी हो गया और दक्षिण अफ्रीका की धरती पर हम उसी दिन मध्याह्न से पहले पैर रख सके। लेकिन कुछ लोगों का स्टीमर से नीचे उतारना मुश्किल हो गया। उनकी सहायता के लिए पिताजी को बहुत देर तक अफसर के साथ बातचीत करनी पड़ी। दो आदमी तो बहुत ही परेशान हो गए। वे पिताजी के पास गिड़गिड़ा रहे थे। उनके लिए पिताजी ने भरसक कोशिश की,

परन्तु वह अधिकारी रत्ती-भर भी नहीं पसीजा। उसे शायद यह शक हो गया था कि उनके पास अपने नहीं, किसी और के परमिट हैं। इसलिए उनकी कानूनी जांच करने पर वह तुल गया।

चुंगी से पार होने के बाद हम सीधे रुस्तमजी सेठ के घर पहुंचे, जो हम सब फीनिक्सवासियों के कुटुम्बीजन-से थे। वहां कुछ देर ठहरकर हम लोग स्टेशन पर गये और फीनिक्स के लिए रवाना हो गए। घंटे-भर का रेल का सफर और ढाई मील की पैदल यात्रा पूरी करने तक सारे मार्ग में मगनकाका से मैंने बहुत-सी बातें सुनीं। हमारी अनुपस्थिति में फीनिक्स में कई परिवर्त्तन हो चुके थे। बापूजी ने ट्रांसवाल में अपनी दिनचर्या में भोजन में कठिन प्रयोग शुरू किये थे। यह सब सुनकर मैं चकित रह गया। ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं किसी नई दुनिया में पहुंच गया हूं।

हम लोग जब फीनिक्स पहुंचे, रात हो गई थी। दूसरे दिन सवेरे मैं फीनिक्स में चक्कर काटने को निकल पड़ा। हमारे घर का चौड़ा बगीचा बहुत सुन्दर हो गया था। संतरे, केले, लुकाट, नीबू, सबकुछ फलने लगे थे। एक सुन्दर नया मकान पुस्तकालय के लिए बन गया था। किन्तु हमारे घर के पड़ोस में जो दूसरे मकान थे, वे सुनसान हो गए थे। बापूजी का बड़ा घर भी सूना पड़ा था और हमारी कोर्डिस-शाला उजड़ गई थी। साथ ही, जब मुझे पता चला कि महीनों तक बापूजी के फीनिक्स आने की संभावना नहीं है और देवदासकाका भी बापूजी के पास ही रहने वाले हैं तो मैं उदास हो गया।

किसी दिन बापूजी का पत्र, किसी दिन बापूजी द्वारा सूचित की गई पुस्तक, किसी दिन टाल्स्टाय की कहानियां और उनके उपदेश आदि पर चर्चा होती थी। मेरी समझ में कुछ अधिक नहीं आ पाता था, परन्तु मगन काका की एक बात मेरी समझ में आ गई। वह यह कि "जो पसीना न बहावे, उसे भोजन करने का अधिकार नहीं है; हाथ में कुदाल या कुल्हाड़ी के निशान न पड़े हों उसको भोजनालय में प्रवेश मिलना ही नहीं चाहिए।" उन चर्चाओं से दूसरी बात मेरी समझ में यह आई कि साहब बन कर रहना अच्छा नहीं। बापूजी बड़प्पन छोड़कर मजूर-किसान का जीवन अपनाने का जो आग्रह करते हैं वह ठीक है। सूट-बूट की शान के चक्कर में हमें नहीं पड़ना चाहिए।

मैं बता चुका हूं कि जब मेरे पिताजी लन्दन बैरिस्टरी पढ़ने के लिए गये थे तब राजकोट में अपने छोटे काका की प्रेरणा से अंग्रेज साहबों का-सा जीवन प्राप्त करने के लिए मैं कैसे दिवास्वप्न देखने लगा था और बैरिस्टर का बेटा बनकर राजकोट के स्कूल के लड़कों के बीच ऊंचा सिर

रखकर घूमने-फिरने की कैसी उम्मीद रखता था। फीनिक्स लौटने के कुछ ही दिन बाद जमनादासकाका मगनकाका के प्रभाव में आ गए और साहब बनने की उमंग छोड़कर बापूजी की बात को समझने और करने की आकांक्षा हमारे दिल में पैदा हुई। मैं यह नहीं कह सकता कि जमनादास-काका के मन में क्या-क्या बातें उठती थीं, परन्तु अपने बारे में बता सकता हूं कि जब मैंने मगनकाका के मुंह से सुना कि बापूजी ने बूट और मोज़े पहन-ना छोड़ दिया है तब उनके इस त्याग का मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा। तब-तक मैं यह समझता था कि हमारे घर में जिस प्रकार पिता, काका आदि हैं उसी प्रकार हमारे घर के, हमारे परिवार के, बड़े और श्रेष्ठ व्यक्ति बापूजी हैं। परन्तु अब मेरे छोटे-से दिमाग में यह भावना पैदा हुई कि बापूजी हमारे घर के बड़े हैं। मामूली आदमी की तरह शान और शोभा के पीछे वह पड़नेवाले नहीं हैं। अच्छी-से-अच्छी बात को खोजकर वह सबको सिखाने वाले तथा सबसे अच्छे पुरुष हैं।

यह सही है कि उस समय अपने मन के इन भावों को मैं इस प्रकार की भाषा में व्यक्त नहीं कर पाता था, परन्तु इसमें कोई शक नहीं कि बापूजी की महानता ने उस समय मेरे हृदय में गहराई तक अपना स्थान जमा लिया।

अचानक एक दिन जमनादासकाका फीनिक्स से जोहान्सबर्ग चले गए। मुझे बाद में पता चला कि बापूजी ने उनको अपने पास टाल्स्टाय फ र्म पर बुलाया है। इससे फीनिक्स में मेरा अकेलापन और भी बढ़ गया। स्वदेश से लौटने के बाद दूसरे बाल-मित्रों के अभाव में जमनादासकाका के साथ दिन बिताकर मैं अपना मन बहलाता था। डेढ़-दो महीने के बाद वह साथ भी मुझसे छिन गया और मेरी कठिनाई बढ़ गई। जब जमना दासकाका फीनिक्स से जा रहे थे तब मैंने भी उनके साथ जाने की मांग की, परन्तु ट्रांसवाल जाने के लिए मेरे नाम का परमिट बनवाने की दिक्कत सामने आई और इससे भी ज्यादा बाधा देनेवाली बात यह हुई कि मैं अभी बच्चा था। बापूजी के पास अनेक छोटे-छोटे लड़के इकट्ठे हुए थे। उनके बीच मुझे अकेला भेजने के लिए मेरे पिताजी सहमत नहीं थे। इस प्रकार राजकोट से फीनिक्स तक की यात्रा के बाद भी बापूजी से मैं दूर-का-दूर ही रहा।

यदि बापूजी जोहान्सबर्ग ही रहते तो शायद उनके पास जाने का मेरा इतना मन न होता, परन्तु अब तो उन्होंने जोहान्सबर्ग से इक्कीस मील दूर लोली स्टेशन पर फीनिक्स से भी बढ़िया आश्रम खोला था। वहां उनके पास रामदासकाका, देवदासकाका और मणिलालकाका थे और फीनिक्स से हिन्दुस्तान आने के पहले के मेरे कई बाल-मित्र वहां थे। उस नए आश्रम

को न देख सकने के कारण उन दिनों मेरा मन बहुत बेचैन रहने लगा। यहां बापू के कुछ पत्रों को देना अप्रासंगिक न होगा जो उन्होंने उन दिनों मगन-काका को लिखे थे और जिनके द्वारा जीवन का सही मार्ग अपनाने की उन्होंने प्रेरणा दी थी।

शुक्रवार की रात

चि. मगनलाल,

सत्य का सेवन करने के लिए बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। सत्य का सेवन करने वालों को शारीरिक दुःख न उठाना पड़ा हो, ऐसा उदाहरण मुश्किल से मिल पायगा। विश्वास बैठे तो शारीरिक दुःख ही सुख है। जो भी हो, यह विचार अपनाने-जैसा है। 'सत्य की जय' इस वाक्य का काफी अनर्थ किया गया है; परन्तु उससे हमें अछूता रहना आवश्यक है।

—मोहनदास के आशीर्वाद

बापूजी के इस संक्षिप्त पत्र के संदर्भ का पता नहीं चलता। सत्य की दुहाई देकर कौन-से अनर्थ किये जाते हैं, इसका स्पष्टीकरण बापूजी के इस पत्र से नहीं मिलता। परन्तु पत्र की ध्वनि से उसका सार निकाला जा सकता है कि सत्य के पुजारी को इहलोक में ऋद्धि-सिद्धि, सुख-चैन आदि प्राप्त करने में विजय मिलती है, यह कल्पना जड़-मूल से गलत है और ऐसी लालसा से हमें सर्वथा अछूता रहना चाहिए।

हमें अपना रास्ता सोच-समझकर निश्चित करना चाहिए। इसी को लक्ष्य में रखकर एक दूसरे पत्र में बापूजी ने लिखा:

माघ सुदी १०

चि. नारायणदास,

यह ऐसा विकट समय आ गया है कि कुछ प्रश्नों में और कुछ लोगों के लिए अपने बुजुर्गों की आज्ञा का पालन करने के विषय में विचार करने की आवश्यकता रहती है। मुझे तो लगता है कि माता-पिता का प्रेम इतना गूढ़ होता है कि बहुत सबल कारण न हो तो उनके दिल को चोट पहुंचानी उचित नहीं। परन्तु अन्य बुजुर्गों के बारे में मन ऐसा स्वीकार नहीं करता। नीति के प्रश्न में जहां पर हमें थोड़ा-सा भी संशय हो वहां पर भी कम दरजे के बुजुर्गों की बात का उल्लंघन किया जा सकता है—करना कर्त्तव्य हो सकता है। जहां पर नीति के बारे में संशय ही न हो वहां पर माता-पिता की आज्ञा का भी उल्लंघन किया जा सकता है—करना यह कर्त्तव्य होता है। यदि मुझे मेरे पिता चोरी करने के लिए कहें तो मुझे वह नहीं करनी चाहिए। मेरा विचार ब्रह्मचर्य के पालन का हो और माता-पिता दूसरे प्रकार की आज्ञा दें तो उनकी आज्ञा का विनयपूर्वक मुझे उल्लंघन करना चाहिए। जबतक

मणिलाल और रामदास सयाने और दक्ष न हों तब तक उनकी सगाई करनी ही नहीं, यह मैं अपना धर्म समझता हूं। यदि मेरे माता-पिता जीवित होते और उनका विचार मेरे विचार से विपरीत होता तो मैं विनयपूर्वक उनका विरोध करता और मैं मानता हूं कि वे मेरी बात स्वीकार कर लेते।

इतना लिखना काफी है। अधिक शंका उठे तो लिखना। तुम सद्वृत्ति-वाले हो और मेरी वात का अनर्थ नहीं करोग ऐसा समझकर मैंने यह लिखा है। पाखंडी व्यक्ति मेरे कथन को उद्दंडता बतायगा अथवा मेरे वचन पर मूढ़ विश्वास रखकर उसका अनर्थ करेगा और गलत वात में बुजुर्गों की आज्ञा का उल्लंघन करेगा।. . .शायद यह भी अर्थ निकालेगा कि बुजुर्गों को मंजूर न हो तो भी खतरनाक बीमारी से बचने के लिए मद्य-मांस का सेवन करना कर्त्तव्य है।

—मोहनदास के आशीर्वाद

उस समय स्वतंत्र विचार करने के लिए बापूजी कितने आग्रही थे इसका पता नीचे के पत्र से चलता है:

शनिवार, रात को ६ बजे

चि. मगनलाल,

एक के बाद दूसरी पुस्तक पढ़ते-पढ़ते अन्त में तुम अन्तर-विचार कर सकोगे। प्रत्येक पुस्तक में कुछ-न-कुछ त्रुटि होती है, होनी ही चाहिए। लिखने वाले के चारित्र्य की छाप उसके लेख में अनिवार्य रूप से पड़ेगी ही। इसलिए मनुष्य-मात्र के लिखने में त्रुटि का होना अवश्यम्भावी है। मूंग में से जिस प्रकार हम करडु (न सीजने वाले मूंग) अलग कर देते हैं, इसी प्रकार पढ़ाई में भी करना। जब इस प्रकार अन्तर-विचार की आदत हो जायगी तब ऐसा विवेक शक्य होगा।

—मोहनदास के आशीर्वाद

रविवार

चि. मगनलाल,

आत्मा के अतिरिक्त सबकुछ क्षणभंगुर है, इस विचार को हर समय दोहराते रहना आवश्यक है। यही नहीं, उससे संबंधित कार्य में सतत संलग्न रहना चाहिए। ज्यों-ज्यों विचार करता हूं, सत्य और ब्रह्मचर्य की महिमा की कल्पना से मन प्रफुल्लित हो जाता है। ब्रह्मचर्य का और अन्य सभी नीतिमत्ता का समावेश सत्य के अन्दर हो जाता है। फिर भी ब्रह्मचर्य का महत्व इतना भारी है कि उसका आसन सत्य की बराबरी का समझना चाहिए, यह विचार मुझे आया करता है। मुझे दृढ़ विश्वास है कि इन

दोनों के द्वारा किसी भी प्रकार की बाधा को दूर किया जा सकता है। वास्तविक बाधा तो हमारा अपना मनोविकार ही है। यदि बाह्य संबंधों पर सुख का लेशमात्र भी आधार हम न रखें तो लोग क्या कहते हैं, यह न सोचकर हमें क्या करना चाहिए, यही हम सोचेंगे।

—मोहनदास के आशीर्वाद

"इस समय तो यह बात है। मैंने जो बताया है उसके विरुद्ध यदि सारी दुनिया हो तो भी मुझे निराशा होने वाली नहीं है। यह कोई घमंड से भरा वचन नहीं है, परन्तु सत्य वचन है। हिन्दुस्तान के लिए करने का हमारा मनोरथ है यह बात नहीं, अपितु स्वयं अच्छे बनें यह मनोरथ है। यही मनोरथ होना चाहिए। बाकी सब गलत है। जिसने आत्मा को जाना नहीं उसने कुछ नहीं जाना।...रावण के उत्साह का अनुकरण करके हम आत्मा की ओर मुड़ें।"

—मोहनदास के आशीर्वाद

: ३४ :

स्मट्स सरकार की क्रूरता : बापू की दृढ़ता

सन् १९०९-१० के वर्ष में जब दक्षिण अफ्रीका के चार प्रान्त मिलकर एक यूनियन कायम हुआ और गोरों का संगठन मजबूत हुआ तब सत्याग्रहियों का कांटा अपने मार्ग से हटाने के लिए स्मट्स-सरकार तुल गई। सरकारी कानून से और जहां आवश्यक प्रतीत हो वहां कानून को ताक पर रखकर भी उसने अन्याय करने पर अपनी ताकत लगा दी। ट्रान्सवाल में कड़ाके की ठंड पड़ती थी। रात-भर पाला गिरता था। ऐसी हालत में भी सत्याग्रही कैदियों को बहुत हलके केवल दो कम्बल ओढ़ने-बिछाने को मिलते थे। प्रातःकाल से ही जब हाथ-पैर की अंगुलियां सुन्न हो गई हों, उनसे पत्थर तोड़ने का और तालाब खोदने का काम लिया जाता था। खाने के लिए निःसत्व और रद्दी भोजन दिया जाता था और जेल के दारोगा का व्यवहार अपमानजनक रहता था। जेल के ऐसे बेहद कष्टों के होते हुए भी जब वीर सत्याग्रही प्रसन्न-वदन जेल काटते थे और एक बार जेल से छूटते ही दुबारा कानून भंग कर जेल में जा बैठते थे तब ट्रान्सवाल की सरकार आपे से बाहर हो गई। जेल के लिखित-अलिखित नियमों के द्वारा

जो उत्पीड़न हो रहा था उससे उसको तसल्ली नहीं हुई तो उसने सत्याग्रहियों को देश-निकाला देने का तरीका अपनाया। एक स्टीमर में प्रायः पचहत्तर सत्याग्रहियों को जबरदस्ती समुद्रपार भारत में भेज दिया। सत्याग्रहियों को यह यात्रा कैदी की हालत में कराई गई। स्टीमर में कपड़े-लत्ते और खाने-पीने की भारी दुर्व्यवस्था रही। कई के परिवार, जमीन और चल-अचल सम्पत्ति दक्षिण अफ्रीका में छूट गई और स्टीमर में जो दुःख उन्हें भोगना पड़ा, उसके फलस्वरूप नारायणस्वामी नामक एक तरुण को यात्रा में ही अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा। इधर ट्रान्सवाल में जेल के कष्ट से उत्पीड़ित होकर एक दूसरे तरुण नागापन के प्राण-पखेरू उड़ गए। दोनों ही सत्याग्रह के इतिहास में प्रथम शहीद बन गए।

'इन्डियन ओपीनियन' के २६ जून १९०९ के अंकों में बापूजी ने ट्रान्सवाल के रहने वाले हिन्दियों के नाम एक अपील निकाली :

"जो शिष्टमंडल विलायत जा रहा है उसके साथ में भी जा रहा हूं। हम चार थे। उनमें से दो प्रतिनिधि तो गिरफ़्तार हो गए हैं और इस समय जेल में विराजमान हैं। दूसरे भी हिन्दवासी, जो बहुत बार आहत हुए हैं, उन्हें फिर से गिरफ़्तार किया गया है। ऐसे अवसर पर विलायत जाना मुझे बिल्कुल सुहाता नहीं है। फिर भी यूरोपवासी मित्रों में सभी का मत है कि मुझे विलायत जाना चाहिए। इसलिए मि. हाजी हबीब के साथ में जा रहा हूं। लेकिन जो मांग हम लोग कर रहे हैं और जिसके न मिलने के सबब सैकड़ों हिन्दी जेल जा चुके हैं वह मांग विलायत जाने से प्राप्त हो जायगी ही, ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

"ऐसा भी हो सकता है कि लार्ड क्रू डेप्यूटेशन से मिलने से ही इन्कार कर दें और कहें कि जो लोग कानून के खिलाफ हो रहे हैं वह उनसे नहीं मिल सकते। शिष्टमंडल भेजनेवालों को यह समझ लेना आवश्यक है कि इस समय जब कि दक्षिण अफ्रीका के सभी हाकिम लोग विलायत में एकत्र हो रहे हैं तब शिष्टमंडल भेजकर हम लोग केवल एक प्रयोग-मात्र कर रहे हैं, ताकि बाद में जाकर पछताना न पड़े। शिष्टमंडल के संबंध में आशा का महल खड़ा करना व्यर्थ है।

"जड़ी-बूटी—अक्सीर दवाई—तो केवल जेल ही है। चन्द हिन्दी भी बार-बार जेल जाते रहेंगे तो अंत में हमारी मांग पूरी होगी ही। ऐसा एक भी हिन्दी अंत तक लड़ता रहेगा तो भी मांग पूरी होगी। यह लड़ाई 'सच-झूठ' की है। सच हिन्दी कौम के पक्ष में है।

"कौम में फूट डालने वाले हिन्दी मौजूद हैं। सरकार के पास हिन्दी

जासूस हैं। उन लोगों के मारफत कौम को गलत रास्ते पर ले जाने की पैरवी होती रहती है।

"शिष्टमंडल जब विलायत में होगा तब इस प्रकार की पैरवियां और भी अधिक की जायंगी। प्रत्येक हिन्दवासी का कर्त्तव्य है कि वह इन सब प्रयासों का विरोध करे। जो लोग जेल नहीं जा सकते वे अपने-अपने घर में स्वस्थता से बैठे रहें। कोई भी व्यक्ति किसी प्रकार के कागज पर हस्ताक्षर लेने आये तो पूरी-पूरी जांच-पड़ताल करने से पहले उस कागज पर अपने हस्ताक्षर हरगिज न दिए जायं, यह आवश्यक है। शिष्टमंडल को सहायता देने के लिए स्थान-स्थान पर सभाएँ करने की आवश्यकता है। ये सभाएं केवल ट्रान्सवाल में ही नहीं, सारे दक्षिण अफ्रीका में की जानी चाहिएं। यह भी याद रखा जाय कि यह शिष्टमंडल सत्याग्रहियों के वास्ते नहीं जा रहा है। सत्याग्रहियों का भरोसा तो सत्य के ऊपर ही है। सत्य का पालन करना, यही उनकी विजय है। किन्तु जो इस मार्ग पर अंत तक टिक नहीं पाये हैं, उनके मन की भावनाओं को संतोष दिलाने के लिए तथा सम्भव हो तो सत्याग्रहियों पर पड़ने वाले बोझ को कुछ हल्का करने के लिए यह शिष्टमंडल जा रहा है। अर्थात् सत्याग्रहियों को तो शिष्टमंडल पर जरा भी आकांक्षा की दृष्टि नहीं रखनी है। जब उनके सत्य का बल ट्रान्सवाल की सरकार के असत्य के बल से अधिक हो जायगा तब अपने-आप सत्याग्रहियों के दुःख दूर हो जायंगे, यह बात याद रखकर सत्याग्रही को जेल जाने का अवसर ढूंढ़ते ही रहना है।"

—मोहनदास करमचन्द गान्धी

भय और संकट के ऐसे तांडव के कारण कई सत्याग्रहियों का आगे बढ़ने का उत्साह ठण्डा पड़ गया। पहले ही उनकी संख्या थोड़ी थी। वह और भी सीमित हो गई। देशनिकाला और संपत्ति का छीना जाना बहुत लोग बर्दाश्त नहीं कर पाये। परन्तु जो कुछ सत्याग्रही आगे बढ़े वे कुन्दन-जैसे निखरे हुए साबित हुए। उनका जोश दुगना हो गया। अन्यायी के अन्याय को उन्होंने बढ़-बढ़कर अपने सिर पर ओढ़ लिया। नतीजा यह हुआ कि संसार में दक्षिण अफ्रीका की सरकार के अन्याय के विरुद्ध आवाज उठने लगी। ट्रान्सवाल के भारतीयों के प्रतिनिधिमंडल के नेता के रूप में इंग्लैंड में जो आवाज उठाई उस पर भले-भले अंग्रेजों ने ध्यान दिया और भारत में मि. पोलक की सहायता माननीय गोखले ने अपनी सारी शक्ति लगाकर की। भारत-सेवक-समिति ने भारत का लोकमत जगाने का काम उठा लिया। गोखले ने देश में जगह-जगह सभाओं में मि. पोलक के व्याख्यानों की व्यवस्था की तथा उस समय कलकत्ते में जो केंद्रीय धारा-सभा थी उसमें कानून बनवाकर और

अधिक गिरमिटियों का दक्षिण अफ्रीका भेजा जाना रोक दिया।

सन् १६१० की फरवरी की पच्चीस तारीख को गोखले द्वारा रखा गया यह कानून भारत की धारा सभा ने स्वीकार कर लिया। इससे पहले उस समय के महान दाता सर रतन ताता ने पच्चीस हजार रुपए की रकम दक्षिण अफ्रीका भेजकर सत्याग्रहियों को सहायता पहुंचाई। लोकमत के प्रचंड विरोध के फलस्वरूप सत्याग्रहियों को दक्षिण अफ्रीका से देशनिकाला देने की प्रवृत्ति पर रोक लग गई तथा भारत भेजे गए पचहत्तर सत्याग्रहियों के जत्थे को दक्षिण अफ्रीका बुला लिया गया।

मि. पोलक को भारत में जो सफलता मिली उसकी तुलना में बापूजी को इंग्लैंड जाने में कुछ भी सफलता नहीं मिली, ऐसा कहा जा सकता है। वहां तो ब्रिटिश साम्राज्य के उपनिवेश मंत्री लार्ड क्रू ने उनको धमकी दी और दक्षिण अफ्रीका के भारतीय शिष्टमंडल में फूट डालने का भी प्रयास किया। परन्तु बापूजी की निष्ठा और सद्वृत्ति के सामने कुटिल राजनीति का वस नहीं चला। बापूजी को इंग्लैंड से खाली हाथ ही लौटना पड़ा। लंदन में होने वाली बातचीत के दौरान में भारतीयों के लिए दक्षिण अफ्रीका के मन्धाताओं ने तो यह चुनौती दे दी थी कि "दक्षिण अफ्रीका के कानून में गोरे-काले का भेद बना ही रहेगा और यदि भारतीय लोग ज्यादा विरोध करेंगे तो उन्हें और भी परेशानियां उठानी पड़ेंगी।" उस चुनौती को दृढ़ता और शान्तिपूर्वक बापूजी ने सुन लिया था। सत्याग्रह का संघर्ष बहुत दिन तक चलाने की आवश्यकता उनको प्रतीत हो रही थी। इस संबंध में 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' में बापूजी ने लिखा है :

"इस बार इंग्लैंड से लौटने वाला हमारा डेपुटेशन कोई अच्छी खबर नहीं ला सका। लार्ड एम्पटील की कही हुई बातों का असर भारतीय लोगों पर क्या होगा, इसकी मुझे चिन्ता नहीं थी। अन्त तक मेरे साथ कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर कौन-कौन जूझनेवाले हैं, यह मैं जानता था। सत्याग्रह के बारे में मेरे विचार और भी परिपक्व हुए थे। उसको व्यापकता और अलौकिकता को मैंने अधिक समझ लिया था। इसलिए मैं शान्त था। विलायत से लौटते समय मैंने स्टीमर में ही 'हिन्द स्वराज' लिखी थी। उसका हेतु केवल सत्याग्रह की भावना बताने का था। वह पुस्तक मेरी श्रद्धा का मानदंड है। इसलिए मेरे सामने यह प्रश्न ही नहीं था कि अब आगे की लड़ाई में मेरे साथ संख्या की दृष्टि में कितने सत्याग्रही होंगे।

"किन्तु पैसे के लिए मुझे चिंता थी। बहुत लम्बे समय तक सत्याग्रह का युद्ध चलाना आवश्यक दीखता था और हमारे पास पैसे नहीं थे, यह

भारी दुःख प्रतीत हो रहा था। उस समय में आज की तरह स्पष्ट रूप से नहीं समझता था कि पैसे के बिना ऐसी लड़ाई लड़ी जा सकती है, और पैसे के कारण कई वार लड़ाई दूषित हो जाती है। परन्तु मैं आस्तिक हूं। ईश्वर ने मेरा उस समय भी साथ दिया। मेरी भीड़ को उसने सम्हाला। एक ओर दक्षिण अफ्रीका की भूमि पर कदम रखते ही मुझे लोगों को हमारे शिष्टमंडल की असफलता की खबर देनी थी तो दूसरी ओर प्रभु ने पैसे की कठिनाई से मुझे मुक्त किया। केपटाऊन उतरते ही इंग्लैंड से तार आया कि सर रतन ताता ने पच्चीस हजार रुपए दिये हैं। उस समय के लिए इतनी रकम पर्याप्त थी। हमारा काम चल गया।"

बापूजी ने इंग्लैंड से चलते समय लार्ड एम्पटील को जो उत्तर दिया था उसे भी यहां देना अप्रासंगिक न होगा :

"मैं जिनकी ओर से बोल रहा हूं वे लोग गरीब हैं और संख्या में थोड़े हैं। लेकिन वे सब ऐसे हैं, कि अपनी मौत को हथेली पर लिए हुए हैं। उनकी लड़ाई व्यवहार और सिद्धांत दोनों के लिए है। यदि दो में से एक को छोड़ना पड़ेगा तो वे व्यवहार को छोड़कर सिद्धांत के लिए जूझेंगे। जनरल बोथा की शक्ति और सत्ता का हमें अनुमान है, परन्तु अपनी प्रतिज्ञा को उसकी तुलना में हम अधिक वजनदार मानते हैं। इसलिए प्रतिज्ञा के पालने के अतिरिक्त हम लोग बरबाद हो जाने के लिए तत्पर हैं। हम अपने धैर्य को बनाए रखेंगे। हमारा विश्वास है कि अपने निश्चय पर हम डटे रहेंगे तो जिस ईश्वर के नाम से हमने प्रतिज्ञा ली है वह उस प्रतिज्ञा को पार लगायगा। हां, जो थोड़े से लोग हैं वे प्रतिज्ञा का पालन करेंगे ही और आशा बनाए रखेंगे कि कष्टसहन करने की हमारी शक्ति अन्त में जाकर उनके हृदय को भेदेगी और वे 'एशियाटिक एक्ट' (एशिया वालों पर अर्थात् काली-पीली चमड़ी वालों पर रोक-थाम लगाने के लिए बनाया गया कानून) हटा देंगे।"

इस प्रकार संघर्ष की तुमुल रणभेरी को सुनकर और सुनाकर जब बापूजी लंदन से दक्षिण अफ्रीका लौटे तब समुद्र-यात्रा में उनको थोड़ा समय मिल गया। ट्रान्सवाल पहुंचकर तो उन्हें धधकते हुए दावानल में दुबारा जूझना ही था। पर यात्रा में मिलने वाले इस थोड़े से समय का उपयोग भी उन्होंने अपनी थकावट दूर करने में नहीं किया, न उन्होंने अपने मन का बोझ हलका करने के लिए समुद्र-यात्रा के आमोद-प्रमोद का लाभ लिया। उन्होंने अपनी सारी शक्ति जनता के लिए साहित्य-सृजन में लगा दी। बापूजी के स्वभाव की यह विशेषता थी कि जब चारों ओर घना अन्धकार छा जाता था और उनके साथी तथा दूसरे लोग निपट निराशा के सागर में डूबने लगते

थे तब बापूजी अपने चित्त को स्वस्थ रखकर अपने हृदय के गह्वर में बहुत ही गहराई तक चले जाते थे और अपने परिशुद्ध और संस्कारी हृदय में से बहुत ऊंचे प्रकार के आशा-मोती बीन लाते थे तथा इस प्रकार असंख्य भग्न-हृदय लोगों में आशा का संचार करके उन्हें प्रसन्नवदन बना देते थे।

ऐसा एक उच्च से उच्चतर मोती, या चिन्तामणि की तुलना में आ सके, ऐसा श्रेष्ठ रत्न बापूजी ने उस समुद्र यात्रा के समय अपने हृदय-तल से लाकर संसार के चरणों में धर दिया। बापूजी ने उस पुस्तक का नाम 'हिन्द-स्वराज्य' रखा। इसके बाद बरसों तक बापूजी के मौलिक साहित्य का प्रवाह चालू रहा, फिर भी 'हिन्द-स्वराज्य' का स्थान बापूजी की अनेक कृतियों में चोटी का रहा है। उसमें बापूजी ने अपने सारे जीवन की रूप-रेखा अंकित कर दी है। सत्याग्रह के सिद्धांत का मूल रहस्य उसमें स्पष्ट कर दिया गया है और बता दिया है कि एक मजदूर और सुसंस्कारी व्यक्ति अकेला हो और साधनहीन हो, तो भी वह उन मनुष्यों का मुकाबला सफलता-पूर्वक कर सकता है जो संख्या में कई गुने अधिक हों या लोभी, स्वार्थी और सैकड़ों हथियारों से सुसज्जित हों। उसमें यह भी प्रतिपादित किया गया है कि उच्च-से-उच्च बल और सादे-से-सादे जीवन को छोड़कर सच्ची विजय के लिए और कोई शक्ति संसार में नहीं है।

'हिन्द-स्वराज्य' लिखने के साथ-साथ लेखक ने अपना जीवन उसी राह पर ढालने के लिए कैसा पक्का संकल्प कर लिया था, इसका प्रमाण हमें उनके उस समय के पत्रों से मिलता है :

यूनियन केसल लाईन
आर. एम. एस. 'किल्डोनन केसल'
२४–११–०९

चि. मगनलाल,

हम कब मिल सकेंगे, पता नहीं। इसलिए सब बातों का उत्तर यहीं से लिख रहा हूं। इस बार स्टीमर में मैंने जो काम किया है उसकी कोई हद नहीं है। मि. वेस्ट आदि को जो मैंने पत्र और लेख भेजे हैं उसके द्वारा तुम्हें उस श्रम का पता चलेगा। मुझे बहुत कुछ कहना है, पर यह तो तभी हो सकता है जब हम मिल सकें। इस समय तो आवश्यक बात ही लिखूंगा।

चि. संतोक की स्थिति के बारे में पढ़कर सन्तोष हुआ।

फीनिक्स का नाम सिवा फीनिक्स के और कुछ न रखना ही उचित है। मैं चाहता हूं कि मेरा नाम भुला दिया जाय और यह चाहता हूं कि मेरा काम रहे। जब नाम भुला दिया जायगा तभी काम रहेगा। नाम आदि रखने-

करने की झंझट में फंसने का समय नहीं है। हम प्रयोग कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में नाम के पीछे क्यों पड़ें ? और जब नाम की बात आ जायगी तब हमें मध्यम शब्द खोजना पड़ेगा। ऐसा शब्द, जिसमें हिन्दू-मुसलमान का प्रश्न उठे ही नहीं। 'फीनिक्स' शब्द अनायास ही मिल गया है; और वह उत्तम है। पहले तो वह अंग्रेजी शब्द है, इसलिए जिनके प्रदेश में हम रह रहे हैं, उनका भी आदर होता है, फिर वह तटस्थ शब्द है। उसका अर्थ तो यह है कि फीनिक्स पक्षी अपनी राख में से ही फिर से पैदा होता है अर्थात् वह मरता नहीं है, ऐसी यह कथा है। सार यह कि फीनिक्स की भांति हम लोग भी राख हो जायंगे तो भी हम मरने वाले नहीं हैं, ऐसा हमारा विश्वास है। इसलिए फिलहाल तो फीनिक्स नाम ही पर्याप्त है। भविष्य में फिर देख लिया जायगा। इस समय तो हमारी राह और हमारी शक्ल फीनिक्स के जैसी ही है।

भाई ठक्कर को जो पत्र लिखा है वह पढ़ना।

—मोहनदास के आशीर्वाद

यूनियन केसल लाइन

२७–११–०९

चि. मगनलाल,

पैसे की स्थिति के बारे में मि. मेकीनमार का पत्र पढ़ने के बाद और मि. वेस्ट को पत्र लिखने के बाद मन में जो विचार उमड़ रहे हैं वे तुमको लिखना चाहता हूं। यह पत्र पुरुषोत्तमदास को पढ़ने के लिए देना।

फीनिक्स की कसौटी अब होने वाली है। जोहान्सबर्ग से अब पैसे नहीं मिलेंगे। हमारी प्रतिज्ञा है कि जबतक फीनिक्स में एक भी व्यक्ति मौजूद रहेगा तबतक कुछ नहीं तो अखबार का एक पृष्ट ही प्रकाशित करेंगे और लोगों में पहुंचायेंगे। वहां पर कुछ भी खटपट मत होने देना। कोई कुछ बोले, बर्दाश्त कर लेना। डरबन का आफिस बन्द करना पड़े तो हर्ज नहीं। यह याद रखना कि सदैव मुख्य बात को पकड़ना। इसके लिए और जो कुछ गौण करना पड़े, छोड़ना पड़े, छोड़ देना। मूल बात तो यही है कि चाहे कुछ भी हो, फीनिक्स छोड़ना नहीं है और अखबार अवश्य प्रकाशित करना है। इस बात को कायम रखने की खातिर यदि कुछ खोना पड़े तो भले। अखबार को मूर्त्ति बनाकर हम उसकी पूजा करना नहीं चाहते, किन्तु हम अपनी प्रतिज्ञा का पालन करना चाहते हैं। अखबार में जय नहीं है, जय प्रतिज्ञा में है। ट्रान्सवाल का कानून हटाने में कोई विशेषता नहीं है। प्रतिज्ञा के पालन में सर्वस्व है। ऐसा करने पर आत्मा का विकास होता है और हमारी सारी प्रवृत्ति का भेद यही है, वही होना चाहिए। तुम यह सूचित करो कि वेस्ट डरबन जाय, पर आफिस रहे। अथवा चाहो तो मणिलाल को भेजना।

मैं तुम दो ही व्यक्तियों को बतला रहा हूं कि यदि मणिलाल की इच्छा होगी, और बा की इजाजत होगी तो अब मणिलाल को सत्याग्रह-युद्ध में बलि चढ़ाना है। ऐसा करने पर उसका अस्थिर चित्त शान्त होगा। उसने मेरे पास ऐसी मांग भी की है। यदि ऐसा हो ही नहीं पायगा तो वह डरबन चला जाय, यही ठीक है, और तुम फीनिक्स रह सकोगे। यदि आवश्यक हो तभी ऐसा करना। मन में यह निश्चय कर लेना कि और कहीं से पैसे न भी मिलें तो तुम व्याकुल या विचलित न होओगे। यदि पैसे नहीं आयंगे तो और प्रकार से आमदनी करके भी तुम फीनिक्स का काम पूरा करोगे। यदि और कोई फीनिक्स में न रहे तो भी तुम फीनिक्स में मरते दम तक रहोगे ऐसा उद्देश्य घोषित करना। तुम्हारा शौर्य और लोग भी अपनायंगे, बशर्ते कि उसमें अविनय न हो; पर यह आत्म-स्थिरता का शौर्य हो। ऐसा शौर्य सच्चा होना चाहिए, दिखावे का नहीं। वह मुख का शौर्य (वाचिवीर्य) नहीं होना चाहिए। ऐसे ठोस शौर्य की प्रतिध्वनि उठे बिना हरगिज न रहेगी, यह निश्चयपूर्वक समझना।

और जो परिवर्त्तन आवश्यक हो करना। कुछ परिवर्त्तन यदि अनुचित जंचे तो भी उसे होने देना। हानि-लाभ के पचड़े में पड़कर अपने आग्रह को धरे रहना व्यर्थ है। अज्ञानवश हम यह मानते हैं कि अपने परिश्रम से हम रोटी पाते हैं। जिसने दांत दिये हैं वह दाना देता ही है, यह बात यदि ठीक समझ में आजाय तो उत्तम है।

—मोहनदास के आशीर्वाद

मगनकाका के नाम बापूजी ने जो गहरी बातें लिखी हैं उन्हीं के साथ-साथ रामदासकाका के लिए भी एक छोटा-सा पत्र लिखा है। इससे पता चलेगा कि अपने घर के जीवन में परिवर्त्तन करने के लिए बापूजी कितने तत्पर हो गए थे।

किल्डोनन केसल,
बुधवार,

चि. रामदास,

तुम्हारे लिए कुछ भी नहीं लाया हूं, इसलिए बापू पर गुस्सा मत करना। मुझे कोई वस्तु पसन्द ही नहीं आई। यूरोप की वस्तु पसन्द न आये, उसमें मैं क्या करता? मुझे तो हिन्दुस्तान का सबकुछ पसन्द है। यूरोप के लोग ठीक हैं, उनका रहन-सहन ठीक नहीं है।

—बापू के आशीर्वाद

: ३५ :

बापूजी का अद्भुत अनुष्ठान

डर तो यह था कि दक्षिण अफ्रीका पहुंचते ही बापूजी की गिरफ्तारी हो जायगी। 'किलडोनन केसल' स्टीमर से बापूजी ने जो पत्र लिखे उनमें बापू ने स्वयं यह संभावना प्रदर्शित की थी। मणिलालकाका को निम्न पत्र उन्होंने लिखा था :

किलडोनन केसल
ता. २४–११–०९

चि. मणिलाल,

अब रात के ९॥ बजे हैं। केपटाऊन तक अब पांच दिन की मंजिल बाकी है। दाहिंने हाथ से लिखते-लिखते मैं थक गया हूं इसलिए तुम्हें यह पत्र अब बायें हाथ से लिख रहा हूं। मुझे सीधा ही जेल जाना होगा, यह संभव है इसलिए यह पत्र लिख रहा हूं।

मेरे जेल जाने पर तुम प्रसन्न ही होओगे यह मैं मान लेता हूं, क्योंकि तुम समझदार हो। इस लड़ाई का भेद यह है कि जेल जाकर हम लोग खुश हों और खुश रहें।

फीनिक्स के बारे में तुमने प्रश्न किया, यह ठीक किया। हम आत्मा को किस प्रकार खोज सकें, और किस प्रकार देश-सेवा कर सकें, इसका पहले विचार करना होगा। इसके बाद ही फीनिक्स क्या है, यह समझाया जा सकेगा। आत्मा को खोजने के लिए सबसे पहले नीति को दृढ़ बनाना चाहिए। नीति का अर्थ है सत्य, ब्रह्मचर्य आदि गुणों का संपादन करना। ऐसा करने पर अपने-आप देशसेवा हो जायगी।

ऐसा करने में फीनिक्स बहुत सहायक है। मैं समझता हूं कि शहरों में, जहां पर मनुष्य बहुत ही गिचपिच रहते हैं, जहां बहुत सारा लालच मौजूद रहता है, वहां पर नीति प्राप्त होना बड़ा कठिन है। ज्ञानी पुरुषों ने फीनिक्स-जैसा एकांत स्थल दरशाया है। सही पाठशाला अनुभव है। जो अनुभव तुमने फीनिक्स में पाया वह और जगह नहीं दिया जा सकता।

—बापू के आशीर्वाद

जनता की धारणा और बापूजी की आशंका के विपरीत इस बार स्मट्स सरकार ने सत्याग्रहियों के प्रति अपनी नीति बदल दी।

उस समय सत्याग्रह-आन्दोलन की परिस्थिति बहुत नाजुक हो गई थी। १२ जुलाई १९०८ से—अर्थात् ट्रान्सवाल में रहने के अनुमति-पत्रों की हजारों की संख्या में होली जला देने के दिन से—जेल जाने का जो तांता बंधा था उसे अब डेढ़ वर्ष बीत चुका था। जो सत्याग्रही जेल की सजा पूरी करके छूटता था वह मुश्किल से दो-तीन सप्ताह का विराम लेकर दुबारा जेल चला जाता था। ट्रान्सवाल में भारतीयों की कुल आबादी का प्रायः एक-तिहाई हिस्सा जेल या देशनिकाले की सजा भुगत चुका था। ट्रान्सवाल में रहने वाले आठ हजार भारतीयों में से दो हजार तो तंग आकर ट्रान्सवाल छोड़ गए थे। दूसरी ओर स्मट्स सरकार के न्यायालयों द्वारा सत्याग्रहियों को दी गई सजाओं का क्रमांक ढाई हजार के ऊपर पहुंच चुका था। दक्षिण अफ्रीका के अन्य प्रांतों के कुछ सत्याग्रही ट्रान्सवाल में अपने भारतीय बन्धुओं की सहायता के लिए जाते थे सही, परन्तु नब्बे या पचानवे प्रतिशत सत्याग्रही ट्रान्सवाल के ही थे। बार-बार जेल जाते रहने के बाद उनका उत्साह ठंडा हो जाना स्वाभाविक ही था। वे किसी आध्यात्मिक साधना के लिए नहीं, अपना पेट पालने के लिए दक्षिण अफ्रीका आये थे और साग-सब्जी की फेरी या दूसरे छोटे-मोटे रोजगार करके अपना और परिवार का गुजारा करते थे। ऐसी हालत में यह स्वाभाविक ही था कि जेल जाने वालों की संख्या इतने लंबे समय के बाद कुछ हजार से घटकर कुछ सौ तक ही सीमित हो जाती। स्मट्स-सरकार राजनीति में कच्ची नहीं थी। उसने अनुमान लगाया कि कानून भंग करके जेल जाने वालों की बाढ़ जिस प्रकार कम हो गई है उसी प्रकार बचे-खुचे मुट्ठी-भर सत्याग्रही भी जेल की यातनाओं से थक जायंगे और सत्याग्रह की यह जिद अपने-आप बिल्कुल ठंडी पड़ जायगी। इसलिए बापूजीको गिरफ्तार करके नया बवंडर खड़ा करने से स्मट्स सरकार बचती रही। बापूजी लंदन से लौटने के बाद अनेक बार बिना अनुमति-पत्र के ट्रान्सवाल गये और उन्होंने स्मट्स की सरकार को पत्र लिखकर सूचित भी किया कि गरीब फेरी वालों को जब जेल में ठूंस दिया जाता है तब मेरे-जैसे अगुवा को, जो आपके कानून की दृष्टि से अधिक अपराधी है, जेल न भेजना अन्याय है। फिर भी स्मट्स-सरकार ने उन्हें गिरफ्तार नहीं किया।

बापूजी का बल, प्रतिष्ठा और प्रभाव बढ़ने न देने की दृष्टि से जब सरकार ने उनको गिरफ्तार नहीं किया तब उन्होंने स्वयं कारावास के कठिन-से-कठिन जीवन को अपनाया। अपने वचन पर जेल जाने वाले साथियों का साथ देने के लिए बापूजी ने टाल्स्टाय-वाड़ी में महान अनुष्ठान शुरू कर दिया।

इंग्लैंड से लौटकर बापूजी ने अपना गृहस्थाश्रम पूर्ण रूप से समेट लिया।

देश-सेवा का काम करने के साथ-साथ अबतक जो वकालत चल रही थी वह सदा के लिए बंद कर दी। उस समय जब वकालत का सिलसिला चालू रहता था तब बापूजी की मासिक आमदनी औसत आठ-दस हजार रुपये थी। बापूजी ने इस आय का मोह बिल्कुल छोड़ दिया। यह बात नहीं कि उन्होंने बैंक में कोई रकम जमा कर ली थी और उसके सूद से उनके और उनके परिवार का पेट पालने की गुंजाइश हो गई थी; यह भी नहीं कि 'इंडियन-ओपीनियन' अखबार के लेखक के नाते उनको कुछ मेहनताना मिलता था अथवा सत्याग्रह के संचालन के लिए प्राप्त चंदे से ही खर्च निकालने की कोई व्यवस्था हो गई थी। बापूजी ने अपने को और अपने बच्चों को केवल समाज के भरोसे छोड़ दिया था। उन्हें विश्वास था कि जब तक समाज की सेवा का काम अपनी शक्ति से किया जायगा, तबतक सेवक की रोटी की व्यवस्था कर देने की सद्बुद्धि भगवान समाज को देगा ही, और उनके विश्वास के अनुसार एक-न-एक मित्र उनका निजी खर्च बिना किसी शोहरत के उठाता रहा।

जब बापूजी ने देखा कि जेल जाने वाले सत्याग्रहियों के बाल-बच्चों की परवरिश का सवाल कठिन होता जा रहा है तब उन्होंने उन सारे परिवार वालों को किसी एक जगह एकत्र करने का विचार किया। अलग-अलग रहने में मकानों का किराया ही इतना चुकाना पड़ता था, जिससे पच्चीस-तीस परिवारों की गुजर हो सकती थी।

फीनिक्स से जोहान्सबर्ग ३०० मील से भी अधिक दूर था और वह प्रांत भी दूसरा था। इसलिए ट्रांसवाल में ही कहीं शहर से बाहर जगह ढूंढ़ना आवश्यक था। मि. कैलनबैक ने लोली स्टेशन के पास ११०० एकड़ जमीन खरीदी। ४ जून १९१० को वह खरीदी गई और दो दिन बाद ही कई लोगों के साथ बापूजी वहां रहने के लिए पहुंच गए। इस प्रकार 'हिन्द-स्वराज्य' लिखने के ७ महीने पूरे होने से पहले ही बापूजी ने उस पुस्तक के आदर्श पर एक बड़ी मंजिल तय की।

उस समय बापूजी की आयु चालीस साल की थी। एक बैरिस्टर के लिए कमाई करने का यह मध्याह्न समझना चाहिए। फिर जोहान्सबर्ग जैसी सुवर्णनगरी में बापूजी का काम तो जमा-जमाया था। बीच बाजार में उनका आफिस था, गोरे सोलिसिटर, गोरे स्टेनोग्राफर, गोरे क्लर्क आदि का पूरा समाज था। प्रतिष्ठा की कोई कमी नहीं थी। बापूजी चाहते तो खूब कमाते और खूब दान भी देते। परन्तु दाता कहलाने का भी उनको मोह नहीं रहा था। एक बार की बात है कि एक व्यक्ति को मुसीबत के समय बापूजी ने तीस पौंड उधार दे दिये। उसे बड़ी जरूरत थी। बापूजी के पास कुछ रकम तो जमा रहती नहीं थी, उनकी कमाई का प्रायः सारा

धन हाथ-के-हाथ फीनिक्स आश्रम और वहां का साप्ताहिक पत्र चलाने में खर्च हो जाता था। इसलिए उन्होंने अपने पास धरोहर रखे हुए चंदे के पैसे से उस व्यक्ति को सहायता दे दी। लेकिन देने के बाद रात को उन्हें नींद नहीं आई। इस प्रसंग की चर्चा करते हुए बापूजी ने फीनिक्स के आश्रम-वासी मित्र रावजी भाई से कहा था: "सोने गया तो नींद नहीं आई। दिल में आया कि मुझसे ऐसा पाप क्यों हुआ? उस भाई के साथ मोहब्बत रखने के लिए चंदे का पैसा देने का मुझे क्या अधिकार था? यदि वे पैसे जल्दी नहीं मिले, और ऐसी दशा में अकस्मात् मेरी मृत्यु हो जाय तो मैं उस ऋण को कैसे अदा करूंगा? इन विचारों से मेरे हृदय की वेदना बेहद बढ़ गई। ईश्वर का स्मरण किया और हृदय में दृढ़ संकल्प किया कि भविष्य में आम चंदे का उपयोग कदापि किसी व्यक्ति के काम के लिए नहीं करूंगा। उस रकम को शीघ्र-से-शीघ्र जमा कर देने का निश्चय किया, तब कहीं नींद आई।"

दूसरे दिन सवेरे अपने दफ्तर में जाते ही बापूजी को एक तार मिला, जिसमें नव्वे भारतवासियों पर ट्रांसवाल की सरहद में गैरकानूनी ढंग से दाखिल होने के इल्जाम में मुकदमा चलाने की बात थी। उसी क्षण बापूजी ट्रेन में सवार होकर उस गांव में पहुंच गए। सारे किस्से की पक्की तरह जांच कर ली और वह मुकदमा अपने हाथ में लेने से पहले ही अपने नियम के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति से वकालत के शुल्क की तीन-तीन गिन्नियां प्राप्त कीं, साथ ही एक गिन्नी चंदे के रूप में भी मांग ली और मैजिस्ट्रेट के सामने बहस करके उन भारतीयों को निरपराध साबित किया।

बापूजी के लिए एक ही दिन में हजार-दो हजार रुपये कमा लेना बायें हाथ का खेल था, फिर भी उन्होंने धन का ढेर लगाने में अपनी सामर्थ्य की वृद्धि नहीं देखी। जीवन की शुद्धि और महात्मा टाल्स्टाय की तरह किसान का श्रमपूर्ण और सादा जीवन अपनाने में अपनी सामर्थ्य और शक्ति का अखंड स्रोत उनकी दृष्टि में आया।

जब बापूजी जोहान्सबर्ग को छोड़कर टाल्स्टाय-वाड़ी के चौड़े मैदान में जाकर बसे, तब वहां रात को सिर छिपाने के लिए एक छप्पर तक नहीं थी। लोटा-भर पानी के लिए आध मील से कम नहीं चलना पड़ता था। बाजार इक्कीस मील दूर जोहान्सबर्ग में था और नित्य की आवश्यकताओं के लिए इतनी दूर से अन्न आदि सामान ढोकर लाना पड़ता था।

परन्तु बापूजी का व्यक्तित्व इतना शीतल, मधुर और उत्साहप्रद था कि उनके साथ अनेक व्यक्ति टाल्स्टाय फार्म में रहने के लिए लालायित हो उठे। तामिल, आंध्रवासी, गुजराती, बिहारी और हिन्दू, मुसलमान, पारसी,

ईसाई सभी प्रकार के लोगों का वहां पर समाज जुड़ गया। जेल जाने वाले सत्याग्रहियों के परिवारों की महिलाएं—बच्चे तो थे ही—और हट्ट-कट्टे नौजवान तथा ढलती आयु वाले भी वहां जाकर बापूजी के पास अपना जीवन बिताने में अपना सौभाग्य समझते थे। उस समय टाल्स्टाय-वाड़ी का संक्षिप्त नाम 'फार्म' प्रचलित हो गया था। दो वर्ष तक बापू इस फार्म पर रहे और इसके संस्कार और चारित्र्य का विकास और संगठन करने में अपनी सारी शक्ति लगा दी। इतने थोड़े समय में 'फार्म' की ख्याति सारे दक्षिण अफ्रीका में फैल गई। फीनिक्स का प्रभाव वहां के सत्याग्रहियों पर कम नहीं था, परन्तु 'फार्म' के सामने फीनिक्सवासियों के लिए और कई भारतवासियों के लिए भी फार्म अथवा लोली के नाम का उच्चारण स्वर्ग या अमरपुरी के नाम-जैसा कर्णप्रिय, सुखद और उत्साहवर्द्धक बन गया था। लोली वह रेलवे स्टेशन था जहां से टाल्स्टाय फार्म मील-भर दूर था। फीनिक्सवासियों के तो प्राण मानो फार्म में ही बसे हुए थे। पग-पग पर फार्म की चर्चा होती रहती थी।

एक दिन मैंने सुना कि बापूजी ने चाय का परित्याग कर दिया है और चाय की जगह गेहूं को भूनकर उसका चूरा प्रयोग में ला रहे हैं। एक बात और सुनी कि सवेरे से लेकर दोपहर तक बापूजी और श्री कैलनबैक हब्शी मजदूरों के साथ खेतों में मजदूरी करते हैं, वहां की सख्त जमीन में फल के पौधे लगाने के लिए दो-दो फुट गहरे खोदने का काम चल रहा है। जिसे खोदने में हब्शी तक थक जाते हैं उसको बापूजी उनकी-जैसी फुर्ती से खोदकर तैयार कर देते हैं। दूसरी ओर उनके आहार-प्रयोग चल रहे हैं, इस कारण उनके शरीर में कमजोरी आ गई है। कभी-कभी तो चक्कर खाकर गिर पडने की नौबत आ जाती है। फिर भी वह अपना काम छोड़ते नहीं हैं। इतना ही नहीं, बापूजी हब्शी-मजदूर के जितना ही काम करने का आग्रह रखते हैं। कैलनबैक इस काम में बापूजी से भी बढ़ जाते हैं। उनकी बराबरी कोई नहीं कर सकता है।

जमनादासकाका जब फार्म पर पहुचे तो उनके नियमित पत्र फीनिक्स आने लगे। उन पत्रों में विशेषतः अलोने भोजन और बिना चीनी के पेय की बातें रहती थीं। दूसरे कई लोग भी अलोना भोजन करते थे और चीनी छोड़ देते थे। किस-किसने अलोना आरंभ किया, किसने उसे कायम रखा, कौन थक गए, अलोना करने वाले क्या खाते हैं, बापू स्वयं क्या लेते हैं, इन चर्चाओं से जमनादासकाका के पत्र भरे रहते थे। उन पत्रों के कारण, भोजन के समय हमारे घर में इस बात की बहस रहती थी कि अपनी रसोई में क्या-क्या परिवर्तन किया जाय। फलतः थोड़े ही महीनों में हमारे घर की रसोई

में काफी परिवर्तन हो गया। कभी-कभी मगनकाका, जिनको बहुत तेज मिर्च-मसाले के बिना खाना भाता ही नहीं था, नमक बिल्कुल छोड़ देते थे। हमारे भोजन की सादगी और सात्विकता दिनोंदिन बढ़ती जाती थी।

जमनादासकाका के पत्र में एक बार खबर आई कि यहां आजकल लकड़ी चीरने का काम चल रहा है। बापूजी और श्री कैलनबैक के साथ फार्म के दूसरे जवान लोग भी अपनी कुल्हाड़ियां लेकर मध्याह्न तक लकड़ी चीरते हैं। सभी लोग मुलायम और आसानी से फटने वाली लकड़ियां चुनकर चीरते हैं और गठीली लकड़ियां छोड़कर चले जाते हैं। ऐसी गांठ वाली लकड़ियों को चीरने का काम बापूजी ने स्वयं अपने ऊपर ले रखा है। उन्हें चीरते-चीरते वह पसीने से तर-बतर हो जाते हैं। दूसरे लोग बीच-बीच में कुल्हाड़ी छोड़कर आराम के लिए इधर-उधर हो जाते हैं; परन्तु ऐसी कड़ी गांठों को चीरते हुए भी बापूजी की कुल्हाड़ी अविरल रूप से चलती रहती है।

फार्म से जो खबर आती थी उसको तत्काल अमल में लाने का मगनकाका आग्रह रखते थे। ऊपर वाली चिट्ठी पढ़ने के बाद हमारे यहां भी अपने हाथ से लकड़ी चीरने का काम शुरू हो गया। फीनिक्स के आस-पास 'वाटलस' विलायती बबूल के वन लगाए जाते थे। उसी ईंधन का हमारे यहां प्रयोग होता था। चीरने में वह लकड़ी बबूल से भी सख्त थी; सवेरे नहाने से पहले बारी-बारी से पिताजी और मगनकाका उन लकड़ियों को चीरते थे। मुझे यह गिनने में आनन्द आता था कि किसकी कितनी चोट के बाद टुकड़ा अलग होता था।

: ३६ :

बापूजी की तेजस्विता

पहली बार जब बापूजी का दर्शन हुआ तब मैं सात वर्ष का बालक था। तब वह संसार की दृष्टि में अलौकिक नहीं बने थे। मेरे लिए वह घर के साधारण बुजुर्ग से अधिक नहीं थे। उन दिनों के प्रसंग बहुत स्पष्ट नहीं हैं। उसके बाद दस वर्ष की आयु में दुबारा बापू को देखने का प्रसंग आया।

मगनकाका एक दिन फीनिक्स में दोपहर को समाचार लाये कि बापूजी डरबन आ गए हैं, रात को फीनिक्स आयंगे और कल हमारे घर पर ही

भोजन करेंगे। साथ-ही-साथ उनके भोजन में क्या-क्या किस मात्रा में होना चाहिए इसकी चर्चा भी उन्होंने मेरी माताजी से कर ली। होली-दिवाली के पर्व के समय जिस प्रकार घर में रसोई की धूम मचती है वैसी ही धूम हमारे घर में शुरू हो गई। किसी भी चीज में नमक न डालकर अनेक प्रकार के व्यंजन तैयार करने में माताजी और चाचीजी व्यस्त हो गईं। मैं भी सारा समय उनकी मदद में लगा रहा। मैंने मूंगफली छीली, चीनी पीसी, बादाम तोड़े और जो कुछ माताजी ने बताया किया। तैयार होने वाली चीजें ठीक बनी हैं या नहीं यह चखकर बताने का लाभ भी मैंने पाया।

दूसरे दिन सवेरे उठते ही मैं बापूजी के घर पहुंचा। रात को वह आ गए थे। अब मैं इतना छोटा नहीं रह गया था कि पहले की तरह उनके कंधे पर चढ़ जाता। बापूजी फीनिक्स में एक दिन रुकने वाले थे। इसलिए काम में वह इतने व्यस्त रहे कि मुझसे खेलने, बात करने की उनको फुरसत ही नहीं थी। फिर भी मैं बहुत देर तक उनकी अंगुली पकड़े-पकड़े उनके साथ घूमता रहा।

फीनिक्स के छापेखाने के मुख्य कार्यकर्ताओं के साथ बातचीत करने में बापूजी का सवेरे का सारा समय बीता। सारे समय उनके मुख के भावों को देखते रहने में मुझे थकावट नहीं आई। फीनिक्स के बड़े-बड़े आदमी भी बापूजी के सामने बहुत छोटे मालूम दे रहे थे। बापूजी के मुख से प्रत्येक शब्द बहुत गम्भीरता से निकलता था और सुनने वाले उनके एक-एक वाक्य से अधिक चिंतन में और गहरे विचार में गोता लगाते प्रतीत होते थे। मध्याह्न के समय प्रायः एक बजे बापूजी हमारे घर पर भोजन के लिए आये। घर में दो बड़ी-बड़ी मेजें थीं। उनको जोड़कर उनपर लम्बी सफेद चादर बिछा दी गई थी। दोनों सिरों पर और बाजुओं पर दस-बारह कुर्सियां थोड़े-थोड़े अन्तर पर रख दी गई थीं। मेज पर खीर, तश्तरियां और चपातियां रखी गई थीं। फिर केले, कटे हुए टमाटर, टमाटर का साग, संतरे, मोसम्बी, नीबू, मूंगफली के दाने, मूंगफली का पाक, मूंगफली को पीसकर बनाया हुआ मक्खन (नट-बटर) और अन्य कई वस्तुएं करीने से सजाकर रख दी गई थीं। आठ-दस आदमियों के साथ बापूजी आये। एक तरफ की बीज की कुर्सी पर वह स्वयं बैठे और मेज की सारी चीजें जांचकर अपने दोनों ओर बैठे हुए व्यक्तियों की थाली में परोसने लगे। भोजन शुरू हुआ। खीर, रोटी और तरकारी का भोजन समाप्त हो चुकने के बाद फलों की बारी आई। तश्तरी से उठा-उठाकर केले, नारंगी आदि अपने पासवालों को और दूर बैठे हुओं को भी पहुंचाने के बाद बापूजी ने स्वयं रोटी-साग, फल आदि पांच-छः चीजें लीं। उनके सामने की कुर्सी पर बैठा-बैठा मैं यह सब देखता

रहा। प्रायः डेढ़ घंटे तक बापूजी के भोजन का क्रम चलता रहा। भोजन के साथ-साथ बापूजी ने अपने काम के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें कीं। उन्होंने वह डेढ़ घंटा बेकार नहीं जाने दिया।

भोजन के बाद बापूजी सीधे प्रेस में चले गए और फिर काम में लग गए।

संध्या के समय रविवार न होन पर भी बापूजी के घर पर बैठक हुई। उन दिनों बैठकें रविवार के मध्याह्न में तीन से पांच बजे तक के समय में हुआ करती थीं और अंग्रेजी तथ गुजराती भजन गाकर समाप्त हो जाती थीं। बापूजी के होने के कारण उस दिन रात में देर तक बैठक चलती रही। मैं तो जल्दी ही सो गया था। बापूजी कब सोये, इसका पता मुझे नहीं चला।

अगले दिन सवेरे बापूजी ने डरबन के लिए प्रस्थान किया। मेरे पिताजी भी उनके साथ गये। मुझे भी डरबन तक उनके साथ जाने का मौका मिला। डरबन पहुंचकर हम लोग सीधे 'पोर्ट' (बन्दरगाह) पर गये। मि. पोलक उसी दिन हिन्दुस्तान से लौटने वाले थे, इसलिए उनके स्वागत के लिए अनेक हिन्दू, मुसलमान, पारसी आदि बड़े-बड़े लोग वहां इकट्ठे हुए थे। स्टीमर को बन्दरगाह में प्रवेश मिल गया था, परन्तु अभी किनारे लगने में थोड़ी देर थी। बापूजी रुस्तमजी सेठ, दाऊद सेठ, उमर सेठ आदि डरबन के नेताओं के साथ बातचीत कर रहे थे। किनारे जिस जगह स्टीमर लगने वाला था, वहां से करीब बीस कदम की दूरी पर एक बड़ा गोदाम था। उसकी छाया में वे सब लोग खड़े थे। उन लोगों से अलग होकर मैं अपने पिताजी के साथ स्टीमर लगने का स्थान देखने के लिए पहुंचा।

धीरे-धीरे स्टीमर आकर किनारे लग गया। उतरने के लिए सीढ़ी जमीन पर लगा दी गई। उस सीढ़ी से एक ओर कुछ पांच-सात कदम पर, मैं और पिताजी खड़े थे। स्टीमर के ऊपर के डेक पर श्री पोलक खड़े थे। उनके साथ पिताजी ने कुशल-मंगल की बातें शुरू कीं। मेरा ध्यान उस ओर था, जहां स्टीमर को जमीन में गड़े खम्भों से मोटे-मोटे रस्सों द्वारा बांधा जा रहा था। इसी बीच कोई बीस-पच्चीस बरस का एक अंग्रेज जवान, जो बन्दरगाह का कोई कर्मचारी होगा, वहां आया और हमारे तथा स्टीमर के बीच जो संकरी जगह थी उसमें से होकर दूसरी तरफ निकल गया। जाते-जाते उद्दंडता के साथ उसने मेरे पिताजी से कहा, "चलो, हटो यहां से।" उसको निकलने के लिए जगह चाहिए, यह समझकर पिताजी जहां खड़े थे वहां से एक कदम पीछे की ओर हट गए और पोलक साहब से बातें करते

रहे। मिनट-भर भी तो नहीं बीता होगा कि वह गोरा जवान फिर वहां आया और बोला, "चलो, ह—ट जाओ।" पिताजी हटे नहीं और वहीं खड़े-खड़े पोलक साहब से बातें करते रहे। यह देखकर उस अफसर का मिजाज गरम हो गया और वह गरजकर पिताजी से बोला, "अबे सुनता क्यों नहीं ? इस सीढ़ी के पास से हटने के लिए तुझसे कह रहा हूं। हट क्यों नहीं जाता ? हटो इधर से।" कहकर वह पिताजी को धक्का देने के लिए आगे बढ़ा। पिताजी उसको कुछ उत्तर दें या वहां से हटें इससे पहले बापूजी और दूसरे और लोगों का ध्यान उस ओर गया। वह युवक जिस तेजी से चिल्लाकर बोला था उससे दुगनी ऊंची आवाज में बापूजी ने डांट लगाई—He shan't move an inch अर्थात् वह एक इंच भी नहीं हटेगा। तीन ही शब्द की यह गर्जना इतनी तीखी थी कि आकाश गूंज उठा। वह अंग्रेज इस अचानक हमले से चौंक उठा और पिताजी की ओर से मुड़कर बापूजी के पास पहुंचा। गुस्से में भरा वह बोला, "क्यों नहीं हटेगा ? उसे हटना ही पड़ेगा। जहाज पर कुछ गड़बड़ी करनी है क्या ?" बापूजी का पुण्य-प्रकोप प्रज्वलित हो उठा। वह गरजकर बोले, "नहीं—नहीं, वह एक इंच भी नहीं हटेगा। तुम क्या करना चाहते हो ?" झगड़ा आगे बढ़े, इससे पहले ही कुछ बड़े अंग्रेज अफसर वहां पर जमा हो गए और उस अफसर को समझाते हुए कहने लगे, "यह तो गांधी है, मामूली कुली नहीं है। इससे तुम क्यों झगड़ रहे हो ? यह और इसके साथी ऐसे नहीं हैं जो स्टीमर पर कुछ गड़बड़ी करें।" यह कह वे उस आदमी को बापूजी के पास से अलग ले गए। यह देख बापूजी के आसपास हिन्दियों की जो भीड़ इकट्ठी हो गई थी, उसने तथा स्टीमर पर के सभी हिन्दी-यात्रियों ने एक-स्वर में "शरम शरम" (Shame, Shame) के नारे लगाये। वह बेचारा खिसिया गया और सब भारतीयों ने अपने स्वाभिमान का गौरव महसूस किया।

मि० पोलक आदि से बातचीत कर शाम के समय बापूजी डरबन से सीधे जोहान्सबर्ग लौट गए।

मेरी इच्छा बापूजी के साथ टाल्स्टाय-वाड़ी जाने की थी पर वह पूरी नहीं हुई। बापूजी जाते समय मुझसे कहते गए कि तुम टाल्स्टाय-वाड़ी नहीं जा सके, पर देवदास को तुम्हारे पास फीनिक्स में रहने को भेजूंगा। वह और तुम साथ-साथ फीनिक्स में रहोगे तो ज्यादा मजा रहेगा।

: ३७ :

देवदासकाका

जैसा कि बापूजी ने मुझे आश्वासन दिया था उन्होंने अपन छोटे पुत्र देवदासकाका को टाल्स्टाय फार्म से फीनिक्स भेज दिया। बात यह थी कि जेल जानेवाले सत्याग्रहियों की छावनी के रूप में तथा आदर्श श्रमिक का जीवन अपनाने के प्रयोग-क्षेत्र के रूप में टाल्स्टाय-फार्म श्रेष्ठ स्थान था; परन्तु विद्या-प्राप्ति के लिए वहां संतोषप्रद व्यवस्था नहीं थी। जीवन की बुनियाद को अधिक ठोस बनाने के लिए और ज्ञान तथा संस्कार दोनों का गहरा अनुशीलन करने के लिए बापूजी के विचार में फीनिक्स का स्थान अधिक महत्वपूर्ण था। इसी वजह से उन्होंने देवदासकाका को फीनिक्स भेजा और उनकी पढ़ाई का उत्तरदायित्व मगनकाका तथा पिताजी को सौंपा।

निश्चित दिन ट्रेन से देवदासकाका ही उतरे। कार्यवश बापूजी डरबन में रुक गए थे। दो मिनट तक तो मैं देवदासकाका को पहचान भी नहीं सका। उनका ऊंचा-पतला शरीर, मामूली कोट-पतलून और छोटे-छोटे बाल देखकर मुश्किल से मैं निश्चय कर पाया कि सचमुच यही देवदासकाका हैं।

स्टेशन से ढाई मील का पैदल रास्ता पूरा होने तक मैं बड़े गौर से देवदासकाका का अवलोकन करता रहा। वह क्या व कैसे बोलते हैं, क्या देखते हैं, उनकी आवाज में कैसा परिवर्तन हुआ है, ये सब मेरे लिए जानने की बातें थीं। तीन बरस पहले जब हम एक साथ खेलते-कूदते थे, हम लोगों को कंघे और ब्रश से अपने बाल संवारने में करीब आधा घंटा लग जाता था। फार्म से लौटकर आनेवाले देवदासकाका में इतना परिवर्तन होगा, इस बात की मुझे कल्पना तक न थी। कुछ दूर तक हम सब चुपचाप चलते रहे। फिर देवदासकाका ने मौन भंग किया और उन्होंने श्रीवीरजीभाई से पूछा, "आप मुझे कितने दिन में कम्पोज करना सिखा देंगे?" वीरजी फीनिक्स प्रेस के गुजराती विभाग के फोरमैन थे और देवदासकाका को लेने फीनिक्स स्टेशन आये थे। घर पहुंचने तक इसी सिलसिले में बात होती रही। उस सारी बात का सार मैंने यह निकाला कि छापेखाने में कम्पोज करने का काम सीखने के लिए बापूजी ने उनको तीन महीने के लिए फीनिक्स भेजा है। इसके बाद उनको फिर फार्म लौटना है और फीनिक्स में भी फार्म के नियमों का पालन करना है।

दूसरे दिन बापूजी कुछ घंटे के लिए फीनिक्स आये। उन्होंने देवदास-

काका की पढ़ाई के बारे में मेरे पिताजी और मगनकाका से बातचीत की। अलोने आहार का आरम्भ कर देने के लिए बापूजी ने देवदासकाका को कहा। मगनकाका आदि ने उनसे अनुरोध किया कि अलोने-व्रत की कड़ाई कम कर दी जाय, परन्तु बापूजी अपनी बात पर अडिग रहे। केवल रविवार के दिन नमकीन पदार्थ खाने का अपवाद छोड़कर शेष दिन अलोने का आग्रह रखने के लिए उन्होंने देवदासकाका को समझाया और यह बात उनके मन पर जमादी।

दूसरी बात देवदासकाका के लिए बापूजी ने यह तय की कि प्रति दिन दुपहरी में दो से चार बजे तक कुदाल लेकर खेत में खोदने के लिए जाना चाहिए। ये दो बातें निश्चित करने के बाद बापूजी फिर जोहान्स-बर्ग लौट गए।

इस बार जब बापूजी आये थे तब उनके नियमों में एक कठोर नियम और बढ़ गया था। नमक की तरह चीनी का भी उन्होंने परित्याग कर दिया था। चीनी छोड़ देने के कारण उनके भोजन के लिए रसोईघर में पहले के समान कई चीजें तैयार करने की सुविधा मेरी माताजी को नहीं मिली।

देवदासकाका के आने पर मेरा व्यक्तित्व मानो उनमें समा गया। मैं उन्हीं के साथ-साथ रहने लगा। पढ़ने-लिखने, खेलने, खाने या और कोई काम करने का विचार मैं उनके बिना नहीं कर पाता था। वह मेरे लिए 'बड़े विद्यार्थी' (मानीटर) तो थे ही, साथ-साथ पूर्णतया मेरे नेता भी बन गए। उनका कपड़े पहनने, बटन लगाने, दौड़ने, कुदाल पकड़ने और नाक साफ करने तक का ढंग अपनाने के लिए मैं सतत प्रयत्न करता था। उनके कार्यक्रम के साथ-साथ मेरा कार्यक्रम भी अपने-आप निश्चित हो गया।

सवेरे उठकर नहाने-धोने के बाद भोजन के समय तक हम दोनों गुजराती, गणित, सुलेखन और अंग्रेजी का अध्ययन करते थे। पिताजी हमें पढ़ाते थे। देवदासकाका के अलोने-व्रत में मैंने उनका साथ दिया। जब वह छापेखाने में कम्पोजिंग सीखने जाते, मैं घर में बैठकर पढ़ता था। फिर दो बजे से चार बजे तक मगनकाका के साथ हम लोग खोदने का काम करते थे और संध्या के समय खेल-कूदकर सो जाते थे।

आयु में देवदासकाका मुझसे अधिक बड़े नहीं थे, परन्तु वह अपने को बालक महसूस करते हों, ऐसा मालूम नहीं पड़ता था। बड़ों के साथ बड़ों की तरह बरतते थे। वैसे, सभी के प्रति विनय रखते थे, लेकिन मगनकाका का आदर वह विशेष रूप से करते थे। बगीचे में दोपहर के समय जब मगन-

काका हम दोनों को अपने साथ खोदने के लिए ले जाते थे; तब मैं उनका भय मानकर उनके इशारे पर जिस प्रकार काम करता था उसी प्रकार देवदासकाका भी। उनको अपना बड़ा समझकर नम्रतापूर्वक उनकी सूचना का पालन करता था। मगनकाका के साथ शायद ही वह बहस करते थे। एक ओर देवदासकाका, और दूसरी ओर मैं और बीच में मगनकाका, इस प्रकार हमारी कुदाली सतत आगे-ही-आगे बढ़ती जाती थी।

हम दोनों चाहे कितने ही थक जायं, तबतक अपना हाथ नहीं रोकते थे जबतक मगनकाका खुद विश्राम न लें। मगनकाका विश्राम लेते भी थे तो मुश्किल से दो-तीन मिनट रुककर फिर से कुदाल चलाने लगते थे। सम्भव है कि यहां जो वर्णन कर रहा हूं वह फीका मालूम देता हो, परन्तु खोदने में हमें जो आनन्द और रस आता था वह अवर्णनीय था। इतना कठिन परिश्रम होते हुए भी पता नहीं चलता था कि दो घंटे कब बीत गए। मुझे कोई दिन ऐसा याद नहीं आता, जब हमारे मन में आया हो कि इस परिश्रम से कैसे बचें। पसीने के मोती ज्यों-ज्यों बढ़ते जाते थे और हाथ के फफोले ज्यों-ज्यों कड़े पड़ते जाते थे, त्यों-त्यों हमारा आनन्द बढ़ता था। वैसे, मगनकाका का गुस्सा बड़ा तेज था, लेकिन काम के इन घंटों में कभी उन्होंने गुस्सा किया हो, ऐसा मुझे याद नहीं है। लगभग सारा काम मौन रहकर होता था। बीच-बीच में थोड़ा-सा मधुर विनोद और हँसी आदि करके मगनकाका हमारा उत्साह बढ़ाते थे। जैसे मेरा अपनापन देवदासकाका के पास खो जाता था, उसी प्रकार मगनकाका के पास हम दोनों का व्यक्तित्व खो जाता था। मगनकाका का संकल्प, उनका परिश्रम उनके हाथ की सुघड़ता, उनका उत्साह और एक के बाद एक तालबद्ध पड़ने वाली उनकी कुदाल की चोटों का प्रवाह हमें अपने में समा लेता था। उस समय हमें इस बात का जरा भी आभास नहीं था कि हमारा कुदाल चलाने का यह वर्ग कितना महत्वपूर्ण है और मगनकाका की महत्ता का भान तो था ही नहीं। वास्तव में इस सारी क्रिया ने बड़े भारी रसायन का काम किया—ऐसा रसायन कि जिसके फलस्वरूप वर्ष-सवा-वर्ष बाद ही हम-आधे आदमी से प्रायः पूरे आदमी बन गए।

रविवार का दिन हमारे लिए मौज का दिन होता था। उस दिन काम की और पढ़ने की छुट्टी के साथ-साथ अलोने की भी छुट्टी रहती थी। इसलिए हमारा उत्साह बेहद बढ़ जाता था। घर में उस दिन मसालेदार गर्म-गर्म भोजन मिलता था और मानो छः दिन का नमक एक ही दिन में खा लेने के लिए हम नमकीन चीजों पर हाथ धोकर टूट पड़ते थे। भोजन करके दूर तक घूमने जाते थे, दौड़ते थे, पतंग उड़ाते थे और बागवानी

भी करते थ। इस प्रकार तीन महीने तक हमारा यह कार्यक्रम चलता रहा। इतने समय में मानो एक युग बीत गया हो, ऐसा मुझे जान पड़ा। सूनापन और निरुत्साह अदृश्य हो गया और नई-नई बातें सीखने और जानने की उत्सुकता से जीवन रसमय बन गया।

तीन महीने समाप्त होने पर देवदासकाका के साथ मुझे फार्म जाने को मिलेगा या नहीं, इस चिन्ता में मैं था; लेकिन जब इस बात का भरोसा हो गया कि तीन महीने समाप्त होते ही देवदासकाका चले जानेवाले नहीं हैं, तब मुझे शांति हुई। तबतक टाल्स्टाय-बाड़ी से पूज्य बा फीनिक्स आ गई थीं। बापूजी का घर खुल गया था। मैं अपने घर और देवदासकाका अपने घर भोजन, शयन आदि करने लगे थे। फिर भी हमारा सहवास जरा भी शिथिल नहीं हुआ। हमारी पढ़ाई और विकास का क्रम साथ-ही-साथ सतत आगे बढ़ता जाता था।

: ३८ :

गोखलेजी का स्मरणीय प्रवास

एक दिन सवेरे नित्य से कोई दो घंटे पहले मगनकाका प्रेस से घर लौट आये। उस समय पूज्य बा भी हमारे घर पर ही थीं। कोई खास बात न हो तो प्रेस के समय में मगनकाका घर नहीं आया करते थे। मैं उनके पीछे हो लिया। वह सीधे बा के पास गये और बोले, "बापू का पत्र है, उनको पगड़ी चाहिए। माननीय गोखलेजी आने वाले हैं। उनको लिवाने के लिए बापू को केपटाउन जाना होगा। जब गोखलेजी जहाज से उतरेंगे, तब उनके सम्मान के लिए सिर पर पगड़ी पहनकर ही जाना बापू आवश्यक समझते हैं।"

बापूजी की पगड़ी की शोहरत तो मैंने बहुत सुनी थी, परन्तु उसे देखा नहीं था। फिर भी अखबारों के ढेर में चित्र और फोटो आदि देखा करता था। उन चित्रों में कई ऐसे होते थे जिनमें बापूजी की पगड़ी और उनकी पैनी नाक पर विशेष व्यंग्य रहता था। टोपी और पगड़ी के विचित्र मेलवाली दुमदार पगड़ी व्यंग्यचित्र में बड़ी अजीब और अनोखी मालूम देती थी। लेकिन उसे पहनते हुए बापूजी को मैंने नहीं देखा था।

गोखलेजी जब दक्षिण अफ्रीका पधारे तब बापूजी को बैरिस्टरी छोड़े लगभग डेढ़ वर्ष बीत चुका था। अपना बैरिस्टरी का दफ्तर बन्द करने के साथ-साथ उन्होंने अपना जोहान्सबर्ग का घर भी बन्द कर दिया था और टाल्स्टाय-वाड़ी के लिए आवश्यक चार जोड़ी कपड़ों के अतिरिक्त अपना कुल सामान फीनिक्स भेज दिया था। अब आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने अपने बन्द सामान से वह पगड़ी ढूंढ़कर भेजने के लिए लिखा था।

बापूजी का यह सन्देश सुनकर पहले तो बा सोच में पड़ गईं कि अब वह पगड़ी कहां ढूंढ़ी जाय और यदि मिल भी जायगी तो पहनने योग्य रही होगी या नहीं; जर्जर तो वह हो ही गई थी। इस शंका का समाधान करते हुए मगनकाका ने पूज्य बा से कहा कि यदि उसको सुधरवाने की आवश्यकता हो तो सुधरवा लिया जायगा, ऐसा बापूजी ने लिखा था। वह चाहते हैं कि नई पगड़ी बनवानी न पड़े और उस पुरानी से ही काम चला लिया जाय।

दूसरे दिन पूज्य बा ने मगनकाका को वह पगड़ी सौंप दी। देखने में वह लम्बी गोल नाव-सी दीखती थी। गत्ते की-सी चीज़ का सख्त ढांचा था और उसपर बिलकुल काले रंग की बारीक मलमल चढ़ी थी। कपड़ा काफी पुराना पड़ गया था। उसके मिल जाने पर मगनकाका खुश हो गए और उसी दिन उसे ठीक-ठाक करके उन्होंने पार्सल द्वारा उसे बापूजी के पास भेज दिया।

फीनिक्स स्टेशन के लिए कोई बना-बनाया रास्ता नहीं था। एक पगडंडी थी, जो कहीं बहुत चौड़ी और कहीं बहुत संकरी हो जाती थी। रास्ते में अनेक टीले और नाले पड़ते थे। बरसात के समय टीलों से नीचे आनेवाले पानी के बहाव के कारण वह संकरी पगडंडी इधर-उधर से टूटी और खुदी हुई रहती थी। उस रास्ते को बीसियों गिरमिटिये मजदूर फावड़े और बेलचे लेकर सुधारने लगे। कहीं गड्ढे भर रहे हैं, कहीं मिट्टी काटकर भूमि को समतल बना रहे हैं और सारा रास्ता चौड़ा कर रहे हैं।

अपने देश से गोखलेजी महाराज आ रहे थे, उनकी मोटर के वास्ते यह रास्ता ठीक किया जा रहा था।

मैंने देवदासकाका से पूछा, "इसमें इन लोगों को क्या दिलचस्पी ? वे लोग अपनी जमीन में रास्ता क्यों ठीक कराते हैं ?"

देवदासकाका ने बताया कि गोखलेजी बापूजी से बड़े हैं। वह यहां की सरकार के भी मेहमान हैं, इसलिए यदि गोरे लोग यह रास्ता न सुधारें तो हमारे देश में उनकी प्रतिष्ठा को ठेस पहुंचेगी।

कुछ दिन के बाद 'इंडियन ओपीनियन' में गोखलेजी के सुन्दर फोटो छपने लगे। केपटाउन शहर में एक शानदार, खुली बग्घी में आमने-सामने गोखलेजी और बापूजी बैठे थे। बापूजी के सिर पर वही दुमदार पगड़ी जंच रही थी और बग्घी के चारों ओर लोगों की भारी भीड़ थी।

फीनिक्स के लोगों में बातचीत का मुख्य विषय गोखलेजी का आगमन और उनका स्वागत-समारोह ही बन गया। बातचीत में लोग कहते, "गांधी-गोखले के पीछे अपने देशवासियों की तो पूछो ही मत, गोरे लोग भी पागल-से बने हुए हैं। भीड़-की-भीड़ उमड़ती है। बापूजी ने गोखलेजी का इतना भव्य सत्कार कराकर इस देश में भारतवासियों की प्रतिष्ठा बहुत अधिक बढ़ा दी है। गोखलेजी की सेवा करने में बापूजी ने दिन-रात एक कर रखा है। गोखलेजी के सत्कार में भारतवासियों की ओर से कहीं जरा-सी भी कसर नजर आती है तो बापूजी खबर ले डालते हैं। एक-से-एक बढ़कर सेवक गोखलेजी की सेवा के लिए उपस्थित रहते हैं, पर इन बीसियों सेवकों के होते हुए भी गोखलेजी की सारी सेवाएं बापूजी स्वयं अपने हाथ से करते हैं। गोखलेजी के सम्मान व आदर-सत्कार में रत्ती-भर भी कमी न रह जाय इसके लिए बापूजी पूरी सावधानी रखते हैं।"

इधर फीनिक्स में हमारी दिनचर्या में परिवर्तन हो गया। डरबन शहर में भारतीय लड़कों और लड़कियों की दौड़ों के दंगल किये जानेवाले थे और जीतनेवालों को गोखलेजी के हाथ से इनाम दिलाये जानेवाले थे। इस दंगल में फीनिक्स की पाठशाला के बच्चों को भी निमन्त्रित किया गया था। फीनिक्स आश्रम और आसपास दो-तीन मील में बसनेवाले गिरमिट-मुक्त भारतीयों के बच्चों को मिलाकर हमारी संख्या मुश्किल से सात-आठ हुई। फिर भी मगनकाका ने खेलों के लिए उत्साह से तैयारियां करवाईं। आधमील की दौड़, सौ गज की दौड़, तीन पैरों की दौड़, ऊँची कुदान, लम्बी कुदान आदि के अभ्यास में आधा दिन बीतने लगा। इन सभी खेलों में देवदासकाका अव्वल आया करते थे।

अन्य तैयारियों में, फीनिक्स में, जहां हम लोग बसते थे, वहां के छोटे-बड़े सभी रास्ते साफ-सुथरे किये गए। मुख्य-मुख्य स्थानों से घास साफ की गई और फीनिक्स में गोखलेजी के पधारने पर उनके स्वागत के लिए मगन-काका हम लोगों को भजन सिखाने लगे। उनमें कुछ रामायण की चौपाइयां और दोहे थे और एक अंग्रेजी भजन था। हमारी रोज की पढ़ाई को तो पूरा विराम मिल गया था।

जोहान्सबर्ग आदि में होनेवाले भव्य स्वागत-समारोह की बातें सुनकर

देवदासकाका का मन फीनिक्स में स्थिर नहीं रहता था। वहां जाने के लिए वह उत्सुक रहने लगे। जोहान्सबर्ग तो वह नहीं जा सके, परन्तु मारित्सवर्ग तक जाने के लिए उनको अनुमति मिल गई। देवदासकाका के द्वारा मैंने भी उनके साथ मारित्सवर्ग तक जाने की अनुमति प्राप्त कर ली। अन्त में एक दिन प्रातःकाल हम दोनों डरवन में रुस्तमजी सेठ के घर पर पहुंच गए।

डरवन से भारतवासियों की एक पूरी ट्रेन मारित्सवर्ग तक गोखलेजी के स्वागत के लिए जानेवाली थी। उसके छूटने में करीव चार घंटे की देर थी।

वहीं जमनादासकाका आ गए। हमें बड़ी खुशी हुई। डरबन में गोखलेजी के स्वागतार्थ जो तैयारियां हो रही थीं उनमें कुछ कसर हो तो उसे जांचने और ठीक कराने के लिए बापूजी ने उनको यहां भेजा था। जमनादासकाका से हमने ट्रांसवाल में हुए गोखलेजी के भव्य स्वागत की बहुत-सी नई बातें सुनीं। जब गोखलेजी टाल्स्टाय-वाड़ी गये थे तब वहां किस-किस व्यक्ति को क्या-क्या काम दिया गया था और किसने अपने काम को सुचारु रूप से किया आदि बातें विस्तारपूर्वक जमनादासकाका ने देवदासकाका को सुनाईं और इस प्रकार मेरे सामने फार्म का एक स्पष्ट कल्पना-चित्र आ गया।

टाल्स्टाय-वाड़ी में स्वागत के लिए स्थानिक चीजों से ही सजावट की गई थी। जोहान्सवर्ग के बाजार से या कहीं से कपड़े की कतरन भी सजावट के लिए नहीं लाई गई थी। टाल्स्टाय-वाड़ी के विद्यार्थियों और शिक्षकों द्वारा किये गए कठिन परिश्रम से वहां के बागीचे में जो फल-फूल तैयार हुए थे उनसे ही टाल्स्टाय-वाड़ी सजाई गई थी। पके-अधपके रंग-बिरंगे आड़ू-अलूचे और अन्य फलों के हरे-ताजे गुच्छे लटकाकर मेहरावें तैयार की गई थीं। वहां की सादगी, शोभा और शान्ति से गोखलेजी मुग्ध हो गए।

भोजन के पश्चात् हम सब मारित्सवर्ग जाने के लिए स्टेशन को चल पड़े। उस समय हमारा तिरंगा झंडा तो था नहीं, पर भारतीय समाज का उत्साह और आनन्द प्रकट करने के लिए सैकड़ों झंडे-झंडियां रुस्तमजी सेठ के घर से बांटे गए। अनेक रंगों के छोटे-बड़े झंडे थे, जो हम सबने अपने हाथ में ले लिये। जलूस बनाकर हम लोग डरबन के स्टेशन पर पहुंचे। सारी ट्रेन हम लोगों से ठसाठस भर गई।

तीसरे दर्जे के दो-तीन डिब्बों को छोड़कर पूरी-की-पूरी ट्रेन में गलियारा (कारिडोर) था, अर्थात् चलती गाड़ी में एक डिब्बे से दूसरे डिब्बे में जाने

का मार्ग बना हुआ था। आमतौर से वहां की पूरी गाड़ी देखने का मौका हम भारतीयों को नहीं मिलता था, क्योंकि गोरों के डिब्बे अलग हुआ करते थे। उस दिन का लाभ लेकर मैंने और देवदासकाका ने पूरी ट्रेन में दो बार चक्कर काटे।

करीब तीन घंटे की यात्रा के बाद हम मारित्सबर्ग जा पहुंचें। हम लोग अपने अनेकविध झंडों के साथ गोखलेजी के पास शहर की ओर चल दिए।

गोखलेजी आ गए थे और शायद सभा भी हो चुकी थी। हम लोगों ने जाकर वह बंगला बाहर से देखा, जिसमें उनको ठहराया गया था। नेटाल प्रांत की राजधानी होने की वजह से मारित्सबर्ग नगरी सुन्दर बगीचे-जैसी बनी हुई थी।

दूसरे दिन सुबह उठकर कोई तीन मील पैदल चलता हुआ हमारा संघ मारित्सबर्ग स्टेशन पर पहुंचा। मैं और देवदासकाका किसी तरह सीधे गोखलेजी के डिब्बे के पास पहुच गए। डरबन से जो खास गाड़ी आई थी उसमें गोखलेजी का 'सैलून' जोड़ दिया गया था। यह सैलून दक्षिण अफ्रीका की सरकार की ओर से उनके स्वागतार्थ विशेष रूप से दिया गया था। गोखलेजी के डिब्बे में बापूजी तथा दूसरे एक-दो व्यक्तियों को छोड़कर किसी का प्रवेश नहीं हो पाता था। हम दोनों को तो बापूजी ने स्वयं ही डिब्बे के अन्दर ले लिया था।

'सैलून' में गोखलेजी केवल कुरता पहन हुए, नंगे सिर बैठे थे। सिर के आधे बाल सफेद और आधे काले थे। पास जाकर हमने उनके पैर छुए। किसी ने देवदासकाका का परिचय करवाया तो गोखलेजी ने उनकी ओर देखा और थोड़ा मुस्कराए, फिर अपने हाथ की पुस्तक पढ़ने में एकाग्र हो गए।

'सैलून' में हम लोगों के पहुंचने के कुछ देर बाद मारित्सबर्ग से ट्रेन चल चुकी थी। थोड़ी ही देर बाद बापूजी गोखलेजी के कपड़े अपने हाथ में लेकर उनके सामने खड़े हो गए और नम्रतापूर्वक बोले कि "अब स्नान से निबट लिया जाय।"

वह सैलून स्वयं जनरल स्मट्स का था। हमने देखा कि उसमें फर्स्ट क्लास के डिब्बे से भी कहीं अधिक सुविधाएं थीं।

देवदासकाका और मैं यह सब आश्चर्य-मुग्ध होकर देख रहे थे कि बापूजी गोखलेजी को स्नानगृह में पहुंचाकर हमारे पास आये और बहुत धीमी आवाज में हम दोनों से कहा कि अब तुम लोगों ने सब देख ही लिया

हैं। सो अब जाकर सबके साथ बैठो। जहां पर अपना काम न हो वहां पर बेकार नहीं रुकना चाहिए।

बापूजी की यह आज्ञा पाकर 'सैलून' से निकलकर हम दोनों दूसरे डिब्बों में चले गए और अन्य लोगों के साथ जा बैठे। मारित्सवर्ग से डरबन तक, प्रायः ४०-४५ मील तक, एक स्थान पर ट्रेन रुकी। पर सारे रास्ते रेल के दोनों ओर जगह-जगह मनुष्यों की भीड़ नजर आती थी। वे लोग खुशी के जो नारे लगाते थे उस आवाज से ट्रेन के चलने की आवाज भी दब जाती थी।

उन दिनों गोखलेजी का स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता था। हल्का बुखार, सिर दर्द, कमजोरी आदि की उन्हें शिकायत थी। जोहान्सबर्ग में उन्हें आठ-दस दिन बिस्तर पर लेटे रहना पड़ा था। फिर भी दक्षिण अफ्रीका के प्रश्न को हल करने के लिए अपने शरीर की चिंता न करके वह अविरत परिश्रम किया करते थे। बापूजी उनके पहरेदार बन गए थे। विश्राम के समय लोगों की भीड़ उनके पास न हो इसकी वह सावधानी रखते थे। भोजन अपने हाथ से पकाकर और तैयार करके देते थे। उनके कपड़े भी बापूजी स्वयं धोकर तैयार करते थे। साथ ही गोखलेजी अधिक श्रम न करें इसकी भी खबरदारी रखते थे। और अपने गुरु पर शासन भी चलाते थे।

जोहान्सबर्ग का एक प्रसंग है। श्री कैलनबैक के सुन्दर बंगले में गोखलेजी को टिकाया गया था। अगले दिन जोहान्सबर्ग में दावत होने वाली थी। उस दावत में दक्षिण अफ्रीका की सरकार के मुखिया जनरल स्मट्स और जनरल बोथा भी आनेवाले थे। उस दावत के भाषण की तैयारी करने के लिए रात में ही गोखलेजी लिखने बैठ गए। बापूजी की नींद खुली तो देखा कि आधी रात के बाद शायद रात को दो बजे के समय बत्ती जल रही है। तब दोनों के बीच इस प्रकार चर्चा हुई:

"आप अभी तक क्या कर रहे हैं?"

"दावत के भाषण के लिए नोट तैयार कर रहा हूं।"

"हमें नहीं चाहिए आपका ऐसा भाषण। अपने आराम में मत खलल डालिए।"

"तो क्या इसे फाड़ दूं?"

"जी हां, फाड़ दीजिए।"

"लो, फाड़ दिया; पर अब तो वह तैयार है। कहो तो तुम्हें सुना दूं।"

यह कहकर गोखलेजी ने उसी समय वे नोट ज्यों-के-त्यों सुना दिये, जो उन्होंने फाड़कर टोकरी के हवाले कर दिए थे। और वास्तव में जोहान्स-

वर्ग का वह भाषण दक्षिण अफ्रीका में उनका सबसे बड़ा और अत्यधिक प्रभावशाली भाषण हुआ था।

उन्हीं दिनों का एक किस्सा और मेरे सुनने में आया। बापूजी के पास रहने वालों में श्री प्रागजी देसाई बड़े बुद्धिवादी थे। प्रत्येक बात की नुक्ता-चीनी करते और सवाल पूछते रहते थे। उन्होंने गोखलेजी से एक बार पूछा, "कहते हैं कि आपको अपने पुराने व्याख्यान याद रहते हैं। कोई एक सुना दीजिए।" थोड़ा-सा याद कर गोखलेजी ने सन् १९०५ में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में दिये गए भाषण के कुछ अंश ज्यों-के-त्यों सुना दिये।

दक्षिण अफ्रीका के इतिहास में बापूजी ने लिखा है, "गोखले को एक आदत थी, जिसे मैं कुटेव कहता था। वह नौकर से ही सेवा लेते थे और सफर में नौकर को साथ रखते नहीं थे। मैंने और श्री कैलनबैक ने उनके पैर दबाने के लिए बहुत आग्रह किया पर वह माने ही नहीं। हम लोगों को पैर छूने भी नहीं दिया बल्कि कुछ नाराज होकर डांटने लगे, 'क्या तुम्हीं लोग दुःख झेलने के लिए पैदा हुए हो और मुझ-जैसे लोग तुमसे सेवा लेने के लिए ? तुम्हारे इस तकल्लुफ का बदला यह है कि मैं तुम्हें अपने को छूने ही नहीं दूंगा। तुम सब शौच के लिए दूर तक जाओगे और मेरे लिए कमोड रखोगे यह क्यों ? मैं तुम्हारा गर्व दूर करूंगा।' और इस तरह उन्होंने हम लोगों को अपनी शारीरिक सेवा करने ही नहीं दी। खाने-नहाने आदि में हमारी सहायता लिये बिना उनका चारा नहीं था। जब हम लोगों को आश्रम के फर्श पर बिस्तर लगाते हुए देखा तब उन्होंने अपना बिस्तर भी चारपाई से नीचे बिछाया। वह जितने गम्भीर थे उतने ही विनोदप्रिय भी थे और उनके प्रत्येक वाक्य में सत्य और स्वदेशाभिमान झलकता था और वह अपने सेवक को रिझाने का पूरा खयाल रखते थे।"

ऐसे महान व्यक्ति जब डरबन पधारे तब डरबन स्टेशन पर जसी भीड़ जमा हुई थी वैसी मैंने कभी नहीं देखी थी। बाद में भारत आने पर बापूजी के लिए वैसे विराट जन-समुदाय को एकत्र देखने का सौभाग्य अनेक बार मिला, फिर भी डरबन की उस स्मृति का असर मेरे मन पर विशेष रह गया। स्टेशन के फाटक से लेकर जहां तक नजर पहुंचती थी मानव-सागर उमड़ा पड़ता था।

गोखलेजी के टाउनहाल के भाषण के बारे में लोगों को कहते सुना कि वह बहुत ही सुन्दर भाषण था। टाउनहाल का वह विशाल कक्ष भारतीय और गोरे दर्शकों से भरा हुआ था। सबकी आंखें और कान गोखलेजी की ओर एकाग्र हो गए थे। उनका भाषण, भाषण नहीं था, मानो मन्त्रों का प्रवाह था। उनका प्रत्येक शब्द स्पष्ट, गम्भीर और सुनने वालों के दिलों को

हिला देने वाला था। उस भाषण ने वहां के भारतवासियों के दिल में आशा का संचार किया और गोरों के अंतःकरण में न्यायबुद्धि की चिनगारी जगाई।

मैं भी उस सभा में गया था। पर मेरी उत्सुकता तो गोखलेजी के हाथों बच्चों को जो इनाम बंटनेवाले थे, उन्हें देखने की थी। इसलिए हम लोग तो भागते हुए घुड़दौड़ के मैदान पर पहुंचे, जहां सैकड़ों बालक—लड़के और लड़कियां—अलग-अलग टोलियों में खेल-कूद के कार्यक्रम में लगे हुए थे।

गोखलेजी तीन बजे पधारे और सारे मैदान में पूर्ण शान्ति और व्यवस्था छा गई। हम लोग उस ओर बढ़े, जहां बड़े आदमियों के लिए बैठकर देखने का मकान-सा बना हुआ था। कुछ विशेष प्रकार के खेल—बड़े आदमियों की दौड़, साइकल दौड़ और कुछ देर फुटबाल का खेल आदि उनके सामने किए गए। कार्यक्रम समाप्त होने पर दुमंजिले से गोखलेजी इनाम देने के लिए नीचे उतरे और उनके हाथों से, बड़े-बड़े चांदी के बर्तन, किताबें आदि, इनाम-विजेताओं ने प्राप्त किये।

जब यह हो रहा था तब मुझे भी एक बहुत बढ़िया इनाम मिल गया, जिसे मैं कभी नहीं भूल सकता। किन्तु वह गोखलेजी के हाथ से न मिलकर एक गोरे सैनिक के हाथों मिला था।

बड़े लोगों के लिए जो अहाता बना हुआ था उसके अन्दर मैं अपने पिताजी के साथ पहुंच गया था। कड़ी धूप के कारण जोर की प्यास लगी तो मैं पानी पीने के लिए उस अहाते से बाहर निकल गया। लौटते समय फाटक पर भीड़ थी, इसलिए मैं प्रवेश नहीं कर सका। विवश होकर मैं हदबन्दी के रस्सों के नीचे से अन्दर घुसने लगा। घुटने पर झुककर ज्योंही मैंने सिर अन्दर किया कि मेरी पीठ पर जोर का चाबुक पड़ा। मुंह से चीख निकल गई। मैंने नजर ऊपर उठाई तो एक ताड़-सा ऊंचा, हट्टा-कट्टा लाल मुंह वाला गोरा-पुलिसमैन हाथ में लम्बा कोड़ा लिये हुए दिखाई दिया। मेरी समझ में नहीं आया कि यह हुआ क्या? मेरी चीख सुनकर पिताजी और दूसरे कई आदमी वहां आ गए। उन्होंने छोटे बच्चे पर हाथ उठाने के लिए उस सैनिक को शर्मिंदा किया और मुझे अन्दर ले लिया। वह गोरा बड़बड़ाने लगा कि इसे अन्दर जाना था तो फाटक के रास्ते से क्यों नहीं गया? मेरी पीठ पर चाबुक की मार उभड़ आई। मेरे लिए यह इनाम किसी चांदी के बर्तन या किताब से बढ़कर रहा।

गोखलेजी केपटाउन से लेकर डरबन तक के बड़े नगरों में और टाल्स्टाय-वाड़ी तथा फीनिक्स के सुदूर देहाती क्षेत्र में लगभग डेढ़ महीने तक प्रवास करते रहे। स्वास्थ्य उनका बहुत नाजुक था। फीनिक्स-जैसे

स्थल पर जहां सवारी के लिए मुश्किल से कच्चा रास्ता बना था उनको प्रवास करने में बहुत कष्ट उठाना पड़ा, परन्तु उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से यह सारा प्रवास किया और जब वह भारत लौटे तब अफ्रीका के भारत-वासियों के मन में स्वदेश के लिए जीवन न्योछावर करने का उत्साह और भी दृढ़ बनाते गए। हम फीनिक्स-वासियों के मन में उन्होंने यथाशीघ्र भारत पहुंच जाने की उत्कंठा बढ़ा दी।

डरबन में जिस दिन गोखलेजी का स्वागत किया गया, उसके दूसरे दिन वह फीनिक्स पधारे। हम लोग उनसे पहले फीनिक्स पहुंच गए थे। उन दिनों गुजराती में 'गोखले गणित' भाग प्रथम हमारी पाठ्य-पुस्तक थी। उसके मूल रचयिता गोखलेजी स्वयं थे और गुजराती में उसका अच्छा अनुवाद छपा था। गणित के ऐसे महान प्रोफेसर के हमारे फीनिक्स में पधारने पर वह गणित के सवाल अवश्य पूछेंगे, ऐसी हमारी धारणा थी। इसलिए उनके पधारने के दिन हमने अपने गणित के पाठ भरसक दोहरा लिए। संध्या के समय वह फीनिक्स आये। उनके फीनिक्स स्टेशन से आश्रम तक आने के लिए एक हलकी-सी घोड़ागाड़ी की व्यवस्था विशेष रूप से की गई थी। जब गोखलेजी पधारे तब वह अत्यधिक थक गए थे। हम लोगों ने बारी-बारी से उन्हें प्रणाम किया; उसके बाद भजन का कार्यक्रम शुरू हुआ। सबसे पहले 'इटर्नल स्पिरिट' नामक अंग्रेजी भजन, जो दो महीने तक कोशिश करके मगनकाका ने इसी प्रसंग के लिए हम लोगों को सिखा रखा था, देवदासकाका ने और मैंने गाया। उसके बाद तुलसी रामायण से 'जेहि सुमिरत सिधि होइ' आदि मंगलाचरण के सोरठे गाये गए। एक-दो भजन और भी हुए और बाद में हम लोग गोखलेजी के आराम के खयाल से वहां से हट गए।

सवेरे उठने पर मुझे पता चला कि हमारे चले आने के बाद गोखलेजी ने देवदासकाका से एक अजीब प्रश्न किया था, जिसका जवाब देना बड़ों को भी कठिन मालूम हुआ। प्रश्न यह था कि "मान लो, तुम अपने माता-पिता के साथ किसी वन में भ्रमण करने गए हो; तुम्हारी एक ओर कुछ दूरी पर पिताजी चल रहे हैं और दूसरी ओर माताजी चल रही हैं। ऐसे मौके पर एक भूखा बाघ सामने से आ जाता है। यदि तुम पिताजी की सहायता के लिए जाओगे तो बाघ माताजी को मार डालेगा, और यदि माताजी की सहायता करने जाओगे तो वह पिताजी को खा जायगा। बताओ ऐसी हालत में तुम किसकी सहायता करने दौड़ोगे?"

सवेरे जब मैं उठा, मगनकाका ने मुझसे भी यह प्रश्न पूछा। मैं इसका उत्तर नहीं दे सका। मगनकाका ने बताया कि देवदास भी इसका उत्तर

नहीं दे सके थे और दूसरे जो लोग वहां बैठे थे, वे भी उत्तर देने में असमंजस में पड़ गए थे। अंत में बापूजी ने उत्तर दिया, "मैं स्वयं बाघ के पास चला जाऊंगा और इस प्रकार माताजी और पिताजी दोनों की रक्षा हो जायगी।"

फीनिक्स के कई स्थलों को देख लेने के बाद जरा भी आराम न करके गोखलेजी तांगे में बैठकर बापूजी के साथ श्री डूबे की शिक्षण-संस्था देखने के लिए चले गए। वह संस्था हब्शी बालकों के लिए चलाई जा रही थी और हब्शी अध्यापक ही बड़े प्रयत्न और परिश्रम से उन्हें पढ़ाते थे। बापूजी और गोखलेजी के अलावा दूसरा कोई उनके साथ नहीं गया। सब, बापूजी की सूचना के अनुसार, अपने-अपने काम में लगे रहे। जब बापूजी गोखले-जी को हमारी संस्था दिखा रहे थे, तब भी उनके पीछे किसी ने भीड़ नहीं की थी। बड़ों में पिताजी और बालकों में शायद मैं ही अकेला उनके पीछे-पीछे चल रहे थे। श्री डूबे के स्कूल तक उनके साथ जाने की मुझे इच्छा थी, परन्तु बापूजी ने किसी को अपने साथ नहीं लिया। कोई दो घंटे बाद गोखलेजी श्री डूबे की संस्था से लौट आए, फिर स्नान-भोजन करके आराम के लिए हमारी पाठशाला में पधारे। उस मकान के चारों ओर पूर्ण शांति रहती थी। बापूजी ने इस बात के लिए बड़ी सावधानी रखी थी कि गोखले-जी के आराम में जरा भी विघ्न न पड़े। किसी के पैरों की आहट भी नहीं हो। जब गोखलेजी उस मकान में जाकर चारपाई पर लेट गए तब बापूजी उनके पास बैठकर बहुत धीरे-धीरे बातें करने लगे।

दो महीने तक जिनके स्वागत के लिए फीनिक्स में तैयारियां होती रही थीं उन्होंने दो दिन हमारे बीच रहकर सबको धन्य किया।एक शांत पवित्र प्रकाश ने मानो फीनिक्स की उस भूमि पर अपने आशीर्वाद बिछा दिये। काम और सेवा के साथ-साथ सभी को बुद्धि का विकास और ज्ञान की उपासना भी सतत करनी चाहिए, यह संदेश वह फीनक्सि के वातावरण में भर गए और जैसी शांति से आये थे वैसी ही शांति से उन्होंने फीनिक्स से विदा ली। उनको विदा देने के लिए किसी भी प्रकार का समारोह नहीं किया गया। परन्तु हम लोगों के हृदयों को वह अपने साथ ले गए। गोस्वामी तुलसीदास ने जो कहा है, "बिछुरत एक प्रान हर लेहीं" उसका कुछ अनुभव वह हमें करा गए।

भारत लौटते समय गोखलेजी के आग्रह को मानकर बापूजी भी श्री कैलनबैक सहित जंजीबार तक उनको पहुंचाने गए।

बापूजी ने दक्षिण अफ्रीका के इतिहास में लिखा है: "जंजीबार में हमारा जो वियोग हुआ वह हम दोनों के लिए अतिशय दुखदायी था।

किन्तु देहधारियों का निकट-से-निकट का सहवास भी अंत में जाकर समाप्त होता ही है, ऐसा समझकर कैलनबैक ने और मैंने संतोष किया।"

: ३९ :

एक कटु अनुभव

गोखलेजी को पहुंचाकर बापूजी जंजीबार से सीधे ही, शायद रेल के रास्ते से, जोहान्सबर्ग पहुंचे। फीनिक्स में बापूजी के स्वदेश लौटने की बातों ने जोर पकड़ा और हम लोग आखिरी फैसला जानने के लिए कि जनरल बोथा और जनरल स्मट्स की सरकार अपने वर्ण-विद्वेष के कानून को कब और कैसे वापस लेती है, उतावले हो गए। हम सब जल्दी-से-जल्दी स्वदेश जाने को उत्सुक थे। जमनादासकाका ने तो लौटने का निश्चय ही कर लिया। परन्तु नेटाल छोड़कर निश्चिंतता से जाने के लिए उनका मन नहीं मानता था। यदि दक्षिण अफ्रीका की सरकार अपनी बात से मुकर जाय और गोखलेजी के परिश्रम के बावजूद सत्याग्रह की दुबारा नौबत आ ही जाय तो उस समय जमनादासकाका दक्षिण अफ्रीका से अनुपस्थित नहीं रहना चाहते थे। इस दुविधा से उन्होंने यह रास्ता निकाला कि उनके भारत पहुँचने के बाद भी यदि सत्याग्रह छिड़ ही गया तो वह पहले स्टीमर से दक्षिण अफ्रीका के लिए चल पड़ेंगे और दक्षिण अफ्रीका आकर सत्याग्रह में शामिल हो जायेंगे।

इस प्रकार अपने मन का समाधान करके जमनादासकाका फीनिक्स से भारत के लिए रवाना हुए। उन्हें विदा करने के लिए पिताजी, मगन-काका आदि के साथ मैं भी डरबन तक गया।

डरबन में हम लोग सदा की भांति रुस्तमजीकाका के यहां ठहरे थे। जिस दिन हम डरबन पहुंचे उसके दूसरे दिन बड़े सवेरे जमनादासकाका को ले जाने वाला स्टीमर 'गोदी' (डाकयार्ड) से छूटने वाला था। जमनादास-काका ने अपना सामान दिन में ही स्टीमर पर पहुंचा दिया था। संध्या बीतने पर डरबन के मित्रों से भेंट करके वह रात के आठ-नौ बजे बन्दरगाह जाने के लिए रवाना हुए। हम लोग भी उन्हें विदाई देने के लिए बन्दरगाह तक गये। डरबन की पक्की, सुन्दर और स्वच्छ सड़कों पर बिजली की

बत्तियों का प्रकाश जगमगा रहा था, जन-कोलाहल शांत हो गया था और टहलते-गपशप करते हम मजे में जा रहे थे। लगभग आध-पौन घंटे चलने के बाद हमें खयाल हुआ कि पैदल पहुंचने में बहुत देर हो जायगी और कप्तान आदि सो जायंगे तो बड़ी दिक्कत होगी। अभी रात के दस नहीं बजे थे और ट्रामगाड़ियां चल रही थीं। हम सब ट्राम पर सवार हो गए।

डरबन की ट्राम गाड़ियां दो-मंजिली होती थीं। उनकी नीचे वाली मंजिल केवल गोरों के लिए सुरक्षित रखी जाती थी। ऊपर की मंजिल में भी प्रथम तीन-चार बेंचें गोरे लोगों के लिए ही सुरक्षित रहती थीं और केवल पिछले हिस्से की कुछ बेंचों पर अश्वेत लोगों के बैठने की व्यवस्था थी। जब हम लोग ट्राम में सवार हुए तब रात का समय था, इसलिए ऊपर की मंजिल पूरी खाली थी। कायदा तोड़ने की नीयत से नहीं, पर सहजस्वभाव से हम लोग सबसे आगे वाली दो बेंचों पर जा बैठे। दस-पन्द्रह मिनट तक हमने पूरे वेग से दौड़ती हुई ट्राम से डरबन नगर की शोभा देखने का और आपस में बातचीत करने का आनन्द लिया। इसके बाद न जाने कैसे ट्राम के कंडक्टर के ध्यान में यह बात आई कि हम काले कुलियों ने श्वेत प्रभुओं के आसन पर बैठने का दुस्साहस किया है। वह झपट-कर हमारे पास आया और बोला, "उठो इधर से, पीछे जाकर बैठो।" मगनकाका ने उसे तुरन्त उत्तर दिया, "यह नहीं हो सकता।" कंडक्टर अकड़ गया और तेज होकर डांटने लगा, "तुमको उठना ही पड़ेगा।" मगनकाका ने दृढ़ता से कहा, "जो चाहो सो करो, मगर हम यहां से नहीं हटेंगे।"

कंडक्टर तिलमिला उठा। उसने घंटी बजाई और ट्राम रोक ली। फौरन ट्राम का चालक कंडक्टर की सहायता के लिए नीचे की मंजिल से ऊपर आगया। कुलियों को आगेवाली बेंचों पर देखकर उसकी आंखों से अंगारे बरसने लगे। कंडक्टर को दुगुना जोर मिला। उसने मगनकाका की पीठ पर जोर का घूंसा जमाया। फिर भी मगनकाका अपनी जगह से नहीं हटे। तब दोनों ने मिलकर मगनकाका की बाहें पकड़ लीं और वे उनको बेंच से उठाने के लिए खींचने लगे।

हमारी ओर से घूंसे का जवाब घूंसे से देने की बात थी ही नहीं। मगनकाका ने बेंच के जंगले को बड़ी मजबूती से पकड़ लिया। इस कारण दोनों गोरे मिलकर भी मगनकाका को आसानी से नहीं खींच सके। तब एक गोरे ने उनकी कमर को अपने हाथ से कस लिया और दूसरे ने बड़ी मुश्किल से उनकी मुट्ठियां जंगले से अलग कीं और फिर ऊपर वाली

खिड़की से उनको उन्होंने नीचे की ओर ढकेल दिया। मगनकाका कसरती जवान थे, फुर्तीले थे, इसलिए गिरते-गिरते भी उन्होंने अपना संतुलन संभाल लिया और जमीन पर गिरने से पहले ही नीचे वाली मंजिल के जंगले को पकड़ लिया। और इस प्रकार भारी चोट से बच गए। मगनकाका के बाद इसी तरह हमारी मंडली के प्रत्येक व्यक्ति को पकड़-पकड़कर और धक्के दे-देकर सीढ़ी के रास्ते से नीचे लुढ़का दिया गया। मैं बच्चा था, इसलिए मुझे उन लोगों ने हाथ नहीं लगाया। परन्तु जब सब लोग नीचे फेंक दिए गए तो मेरे लिए अपने-आप नीचे उतरे बिना कोई चारा न रहा। मुझे डर था कि मगनकाका को सख्त चोट आई होगी, परन्तु जब मैं नीचे गया तो देखा कि वह तो खड़े-खड़े मुसकरा रहे हैं।

ट्राम बिजली के वेग से अदृश्य हो गई। हम लोग पैदल ही 'गोदी' (डाक यार्ड) तक पहुंचे। स्टीमर पर जमनादासकाका सवार हुए, अलविदा हुई, और शीघ्र ही स्वदेश में परस्पर मिलने का दिन निकट आने की आशा से हम पैदल लौट पड़े।

कुछ दूर चलने पर हम ट्राम की पटरियों के पास पहुंचे। ट्राम पर जो अपमान हुआ था वह फिर आंखों के आगे घूम गया। मन में जोश आ गया। हमने कंडक्टर और ड्राइवर के गुंडेपन का प्रतिकार करने का निश्चय किया। मणिलालकाका का आग्रह था कि उन ट्रामवालों का दुबारा मुकाबला किया जाय। हम भारतवासी ऐसे नहीं हैं जो पग-पग पर ठोकरें खाते फिरें. यह बात गोरों के गले उतारने का हमने मन-ही-मन निश्चय कर लिया। अखबारों में समाचार प्रकाशन करही देने से काम बनने वाला नहीं था और वहां के गोरे अखबार उसे प्रकाशित करें. यह उम्मीद रखनी भी बेकार थी। ट्राम कम्पनी के मुख्य कार्यालय या पुलिस थाने में भी सुनवाई नहीं होती थी। सारा प्रश्न ही गोरे और काले के बीच का था। कुछ देर यह सब चर्चा होती रही। मणिलालकाका का सुझाव था कि उसी नम्बर की ट्राम गाड़ी पर दुबारा सवार होकर उन्हीं आगे की बेंचों पर बैठा जाय और दृढ़तापूर्वक सत्याग्रह किया जाय। बड़ों ने भी नवजवान मणिलाल-काका की बात स्वीकार की और लगभग पौन घंटे तक उसी स्थल पर हम लोग ट्राम की प्रतीक्षा में खड़े रहे। परन्तु वह ट्राम वहां आई ही नहीं और उस पर हमला करने का हमारा जोश मन-का-मन में ही रह गया। आधी रात का समय हो चुका था इसलिए हम लोग अधिक प्रतीक्षा करना छोड़कर और अपमान का कड़ुआ घूंट पीकर पैदल ही सेठ रुस्तमजीकाका के घर पहुंचे।

: ४० :

बापूजी के इलाज़ में

मेरे छोटे भाई कृष्णदास को मियादी बुखार हो गया था और उसने उग्र रूप धारण कर लिया था। छः वर्ष से भी छोटी आयु का वह बालक सूखकर अस्थि-पिंजर-मात्र रह गया था। चौदह दिन समाप्त होने पर भी उसका बुखार हलका नहीं हुआ था। टाल्स्टाय-फार्म में जमनादासकाका ने कई रोगियों को बापूजी के पास रहकर, उनकी चिकित्सा-विधि से रोग-मुक्त होते देखा था। इस आधार पर राजकोट जाते हुए वह सलाह देते गए कि उसे बापूजी को दिखाना चाहिए। उसकी हालत नाजुक जान माताजी और पिताजी ने बापूजी की सलाह के अनुसार, जो जानते थे किया और बापूजी को तुरंत खबर भेज दी। तत्काल बापूजी का तार आया, "मैं आ रहा हूं।" तीसरे दिन शाम को वह फीनिक्स आ पहुंचे। उनको लिवाने के लिए मैं भी स्टेशन पर गया था। ट्रेन से उतरते ही उन्होंने कृष्णदास के स्वास्थ्य के बारे में बारीकी से पूछताछ की। जब हम लोग घर पहुंचे तब अन्धेरा हो गया था। कृष्णदास को देखकर और जरूरी सूचनाएं देकर बापूजी अपने घर चले गए।

दूसरे दिन सवेरे अचानक मुझे तेज बुखार हो आया। बापूजी ने मुझे देखा और निदान किया, "प्रभु को भी मियादी बुखार है।" और उन्होंने मेरी भी चिकित्सा का काम अपने हाथों में ले लिया। बापूजी ने कृष्णदास को सबसे पहले दूध देना बन्द कर दिया, और पानी में केवल मीठे नीबू निचोड़कर दिन में चार-पांच बार दो-दो घंटे के अंतर से देने लगे। इसके उपरांत उसे दिन में दो बार ठंडे पानी से भीगी चादर में लपेटकर कमरे के बाहर खुली हवा में सुलाने का प्रयोग आरम्भ किया। शरीर पर गीली चादर लपेटकर उस पर कम्बल लपेट दिया जाता था। चादर के अन्दर कृष्णदास पसीने से तर हो जाता था। जब गरमी सहन नहीं होती थी तब उसे चादर से निकाला जाता था। और बन्द कमरे में गीले अंगोछे से सारा बदन पोंछ कर धुले हुए साफ कपड़े पहनाकर बिस्तर पर लिटा दिया जाता था।

तीन या चार दिन में उसका ज्वर हलका पड़ गया और घर-भर में जो चिंता फैली हुई थी वह विलीन हो गई। कृष्णदास को हंसाने और प्रसन्न रखने के लिए बापूजी बात-बात में जो विनोद किया करते थे उसके फल-

स्वरूप घर में चारों ओर हंसी गूंज उठती थी। सुबह, दोपहर और शाम को प्रतिदिन तीन बार बापूजी हमारे घर आते थे। पानी में अपने हाथ से नीबू निचोड़कर और छानकर देते थे और सावधानी रखते थे कि नीबू के अंदर का ज़रासा रेशा भी उसके पेट में न जाय। भीगी चादर में लपेटने के समय अपने हाथ में घड़ी लेकर स्वयं खड़े रहते थे और पन्द्रह-बीस मिनट तक अनेक तरह की बातें करके कृष्णदास को खुश कर देते थे। सारे वातावरण में प्रसन्नता का ऐसा अमृत बरसने लगता था कि रोगी का कष्ट, और रोग का विष चाहे कितना ही विषम क्यों न हो, उसे दबना ही पड़ता। बापूजी ऐसे वैद्य थे कि उनके उपचार जिस मात्रा में प्राकृतिक चिकित्सा के थे, उससे कहीं अधिक मनःपूत थे और देह की अपेक्षा देही पर अधिक असर डालते थे।

इक्कीसवें दिन, अर्थात् बापूजी की चिकित्सा शुरू होने के चौथे या पांचवें दिन बाद, कृष्णदास सर्वथा ज्वर-मुक्त हो गया, केवल निर्बलता बाकी रही। मुझे बुखार था, परंतु मेरे लिए किसी को विशेष चिंता नहीं थी। बापूजी की छाया में मेरे ज्वर का उग्र रूप हुआ ही नहीं। जिस दिन बुखार आया उसी दिन से मेरे पेड़ पर चौबीसों घंटे गीली मिट्टी की पट्टी बंधी रहती थी। काली चिकनी मिट्टी से कंकड़ अलग करके उससे तैयार किये गए गारे को डेढ़ बालिश्त चौकोर कपड़े पर दो अंगुल मोटाई में कच्ची ईंट की तरह फैलाया जाता था और नाभि के नीचे उसे बांध दिया जाता था। घंटे, डेढ़-घंटे बाद जब वह पट्टी सूखकर कड़ी हो जाती थी तब पट्टी बदल दी जाती थी। संध्या के समय प्रति दिन पाव घंटे तक कटि-स्नान कराया जाता था, जिसमें नाभि के ऊपर और घुटने से लेकर पंजों तक का हिस्सा कम्बल से ढककर पेड़ू पर रूमाल से पानी के अन्दर मालिश की जाती थी। ज्वर का पता चलने पर जब पहली बार बापूजी ने मुझे कटि-स्नान के लिए पानी में बैठाया, तब मुझे जोर की नींद आ रही थी, इसलिए बैठना अच्छा नहीं लगता था। फिर भी बापूजी ने मुझे 'टब' में बैठाया और अपना हाथ मेरे सिर के नीचे रखकर पानी में बैठे-बैठे ही आराम से नींद लेने की सुविधा कर दी।

टब में बैठते समय ठंडे पानी की वजह से मुझे कंपकपी मालूम हुई, परन्तु बापूजी ने सीने और पैरों पर इस तरह कम्बल लपेट दिये थे कि शरीर में गरमी आ गई और मैं सो गया। पिताजी लगभग आध घंटे तक मेरे पेड को पानी में ही मुलायम कपड़े से रगड़ते रहे। इसके बाद मुझे बाहर निकालकर अंगोछे से पोंछकर और कपड़े पहनाकर चारपाई पर सुला दिया। रात के समय एनीमा देकर मेरी आंतों को जितना हो सका साफ किया गया।

पहले तीन दिन इसी प्रकार बीते। खाने के लिए कुछ भी नहीं और पीने के लिए केवल गरम पानी। मुझे भी खाने-पीने की इच्छा नहीं होती थी। चौथे दिन पानी में नींबू निचोड़कर दिया गया। यह क्रम छः दिन तक चला। साथ-साथ नित्य प्रति इसके अलावा रोज एक बार 'एनीमा' और दो बार कटि-स्नान का क्रम चालू रहा।

मेरी चारपाई ऐसे बरामदे में रखी गई थी जो पश्चिम और दक्षिण दिशा में बिलकुल खुला था। वहां पर खुली और तेज हवा और सायंकाल की धूप आती थी। दक्षिण की ओर गुलाब की सुन्दर फुलवारी थी और पश्चिम मे फल-वृक्षों का सुन्दर बागीचा। मैं खाट पर पड़ा-पड़ा इन दृश्यों को देखता रहता था, इसलिए समय सहज ही कट जाता था। वहां के तेज वायु से शरीर का रक्षण करने के लिए सावधानी से मुझे हर समय कम्बल ओढ़ाकर रखा जाता था, केवल मुंह और नाक को खुला रखा जाता था। रात के समय चारपाई बरामदे से कमरे में हटा दी जाती थी, परन्तु कमरे में भी खिड़कियां खुली रखी जाती थीं। एक बड़ी खिड़की मेरे सिरहाने पर थी। मैं चौबीस घंटों में लगभग अठारह घंटे गहरी नींद सोता था।

बापूजी ने दस दिन तक मुझपर अपने मिट्टी-पानी के प्रयोग किये। उसके बाद चिकित्सा के क्रम में थोड़ा परिवर्तन किया। रोज सवेरे आकर वह मेरी जीभ की जांच किया करते थे। ग्यारहवें दिन सवेरे उन्होंने जिह्वा-परीक्षा के बाद मुझसे कहा, "अब तेरी जीभ साफ हो गई। आज मैं कुछ खाना दूंगा।"

दस दिन तक गरम पानी के सिवा मेरे पेट में कुछ गया ही नहीं था, इसलिए दो-एक दिन से खाने की इच्छा जोर पकड़ रही थी। बापूजी ने स्वयं ही यह बात कही, इसलिए मैं बहुत खुश हो गया। खाने की स्वीकृति मिलने के दो घंटे बाद मुझे सबसे पहले नमक या चीनी के बिना नीबू का पानी ही मिला। दोपहर के बाद दो 'ग्रेनडेला' (एक प्रकार का फल) तोड़-कर उसका छना हुआ रस दिया गया।

'ग्रेनडेला' फल मुझे बहुत प्रिय था। भारत में मैंने कहीं वह फल नहीं देखा। पर दक्षिण अफ्रीका में वह बिना खास सार-सम्हाल के पैदा होता है। उसकी सेम की जैसी बेल होती है। कच्चे फल का रंग हरा होता है और पकने पर वह जामुन या बैंगन का-सा हो जाता है। आकृति में वह अंडाकार और बड़े कागजी नीबू या छोटी नारंगी के बराबर होता है। फल के भीतर केसर के रंग का पतला रस निकलता है और उसके बीज काले और पपीते

के बीज के बराबर बड़े और चपटे-से होते हैं। उसके स्वाद की तुलना मीठे कंधारी अनार के स्वाद से की जा सकती है।

ज्वर-मुक्त होने के बाद भी कई दिन तक बापूजी ने मुझे या कृष्ण को दूध नहीं दिया। हमारी निर्बलता हटाने के लिए उन्होंने फलों के रस का ही आहार हमारे लिए रखा। मेरा ज्वर छूटने के तीसरे दिन से मुझे अनन्नास का रस मिलने लगा। एक गिलास रस पीने के बाद मुझे और कुछ लेने की भूख नहीं रहती थी। सुबह पिया हुआ रस शाम तक काम दे जाता था।

अनन्नास का रस जब भली-भांति हजम होने लगा और चारपाई में अपने-आप बैठने-उठने की शक्ति आ गई तब हम लोगों को बापूजी ने केला देना आरम्भ किया। आधे केले से शुरू किया गया। बापूजी अपने हाथ से केले को छीलकर धीरे-धीरे कुचलते थे और फिर उसे मथकर दूध जैसा तरल बना देते थे। उसका एक कण भी ठोस न रहने पाता था। इसमें इतना अधिक समय खर्च होता था कि कृष्णदास तो बहुत अधीर हो उठता था। परन्तु बापूजी पूरे धैर्य से केले को मथते जाते थे और कृष्ण को बातों में लगाए रहते थे। केला मथ जाने के बाद उसमें एक नीबू निचोड़ते थे और फिर काफी देर तक उसका सम्मिश्रण करते थे। सुन्दर पेय बनने के बाद धीरे-धीरे छोटे चम्मच से हमें चूसने ('सिप' करने) के लिए वह दिया जाता था।

जब तक बिस्तर छोड़कर हम दोनों खेलने न लगे, हमें काफी शक्ति प्राप्त न हो गई, तब तक बापूजी ने हमको फलों के रस पर ही रखा। कमजोरी मिटाने के लिए अन्न, शाक, खिचड़ी, दलिया अथवा मूंगफली या बादाम की जैसी कोई चीज दी गई हो, ऐसा याद नहीं पड़ता। औषधि के नाम से तुलसी या नीम-जैसी पत्ती और मसाले के नाम से काली मिर्च-जैसी वस्तुएं भी हमें नहीं दी गईं।

मैं जब ज्वर-मुक्त हुआ उसके छः-सात दिन बाद मैंने बापूजी को पिताजी से यह कहते हुए सुना : "यदि इन दोनों भाइयों की बीमारी ने मुझे यहां पर रोक न रखा होता तो आज से पहले ही मैं 'फार्म' लेकर यहां आ गया होता। अब पूरे 'फार्म' को समेटकर ही यहां आने का मेरा विचार है। ऐसा करने में पन्द्रह-बीस दिन सहज ही बीत जायेंगे। दुबारा वहां जाना न पड़े इसलिए वहां से सभी को अपने साथ लिवा लाऊं यही उचित होगा।" बापूजी के ये उद्गार सुनकर मेरे हर्ष का ठिकाना न रहा।

मैं स्वयं उत्कटता से वहां जाने के लिए दो मास से छटपटा रहा था।

अन्त में ईश्वर ने मेरी उस उत्कंठा को दूसरे तरीके से पूरा किया। गोखले-जी के लौट जाने के बाद लगभग तीसरे महीने में टाल्स्टाय-वाड़ी के सभी शिक्षक और विद्यार्थियों के साथ बापूजी फीनिक्स आ गए और फीनिक्स ही अब उनकी सारी प्रवृत्तियों का केन्द्र-स्थान बन गया।

: ४१ :

टाल्स्टाय-वाड़ी की स्मृतियां

टाल्स्टाय-वाड़ी में बापूजी ने शरीर को सुदृढ़, सशक्त और फुर्तीला बनाने पर जोर दिया था। इसलिए वहां सभी के बीच अपना वजन बढ़ाने की तथा अधिक-से-अधिक चलने की होड़ लगी रहती थी।

फार्मवासियों में एक दंतकथा ऐसी प्रचलित हो गई थी, जो वहां की गतिविधि की तथा वातावरण की लाक्षणिक रूप से सूचक है और बहुत विनोदपूर्ण भी है।

डरबन नगर में रहने वाले एक गुजराती व्यापारी का लड़का कुछ महीने फीनिक्स में मेरा सहपाठी रह चुका था। बाद में उसके पिता ने उसे बापूजी के पास टाल्स्टाय-वाड़ी भेजा था। वह स्वभाव से बहुत सरल था और हर किसी की बात को बिना परखे ही मान लेने वाला था। उसका अहंभाव इतना अधिक और असंतुलित था कि वह हर बात में अपने को प्रथम बनाने की धुन के कारण कई बार बुद्धू बन जाता था। लड़के भी उसको बनाने का मौका खोजते रहते थे।

टाल्स्टाय-वाड़ी के शिक्षक और विद्यार्थी समय-समय पर जांच किया करते थे कि शरीर की ऊंचाई, मोटाई एवं तौल में कौन बाजी मारता है। वजन में क्या घट-बढ़ हुई, यह जानने के लिए अक्सर सब लोग अपना तौल करने जाया करते थे। एक बार तौल के समय कुछ लड़कों ने मिलकर इस वणिक-पुत्र को घेर लिया। गणित के वर्ग में प्रश्न का हल निकालने में वह कमजोर नहीं था और 'टन' बड़े-से-बड़े वजन को कहा जाता है, यह उसको मालूम था। पर इस बात का बिलकुल अन्दाज न था कि 'टन' का वजन कितना अधिक होता है। जब लड़कों ने गम्भीरतापूर्वक कांटा देखकर उसे बताया कि तुम्हारा वजन चालीस टन है तब उसने इस बात

पर विश्वास कर लिया और मन-ही-मन फूला न समाया। उछल-उछलकर सबसे कहने लगा, "देखोजी, मैं सबसे आगे निकल गया। मैं तौल में अब चालीस टन हूं।"

वह दौड़कर बापूजी के पास भी पहुंच गया और उसने उनको भी बता दिया कि "मैं चालीस टन हूं।" बापूजी तो विनोद-प्रिय थे ही। लड़कों के इस मनोविनोद में वह भी शामिल हो गए और उस लकड़े को बड़ी गम्भीरता से उन्होंने बधाई दी। चारों ओर उसकी प्रशंसा फैल गई; हर मुंह से यह बात कही जाने लगी, "वाह भाई, कमाल है ! इन जनाब ने सबसे बाजी मार ली ! पूरे 'चालीस टन' हो गए।" अपनी इस प्रशंसा से हमारे उस बाल-मित्र को इतना हर्ष होता था कि प्रशंसा की बौछार के पीछे जो व्यंग था वह उसकी समझ में ही नहीं आता था। कई दिनों बाद उसको पता चला कि सबने मिलकर उसे बुद्धू बनाया था। लेकिन उसके लिए 'फार्टी टन' (चालीस टन) का जो संबोधन प्रचलित हो गया था वह कायम ही रहा। उसके बाद सभी लोग उसे 'फार्टी टन बोस्टर" अर्थात् "चालीस टन की डींग हांकने वाला" नाम से पुकारते रहे।

बापूजी ने जब फार्म में भोजन के नये-नये नियम बनाये, आमिष-भोजियों को संयुक्त रसोई में निरामिष भोजन से ही संतोष करने के लिए समझाया और रमजान-महीना तथा श्रावण-मास साथ-साथ आने पर मुसलमान लड़कों को रोजा रखने को और हिन्दुओं को एक ही समय भोजन करने को प्रोत्साहित किया, तब उन्हें स्वादिष्ट रसोई बना-बनाकर भोजन कराने की पूरी सावधानी रखी थी। वह अपने ही हाथ से पकाते और परोसते थे। जब उन्होंने विद्यार्थियों से अलोने आहार का प्रयोग करवाया तब वह अपनी सारी वत्सलता से लड़कों को सराबोर रखते थे।

छात्रावास में ऊधम मचाने से भी बढ़कर शिक्षकों को तंग करने में फार्म के कुछ लड़के मशहूर हो गए थे। वे बापूजी की धाक मानते थे। श्रीकैलनबैक से भी डरते थे। बापूजी जब मौजूद होते तो कायदे से चलते थे और कैलनबैक से शरारत करने का शायद उन्हें मौका ही नहीं मिलता था, क्योंकि उनके सामने वे लगातार काम में लगे रहते थे। कुदाल लेकर खोदने या फल-वृक्ष की टहनियों को कतरकर व्यवस्थित करने का काम कैलनबैक इतनी तेजी से करते कि कांट-छांटकर गिराई हुई टहनियों को खाद के गड्ढे में पहुंचाने में तीन-तीन जवान भी थक जाते थे; दूसरे, वह इतने खबरदार थे कि जो लड़का काम करने से बचने की कोशिश करता था उसे अवश्य ही अपने पास रखते थे। लेकिन जब बापूजी और कैलन-

बैंक किसी काम से बाहर चले जाते थे तब अन्य शिक्षकों को तंग करने में लड़के कोई कसर उठा नहीं रखते थे।

फार्म में दिलचस्प समय वह होता था, जब कड़ा परिश्रम करने के बाद मध्याह्न में श्रीकैलनबैक और बापूजी भोजन के लिए बैठते थे। दोनों केवल फलाहारी थे, फिर भी ठीक डेढ़ घंटे तक उनका भोजन चालू रहता था। चौबीस घंटों में वे केवल यही भोजन पाते थे और इस एक वक्त के भोजन में भी बड़ी पाबंदियां थीं। नमक नहीं, मिर्च मसाले नहीं, दूध-घी नहीं, चीनी-गुड़ नहीं और अन्न या द्विदल धान्य भी नहीं। इसके अतिरिक्त जो कुछ मिले उसे आग पर पकाये बिना ही खा लिया करते थे। केले और मूंगफली दो चीजें फलाहार में मुख्य होती थीं। इन दोनों को खूब चबा-चबाकर मुंह में घोलकर खाने का बापूजी का नियम था। प्रातःकाल से मध्याह्न तक खेत में कड़ा परिश्रम करने और टाल्स्टाय फार्म की आरोग्य-वर्द्धक जलवायु के कारण भोजन में केले और मूंगफली की मात्रा कम नहीं रखी जा सकती थी, इसलिए वास्तव में बापूजी को भोजन का वह डेढ़ घंटा भी कम पड़ता था, और दूसरे काम की जल्दी होने के कारण इतने समय में अपना फलाहार समाप्त करने के लिए शीघ्रता करनी पड़ती थी। फार्म के लड़कों को यह डेढ़ घंटा आराम और खेल-कूद के लिए मिल जाता था। इसके बाद वहां की पाठशाला में पढ़ाई का काम शुरू होता था।

पाठशाला के मुख्य शिक्षक बापूजी स्वयं थे, पढ़नेवालों की कक्षा अनेक थीं और कक्षा-विद्यार्थियों की मातृभाषा भी चार-पांच प्रकार की थी—गुजराती, हिन्दी, तमिल और अंग्रेजी-भाषी लड़के थे। कुछ लड़के जो ट्रांसवाल में ही जन्मे थे, उनके लिए डच लोगों की भाषा सुगम थी। पूरे नौजवान युवक और छोटे लड़के व लड़कियां भी थीं। एक-दो बच्चे तो इतने छोटे थे, जिनको हमेशा गोद में ही रखना पड़ता था। जेल गये हुए सत्याग्रहियों के बीवी-बच्चों को बापूजी ने फार्म में आश्रय दिया था। इस प्रकार जिस बच्चे के पिता मौजूद न हों उसके पिता का काम भी बापूजी अपने ऊपर ले लेते थे। किसी-न-किसी बच्चे को गोद में लेकर प्रायः खड़े-खड़े ही बापूजी लड़कों को पढ़ाया करते थे। कभी कोई लेख लिखवाते थे तो कभी कापियां जांचते थे। यदि मैं भूलता नहीं हूं तो दो-एक लड़कों ने मुझे यहां तक बताया था कि अनेक बार बापूजी ने पैर से कलम पकड़कर जांची हुई कापी पर दस्तखत किये थे, क्योंकि नन्हें बच्चे को गोद में लेने के कारण उनके दोनों हाथ घिरे रहते थे। फार्म की पाठशाला में इस तरह पढ़ाई का काम मुश्किल से दो घंटे होता था। फीनिक्स में आने के बाद ही बापूजी के पास रहनेवाले लड़कों की पढ़ाई कुछ व्यवस्थित रूप से शुरू हुई।

फार्म का एक असाधारण कार्यक्रम पैदल प्रवास का था। टाल्स्टाय-वाड़ी से जोहान्सवर्ग २१ मील था। दो वजे रात को चलकर दिन निकलते-निकलते जोहान्सवर्ग पहुंचना संभव होता था। कई बार बापूजी इस पैदल प्रवास की होड़ भी करवाते थे। ऐसी एक होड़ में जमनादासकाका ने श्री-कैलनबैक को भी हरा दिया था और इनाम पाया था। उन्होंने चार घंटे पैंतीस मिनट में २१ मील की वह पैदल यात्रा पूरी की थी।

वहां की सख्त ठंड में बड़े जोर का पाला पड़ता था। सूर्योदय से पहले पानी पर बरफ भी जम जाया करती थी। इस पर बापूजी ने फार्म-वासियों से बूट और जुराव का त्याग करवा दिया था। ऐसी हालत में तड़के ही पैदल चल पड़ना आसान काम नहीं था। मर्दाने खेलों की जैसी ही वीरता का यह काम था। यदि कोई इसमें ढीला पड़ता तो बापूजी उसकी कसकर खबर लेते थे।

एक बार श्री कैलनबैक ने जमनादासकाका का कायम किया हुआ चार घंटे पैंतीस मिनट का रेकार्ड तोड़ने का बीड़ा उठाया। सदा के नियमा-नुसार वह टाल्स्टाय-वाड़ी से अपनी पीठ पर बगल-थैला लादकर चल पड़े। रास्ते में समय होने पर कलेवा करने का सामान बगल-थैले में था। परन्तु कंधे पर कसा हुआ बगल-थैला खोलने और उससे खाने का सामान निकालने तथा फिर से थैला कंधे पर बांधने में काफी समय खर्च हो जाने का भय था। इसलिए रास्ते के किसी होटलवाले से उन्होंने नाश्ता खरीदा और चलते-ही-चलते जलपान किया। दूकानदार से बची हुई रेजगारी वापिस लेने तक को भी कैलनबैक नहीं रुके। इस प्रकार पिछला रेकार्ड चन्द मिनटों से तोड़ने में वह कामयाव हुए। पर जब बापूजी को इस बात का पता चला तब उन्होंने श्री कैलनबैक को आड़े हाथों लिया और कहा कि ऐसा साहबी-पन, कि बगल में खाना मौजूद हो तब भी पैसे डालकर दूसरा खाना खरीदा जाय, बिलकुल अशोभनीय है। बापूजी की इस टीका के कारण श्री कैलन-बैक कुछ उदास होगए।

प्रति सप्ताह कम-से-कम एक बार बापूजी भी टाल्स्टाय-फार्म से जोहान्सबर्ग पैदल जाया करते थे। श्री कैलनबैक भी उनका साथ देते थे। मुश्किल से दो या तीन घंटे रात को झपकी लेकर बापूजी उठ खड़े होते थे और ठीक दो बजे, ब्राह्ममुहूर्त्त से पहले ही, पैदल यात्रा आरम्भ कर देते थे। बापूजी की रफ्तार कम नहीं थी। पांच या साढ़े पांच घंटे में वह अपने आफिस तक का २१ मील का पैदल प्रवास पूरा कर लेते थे। प्रातःकाल पैदल जाने के बाद उसी दिन शाम को बापूजी और दूसरे सब लोग रेल-गाड़ी से फार्म लौट आते थे।

एक बार का किस्सा है। जोहान्सबर्ग से कई लड़कों के साथ बापूजी फार्म से लौट रहे थे। साथ में बोरी-भर मूंगफली थी। एक गोरा टिकट-बाबू बापूजी से भिड़ गया कि उस बोरी को तुलवाकर आवश्यक रेल-महसूल दिया जाय। बापूजी ने उसे समझाया कि वह प्रवासियों के भोजन की चीज है, उसका किराया लेने का कानून नहीं है। परन्तु ऊंचे दिमाग वाला टिकट-बाबू बापूजी की बात को समझ नहीं पाता था। तब बापूजी ने अपने साथवाले सभी लड़कों को सारी मूंगफली बांट दी और बोरी खाली कर दी। लड़के भी तुरन्त मूंगफली छील-छीलकर खाने लगे। यह देखकर वह टिकट-बाबू खिसिया गया और चुपचाप वहां से चलता बना।

टाल्स्टाय-वाड़ी के जीवन में उत्साह था, आनन्द था। एक ओर कठिन परिश्रम और कठोर तप था तो दूसरी ओर बापूजी की वत्सलता और प्रेम बरसता रहता था।

: ४२ :

साधना-भूमि फीनिक्स

बापूजी टाल्स्टाय-वाड़ी (फार्म) का सारा परिवार लेकर फीनिक्स आये, उस समय गो-धूलि वेला थी। बापूजी के स्वागत के लिए हम लोग कुछ दूर चलकर आगे गये थे। वह डरबन से सोलह मील पैदल चलकर आ रहे थे। फीनिक्स आश्रम की सीमा से करीब मील-भर दूरी पर हमें उनके दर्शन हुए। सूर्य-प्रकाश पश्चिम की ओर सिमट रहा था। पगडंडी के दोनों ओर के ऊंचे-ऊंचे 'वॉटल' वृक्षों पर संध्या की छाया फैलती जा रही थी। उस श्यामल आभा में बापूजी के शुभ्र वस्त्र बहुत सुन्दर लग रहे थे। वह आधी बांह की कमीज़ और पतलून पहने हुए थे। पतलून को नीचे से करीब घुटनों तक मोड़ रखा था। लम्बे-लम्बे डग रखते हुए और चारों ओर प्रसन्नता बिखेरते हुए बापूजी तेजी से सबसे आगे आ रहे थे। उनके पीछे तीन-तीन चार-चार की टोलियों में छोटे-बड़े फार्मवासी घिसटते हुए-से चले आ रहे थे।

हम लोगों ने बापूजी को प्रणाम किया। फिर उन टोलियों के साथ मिलकर हम सब फीनिक्स की ओर बढ़े। पिताजी और [illegible] बापू-

जी के साथ बातचीत करने लगे और मैंने फार्म-वासियों पर उत्सुकतापूर्ण दृष्टि डाली। उनमें से बहुतों के नाम मैंने सुन रखे थे, परन्तु व्यक्तिगत रूप से मैं उन्हें नहीं पहचानता था।

अंधकार के साथ ठंडक भी बढ़ती जा रही थी। औरों के मुकाबले बापूजी का बदन ज्यादा खुला हुआ था। स्वागत के लिए आने वालों में किसीके पास एक शाल थी और उसने वह बापूजी को ओढ़ने के लिए दी; किन्तु उन्होंने उसे लौटा दिया और कहा, "नहीं, कोई खास ठंड नहीं है, ओढ़ने की मुझे जरा भी जरूरत नहीं है। प्रभुदास को इसे ओढ़ा दो।" मुझे ठंड लग रही थी। बापू के प्रेम के कारण मुझे शाल मिल गई और मैं ठंडक से बच गया।

बापूजी के मकान पर, जो 'बड़ा घर' कहलाता था, पहुंचते-पहुंचते काफी अंधेरा हो गया, थके-थकाये सब लोगों ने जब वहां पर पड़ाव डाला तब सचमुच वह घर 'बड़ा घर' बन गया। वास्तव में उस घर में केवल इतनी जगह थी कि बापूजी का केवल निज का परिवार सुविधा से रह सके, किन्तु अब उस घर में दस-बारह गुने आदमी बढ़ गए थे। कोठी या बंगला तो वह था नहीं। टीन की चादरों से बनी हुई एक बड़ी-सी कुटिया ही उसे कहना चाहिए। भीड़ के बढ़ जाने के बाद पूज्य बा और बापू के लिए अलग कोठरी तो दरकिनार, अलग कोना भी नहीं बच पाया था।

दूसरे दिन सुबह मैं नवीन फीनिक्स का दर्शन करने के लिए निकल पड़ा। हमारे रहने के मकान के पूर्व में श्री पुरुषोत्तमदास देसाई का और पश्चिम की ओर कुछ दूरी पर श्री आनंदलाल गांधी का मकान था। महीनों से ये दोनों मकान खाली पड़े थे। अब इन दोनों मकानों में जहां देखो आदमी-ही-आदमी नजर आ रहे थे। नए आने वालों में से कई के लिए सोने-रहने की व्यवस्था इन मकानों में की गई थी, परन्तु फार्म से आये हुए सभी फार्मवासियों के लिए भोजन की व्यवस्था 'बड़े घर' में ही निश्चित की गई थी। इस कारण अब 'बड़े घर' का नाम रसोईघर पड़ गया।

दोपहर को जब मैं खा-पीकर बड़े घर पहुंचा तो देखा कि उस घर के बीच के खंड में मेज लगी हुई थी और उसके चारों ओर बेंच व कुर्सियां डालकर बहुत से आदमी सटकर बैठे थे और भोजन कर रहे थे। अनुमान से तीस से भी ज्यादा व्यक्ति होंगे। बापूजी खड़े-खड़े सारी मेज की प्रदक्षिणा करते हुए परोसने का काम कर रहे थे। भोजन का ढंग देखकर मैं और भी चकित रह गया। प्रत्येक व्यक्ति के पास तामचीनी का केवल एक-एक

तसला और एक-एक चम्मच था। दाल-भात, शाक, रोटी सब-कुछ बापूजी

टाल्स्टॉय-वाड़ी के निवासी

फीनिक्स-आश्रम के निवासी
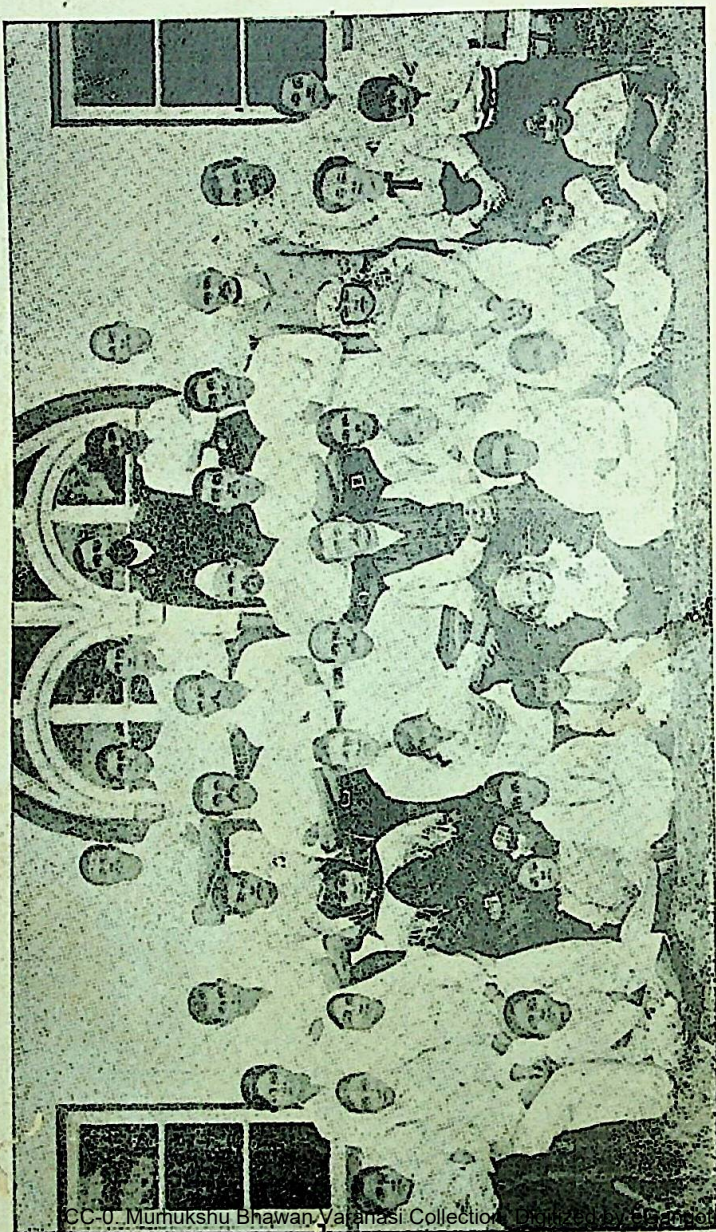
उस एक ही तसले में परोसते थे। मेरी समझ में यह नहीं आया कि बापूजी एक ही तसले में इतनी सारी चीजें क्यों परोस रहे हैं और थाली-कटोरों का प्रयोग क्यों नहीं कर रहे हैं। भोजन पानेवाले सभी व्यक्ति तसले की हरेक चीज का अलग-अलग स्वाद लेने की भरसक कोशिश करते थे और बापूजी भी प्रत्येक व्यक्ति को हर चीज तसले के उसी कोने में परोसते थे जहां वह इशारा करता था। फिर क्या कारण था कि सब-कुछ एक ही बरतन में परोसा जाय? परन्तु किसी से यह प्रश्न पूछने का मुझे साहस नहीं हुआ।

भोजन से निवृत्त होने पर सब लोग फार्म से आये हुए सामान को खोलने-सजाने में जुट गए। बापूजी हथौड़ी, कीलें और आरी लेकर पुस्तकों के लिए खुली अलमारी (बुक स्टैंड) बनाने में लग गए। वहां पर बात-चीत क्वचित् ही होती थी। बापूजी ने अपने कमरे की फर्श से लेकर छत तक पहुंचने वाली सोलह-अठारह फुट ऊंची एक खुली अलमारी सूरज छिपने तक ठीक-ठाक करके खड़ी कर दी। उसकी सीढ़ियां और तख्ते पहले से तैयार ही थे।

रात के समय उसी मेज के चारों ओर, जिस पर भोजन किया गया था, सभा जुड़ी। दो-एक भजन होने के बाद बापूजी का प्रवचन हुआ। अपनी धुंधली स्मृति के आधार पर उस प्रवचन का सार यहां देता हूं :

"मान लो जेल में जाने का प्रसंग नहीं आया और हिन्दुस्तान जाना पड़ा तो भी हमें सादगी और कड़े व्रतों का पालन करना होगा। वहां जाकर हम लोगों को यहां से भी अधिक काम करना है, इसलिए यहां पर फीनिक्स में कई ऐसे नियम अमल में आयंगे जो टाल्स्टाय-फार्म पर नहीं थे। इन नियमों को जो तोड़ेगा वह फीनिक्स में रहने योग्य नहीं रहेगा।

"पहला नियम तो यही कि फार्म की तरह यहां भी जब चाहो तब वृक्ष से फल तोड़कर खाये नहीं जा सकते। बाग के वृक्ष से ही नहीं, जंगल के फल भी कोई इस तरह न खाय। भोजन पर बैठकर दिन में तीन बार जो खाना मिलता है उसके अलावा किसीको फल की एक फांक भी अपने मुंह में नहीं डालनी चाहिए। भोजन के लिए बैठें तब भरपेट खा लें। बाग के फल भी भोजन के समय पर्याप्त मिल जायंगे। लेकिन इसके बाद लालचवश कोई छोटा-सा फल भी तोड़ेगा तो उसे चोरी समझनी चाहिए।

"दूसरा नियम यह है कि अपने से बड़े के प्रति हरेक को विनय से रहना चाहिए और अदब रखना चाहिए। बड़ों के प्रति उद्दंडता शोभा

नहीं देती। ऐसा नहीं होना चाहिए कि जब तक मैं न कहूं, तब तक किसी की बात पर ध्यान ही न दिया जाय।

"यह सब अमल में लाने के लिए तुम लोग तरोताज़ा हो जाओ, इसलिए मैं तुम लोगों को सात दिन की छुट्टी देता हूं। अगले सोमवार से हमारी पाठशाला शुरू होगी। आगामी इतवार की संध्या तक तुम लोग जी-भर कर खेल लो, जितना आलस करनाहो कर लो और जो मौज करनी हो कर लो। फिर यह मत कहना कि बापूजी खेलने नहीं दे रहे हैं, काम-ही-काम करवा रहे हैं। पहले खेल लो, बाद में हम कसकर काम करेंगे।"

छुट्टी के सप्ताह में बापूजी स्वयं बहुत व्यस्त रहे। वह दिन-भर टाल्स्टाय-वाड़ी से आया हुआ सामान व्यवस्थित करने और नई पाठशाला की तैयारियों में लगे रहे।

विद्यार्थियों में बड़े और छोटे लड़कों की दो टोलियां-सी बन गई थीं। बड़े विद्यार्थियों ने सात दिन की छुट्टियां नहाने-धोने, बिस्तरों को धूप में फैलाने और सारी दुपहरी तानकर सोने में बिताई। छोटे लड़कों ने अपना समय बगीचे में घूमने, खेलने और छोटे-बड़े लड़कों की अच्छाई-बुराई की चर्चा करने में बिताया।

सातवें दिन रविवार था। झरने पर आनंद से सब लड़के नहाने-धोने में मस्त थे। अचानक बापूजी बिना किसी सूचना के वहां आ पहुंचे। उनके हाथ में बाल काटने की मशीन थी। आते ही उन्होंने एक के बाद दूसरा और फिर तीसरा—इस प्रकार लगभग सवा घंटे में सभी लड़कों के बाल काट दिए। फिर बहुत संक्षेप में बोले, "जिनको अब भी बाल प्यारे हैं, शान-शौकत की इच्छा है, वे फीनिक्स से लौटकर जा सकते हैं। यह सभी को समझ लेना चाहिए कि पुराना ढंग अब नहीं चलेगा। अब नए सिरे से सारा जीवन बिताना होगा, फैशन और चैन का अब कोई मौका नहीं है।"

बापूजी फीनिक्स में साधारणतया रात को तीन बजे और कई बार दो बजे उठकर लिखने-पढ़ने के काम में लग जाते थे। बापूजी के टाल्स्टाय-वाड़ी से आने के बाद के कई दिन मुझे याद हैं जब मेरी माताजी ने मुझे पौ फटने पर जगाया और कहा कि "देख, बापूजी दो बजे से उठकर लिख रहे थे, अब उन्होंने दतौन ले ली है और देवदासकाका को जगा रहे हैं। तू भी अब उठ जा।"

हमारा घर बापूजी के घर से दूर था पर बापूजी बरामदे में ही सोते थे, इसलिए हमारे घर की खिड़की और बरामदे से वहां की सारी हल-चल दीख पड़ती थी। नींद में मैं बापूजी की आवाज सुनता था, "देवा !

उठो, देवा...! देवा...उठो!" और फीनिक्स की सारी दिशाएं गूंज उठती थीं। बापूजी जब पुकार लगाते थे तब उनकी आवाज धीमी नहीं होती थी।

चूंकि अलग-अलग तीन मकानों में सब छात्र बंटे हुए थे, बापूजी को अपने पास सोए हुए लड़कों को उठाने के बाद दूसरे दो मकानों में भी सबको जगाने के लिए जाना पड़ता था।

उठ जाने के बाद सब विद्यार्थी बापूजी के बरामदे के पास जमा हो जाते थे। वहां आंगन के एक सिरे पर बालिश्त-भर चौड़ी, फुट-भर गहरी और आठ-दस फुट लम्बी खाई खुदी रहती थी। उस खाई के किनारे पंक्तिबद्ध बैठकर सभी लोग एक साथ दातौन करते थे। बापूजी हमारे बीच में बराबर उपस्थित रहते थे और कोई खाई से बाहर थूक नहीं सकता था। तेज ठंड के मौसम में या भारी वर्षा के दिन छात्रावास के एक बड़े कमरे में ही दतौन की यह प्रातर्विधि संपन्न की जाती थी। एक या दो बड़ी परातें और तामचीनी का थूकदान बीच में रखकर उसके आसपास हम सब बैठ जाते थे और दतौन की क्रिया पूरी होने पर एक लड़का उस थूक को खाद के गड्ढे में पहुंचा देता था और उसे मिट्टी से ढक देता था।

दतौन की विधि बापूजी के विचार से बहुत महत्व की थी। वह अक्सर कहा करते थे कि प्रातःकाल दतौन करने के साथ-साथ हमें आध्यात्मिक दतौन भी करनी चाहिए, मुंह का मैल ज्यों-ज्यों साफ करते जायं, त्यों-त्यों मन का मैल भी निकालना चाहिए। उन्होंने अपनी यह आदत बना ली थी कि दतौन के साथ-साथ गंभीर चिन्तन भी किया करते थे। जब हम लोग दतौन के लिए बैठते थे तब बापूजी की उपस्थिति के कारण गप-शप नहीं कर पाते थे। वातावरण शांत और गंभीर रहता था और बापूजी अत्यन्त गहराई से आत्मचिन्तन में लगे हुए दिखाई देते थे। किसी से कुछ कहना भी आवश्यक हो तो इशारा भर करते थे, और यथासंभव मौन ही रखते थे: उन दिनों प्रातःकाल की प्रार्थना का प्रारम्भ नहीं हुआ था। एक प्रकार से यह दतौन-विधि ही प्रार्थना का कुछ काम दे जाती थी।

जब दतौन का यह सिलसिला पूरा होता था, घंटा बज उठता था। घंटे के बजते ही फीनिक्स के सभी कार्यकर्ता, छोटे-बड़े विद्यार्थी और बापूजी भी अपनी-अपनी कुदाल, फावड़ा आदि लेकर निकल पड़ते थे और बगीचे में पहुंच जाते थे।

बगीचे में अधिकतर खोदने या घास साफ करने का काम रहता था। किसने अपने काम का कितना हिस्सा पूरा किया इसकी पूछताछ कोई

नहीं करता था। अपने-अपने उत्साह से अपने बल के अनुसार जो जितना भी काम करे उससे संतोष कर लिया जाता था। काम करने वाले विद्यार्थी और बड़े भी काम का समय पूरा होने पर बताया करते थे कि परिश्रम के कारण किसके हाथ में अधिक बढ़िया फफोले तैयार हुए हैं और किसके हाथ के निशान अधिक पक्के हैं।

मेरे छोटे भाई कृष्णदास के गले में एक गांठ हो गई थी। उसकी पीड़ा के कारण वह बोल नहीं सकता था। डाक्टर के अभाव में बापूजी ने खुद ही उस गांठ को चीरने का निश्चय किया। गांठ को पूर्णरूप से पकाने के लिए उन्होंने उसपर रात को आटे की पुलटिस बंधवाई और सूचना दे गए कि सवेरे गरम पानी, उस्तरा आदि तैयार करके उनको बुलवा लिया जाय। दूसरे दिन सब तैयारी करके मेरी माताजी ने मुझे बापूजी को बुलाने के लिए भेजा।

बापूजी एक खेत में घुटने तक ऊंची घास को फावड़े से साफ करने में व्यस्त थे। उनकी सारी टोली भी यही काम कर रही थी। वह सबसे आगे की जगह पर झुके हुए अपना फावड़ा ताल-बद्ध रूप से चला रहे थे। घास खोदने के सिवा दुनिया में उनका और कोई लक्ष्य था ही नहीं, ऐसा प्रतीत होता था। कई मिनट तक मैं बापूजी की बगल में खड़ा रहा, परन्तु खोदने के काम में वह इतने तल्लीन थे कि उन्होंने मुझे देर तक देखा ही नहीं। कुछ देर बाद उन्होंने देखा और पूछा, "कृष्ण के लिए बुलाने आये हो न ? चलो, मैं आया।" कहकर अपने हाथ का फावड़ा उन्होंने अलग रखा, पतलून पर लगी हुई मिट्टी झाड़ दी और मुझे आगे करके हमारे घर की ओर चले। वहां से निकलते समय लड़कों से उन्होंने कहा, "देखो, अब तुम लोगों की बातें बन्द होनी चाहिएं। मेरी मौजूदगी में तुम लोग काफी खेले और गपशप करते रहे। अब मेरी अनुपस्थिति में तुम्हें आलस नहीं करनी चाहिए। मेरे लौटने तक पूरी तरह काम करो। बड़ों के सामने आलस करो, वह निभा लिया जा सकता है, परन्तु बड़ों की पीठ के पीछे आलस करके उनको धोखा कदापि नहीं देना चाहिए।"

हमारे घर पहुंचने तक माताजी ने कृष्णदास की पट्टी खोल दी थी। जिस गांठ को चीरने का निश्चय रात के समय किया गया था, वह सवेरा होने पर घुलकर बैठ गई थी। यह देखकर सबको आश्चर्य हुआ। बापूजी ने कृष्णदास से विनोद किया, "वाह रे बहादुर, उस्तरे से इतना डर गया कि गांठ को ही छिपा दिया! यह कोई बहादुरी की बात नहीं है!" पांच-सात मिनट कृष्णदास से मज़ाक करके बापूजी बड़ी तेज चाल से खेत में काम पर फिर लौट गए। मुश्किल से आधा घंटा बीता होगा,

किन्तु इतने थोड़े समय में लड़कों ने इतना काम कर डाला कि सवेरे से काम के बदले खेल में जो अधिक समय बिताया था उसका बदला चुक गया। वह सारा खेत प्रायः साफ हो चुका था और लड़के पसीने से तर हो गए थे।

"शाबाश!" बापूजी ने बधाई दी और कहा कि "हमेशा इसी प्रकार हर एक को सच्चा बनना चाहिए। अब तुम लोग थोड़ा-सा विश्राम कर लो, बाकी जो थोड़ा रहा है वह मैं पूरा करता हूं।" यह कहकर फिर से बापूजी खोदने में तल्लीन हो गए। किन्तु लड़कों ने विश्राम नहीं किया और बाकी का टुकड़ा साफ करने में उन्होंने बापूजी को अन्त तक मदद दी। आठ बजे की घंटी होने तक वह सारा काम पूरा हो गया।

आठ की घंटी पर सब बापूजी के घर अर्थात् रसोईघर में नाश्ते के लिए जाते थे। दो घंटे के कड़े परिश्रम के बाद भूख बहुत तेज हो जाती थी और बापूजी ने नाश्ते में काफी चीजें देने की व्यवस्था की थी। घर में बनाई गई डबल-रोटी, दूध, तरकारी, मुरब्बा और ताजे फल भरपेट नाश्ते में मिलते थे। काम जितना परिश्रम का था, आहार उतना ही सरस था। उस समय बातें होती थीं, हास्य-विनोद होता था और परोसते-परोसते बापूजी भी काफी व्यंग और विनोद कर लेते थे।

नौ बजे फिर घंटी बजती। तब हम सब बालक पढ़ने के लिए पाठशाला में पहुंचते थे और बड़े लोग फावड़ा लेकर फीनिक्स से बगीचे के काम पर पहुंच जाते थे।

: ४३ :

बापूजी की पाठशाला

प्रातःकाल दो घंटे तक खोदने का श्रम करने के बाद दो घंटे हमारी पढ़ाई चलती थी। खेतों के बीच, दो झोपड़ों में हमारी पाठशाला थी। एक मिट्टी की कच्ची दीवारों से बना था और ऊपर फूस का छप्पर था। दूसरा नालीदार टीन की चद्दरों से बना था। आध-आध, पौन-पौन घंटे में घंटियां होती थीं। शिक्षक बारी-बारी से हमारे वर्ग में आते थे। उनके आने पर खड़े होने की, हाथ जोड़ने की, या उनके लिए रास्ता बना देने

की तहज़ीव से हम अनजान न थे। पढ़ाने का काम पूरा करके जब एक शिक्षक वर्ग से चला जाता था तब हम लोग तुरन्त ही दूसरा सबक उठा लेते थे और एक-दूसरे से पूछकर अपनी पढ़ाई आगे बढ़ाते थे। शिक्षक आता तो एक बड़ा पूछनेवाला और बतानेवाला बनकर हम लोगों में घुल मिल जाता था। कई बार हमारे शिक्षक के पैर खेत के गारे से सने होते थे। उनकी आस्तीनें कोहनी तक मुड़ी हुई रहती थीं और अधवीच सिर पर आये हुए इस काम को निवटाकर खेत में अपने काम पर लौट जाने की जल्दी उनकी मुख-मुद्रा पर झलकती रहती थी।

गणित, गुजराती, गीता और व्याकरण हमारी पढ़ाई के मुख्य विषय थे। अंग्रेजी भी सब सीखते थे; किन्तु उसके लिए सवेरे का अनमोल समय खर्च नहीं किया जाता था। तमिल और हिन्दी बालकों को गुजराती के बदले अपनी-अपनी भाषा सीखने की सुविधा थी।

गणित के शिक्षक मेरे पिताजी थे, गुजराती के मगनलालकाका और जेकी वहन तथा गीता के मगनभाई और बापूजी थे। बहुधा विषय और विद्यार्थी वही रहते थे, परन्तु शिक्षक बदलते रहते थे। मुख्य अध्यापक बापूजी स्वयं ही थे।

ऐसी पाठशाला शायद ही देखने में आती होगी, जहां पढ़ाई के समय प्रधान अध्यापक के पास पहुंचने पर उनके हाथ बेलन, करछुल आदि से शोभित दिखलाई पड़ें। पाठशाला के उन दोनों घंटों में अधिकतर बापूजी रसोई के काम में व्यस्त रहते थे। अपने २५-३० बालकों में से किसी को कच्ची या जली हुई रोटी न मिले, इसकी उनको बहुत चिन्ता रहती थी। भोजन की घंटी होने पर रसोई आधी ही रह गई हो, ऐसा मौका न आने देने के लिए वह स्वयं रसोई में लग जाते थे। इस प्रकार प्रधान रसोइया और प्रधान अध्यापक का दोहेरा उत्तरदायित्व निभाना और डरबन आदि अन्य स्थलों से आनेवाले मुलाकातियों का स्वागत करना तथा उनके प्रश्नों का उत्तर देना, यह सब साथ-साथ चलता था।

किसको क्या पढ़ाया जाय, किस-किस को एक साथ पढ़ाया जाय, संस्था के जरूरी काम से यदि कोई शिक्षक समय पर पढ़ाने न जा सकें तो उसके बदले कौन पढ़ावे इत्यादि निर्णय प्रतिदिन बापूजी ही करते थे। गणित के वर्ग में किस विद्यार्थी के कितने सवाल सही रहे, कितने गलत, इसका ब्यौरा भी वर्ग पूरा होते ही उनके पास पहुंच जाता था। भोजन के समय परोसते-परोसते वह गणित में गलती करनेवाले लड़के की कई बार मीठी चुटकी भी लिया करते थे। गुजराती में जो [illegible] होता था उसको

जांचकर कापियों में नम्बर देने और हम-जैसे अबोध बच्चों को रसभरी रीति से गीता का बोध देने का काम भी वही करते थे। मगनभाई मास्टर हम लोगों को संस्कृत श्लोकों का उच्चारण सिखाते और हमसे उन्हें याद करवाते थे। बापूजी हमें, उस समय प्रचलित श्री गट्टुलालजी कवि के लिखे हुए गीता के समश्लोकी पद्यानुवाद का अर्थ समझाते थे। उनके पढ़ाने से ऐसा मालूम होता था, मानो साक्षात ज्ञान और प्रकाश की मूर्त्ति हमारे सामने खड़ी है। गीता का अर्थ हम लोग एकाग्र मन से सुनें, इस पर बापू का बड़ा जोर था।

हर शनिवार को हमारी परीक्षा ली जाती थी। एक सप्ताह में गणित की, दूसरे में गुजराती की, तीसरे में गीता की और चौथे में अंग्रेजी की। इस प्रकार हर महीने प्रत्येक विषय की परीक्षा हो जाती थी। परीक्षा के उत्तरपत्र बापूजी ही जांचते थे और उसी दिन संध्या-प्रार्थना में उसका परिणाम सुना देते थे। साथ-साथ भूलें भी बताते और समझाते जाते थे। हम लोग शनिवार की प्रतीक्षा उत्सुकता से करते थे। बापूजी या मगन-भाई हमारे हाथ में प्रश्न-पत्र देकर चले जाते थे। कोई हमारी चौकसी-पहरा करता हो, ऐसा मुझे याद नहीं। हम लोगों में से किसी के मन में यह इच्छा ही पैदा नहीं होती थी कि स्वयं जितने दक्ष हैं उससे अधिक दक्षता बतायें। इसलिए लुक-छिपकर दूसरे की नकल करने की बात ही नहीं उठती थी। प्रत्येक विद्यार्थी अपनी बुद्धि के अनुसार धैर्य रखकर, जो कुछ बन पड़ता था, स्पष्टता से लिखता था। यदि समझ में नहीं आता था तो उसके दिल में क्षोभ या घबराहट पैदा नहीं होती थी। प्रत्येक के मन में तसल्ली रहती थी कि जो कमी होगी, बापूजी सिखा देंगे। असफल होते थे तो दूसरे महीने अधिक कोशिश करके ज्यादा अच्छा परिणाम लाने का संकल्प करते थे और परीक्षा का दिन जल्दी आ जाय ऐसा मनाते थे।

परीक्षा में नम्बर देने का बापूजी का तरीका मुझे कई बार अन्यायपूर्ण प्रतीत होता था। एक ही प्रश्न का उत्तर एक ही वर्ग के विद्यार्थी दें तो दो विद्यार्थियों में जो अधिक अच्छा उत्तर देता था, उसको बापूजी कम नम्बर देते थे और जिसका उत्तर कम अच्छा होता था उसको अधिक नम्बर देते थे। मुझे लगता था कि सुलेख के अक्षरों पर नम्बर देने में बापूजी अवश्य पक्षपात करते हैं। जब हम पूछते थे कि इतने अच्छे अक्षरों के भी आपने कम नम्बर क्यों दिये तब बापूजी बताते थे कि किसी लड़के के मुकाबले कोई लड़का ज्यादा होशियार है ऐसा हिसाब मुझे नहीं लगाना है। मुझे तो यह देखना है कि प्रत्येक लड़का जहां पर था, वहां से कितना आगे बढ़ा है। उसने अपना काम कितना सुधारा है। होशियार लड़का

मंदबुद्धिवाले लड़के के साथ ही अपने काम की तुलना करता रहेगा तो उसमें अभिमान आ जायगा और उसकी बुद्धि और मंद हो जायगी। वह पढ़ने में परिश्रम कम करेगा और कायदा यह है जो आगे नहीं बढ़ता वह पीछे हटता ही है। जो लड़का अधिक परिश्रम करके पूरी सावधानी से अपना काम करेगा उसी को मैं अधिक नम्बर दूंगा।

इन साप्ताहिक परीक्षाओं के द्वारा बापूजी ने हम लोगों को तेजी से आगे बढ़ाया। जो कुछ हम सीखते थे वह पक्का हो जाता था। यदि हम फिर भी कच्चे रहते तो हमारी बुद्धि को तेज करने के लिए बापूजी विशेष कोशिश करते थे।

हमारी यह पाठशाला मुश्किल से एक वर्ष तक चली होगी, लेकिन इतने समय में मेरी प्रगति इतनी अधिक हुई कि जो पिछले तीन वर्षों में भी नहीं हो पाई थी। गणित में जहां जोड़-गुणा करना भी मेरे लिए कठिन था वहां अब दशमलव, भिन्न और त्रिराशि के सवाल करने लगा। गीता में प्रथम अध्याय के १५-२० श्लोक याद थे, वह चौथे अध्याय तक याद हो गई। गुजराती लेखन आदि में दूसरी कक्षा में भी कच्चा था, पर इस एक वर्ष में पांचवीं कक्षा तक पहुंच गया। मुझे विश्वास है कि अपनी आयु के दसवें वर्ष में बापूजी की उस पाठशाला में मैंने जो पाया वही और भी दस वर्ष तक उन्हीं के प्रत्यक्ष मार्ग-दर्शन में पा सकता तो विद्वानों के गढ़ में बापूजी ने मुझे प्रवेश करा दिया होता, ऐसा मुझे विश्वास है। किन्तु बापूजी के विद्यालय का आदर्श विद्वान पैदा करना नहीं था, सत्याग्रही पैदा करना था। वह रम्य, शांत और ओजस्वी विद्या-सत्र खंडित होने के बाद दुबारा चलाने का अवसर बापूजी को नहीं मिला। उस पाठशाला का स्मरण ही मुझ-जैसे विद्यार्थी के लिए पूरे जीवन का विद्यालय बन गया।

हमारी पाठशाला में पढ़ाई का काम सवेरे नौ से ग्यारह बजे तक चलता था। उसके बाद ग्यारह से साढ़े ग्यारह बजे तक हम लोगों को फावड़ा लेकर खेत में काम के लिए जाना पड़ता था। पाठशाला की शीतल छाया से निकलकर चिलचिलाती दुपहरी में कंधे पर फावड़ा रखकर खोदने जाने को हमारा जी नहीं करता था।

वह आधा घंटा इधर-उधर चक्कर काटकर बिता देने की नीयत रहती थी, परन्तु बापूजी हमारी एक नहीं सुनते थे। ग्यारह बजते ही हमारी पुस्तकें बन्द करवाकर हमें खेतों पर ले ही जाते थे। इस समय में हम लोग अपना-अपना कुदाल-फावड़ा परखने और उठाने में दो मिनट भी नष्ट करें, यह उनको गवारा नहीं होता था। काम की निश्चित मात्रा

बापूजी बता दिया करते थे और कह देते थे कि उतना काम पूरा करने के बाद ही छुट्टी मिलेगी। उस आधे घंटे में प्रायः एक घंटे का काम हो जाता था। तेजी से आध घंटे तक लगातार फावड़ा चलाने से सब लोग पसीने से तर हो जाते थे और जब छुट्टी मिलती तो एक विजय-भावना के साथ स्नान के लिए दौड़ पड़ते थे।

एक बार हमारी पढ़ाई हो चुकने पर ग्यारह बजने में दस मिनट बाकी रह गए थे। बापूजी प्रसन्न-चित्त थे और हम लोगों से विनोदवार्ता कर रहे थे। इस मौके का लाभ लेकर हममें से एक बड़े विद्यार्थी ने साहस के साथ बापूजी से कहा, "बापूजी, हम लोगों को यह आधे घंटे वाली खेती अच्छी नहीं लगती, खेत पर जाने-आने में ही कुछ समय कट जाता है। आप सवेरे ही हम लोगों से आधा घंटा अधिक श्रम करवा लिया करें।"

बापूजी ने जवाब दिया, "इस आधे घंटे को बदलने के लिए मैं जरा भी तैयार नहीं हूं। भरी दुपहर में, कड़ी धूप में, फावड़ा चलाने की आदत तुम्हें डालनी ही चाहिए। आज यहां पर पढ़ रहे हो, कल यदि लड़ाई छिड़ गई और जेल जाना पड़ा तो वहां शीतल छाया में बैठने को थोड़े ही मिलेगा। वहां पर तो बहादुर मजदूर की तरह अपनी कमर तोड़कर दिन-भर ऐसी कड़ाके की धूप में ही तुम लोगों को फावड़ा चलाना पड़ेगा। अगर वहां तुम हार जाओ, थक जाओ, रोनी सूरत वाले बन जाओ, तो मेरी और तुम्हारी दोनों की नाक कट जायगी। इससे तो बेहतर है कि तुम इस पाठशाला को ही छोड़कर घर लौट जाओ। ऐसा करने में मेरी और तुम्हारी शोभा अधिक रहेगी। फिर इस तरह निपट स्वार्थी बनना भी हम लोगों को शोभा नहीं देता। तुम सब यहां मजे से बैठे पढ़ रहे हो और बड़े लोग प्रातःकाल से लगातार अपनी हड्डियों को गलाकर परिश्रम कर रहे हैं, उन लोगों को क्यों भुला देते हो? हमें उनका साथ देना चाहिए। काम की पूर्णाहुति के समय हमारी सारी पाठशाला यदि उनकी मदद में पहुंच जाय तो उनको बहुत संतोष होगा। उनकी थकान भी दूर हो जायगी।"

साढ़े ग्यारह बजे थके-थकाये हम लोग अपने फावड़े और औजारों को कोठरी में फेंककर नहाने के लिए चले जाते थे। छापाखाने के कुएं पर एक भारी पम्प था। उसे दो आदमी मुश्किल से खींच पाते थे। उससे तीन इंच मोटा प्रवाह निकलता था। बारी-बारी से दो-दो आदमी पम्प चलाते थे, और दूसरे सब स्नान करते थे। सवेरे से खेती के काम के कारण शरीर पर जमा हुआ मैल, पसीना और मिट्टी आदि पानी से धोकर और हाथ से मलकर चंद मिनट में साफ कर दिया जाता था। स्नान में साबुन का उपयोग नहीं होता था। कपड़े बदलने की झंझट कम रहती थी। एक ही

कपड़े अधिक दिन बरतते थे। उन्हें धोने का अवसर रविवार को ही मिलता था। बाकी दिनों में चटपट स्नान से निवटकर भोजन के लिए ठीक समय पर पहुंच जाना पड़ता था।

भोजन के बाद ठीक एक बजे दुपहर का कार्यक्रम शुरू हो जाता था। एक बजे से पांच बजे तक सब बड़े व्यक्ति छापाखाने में साप्ताहिक के लिए लिखने, कम्पोज करने आदि का अपना-अपना काम करते थे और हम लोग तीन बजे तक पाठशाला में बैठकर स्वाध्याय करते थे। उस समय हम लोगों की गपशप भी चला करती थी। यदि कोई अतिथि-शिक्षक आ जाता तो उससे गुजराती के प्राचीन कवियों के लिखे हुए रसपूर्ण और बोधपूर्ण आख्यान सुनते थे। लेकिन वास्तव में हमारे लिए यह समय बिना शिक्षक की पाठशाला का था।

बापूजी का "इंडियन ओपीनियन" साप्ताहिक के मुख्य लेख लिखने का समय भी यही होता था। भोजन के बाद वह सीधे छापाखाने के कार्यालय में पहुंच जाते थे और एकाग्र चित्त से सम्पादकीय और पत्र-व्यवहार का काम पूरा करते थे। इतने थोड़े समय में से भी आधा घंटा बचाकर बड़े विद्यार्थियों को अंग्रेजी सिखाने के लिए वह ढाई बजे से तीन बजे तक पाठशाला में आया करते थे।

एक दिन की बात है। पाठशाला में बैठे हम लोग गप्पें लड़ाने में मशगूल थे। देवदासकाका, डाह्याभाई मोची, रामदासकाका, मैं और दूसरे भी आपस में अपने गणित के वर्ग की नुक्ताचीनी कर रहे थे। एक लड़का बोला, "भाई, गणित बापूजी ही पढ़ावें तो अच्छा, छगनलालभाई अच्छी तरह समझा नहीं पाते। कठिन-से-कठिन सवाल को भी बापूजी बहुत अच्छी तरह समझाते हैं।" दरवाजे के बाहर खड़े-खड़े बापूजी हमारी बात सुन रहे थे। चौखट की आड़ में दो-एक मिनट तक वह खड़े रहे और फिर धीरे से हमारे सामने आ गए। उनको देखते ही हम सब सहम गए। बापूजी ने उस रोज पढ़ाना छोड़कर हमें जो बातें सुनाईं वे अब तक याद हैं:

उन्होंने कहा, "तुम लोगों की यह कैसी उद्दंडता है? मेरे मुकाबले आज तुमको छगनलाल भाई अयोग्य शिक्षक लगते हैं, तो कल गोखले महाराज की तुलना में मैं अयोग्य लगूंगा। तुमको अपनी पढ़ाई से मतलब है कि अपने शिक्षक को योग्यता के नम्बर देने से? जो विद्यार्थी अपने शिक्षक की निन्दा करता है वह चाहे कितना ही बुद्धिमान क्यों न हो, उसकी सारी पढ़ाई शून्य ही रह जायगी। शिक्षक चाहे कितना भी दे, जिस विद्यार्थी में विनम्रता नहीं है वह कुछ भी ग्रहण नहीं कर सकता। उलटे,

यदि शिक्षक थोड़ा-सा भी दे तो नम्र विद्यार्थी उसे बहुत बनाकर ग्रहण कर लेगा और तेजस्वी बनेगा। तुम लोग शिक्षकों का दोष देखो, यह बिलकुल असह्य है। दोष देखना ही हो तो तुम अपने दोषों को देखो। गणित के शिक्षक छगनलाल ही रहेंगे। मेरे पास जिस तरह चित्त लगाकर तुम सवाल करते हो, उसी तरह छगनलाल के पास भी पूरे ध्यान से करना चाहिए। मन में उनके प्रति आदर भी रखना चाहिए।"

बापूजी की इस टीका का यह असर हुआ कि इसके बाद हम लोगों की चर्चा में फिर कभी भी शिक्षकों की टीका-टिप्पणी नहीं हुई।

ठीक तीन बजे हम पाठशाला से छापाखाने में पहुंचते थे। वहां पर हमें उद्योग-शिक्षण मिलता था। तमिल, हिन्दी और गुजराती-भाषी लड़के अपनी-अपनी भाषा में, और बड़े विद्यार्थी अंग्रेजी में कम्पोज करना सीखते थे। साप्ताहिक को प्रकाशित करने के दिन बड़ों के साथ सब विद्यार्थियों को भी चटपट काम पूरा करने की चिंता लगी रहती थी। कागजों को इधर-से-उधर मोड़कर तह बनाना, अखबारों के बंडल तैयार करना आदि हम लोग खूब तेजी से करते थे। अखबार के इस उद्योग में जो लड़का मंद साबित होता था, उसकी लगाम बापूजी अपने हाथ में लेते थे। आगे चलकर ऐसे भी सप्ताह आये, जब छापने और प्रकाशित करने का, सारा-का-सारा काम विद्यार्थियों ने हाथ में ले लिया।

ठीक पांच बजे हम लोग फिर से खेतों पर पहुंच जाते थे। क्षितिज पर अस्त होने वाले सूर्य की लालिमा से सुशोभित आकाश के नीचे, पक्षियों के गीतों की विविध तानें सुनते हुए हम लोगों को खेत के काम का वह घंटा बहुत सुखद मालूम होता था। इस समय कड़ा परिश्रम क्वचित् ही होता था। खोदने का भारी काम सवेरे हो जाता था और शाम को दिन छिपने तक हम लोग कोमल पौधों को पानी देने और उनकी क्यारियां बनाने में तथा बगीचे के फल-फूलों की अभिवृद्धि का निरीक्षण करने में लगे रहते थे। छापाखाने का बड़ा घंटा छः बजने की सूचना देता था। घंटा सुनते ही हम लोग घर पहुंच जाते थे और हाथ-मुंह धोकर शीघ्रता से भोजन करने के लिए पंक्ति में जा बैठते थे।

शाम की ब्यालू के बाद हम लोग तरह-तरह के खेल खेलते थे और इतनी हंसी होती थी कि दिन-भर की थकान दूर हो जाती थी।

: ४४ :

मेरा शिक्षण

तीसरे पहर तीन से पांच तक छापाखाने में उद्योग सीखते समय बापूजी के कठोर अनुशासन में रहना पड़ता था। छापाखाने में ज़रा भी बात करने की गुंजाइश नहीं थी। बापूजी की बैठक ऐसे कोने में थी कि थोड़ी-सी फुसफुसाहट भी उनके कानों तक पहुंच जाती थी और अपनी बैठक के पर्दे की ओट से वह आवाज़ लगाते थे, "काम चल रहा है या बातें? काम और बातों का साथ कैसा? हाथ में काम लेते ही ओठों पर ताला पड़ जाना चाहिए।" और सब चुपचाप अपने काम पर जुट जाते। इस पर भी यदि कहीं से बोलने का शब्द सुनाई पड़ता तो उस लड़के को बापूजी अपने पास बुलवा लेते। कभी-कभी बापूजी चुपचाप अपनी बैठक से उठकर छापाखाने में चक्कर लगाते और सुस्त तथा धीमे विद्यार्थी को सावधान करते।

पढ़ाई में मैं कभी तेज था ही नहीं, और उद्योग में भी मैं बहुत ही मंदबुद्धि था। अन्य सभी विद्यार्थियों की अपेक्षा मैं बेहद सुस्त था। काम करने का मेरा वेग बढ़ता ही नहीं था। छापाखाने में कम्पोज़िग सिखाने वाले मुझे बार-बार टोक दिया करते थे। प्रतिदिन जब बापूजी प्रत्येक विद्यार्थी के काम का हिसाब पूछते तब मेरे संबंध में उनके पास बात आती कि प्रभुदास को दस मिनट का काम पूरा करने में डेढ़-दो घंटे लग जाते हैं।

छापाखाने के काम में मेरा इस कदर ढीलापन उन्हें पसंद न था। उन्होंने मुझे सख्ती से कहा, "काम करते-करते ऊंघना हो तो बेहतर है कि घरही जाकर सो जाया करो। काम करने में सुस्ती नहीं करनी चाहिए।" तीन दिन तक सबके बीच में मुझे इस तरह झेंपना पड़ा। मैंने बार-बार कोशिश की कि मैं भी औरों की तरह तेजी से अपने हाथ चलाने लगूं और काम को तुरन्त निपटा दूं, परन्तु मैं सफल न हो पाया। पढ़ाई में मैं देवदास-काका का साथी था। उन्हीं के वर्ग में था, पर छापाखाने के काम में देवदास-काका जब बड़े-बड़े आदमी के बराबर तेजी से काम करते थे, मैं सबकी हंसी का पात्र बना रहता था।

एक अशुभ दिन मेरी दुर्बुद्धि ने जोर मारा और अपनी बेइज्जती से मैं बच निकला। बात यह थी कि वहां के क्रम के हिसाब से लंबी-लंबी दस-पंद्रह गेलियों के टाइपों को डिस्ट्रीब्यूट करने के बाद ही नव-सिखियों को

नया लेख कंपोज करने को मिलता था। मैं बहुत चाहता था कि मुझे डिस्ट्रीब्यूट करने के काम से छुट्टी मिले और 'कंपोजिंग' करने दिया जाय. परंतु हमारे उद्योग-शिक्षक यह बात स्वीकार करते ही नहीं थे। तब मैंने एक तरकीब निकाली। टाइपों को मुट्ठी में भरकर अपनी पतलून की दोनों जेबों में चुपचाप डाल लेता। सभी लोग अपने-अपने काम में तल्लीन रहते थे। इसलिए सबकी नजर बचाकर जेब में टाइप भर लेना मेरे लिए कठिन बात न थी। फिर लघुशंका के बहाने मैं छापाखाने से बाहर निकल जाता और प्रेस के पीछे झरने के गहरे गड्ढे में उन टाइपों को फेंक आता। पहले दिन चार-पांच पंक्तियां, फिर दस और बाद में प्रतिदिन २५-३० पंक्तियां फेंकते रहने का मेरा सिलसिला चलता रहा। किसीको मेरी इस हरकत का पता नहीं लगा। सबने यही माना कि अब काम करने में मेरी गति बढ़ गई है और इस पर मुझे बधाई भी मिली।

डिस्ट्रीब्यूट करने के लिए निश्चित गेलियों को जब मैंने साफ कर दिया तब कंपोज करने का काम मुझे दिया गया। मुझ-जैसे मंद विद्यार्थी को छापाखाने के रोज के काम में कौन हाथ लगाने देता। इसलिए ऐसा काम ढूंढ़ा गया, जिससे नित्य के काम में बाधा न आये। बापूजी ने सोच-विचारकर मुझे उन भजनों को कंपोज करने का काम दिया, जो फीनिक्स में शाम की प्रार्थना के समय गाये जाते थे। छोटे-छोटे शब्दों वाले बिना मिले-जुले अक्षरों के सादे भजन बापूजी चुनकर देते थे। पिताजी उन्हें अलग कागज पर लिख देते थे और मैं रोज दो घंटे के वर्ग में दो-तीन लाइन कंपोज कर लेता था।

आठ-दस दिन बाद जब एक भजन पूरा कंपोज हो जाता और उसका प्रूफ उठाकर बापूजी के हाथ में मैं देता तब आनन्द के बदले भारी दुःख मुझे उठाना पड़ता। चोरी का जो अपराध मैंने किया था वह अपने साथी और शिक्षकों से तो मैं छिपा पाया था, परन्तु उसका कुपरिणाम मुझे तुरंत ही भुगतना पड़ा। डिस्ट्रीब्यूट करने में लापरवाही के कारण ठीक खाने में ठीक अक्षर मैंने नहीं डाले थे। हरेक खाने में अक्षरों की खिचड़ी बन गई। अतः मेरे कंपोज की हर पंक्ति में दस-बारह गलतियां निकल आती थीं। 'अ' के बदले 'त', 'त' के बदले 'य', ऐसा होता था। मेरे इस भूल-भरे प्रूफ को बापूजी स्वयं प्रार्थना के बाद सबके सामने सुधारते थे और मेरी गलती पर सबके सामने मुझसे प्रश्न पूछते थे कि ये गलतियां क्यों हुईं? मैं शरम के मारे जमीन में गड़ जाता था और आंखों से आंसू टपकने लगते थे।

महीनों तक यही क्रम चला और मेरी गलतियों में कमी नहीं हुई; परन्तु बापूजी ने धैर्य नहीं छोड़ा। न मुझे कभी कटु वचन कहे। न मुझसे

वह काम ही छीना। महीनों बाद मेरे द्वारा कंपोज किये गए भजनों को पुस्तकाकार प्रकाशित किया गया। उसी के प्रारम्भ में बापूजी ने एक-दो विशेष कठिन भजन छपवाये। अपनी ओर से छोटी प्रस्तावना भी लिखी और एक दिन वह आया जब कि 'नीतिनां काव्य' फीनिक्स में और दक्षिण अफ्रीका-भर में लोकप्रिय पुस्तिका बन गई। एक मूढ़ और अकुशल बालक अपने ढीले काम का ऐसा सुन्दर फल देखे तो उसके हृदय में उमंग और आनंद किस प्रकार उमड़ आता है, यह शब्दों में बताना कठिन है। आज भी जब वह लघु पुस्तिका अपने पिताजी के पुराने संग्रह में हाथ आती है तो ध्यान में आता है कि मुझे सिखाने में बापूजी ने कितना अधिक धैर्य और समय खर्च किया था।

आमतौर पर छापाखाने में विद्यार्थियों के काम के दो घंटे रहते थे, परंतु शुक्रवार को दोपहर-भर और आवश्यक हो तो शाम को देर तक भी काम करना पड़ता था, क्योंकि शनिवार की प्रातःकाल को अखबार समय पर डाक में पहुंचाना आवश्यक था। छापाखाने के बड़े लोग और हम सब लड़के उस दिन बहुत खुश होते, मानो कोई उत्सव हो। अलग-अलग टोलियों की आपस में होड़ लगती थी। देखें कौन पहले छपे अखबारों को मोड़ लेता है। कटाईवाले जीतते हैं या लोहे के तार से टांके लगाने की मशीनवाले या बंडल बांधनेवाले? इस होड़ को बापूजी प्रोत्साहन देते थे और कई बार सारा काम डेढ़-दो घंटे पहले ही पूरा हो जाता था।

एक बार शुक्रवार को जिस टोली में मैं था, उसकी हार हुई। जोरों की तालियां बजीं। हम खिसिया गए। अपना काम हमने बहुत ही वेग से किया था। मैंने भी उस दिन अपने धीमेपन को भुला दिया था। फिर भी हम पर तालियां बज गईं, यह मुझसे सहा नहीं गया। थोड़ी देर में पता चला कि हमारी टोली के साथ छल किया गया था। अखबारों की एक बड़ी गड्डी हमसे छिपाकर अलग रख दी गई थी और अन्त में हम पिछड़ गए, यह दिखाने के लिए वह अधूरा काम हमारे सामने रख दिया गया। मुझे बड़ा गुस्सा आया और रोया भी। मैं सीधा दौड़कर बापूजी के पास गया और सारा किस्सा सुना दिया। शाम की प्रार्थना के बाद बापूजी ने इस बात पर जीती हुई टोली के लड़कों को डांटा और खेल में या होड़ में भी असत्याचरण से बचने के लिए सबको सचेत किया। मुझे सान्त्वना मिली। परन्तु कुछ दिन बाद बापूजी ने मुझे भी टोक दिया। नियमानुसार प्रार्थना के बाद तुलसी-रामायण का अर्थ बापूजी सुना रहे थे; उसी सिलसिले में निन्दा-चुगली न करने पर समझा रहे थे। इसमें मेरा उदाहरण बापूजी ने दे दिया और कहा, "लड़कों के आपस के खेल में कहीं गड़बड़

हो जाय तो चुगलखोर उसी तरह दौड़कर शिकायत करने आयगा, जैसे उस शुक्रवार को प्रभुदास आया था।"

उस दिन से फिर कभी शिकायत लेकर बापूजी के पास जाने का मुझे साहस नहीं हुआ।

: ४५ :

उपवास-गंगा का उद्गम

"आज दोपहर में तो मैंने खाना खा लिया, लेकिन शाम को कुछ नहीं खाया। पानी भी जहर-सा कड़वा मालूम देता था। बेटा बाप को इस हद तक धोखा दे सकता है, यह जानकर मेरा अंतर छिद रहा है, लेकिन मैं शांत रहा हूं। मुझसे जब रहा ही नहीं गया तब मैंने अपने गाल पर पांच तमाचे लगा लिए। किसी और को मैं मारूं, इससे तो बेहतर है कि मैं अपने को ही मार लूं। तभी तो पता चलेगा कि इस प्रकार का आचरण मुझे कितना दुःख दे रहा है। देवा (देवदास) ने तो मेरे पास सारी बात कबूल कर ली है और वह कहता है कि उसे बहुत पछतावा है। दुबारा ऐसी भूल न करने का उसने मुझे भरोसा दिलाया है। लेकिन अब भी मुझसे खाना नहीं खाया जा सकता। अभी तक लड़कों ने मेरे सामने सत्य छिपाया है। लड़के एक बात कहते हैं और. . .दूसरी। दोनों एक दूसरे की बात उलट देते हैं, इसलिए कौन सच्चा है और कौन झूठा, इसका पता नहीं चलता। मैंने सबसे बड़े निहोरे किये, पर कोई सच बोलना चाहता ही नहीं है। असत्य मेरे पास बना रहे तो मेरा जीवन तो मिट्टी में मिल जाय। इसलिए जबतक सत्य हाथ नहीं आता, मेरे लिए जीवित रहने की चेष्टा करना व्यर्थ है। मैंने आज दिन-भर इस बात पर बहुत विचार किया और अन्त में इस निश्चय पर आया कि मेरे लिए अन्न-जल का त्याग ही उचित है। जबतक लड़के खुद आकर सही-सही बात मुझे नहीं बतायंगे तबतक मैं अपने मुंह में न अन्न का दाना रखूंगा न पानी की बूंद।"

बापू के इन वचनों को सुनकर प्रार्थना-सभा में बिजली-सी कौंध गई। सब निस्तब्ध रह गए। सभा की नीरवता भंग करने का साहस किसी को नहीं हुआ।

बापू फिर बोले, "मुझ पर जिसे दया आ रही हो वह मुझे खाने के लिए समझाने को न आये। सत्य की खोज में अगर मेरी मौत हो जायगी तो उसके बराबर सोने की-सी मृत्यु और क्या हो सकती है ? जिस पर ईश्वर के अनेक आशीर्वाद हों, जिसके अनेक जन्म के पुण्य जुड़े हुए हों उसी को ऐसी मृत्यु मिलेगी। तुम सबको तो ऐसे दिन उत्सव मनाना चाहिए, जिस दिन सत्य की खातिर मेरी देह गिरे। इसलिए मुझसे विनती करने का कोई प्रयत्न न करे। अगर विनती करनी ही हो तो लड़कों से करे और सत्य को खोज निकालने में मुझे सहायता दे।"

बापूजी के हृदय-परिवर्तनकारी और जीवन-शोधक उपवासों से आज केवल भारतवासी ही नहीं सारे संसार के लोग भली-भांति परिचित हैं। बापू के उपवास की बात सुनकर लोगों में एक लहर फैल जाती थी। लोग सोचने को विवश हो जाते थे। इस पीढ़ी के लोगों को दिल्ली के हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए किये गए २१ दिन के उपवास, यरवडा जेल में तथा बाहर हरिजनों के लिए किये गए उपवास, आगाखां महल में सर्वशक्तिमान से न्याय की प्रार्थना के लिए किया गया २१ दिन का उपवास तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद कलकत्ता और दिल्ली में शान्ति-स्थापना के लिए किये गए उपवास तो ताजी बातें मालूम होती हैं। उनके विश्व-व्यापी, हृदय-शोधक एवं क्रांतिकारी परिणामों को आज सारा संसार जानता है। गंगा का उद्‌गम जैसे पतली-सी धारा के रूप में दिखाई देता है, पर सागर में मिलने जाती हुई गंगा द्वितीय सागर-सी विशाल हो जाती है। कुछ वैसी ही बापूजी की इस उपवास-गंगा की कथा है। इसका प्रारम्भ फीनिक्स के आश्रम के बालकों एवं अध्यापक की साधारण-सी मानी जानेवाली त्रुटियों को लेकर हुआ। पर बापूजी के लिए तो छोटी-सी बात ही नींव की बात होती थी।

बात यह हुई कि फीनिक्स आश्रम में एक रोज एक बालक को एक शिलिंग कहीं पड़ा हुआ मिला। विद्यार्थी आपस में चर्चा करने लगे कि इसका क्या उपयोग किया जाय ? एक दल कहता था कि यह बापूजी को दे देना चाहिए। एक का मत यह था कि स्टेशन या डरबन से कुछ बढ़िया खाने की चीज मंगाई जाय। इस षड्यन्त्र में एक अध्यापिका बहन भी शामिल हुईं। इसी बीच एक विद्यार्थी को चौथाई शिलिंग का एक सिक्का और मिल गया। वह भी इसी कोष में मिला लिया गया। बहुमत खाने की चीज मंगाने की ओर हुआ और खाने की चीज मंगाने की व्यवस्था की गई। इस बात की पूरी सावधानी रखी गई कि बात फूटने न पाये।

बापूजी किसी काम से जोहान्सबर्ग गये। उनके जाने के बाद एक रोज डरबन से एक शिलिंग की पकौड़ियां और चौथाई शिलिंग के कुछ चित्र

मंगाये गए। क्लास में से सब लड़कों के चले जाने के बाद अध्यापिका ने मुझे बुलाया और दराज में से चुपके से पकौड़ियां निकालकर मुझे देते हुए कहा कि यह लो, ये तुम्हारे हिस्से की पकौड़ियां हैं। चुपचाप खा लो और खेलने चले जाओ। मैं झिझका, मगनकाका की मार और बापूजी के उलहने से डरा भी। मैंने कहा, "पकौड़ियां मैं नहीं लूंगा। मुझे तो चित्र दे दें। मुझे वे अच्छे भी लगते हैं।"

शिक्षिका ने डांटते हुए कहा, "चटपट खा लो। तुम्हारे हिस्से की ही तो बची हैं। नहीं लोगे तो क्या होगा इनका? देर मत करो, नहीं तो ठीक नहीं होगा।"

मैं डरता जाता था और पकौड़ियों की बास भी मन को ललचा रही थी। अलोने का व्रत बापूजी के सामने ले रखा था। उसके टूट जाने का भय था और बापूजी को धोखा देने की भी बात इसमें है, ऐसा मन को लग रहा था। भावना यह भी थी कि यह सब ठीक नहीं हो रहा है। यह सब बापूजी से छिपाना ठीक नहीं है। ये विचार मेरे मन में आ रहे थे। इसी उलझन में देर होती देखकर शिक्षिका ने फिर जोर से अपनी बात कही। मैंने चुपचाप पकौड़ियां उनके हाथ से ले लीं। मुंह में डालने से पहले सूंघा। गंध अच्छी लगी। कुछ देर सूंघता रहा, पर खा नहीं सका। पकौड़ियां एक लड़की को दे दीं और खेलने को भाग गया। बात आई-गई हो गई।

कुछ दिन बाद पकौड़ियों की दावत खाने वाले लड़कों के दो दल हो गए। दोनों एक-दूसरे को दोष देने लगे। मैं दोनों दलों में मिल जाता और इधर की बात उधर और उधर की बात इधर किया करता। ऐसा कुछ दिन चलता रहा।

एक दिन एकाएक आश्रम का सारा वातावरण गंभीर और क्षुब्ध हो गया। बापूजी जोहान्सबर्ग से आ चुके थे। मैंने देखा कि बापूजी का चेहरा बड़ा गंभीर है। उन्होंने उन शिक्षिका बहन से घंटे-सवा-घंटे बातें कीं। फिर दूसरे व्यक्ति से अपने घर ले जाकर बातें कीं। मैंने देखा कि प्रेस और अपने घर के बीच के रास्ते घूमते हुए बापूजी ने कई लोगों से बातें कीं। बापूजी के घर के बरामदे में मगनकाका, रावजीभाई आदि बड़े लोग और हमारी बाल-मंडली विषादपूर्ण मुद्रा में चिंतित भाव से खड़ी थी थोड़ी देर बाद बापूजी आये और देवदासकाका को अपने साथ ले गए। उनसे अकेले में बड़ी देर बात की और ऐसा लगा मानो बापू किसी को चांटे लगा रहे हैं। मुझे लगा कि बापूजी ने देवदासकाका को पीटा है। तुरन्त मेरे मन में खयाल आया कि दौड़कर बापूजी के पास चला जाऊं और सचसच बातें

बता दूं और देवदासकाका को बचा लूं। पर फिर रुक गया कि कहीं चुगली खाने का दोष मुझे न लगाया जाय। कुछ देर बाद ही पता चला कि बापूजी को सारी बातें पता चल गईं, लेकिन कुछ लोगों ने सच बात नहीं बताई, इससे बापूजी को बहुत दुःख हुआ और उन्होंने देवदासकाका को नहीं, बल्कि अपने ही गाल पर चार-पांच चांटे जोर-जोर से लगा लिये।

दोपहर हो गई थी। सब लोग बिखर गए और अपने-अपने काम में लग गए। लेकिन आश्रम के सारे वातावरण में बड़ी उदासी और खिन्नता छा गई।

शाम को बड़े मकान में सब लोग प्रार्थना के लिए इकट्ठे हुए। प्रार्थना हुई। भजन हुए। उसके बाद स्तब्धता छा गई। सबकी आंखें बापूजी की ओर लग गईं। बहुत धीमी और शान्त आवाज में बापूजी ने बोलना शुरू किया।

इस अध्याय के शुरू में जो उद्धरण दिया गया है वह इसी प्रवचन का अंश है। इस प्रकार बापूजी ने अपने मन की वेदना प्रकट की और असत्याचरण करनेवालों के हृदय में शुभ-भावना जागृत करने के विचार से अन्न-जल-त्याग का कष्ट अपने ऊपर ले लिया।

उसके बाद कोई बोला नहीं। सब उठ-उठकर अपने-अपने निवास-स्थान को चले गए।

दूसरे दिन दोपहर की गाड़ी से बापूजी को जोहान्सबर्ग जाना था। सुबह मैं पिताजी के साथ बापूजी के घर गया। देखा कि बापूजी दतौन कर रहे हैं और रावजीभाई और वह अध्यापिका बहन वहां बैठी हैं। कुछ बातें करके पिताजी घर लौट आये।

समय होने पर बापूजी स्टेशन जाने को निकल पड़े। अनशन होने पर भी वह पैदल ही जा रहे थे। दो दिन से अन्न-जल नहीं लिया था, फिर भी बापूजी अडिग चाल से चले जा रहे थे। चलते हुए भी कभी रावजीभाई से, कभी उन अध्यापिका बहन से, कभी किसी और भाई से अकेले या मिलकर बातें करते जाते थे। हम सब बालक भी मूक होकर यह सब देखते-देखते पीछे चले जा रहे थे।

स्टेशन पर पहुंचे। बापूजी की बातें जारी ही थीं। उनके और उनसे बात करनेवालों के चेहरों के बदलते भावों को मैं बारीकी से देख रहा था। गाड़ी आ गई। बापूजी बैठ गए। बापूजी के चेहरे पर कुछ शान्ति, समाधान और प्रसन्नता की झलक देखी। गाड़ी चलते-चलते मेरे पिताजी ने बापूजी से कहा, "अब तो आप रुस्तमजी सेठ के यहां पहुंचकर भोजन करके फिर आगे की यात्रा शुरू कीजिएगा।"

लेकिन बापूजी ने कहा, "ऐसी कोई बात नहीं है। मेरे लिए भोजन से जरूरी सत्य की प्राप्ति है। मुझे वह प्राप्त हो गया। यही मेरी असली खुराक है। आज तो उपवास ही रखूंगा और कल भोजन करूंगा। पत्र लिखना। . . .बहन भी लिखे।"

गाड़ी चल दी। सब वापस आश्रम लौट आये।

जोहान्सवर्ग पहुंचकर दूसरे ही दिन बापूजी ने जो पत्र भेजा उसके कुछ अंश इस प्रकार हैं।

"तुम्हारे साथ किसी पिछले जन्म की लेनदेन निकलती है। इतने प्रेम का मुझे तुमसे क्या अधिकार हो सकता है? फिर भी जब मैं ऐसे संकट में पड़ गया तब तुमने जो प्रीति बताई है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसके द्वारा तुम दोनों की आत्मा अधिक तेजस्वी बने, ऐसा मैं चाहता हूं और उस प्रीति का अनुभव पाकर आत्मा की शान्ति पर मेरा विश्वास अधिक दृढ़ हो, यह कामना तुम करना। एक मामूली प्रतिष्ठा अर्थात् तपश्चर्या का आरम्भ इतना कर सकता है तो की हुई तपस्या कितना कर सकती है इस बात की थाह ही नहीं मिल सकती है। यह सीधा-सा त्रैराशिक लगाने पर हमें मालूम होता है। प्रतिज्ञा न ली जाती तो मैं शुद्ध प्रेम का अनुभव नहीं पा सकता था और जितनी जल्दी सत्य बाहर आ गया तथा बालक निर्दोष साबित हुए, वैसा नहीं हो पाता।"

". . . . . .को मैंने जिस ऊंची सतह पर माना था वहां से उसे नीचे आना पड़ा है। फिर भी मेरे मन में आता है कि वह पुण्यात्मा तो है ही। उसमें कई सद्‌गुण हैं। हमारा कर्तव्य है कि हम उसका विकास करें। उसका पाप और कार्य तो बहुत भारी था। उसकी याद उसे न दिलाई जाय। ऐसा रुख उसके प्रति हम रखें यह आवश्यक है। उसको घर के काम-काज में प्रवीण बनाने के लिए प्रोत्साहित किया जाय। लड़कों में से कोई उसका अपमान न करे, इसका ध्यान रखना। रात की कथा का सिलसिला जारी रखना। लड़कों को जगाने का उत्तरदायित्व रावजीभाई पर है ही। मगनभाई (मास्टर) के स्वास्थ्य की खबर नियमपूर्वक मुझे मिलनी चाहिए।"

उस दिन तीसरे पहर जब भूखे-प्यासे बापूजी को लेकर फीनिक्स स्टेशन से गाड़ी चल दी तब हम लोगों को घर लौटते हुए बड़ी बेचैनी और मायूसी रही। घर पहुंचकर दूसरे दिन भी हमारे मन की व्याकुलता घटी नहीं, बढ़ी ही। लेकिन कारण कुछ समझ में नहीं आ रहा था।

ऐसी मनःस्थिति में मुश्किल से आठ-दस दिन बीते होंगे कि बापूजी

जोहान्सवर्ग से लौट आये और हम सब लोग सदा की भांति उन्हें लिवाने के लिए फीनिक्स स्टेशन पर गये।

स्टेशन पर गाड़ी के रुकते ही वापूजी डिब्बे से बाहर आये, पर उनके मुख पर मुस्कराहट का सर्वथा अभाव था। उनके बाद कैलनबैक रेल से उतरे। उनका चेहरा भी बहुत ही मायूस था। एक-आध मिनट बाद सब लोग स्टेशन से आश्रम को चल पड़े। बापूजी जरा देर रुके रहे। जब सब लोग काफी आगे बढ़ गए तब केवल कैलनबैक और....को अपने साथ लेकर बापूजी चले।

मैंने अनुमान किया कि फिर कोई बड़ी गम्भीर बात हो गई है। घर पहुंचते ही...बहन उदास मुंह लेकर बापूजी के पास आईं और बापूजी बिलकुल अकेले में उनसे बातें करने लगे। मैंने मान लिया कि झूठ और चोरी का जो प्रकरण चला था वह अब भी समाप्त नहीं हुआ है। परन्तु वास्तव में चर्चा उससे भी भारी अपराध की थी, जिससे मैं अनभिज्ञ था।

शाम की प्रार्थना में भजन के बाद बापूजी बोले, "बहुतों को पता चल गया होगा कि मैं आज से सात दिन का उपवास कर रहा हूं। कुछ दिन पहले मैंने जो प्रतिज्ञा की थी, उसके-जैसी डरा देने वाली प्रतिज्ञा यह नहीं है। तब तो अन्न के एक दाने या पानी की एक बूंद को भी ग्रहण नहीं किया जा सकता था, पर इस बार मैंने पानी लेने की छूट रखी है और साथ-ही-साथ सात दिन की अवधि भी है ही। इसलिए इसमें मुझपर कोई बड़ी भारी विपदा आ पड़ेगी ऐसी बात नहीं है। हमारे देश में तो आज भी ऐसे कई साधु मिलेंगे जो चालीस-चालीस दिन के उपवास करते हैं।

"कोई ऐसा न माने कि मैं यह उपवास अपराधी व्यक्तियों को सजा देने के लिए कर रहा हूं। अपना निज का कच्चापन मिटाने के लिए ही मैं यह कर रहा हूं। हमारे ऋषि-मुनियों का तप ऐसा होता था कि शेर और गाय दोनों मिल-जुलकर उनके सामने खेलते थे। उनका तप इतना प्रखर होता था कि चाहे कैसा ही कुटिल मनोवृत्तिवाला आदमी क्यों न हो, उनके निकट पहुंचने पर वह शुद्ध हृदय बन जाता था और उसके पेट का सच-झूठ तत्काल अलग छंट जाता था। जबतक हम ऐसे तपस्वी नहीं बनेंगे तबतक हमें मोक्ष नहीं मिल सकता। लेकिन उस पद से तो हम मंजिलों दूर हैं। वहां पहुंचते-पहुंचते तो हमारे अनेक जीवन बीत जायेंगे।

"जो व्यक्ति दूसरों को अच्छा बनाने के लिए अपने पास रखता है, गलत रास्ते से सही रास्ते पर ले जाने के लिए अपने चारों ओर छोटे-बड़े लोगों की मंडली जमा करता है, उसे स्वयं अत्यधिक सच्चा रहना ही चाहिए।

उसके पास तो तपश्चर्या का भंडार भरपूर होना चाहिए। मेरे पास ऐसा कुछ नहीं है। मैंने आज तक कुछ भी तपस्या नहीं की है। बहुत-सी झंझटों में घिरा हुआ रहता हूं। कहीं किसी जंगल में पहुंचकर तपस्या करने लगूं ऐसा सुयोग मुझे मिला ही नहीं। अगर ऐसा अवसर मिले भी तो वह इस देश में नहीं मिल सकता। अपने देश में सब-कुछ हो सकता है। लेकिन यदि उमा के समान महातप करने का मौका न मिले तो भी यहां रहते हुए जो कुछ किया जा सके वह तो मैं कर लूं! काम करना तो हमारे खाने-पीने, सांस लेने आदि के जैसी बात होती है, उसमें कोई भारी संकट नहीं उठाना पड़ता। शरीर को काम करना ही होता है और उसे वह किया करता है। वास्तव में मनुष्य-जन्म पाकर यदि हमें कुछ विशेष करना है तो वह केवल तपश्चर्या ही है। ऐसी तपश्चर्या का मुझे यह जो सर्वप्रथम अनुभव मिल रहा है उसे देखकर तुम सबको खुश होना चाहिए, दुःख मानकर और व्याकुल होकर मेरे दुःख में वृद्धि नहीं करनी चाहिए।

"बा, रामदास.......और दूसरे भी मेरे साथ सात दिन तक उपवास करना चाहते हैं परन्तु मैंने सभी को बिलकुल मना किया है। कैलनबैक का तो मेरे प्रत्येक व्रत में साथ देना धर्म बन गया है। उनके अतिरिक्त केवल.....को अपने साथ उपवास करने की इजाजत मैंने दी है। इसके बिना उसके हृदय को शांति मिल ही नहीं सकती। उसके लिए अपनी देह को टिकाना अब तभी संभव हो सकता है जब उसकी काया पश्चात्ताप की अग्नि में तपकर शुद्ध हो जाय। इन उपवासों को सहन तो वह कर ही लेगा, लेकिन कदाचित् उसने सहन नहीं किया और उसकी देह गिर गई तो मुझे उस कारण दुःख होने वाला नहीं है। मैं तब शोक नहीं मनाऊंगा। अपनी शुद्धि करते हुए अगर कोई मनुष्य मौत को गले लगा लेता है तो उसके जैसा शुभ अवसर और कौन-सा हो सकता है? लेकिन ऐसा कुछ होने वाला नहीं है। वह तो इन उपवासों को मुझसे भी अच्छी तरह बर्दाश्त कर सकेगा।

"अब प्रश्न यह उठ सकता है कि जब मैंने...को और कैलनबैक को प्रायश्चित्त करने की स्वीकृति दी तो...को क्यों नहीं दी? उसके बस का वह नहीं है। यदि उसे प्रायश्चित्त करना है तो और ढंग से भी कर सकती है। फिर उसके अन्तर में क्या-क्या चल रहा है इसका अभी तक मुझे सही-सही अनुमान नहीं हो सका है। यदि उसे प्रायश्चित्त करना ही हो तो वह अपने सारे बाल कटवा डाले, रंग-बिरंगे कपड़े पहनना छोड़कर केवल सफेद साड़ी ही पहने। पाठशाला में पढ़ाने का काम पन्द्रह दिन के लिए छोड़ दे, बातें करना और इधर-उधर फिरना बन्द कर दे और देवी बहन (श्री वेस्ट की बहन) के साथ अपना समय बिताए। यही उसका

प्रायश्चित्त है। मैंने उसे यह सब करने के लिए कह दिया है। इसलिए कल सवेरे ही पहला काम में उसके बाल काटने का करनेवाला हूं।

"रामदास, वा या किसी और को उपवास करने की आवश्यकता है ही नहीं। उन्हें यदि किसी बात का प्रायश्चित्त करना ही है तो मैं अपना उपवास समाप्त कर लूं, तबतक वे प्रतीक्षा करें। बाद में चाहे तो कर सकते हैं। मैं उपवास करूंगा, इसलिए रसोई, खेती और मोची के काम में, हर जगह, मेरे हिस्से के काम की कमी रहेगी। उन सारे कामों को पूरा करना तुम सबका कर्त्तव्य है। मेरे उपवास के दिनों में तुम लोगों को दुगने उत्साह से काम करना चाहिए। ये सब बातें बा और रामदास भी मान लें तो अच्छा है।

"एक और बात जो मुझे सभी के लिए और विशेषकर लड़कों के लिए कहनी है, वह यह है कि कोई आपस में कानाफूसी न करे। अपराध करने वालों का मज़ाक उड़ाना और उनकी निन्दा करना बहुत बुरी बात है। हम सभी लोग एक-से ही अपराधी हैं। यदि न हों तो हमारे बीच ऐसी भूलें होने ही न पायं। कोई आदमी जो अपराध करता है, उसकी नींव में सभी का पाप होता है। जब किसी को ठोकर लगे तब हमें सावधान हो जाना चाहिए। यदि हम उसपर हंस दें और ऊंचा देखकर चलें तो हमें भी वैसी ही ठोकर खानी पड़ेगी। समझदारी इसी में है कि दूसरों को ठोकर खाते देखकर हम विनम्र बन जायं और संभल जायं। ठोकर खानेवाले के प्रति दयाभाव रखने और उसकी सहायता के लिए दौड़ जाने में जैसे शिष्टता है वैसे ही जब हमारा साथी भूल कर बैठे और उसका अन्तर उसे नोचने लगे तब हमें उससे बड़ी मिठास और सहानुभूति से बरतना चाहिए।

"मेरा काम केवल इन उपवासों से ही निबटनेवाला नहीं है। सात दिन के उपवास पूरे होते ही मेरा चार महीने का एकासना व्रत शुरू हो जायगा यदि दुबारा इन्हीं व्यक्तियों की भूल के लिए मुझे फिर प्रायश्चित्त करना आवश्यक हुआ तो १४ दिन का उपवास और बरस-भर का एकासना करना पड़ेगा। यदि तिबारा वैसा करना पड़े तो इक्कीस दिन के उपवास के बिना मेरे लिए यह प्रायश्चित्त कहलायगा ही नहीं। एक बार प्रायश्चित्त कर डाला, इसका अर्थ यह नहीं होता कि फिर निहंग होकर सब बातों से छुट्टी पा जाऊं। प्रायश्चित्त निपटा देने के बाद यदि दूध के धुले-से बनकर हम हलके मन से बरतना शुरू कर दें तो वह प्रायश्चित्त व्यर्थ है। अपने तन पर लगी हुई धूल को जिस प्रकार हम झाड़ डालते हैं उसी प्रकार से पापों को नहीं झाड़ा जा सकता। प्रायश्चित्त के बाद हमारा उत्तरदायित्व अत्यधिक बढ़ जाता है। जिसने एक बार प्रायश्चित्त किया हो उसके लिए दुबारा प्रायश्चित्त करने का अवसर यदि उपस्थित हो जाय तो उसे पहले से दुगुना प्रायश्चित्त करना चाहिए।"

बापूजी ने अपना प्रवचन समाप्त किया तब ऐसा मालूम हुआ मानो हम अपनेको भूल गए हैं। रामदासकाका फिर से उनके पास पहुंचे और उनके साथ उपवास में शामिल होने की स्वीकृति पाने के लिए आग्रह करने लगे। तब बापूजी ने सोच-विचारकर यह घोषित किया कि जिनकी इच्छा हो वे सब उनके उपवास के पहले और आखिरी दिन उपवास कर सकते हैं। यह स्वीकृति मिलने पर छोटे-बड़े सभी के मुख पर छाई हुई विषाद की छाया कुछ कम हो गई।

: ४६ :

'वह अपूर्व अवसर कब आयेगा ?'

महात्मा टाल्स्टाय, महान विचारक रस्किन और राजयोगी श्रीमद् राजचन्द्र, इन तीन मानव-विभूतियों ने बापूजी के हृदय को अभिभूत कर लिया था और इन तीनों के उच्चतम आदर्शों का अनुशीलन करके बापूजी उनके अनुसार आचरण करने का सतत प्रयत्न करते थे।

उनकी आराधना फीनिक्स में चोटी तक पहुंच गई थी। "मजदूर और वकील, सम्पादक और चपरासी को दिन-भर की मजदूरी का मेहनताना एक-सा ही मिले, क्योंकि सबका पेट एक-सा ही होता है," रस्किन का यह सिद्धांत वहां अच्छी तरह अमल में लाया जाता था। बापूजी, उनके प्रथम सहायक और निम्न सेवकों के रहन-सहन का स्तर अलग-अलग नहीं था। सर्वोदय समाज का वहां स्पष्ट दर्शन होता था। "कस कर मजदूरी की जाय और नित्यप्रति पसीना बहाने के बाद ही भोजन किया जाय"—यह टाल्स्टाय की धुन बापूजी ने फीनिक्स के बच्चे-बच्चे में भर दी थी। जो व्यक्ति उत्पादक शरीर-श्रम करने में आगे निकल जाता था वह अपने को धन्य समझता था। अनशन-व्रत का श्रीगणेश करके बापूजी ने राजचन्द्रजी की वाणी में प्रदर्शित जैन-दर्शन की इस महत्वाकांक्षा को भी फीनिक्स के वायुमंडल में भर दिया कि "मनुष्य-देह हर तरह से एक बोझा है। उससे मोक्ष पाना सबका कर्तव्य है। कठोर-से-कठोर व्रत धारण करके देह तथा इन्द्रियों का जितना बने अधिक दमन करने तथा हृदय में सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा की भावना को निखारते रहने में ही मानव-जीवन की सफलता है।"

सात दिन का ही वह पहला अनशन कितना भयावह था, इसकी कल्पना अब नहीं की जा सकती। उन दिनों ऐसा प्रतीत होता था, मानो साक्षात मृत्यु हमारे सामने मूर्तिमंत खड़ी हो। मृत्यु का स्वागत परम-मित्र के रूप में करने की बापूजी की चर्चा हृदय को और भी व्यथित करती थी। दूसरी ओर उपवास की भारी कमजोरी के होते हुए भी प्रत्येक संध्या को प्रार्थना के समय बापूजी ज्ञान का जो गंभीर स्रोत बहाते थे, उसके कारण हमारा उद्वेग और भी बढ़ जाता था। समझ में नहीं आता था कि उस भव्य ऊंचाई तक पहुंचने के लिए बापूजी क्या-क्या कर बैठेंगे और यदि वह सचमुच ही चल बसेंगे तो हम किस मुंह से दुनिया में रह पायंगे।

बापूजी ने अपना नित्यक्रम पूर्ववत् चालू रखा मानो कोई विशेष बात ही न हुई हो। हम लोगों के वर्ग लेने में कमी नहीं आने दी। खुद उपवास कर रहे थे और हमें भोजन परोसते थे। भोजन के समय प्रसन्नता भी बनाये रखने में सावधान रहते थे। घूमने-फिरने का काम कुछ घटा दिया था, किन्तु आखिरी दिन तक चलते-फिरते थे, लेटे नहीं रहे। हमारे गीता के वर्ग में उन दिनों जो प्रवचन होते थे उनमें हमारा चित्त असाधारण रूप से एकाग्र रहता था। बापूजी को लेशमात्र भी परेशानी न हो इस खयाल से सभी विद्यार्थी बहुत सीधे बन गए थे। आखिरी और सातवें दिन बापूजी कुर्सी पर बैठे-बैठे हमारी साप्ताहिक परीक्षा के उत्तर-पत्र जांच रहे थे। उस समय दो मिनट के लिए अकस्मात उनका सिर झुक गया। सबने समझा कि उन्हें मूर्छा आ गई है। क्या किया जाय? इस सोच-विचार में ही हम लोग थे कि बापूजी ने आंखें खोल दीं। वह तनकर बैठ गए और हमारी कापियों को जांचने का काम फिर शुरू कर दिया। मध्याह्न का सारा काम भी नियमपूर्वक पूरा किया।

उपवास के सातों दिन तक श्रीमद् राजचन्द्र के एक मननीय गुजराती भजन का पारायण किया गया, जिसमें पन्द्रह कड़ियां थीं और उन्हें गुजराती लोक-गीत की तर्ज में गाने में काफी समय लगता था। 'आरगन' (हारमोनियम-जैसा एक अंग्रेजी वाद्य) पर मणिलालकाका ज्योंहीं उसकी स्वर-लहरियां बजाते थे, सारा वातावरण भावार्द्र हो जाता था। मगनकाका अपने गंभीर कण्ठ से उस पद्य की शब्दावली गाते और मेरी माताजी और दूसरी बहनें तथा विद्यार्थी एक साथ गद्गद कण्ठ से उसको दोहराते थे। भजन हो जाने के बाद बापूजी उसका अर्थ समझाते थे और फिर अपनी भावना का प्रवाह वाणी द्वारा बहाते थे। उस भजन की कुछ पंक्तियां निम्नलिखित हैं :

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे, क्यारे थईशुं बाह्यान्तर निर्ग्रंथ जो ?

ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा जब कि हम अन्तर-बाह्य की ग्रंथियों से निःशेष हो जायंगे ?

सर्व संबंधनु बंधन तीक्षण छदीने, विचरीशुं क्यारे महत्पुरुषने पंथ जो ?

सब प्रकार के संबंधों का तीक्ष्ण बंधन काटकर महापुरुषों के पथ पर हम कब विचरण करेंगे !

बहु उपसर्ग कर्ता प्रत्ये पण क्रोध नहीं वंदे चक्री तौपण न मळे मान जो।

जो हमारा अतिशय उत्पीड़न करता हो—जो हमें बेहद सताता हो—उसके प्रति भी हमारे दिल में क्रोध पैदा न हो, और चक्रधारी महाराजाधिराज भी यदि हमारे पैर छुए, तब भी हमारे मन में अभिमान का पता तक न हो !

देह जाय पण माया थाय न रोम मां लोभ नहीं छो प्रबल सिद्धि निदान जो।

भले ही शरीर गिर जाय, लेकिन माया का कुस्पर्श हमारे रोम में भी न हो और चाहे बड़ी-से-बड़ी सिद्धि निश्चित रूप से हाथ आनेवाली हो फिर भी उसके लोभ में हम न फंसें।

जीवित के मरणे नहीं न्यूनाधिकता भव मोक्षे पण वर्ते शुद्ध स्वभाव जो।

चाहे जीवन बना रहे, चाहे मरण सिर पर आ जाय, दो में से किसी को भी हम न्यूनाधिक न समझें। संसार में हों या मोक्ष-स्थिति में पहुंच जायं दोनों परिस्थितियों में हमारा स्वभाव विशुद्ध बना रहे।

मोह स्वयंभू-रमण समुद्र तरी करी बळीसींदरीवत् आकृति मात्र जो।

अपने-आप ही अन्तर में लहराता हुआ मोह का जो समुद्र है उसको पार करके जली हुई नारियल की रस्सी की तरह केवल आकृति रूप ही हमारी स्थिति कब बन जायगी ? अर्थात् जिस प्रकार नारियल की रस्सी सारी जल जाने के बाद भी देखने में बटी हुई तैयार रस्सी-जैसी ही दीख पड़ती है, पर वास्तव में वह रस्सी नहीं राख ही होती है, उसी प्रकार हमारे शरीर का अहंकार, मोह आदि पूर्णतया जलकर समाप्त हो जाय और मृत्यु के दिन तक शरीर बना रहे तो केवल आकृतिमात्र ही रहे, उसमें आसक्ति की ताकत कुछ भी न रहे। ऐसी स्थित कब आयगी ?

एक परम पद प्राप्तिनुं धर्युं ध्यान में गजा वगरनो हाल मनोरथ रूप जो।

उस परम-पद की प्राप्ति पर मैंने अपना ध्यान लगाया है, यद्यपि उसे पाने में मैं असमर्थ हूं और इस समय तो वह केवल मेरे मनोरथ के रूप में ही है।

तो पण निश्चय राजचन्द्र मनने रह्यो प्रभु आज्ञाए थाशुं तेजस्वरूप जो।

फिर भी राजचन्द्र के मन में यह पक्का निश्चय है कि ईश्वर की आज्ञा से मैं वह उच्च स्वरूपमय बन ही जाऊंगा।

सातवीं रात को इस भजन की अन्तिम पंक्तियों की व्याख्या बापूजी ने की और जो निश्चय राजचन्द्र ने किया था, वही बापूजी ने अपने लिए भी जोरदार शब्दों में दोहराया। कवि ने तो उस आदर्श तक पहुंचने के लिए कोई दूर का समय सूचित किया है, परन्तु बापू को उसमें विलम्ब और प्रतीक्षा असह्य प्रतीत हो रही थी। उनके मुख पर इतना दृढ़ संकल्प प्रकट हो रहा था, मानो वह उस अपूर्व अवसर को अपनी मुट्ठी में शीघ्र ही बांध लेंगे।

प्रवचन की समाप्ति पर बापू ने अपना प्रिय भजन 'वैष्णवजन' गाने को कहा। संभवतः भक्त प्रह्लाद और उसके पिता हिरण्यकश्यप के बीच के संवादवाला गुजराती भजन भी उस समय गाया गया था। सातों दिन निर्विघ्न बीत जाने के लिए ईश्वर के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए हम लोग रात्रि के विश्राम के लिए चले गए।

दूसरे दिन बापूजी ने अपना उपवास समाप्त किया। कैलनबैक और ...के उपवास भी समाप्त हुए। कैलनबैक सात दिन की अवधि में अधिक दुर्बल हो गए थे, पर उनके मुख पर शान्ति झलक रही थी।...ने भी धैर्य और बहादुरी के साथ उपवास पार किया।

उपवास की पारणा होने के दिन से ही बापूजी ने दिन में एक ही बार खाने का अपना ४॥ मास का व्रत शुरू कर दिया। कमजोरी दूर होने तक भी नहीं रुके। जिस उद्देश्य से अनशन किया गया था, उसकी फल-प्राप्ति मुझ बालक की समझ में आनी कठिन थी; लेकिन उसके बाद से फीनिक्स में उपवासों का सिलसिला बढ़ गया। मुझे ऐसा स्मरण है कि...बहन ने बापू-जी के बाद चार-पांच दिन का उपवास किया था, और कई दिनों तक उन्होंने मौन धारण कर रखा था। दूसरे लड़कों ने भी एक-एक, दो-दो दिन के उपवास किये थे और एक दिन का उपवास मैंने भी किया था ऐसा याद है।

: ४७ :

बुनियादी शिक्षा

श्री वेस्ट को अपना मकान बहुत छोटा पड़ता था। उसमें सुधार करने और कमरे बढ़ाने का काम कई महीनों से थोड़ा-थोड़ा होता था। परन्तु वेस्ट साहब की बहुत-सी परेशानियों को देखकर बापूजी ने एक सप्ताह में ही उस काम को पूरा करने का निश्चय किया। सबके साथ विचार-विनिमय करके पूरे सप्ताह-भर पाठशाला बन्द रखने की योजना बनाई गई। साप्ताहिक पत्र तो बन्द रह नहीं सकता था, इसलिए यह सोचा गया कि छापाखाने में काम करनेवाले सभी बड़े व्यक्ति उस काम से मुक्त किये जायं और केवल लड़के ही अपना संगठन करके 'इंडियन ओपीनियन' का उस सप्ताह का अंक प्रकाशित करें।

लड़कों ने उत्साहपूर्वक यह बीड़ा उठा लिया और वेस्ट साहब का घर बनाने के लिए छापाखाने के प्रत्येक बड़े आदमी को मुक्त कर दिया गया। पकी उम्र वाले श्री कावाभाई का शरीर धूप में कड़ा काम करने योग्य नहीं था और उनके बिना वेस्ट साहब का घर बनाने में ढील होती ऐसी बात भी नहीं थी। फिर भी गुजराती कम्पोजिंग का एक-तिहाई हिस्सा अकेले ही कर लेने वाले उस वृद्ध को भी छापाखाने से लड़कों ने छुट्टी दे दी ताकि लड़कों के यश में कमी न आये। बापूजी से हमारी मंडली ने यह वादा करा लिया कि चाहे कितनी ही उलझन पैदा हो, शुक्रवार से पहले एक भी बड़ा व्यक्ति हमारे काम में दखल नहीं देगा।

इस प्रकार छापाखाने का पूरा राज्य लड़कों के सिपुर्द करके बापूजी ने मिस्त्री का काम अपने हाथ में ले लिया। बापूजी, मगनकाका, श्री वेस्ट आदि को बढ़ई के काम का कुछ अभ्यास हो गया था, दूसरों को परिश्रम करने में आपत्ति नहीं थी, इसलिए अलादीन के चिराग वाले मकान की फुर्ती से वेस्ट साहब का घर बनने लगा। बापूजी को उस काम में लगे हुए देखते ही बनता था। वह उस काम के लिए उस देश में प्रचलित नीले रंग का पतलून पहनते थे, जिसमें दस-बारह जेबें होती थीं—दो-दो जेबें जांघ के ऊपर, दो-तीन कमर पर, दो अगल-बगल में; इसके अलावा चमड़े का एक-दो जेबों वाला और पीतल की कई कड़ियों वाला कमर बंद भी था। इन विविध जेबों में बापूजी छोटी-मोटी कीलें, स्क्रू, वाशर, हथौड़ी, जम्बूर, पेंचकस आदि लगा लेते थे। वह पतलून क्या, बढ़ई का एक थैला ही था।

उस थैले से सुसज्जित होकर बापूजी छप्पर के ऊंचे-से-ऊंचे स्थान में पहुंच जाते थे और वहां कड़ी धूप में, अभ्यस्त बढ़ई की तरह एकाग्रता से घंटों टीन की नालीदार चद्दरों को कीलों से जड़ने का काम करते रहते थे। बापूजी के साथ ही मगनकाका भी रहते थे, जो काम में उनसे सवाए थे। दूसरे भी सभी लोग पूरे जोर से अलग-अलग काम में लगे रहते थे। फीनिक्स की चारों दिशाओं में दिन-भर कील आदि के ठोंकने की आवाज़ गूंजती रहती थी। उसे सुनकर हम लोगों को अपना काम करने में और भी जोश आता था।

बापूजी ने विद्यार्थियों को अकेले ही साप्ताहिक छापने का काम दिया। उसका और भी कारण था। हम लोगों में जो अधिक सयाने थे उन्होंने कानाफूसी शुरू की कि अब पन्द्रह-बीस दिन में ही शायद सत्याग्रह-संग्राम छिड़ जायगा और हमारा भारत जाना रुक जायगा। तब अगर सभी बड़े व्यक्ति जेल चले जायं तो विद्यार्थीगण 'इंडियन ओपीनियन' का प्रकाशन बन्द न होने दें, इसी हेतु बापूजी ने हमारी यह कसौटी की है। इसमें हमें अपना जौहर बता ही देना चाहिए।

हम लोग काम में जुट गए। पर कई बार बड़े लोग हमको ताने दे ही देते थे कि अब के शुक्रवार को हमें दुगना काम करना पड़ेगा। रात-भर जागकर भी मुश्किल से डाक पहुंचा पायंगे। परन्तु शुक्र की संध्या होने से पहले ही हमने अखबार तैयार कर के सारे पारसल बांध लिये और डाक के थैले बाकायदा भरकर रख दिये थे। संध्या के पांच बजे जब मकान के काम से छुट्टी पाकर बड़े लोग हमारा काम जांचने आये, तब हम में से कई तो अपना काम पूरा करके खेलने के लिए चले गए थे और दूसरे जाने की तैयारी में थे। हमारे काम का परीक्षण करके बड़ों ने बापूजी को बधाई दी कि लड़के तो हमसे सवाए साबित हो गए। बापूजी ने लड़कों को शाबाशी देते हुए कहा, "मुझे यकीन था कि तुम लोग हमें हरा दोगे।" बापूजी के इन शब्दों ने सब लड़कों का हौसला बढ़ा दिया।

आमतौर से शनिवार को एक पहर बीतने के बाद मुश्किल से अखबार के बंडल डाक के लिए रवाना किये जा सकते थे, लेकिन हमने दिन निकलते ही उन्हें स्टेशन पर पहुंचा दिया।

लड़कों की इस सफलता के पुरस्कार-स्वरूप बापूजी ने संध्या के समय खेल में हमारे साथ अपना कुछ समय देना स्वीकार किया।

शिवपूजनसहाय—हममें सबसे बड़ा विद्यार्थी और कुप्पुस्वामी के बीच लंबी दौड़ लगाने की शर्त हुई थी। शिवपूजन ने दावा किया था कि आश्रम

से स्टेशन तक कोई भी लड़का मुझसे दस मिनट पहले दौड़ना शुरू करे तो भी मैं बाद में चलकर उससे पहले लौट आऊंगा। दो लड़कों ने इस चुनौती को स्वीकार किया। छापाखाने के द्वार पर बापूजी स्वयं घड़ी लेकर खड़े रहे। स्टेशन पर श्री मगनभाई मास्टर को घड़ी के साथ पहले ही भेज दिया गया। कुप्पुस्वामी और गोविन्द को बापूजी ने दस मिनट पहले रवाना किया और ठीक समय पर शिवपूजन को। हम लोग तमाशा देखने के लिए स्टेशन के रास्ते के अधबीच तक गये। कुप्पु और गोविन्द करीब स्टेशन तक पहुंचे होंगे तब हमारे सामने से—आश्रम से कोई डेढ़ मील की दूरी पर—हिरन की तरह चौकड़ी भरता हुआ शिवपूजन दौड़ता हुआ निकल गया। घोड़े की तरह उसके नथुने फूल रहे थे। कुप्पु और गोविन्द भी कम तेजी से नहीं दौड़े थे। परन्तु लौटकर ठीक १॥ मिनट पहले शिवपूजन, बापूजी जहां घड़ी लिए खड़े थे, पहुंच गया। उसकी जय-जयकार से आकाश गूंज उठा। मुझे कुछ ऐसा स्मरण है कि उन्तीस मिनट में शिवपूजन ने पांच मील की दौड़ उस ऊबड़-खाबड़ पगडंडी पर पूरी की थी।

: ४८ :

सत्याग्रह की तैयारी

कुछ दिन बाद ही दक्षिण अफ्रीका के एक न्यायालय ने भारतीय महिला के सम्बन्ध में ऐसा एक फैसला दिया जिससे भारत में हिन्दू और मुस्लिम विधि से विवाहित पत्नी दक्षिण-अफ्रीका में अनधिकृत पत्नी बन जाती थी। दक्षिण अफ्रीका में बापूजी की सत्याग्रह की लड़ाई को उस समय तक छः-सात वर्ष हो चुके थे, लेकिन तबतक उसमें किसी स्त्री सत्याग्रही का प्रवेश नहीं हुआ था। अब, जब कि दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने भारतीय लग्न-विधि को गैरकानूनी घोषित करके भारतीयों की—और विशेषतः भारतीय स्त्रियों की—धार्मिक भावना पर अनपेक्षित आक्रमण किया, तो उसके विरोध में बहनों का भी सत्याग्रह करके जेल जाना आवश्यक हो गया। बापूजी ने अपनी रीति के अनुसार महिला-सत्याग्रही को जेल भेजने का श्रीगणेश अपने ही घर से करना आवश्यक समझा। परन्तु अपनी ओर से पूज्य बा के सामने यह प्रस्ताव रखकर उनको वह असमंजस में नहीं डालना चाहते थे। इसलिए उन्होंने बहनों के जेल जाने की प्रथम चर्चा से ही बापूजी

और काकी से की। बापूजी ने दोनों से यह वादा ले लिया कि दक्षिण अफ्रीका में और कोई स्त्री जेल के लिए तैयार न हो, तो भी उनको सत्याग्रह में कूदना होगा। जब पूज्य कस्तूरबा को बापूजी के इस आह्वान का पता चला तब वह खुद ही जेल जाने के लिए तत्पर हो गईं। पूज्य बा के लिए जेल जाना साधारण बात नहीं थी, क्योंकि तब वह बीमार थीं और केवल फलाहार करने का ही उनका व्रत था। इस व्रत के कारण उनको जेल में अत्यधिक कष्ट भोगना पड़ सके और प्राणों की बाजी लगा देनी पड़े ऐसा अंदेशा था। परन्तु इस को समझते हुए भी पूज्य बा ने अपना नाम महिला-सत्याग्रहियों में सर्वप्रथम रखने का आग्रह किया तथा बापूजी ने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। इस प्रकार फीनिक्स से कुल मिलाकर ४ महिलाएं जेल जाने के लिए तैयार हो गईं। ये थीं—पूज्य बा, मेरी माताजी, मेरी चाची और बापूजी के परम मित्र डा० प्राणजीवनदास मेहता की पुत्री जयकुंवर बहन।

तीन-चार दिन बाद निश्चित रूप से पता चल गया कि हमारे घर से तीन व्यक्ति जेल जायंगे—पिताजी, माताजी और काकी। मगनकाका 'इंडियन ओपीनियन' के काम तथा आश्रम के सब बच्चों की देखभाल के लिए रुक जायंगे।

पाठशाला में बैठकर पढ़ने में अब हमारा जी नहीं लगता था। बापूजी से हमने कहा भी कि चाहे देश के लिए चलना हो चाहे जेल के लिए, हमें भी तब तक की छुट्टियां दे दी जायं। परन्तु बापूजी ने साफ इनकार कर दिया और कहा :

"इस तरह पढ़ाई बन्द करना गलत होगा। यदि सब लड़के जेल चले जायं तो भी पाठशाला का थोड़ा-बहुत क्रम तो जारी रखना ही चाहिए। पढ़ाने वाला शिक्षक न रहे तो लड़के आपस में एक-दूसरे की सहायता करके पढ़ें। और कुछ नहीं तो नित्य नियम से थोड़ा समय गणित का अध्ययन ही किया जाय। छुटपन में गणित सीख लिया जाय तो बाकी बातें बड़ेपन में भी सीखी जा सकेंगी। इसलिए गणित के स्वाध्याय में एक दिन का भी प्रमाद उचित नहीं है।

इस प्रकार फीनिक्स का नित्यक्रम चलता रहता था; पर दिन-भर बातें जेल-यात्रा की ही होती थीं और नजीर की प्रसिद्ध गजल की निम्नलिखित पंक्तियां मानो हमारे श्वासोच्छ्वास का अंग बन गई थीं :

हैं बहारे बाग दुनिया चन्द रोज।
देख लो इसका तमाशा चंद रोज॥
ऐ मुसाफिर कूच का सामान कर।
इस जहां में है बसेरा चंद रोज॥

तुम कहां औ' मैं कहां ऐ दोस्तो !
साथ है मेरा तुम्हारा चंद रोज ॥

जेल जाने की चर्चा के साथ ही लड़कों में फीनिक्स के बाहर की चर्चाएं भी होने लगीं। इन चर्चाओं का सार यह था कि फीनिक्स तथा जोहान्सबर्ग से जो मुट्ठी-भर सत्याग्रही तैयार हो रहे हैं, उन्हें बड़ा कठिन मोर्चा लेना होगा। बापूजी बड़ा भीषण युद्ध ठान रहे हैं। इस बार की जेल-यात्रा कोई खिलवाड़ न होगी। इसीलिए बापूजी चुन-चुनकर कच्चे व्यक्तियों को फीनिक्स से घर लौट जाने के लिए कह रहे हैं।

× × ×

एक दिन जब मैं स्टेशन पहुंचा और स्टेशन मास्टर के हाथ में मैंने 'इंडियन ओपीनियन' की डाक दी तो वह बोले, "मिस्टर गांधी से कहना कि केपटाउन से जनरल स्मट्स का तीन सौ शब्दों का तार आया है। डरबन वालों ने यहां खटखटाया पर मुझे लेने की फुरसत नहीं थी, इसलिए वह शाम की ट्रेन से पांच बजे यहां आ जायगा।"

पांच बजने में मुश्किल से डेढ़ घंटा बाकी था। पर इतनी देर स्टेशन रुका रहना मैंने ठीक नहीं समझा। चार दिन से जिस तार की बड़ी आतुरता से प्रतीक्षा की जा रही थी उसके आने का समाचार मैंने दौड़कर आश्रम में बापूजी के पास पहुंचाया। सारे आश्रम में विद्युत्वेग से तीन सौ शब्दों के तार की चर्चा फैल गई। और यह पक्का अनुमान हो गया कि तार में समझौते की बात नहीं होगी। सत्याग्रह छिड़कर ही रहेगा।

संध्या की प्रार्थना से पहले तार बापूजी के हाथ में आ गया। प्रार्थना में उन्होंने मेरी माताजी से वह गुजराती भजन गाने को कहा, जिसमें भट्ट प्रेमानन्द ने बड़ी करुणापूर्ण वाणी में नल राजा के परित्याग के बाद दमयन्ती की विपदा दरसाई है :

"वैदरभी वनमां वलवले अंधारी छे रात" वाला वह भजन समाप्त होने पर बापूजी का यह प्रवचन हुआ :

"अब जेल जाने का दिन आ पहुंचा है। जेल जाना कोई खेल नहीं है, दिन-भर पत्थर फोड़ने पड़ेंगे, सूखी और कड़ी जमीन को खोदना पड़ेगा। हाथ बहुत दुखने लगेंगे और खाने का महाकष्ट होगा। स्वाद का नाम नहीं; उबला हुआ दाल-चावल भी स्वच्छ मिले तो गनीमत। उपवास के मौके भी आयंगे और उपवास के समय भी काम पूरा करना होगा। बेहोश होकर शरीर के पड़ जाने तक काम करने से इनकार नहीं करना होगा। इसलिए इन कष्टों के बारे में अब भी तुम सब जितना चाहो सोच लो।

जेल में जाने के बाद दुःख सहन न हो सकें, आंख से आंसू बहने लगें, इससे बेहतर है कि जेल न जायं। इस समय सोलह व्यक्ति यहां से जाने के लिए तैयार हैं, उनमें से दस ही जायंगे, शेष रुक जायंगे तो मैं जरा भी बुरा नहीं मानूंगा, किन्तु एक बार जेल में जाने के बाद चाहे कितने ही वर्ष तक यह संघर्ष जारी रहे, कोई जेल जाने से मुकर जाय यह नहीं चलेगा। रणक्षेत्र में जाकर पीछे कदम हटाने से न जाना अच्छा है।"

बापूजी के इन वचनों को बड़ी गम्भीरता से सबने सुना और पांच-दस मिनट तक कोई कुछ बोला नहीं। तब बापूजी एक-एक से व्यक्तिगत प्रश्न करने लगे। बाहर रहने के लिए कई लालच भी उन्होंने बताए और सबको काफी हँसाया, लेकिन सोलह में से एक भी अपना नाम लौटाने के लिए तैयार नहीं हुआ। अन्त में बापूजी ने माताओं को दुबारा चेताते हुए कहा :

"एक बार जेल जाकर छूटने के बाद यदि तुम देखोगे कि तुम्हारे बच्चे निराधार हो गए हैं तो भी दुबारा जेल जाने से रुकना नहीं होगा। बच्चों को संभालने वाला ईश्वर बैठा ही है। वह समर्थ है, चाहेगा तो तुम्हारे हाथ में रहते हुए भी बच्चों को बीमार कर देगा और चाहेगा तो तुम्हारी अनुपस्थिति में भी उनका हजार गुना भला करेगा। इसलिए बच्चों के मोह में पड़कर तुम कर्त्तव्य से चूक जाओ यह ठीक न होगा। इस बात पर पुनः-पुनः सात बार विचार करने के बाद तुम लोग जेल के लिए प्रयाण करना। गलत जोश में, मत चल देना।"

: ४६ :

सत्याग्रही टोली का प्रयाण

दिन सोमवार का था और तारीख १६ दिसम्बर, सन् १९१३। पूर्व क्षितिज से सूर्य के ऊपर आने के साथ-साथ आज सारे फीनिक्स का दृश्य ही बदल गया था। पाठशाला और खेत का काम बिलकुल बन्द था। सब लोग सत्याग्रहियों की टोली के प्रयाण की तैयारियों में व्यस्त थे। जो लोग जाने वाले नहीं थे वे संस्था के काम का बोझ अपने कंधों पर लेने को तैयार हो रहे थे।

रसोईघर में बापूजी रसोई की मेज पर बड़ी फुर्ती से काम में जुटे हुए थे। वहां पर पूज्य कस्तूर बा और मेरी माताजी का उपस्थित न होना एक नई बात थी। माताओं के बिना रसोईघर खाली-सा दीखता था। परन्तु महिलाओं के सहयोग के अभाव में रसोई का काम शिथिल न होने देने के लिए बापूजी कटिबद्ध थे। मगनकाका बापूजी की सहायता कर रहे थे और दोनों ने मिलकर चपातियों का ढेर लगा दिया था। पाव रोटी के लिए बहुत कड़ा आटा मलन था और वह मजबूत हाथों से करने का काम था। उसे करने में देवदासकाका अपनी सारी ताकत लगा रहे थे। मुझपर साग बनाने का काम था।

रसोई का काम करते हुए बापूजी उन सभी के प्रश्नों के उत्तर दे रहे थे, जो यात्रा में अपने साथ ले जाने के सामान के बारे में पूछने आते थे।

यह विदाई का दिन था और रणसंग्राम में जूझने वालों के लिए घर का यह अन्तिम भोजन था। भोजन की घंटी बजने तक रसोई तैयार हो गई। चपाती, खीर, सब्जी, टमाटर आदि की चटनी, खजूर भिगोकर तैयार किया गया मधुर रस, और कढ़ी-भात आदि चीजें तैयार हो गईं थीं। सार यह कि किसी त्यौहार या उत्सव के दिन फीनिक्स में हम लोगों को जो भोजन मिला करता था उससे भी श्रेष्ठ भोजन आज का था। बापूजी ने स्वयं बड़े प्रेम से और कुछ आग्रह से भी सभी को भोजन परोसा।

शाम के चार बजे रेलगाड़ी छूटने वाली थी। स्टेशन जाने के लिए अभी तीन घंटे का समय था। जेल जाने की बातें तो महीनों से चलती थीं पर अब प्रयाण सन्निकट आ गया तो सभी के सामने आगे आने वाली भीषण परिस्थिति का सारा चित्र उपस्थित हो गया। बापूजी ने बीसियों बार दोहराकर जिन कठिनाइयों की सम्भावना बताई थी, वे सब मानो एक साथ फीनिक्स-वासियों के स्मृति-पट पर मंडराने लगीं। उन बातों का निचोड़ इस प्रकार था:

१. प्रवासी भारतवासियों के खून को चूस लेनेवाले कानून जबतक हटाए न जायं तबतक सत्याग्रह लगातार चालू रखना होगा चाहे कितना ही संकट क्यों न भुगतना पड़े।

२. जबतक तीन पौंड का विनाशकारी कर उठा न लिया जाय, जेल जाने का सिलसिला कायम रखा जायगा।

३. उस कर का बोझा जिन गरीब गिरिमिटिये भाइयों पर पड़ता है, वे खुद इस संघर्ष में सहायता देंगे या नहीं, देंगे तो कितनी देंगे, यह शंकास्पद होने पर भी हमें मरण तक जूझना ही होगा।

४. यदि हमारे सहयोगी और भारतवासी भाई इस सत्याग्रह से ऊब जायं, उन्हें यह सत्याग्रह व्यर्थ मालूम देने लगे और वे सत्याग्रह के युद्ध में साथ देना छोड़ दें तो भी आज के दिन प्रयाण करने वाले सोलहों व्यक्तियों को अपनी निन्दा सहन करके भी आगे ही बढ़ना है। दम लेने के लिए भी रुकना नहीं है।

५. जबतक फीनिक्स का नाम-निशान है, तबतक हार मानकर बैठने का अवसर नहीं है। यह निश्चय करके ही आज के प्रयाण का श्रीगणेश होना चाहिए।

बापूजी की इन बातों को याद करके प्रत्येक फीनिक्सवासी अपने आपमें डूब-सा गया था।

दो बजने पर सब के बिस्तर आदि एक ठेले पर लादकर स्टेशन भेज दिये गए और सब लोग प्रार्थना के कमरे में एकत्र हुए। सब के आ जाने पर बापूजी ने अपनी धीर-गम्भीर वाणी में इस आशय की बातें कहीं: "देखो, लाज रखना। इस समय जैसे उत्साह में और आनन्द में हो उसी प्रकार के उत्साह और आनन्द में रहना, चाहे कितना ही दुःख क्यों न सिर पर आ जाय। मृत्यु की घड़ी आ पहुंची तो तब भी हमारा उत्साह तिल-मात्र ढीला नहीं होना चाहिए। तीन महीने की कैद तो कुछ बात है ही नहीं। उसमें तो चैन है, आराम है। वहां पर पहनने के लिए वस्त्र, लेटने के लिए बिस्तर और भोजन के लिए अन्न नियमपूर्वक मिलता रहेगा। मज़दूरी करनी पड़ेगी सही, परन्तु वह किसी को अखरनी नहीं चाहिए। हां, आत्मसिद्धि के लिए वह मुश्किल बात रहेगी परन्तु हम लोग यहां मजदूरी नहीं करते क्या? वास्तव मे हम तो अधिक मजदूरी करते हैं। यदि सच्ची नीयत से, जरा-सा भी आलस्य न करके, मजदूरी करोगे, अपनी परिश्रम-शक्ति को तिल-भर भी नहीं चुराओगे, तो फिर वार्डर को तुम पर पहरा ही क्यों देना पड़ेगा?

"मुझे पता है कि तुम नौजवान हो और जेल के कच्चे-पक्के वार्डरों का जरा-सा भी कड़ुआ शब्द सह नहीं पाओगे। तुम लोगों का खून खौल उठेगा; लेकिन तब भी मैं कहूंगा कि तुम लोगों को सब सहन करना ही चाहिए। यही हमारी तपश्चर्या है। क्रोध हमें जरा भी नहीं करना चाहिए। तपस्वी यदि क्रोध करे तो उसका तपोबल वृथा हो जाता है। हमें तो संपूर्ण रूप से निर्दोष बने रहना है। यदि तुम लोग अपनी निर्दोषिता बनाए रखोगे तो जेल के सार्जेंट-वार्डर के अनुचित शब्द तुमको नहीं चुभेंगे, आसानी से उनकी बातें अनसुनी कर पाओगे। भोजन के लिए या अन्य लालच के कारण किसी को घूस देने या कोई चीज चुराने के मोह में भूलकर भी नहीं

पड़ोगे, ऐसी मैं आशा करता हूं। ऐसी टुच्ची बातों में जी छोटा करने वाले पर यह भरोसा कैसे किया जा सकता है कि जब फांसी पर झूलने की बात आयगी तब वह कमजोर नहीं पड़ जायगा।

"नौजवान बालकों के लिए मैं अपनी बात कह चुका। जो इनमें बड़े हैं उनके लिए तो कहने की कौनसी बात हो सकती है। सत्य ही हमारा राजमार्ग है। उस राजमार्ग से हम कहीं लुढ़क न जायं, यह सम्हालें। यह सम्हालने में दुःख-सुख की आंधियां उठेंगी और साफ होती रहेंगी। जिस प्रकार सुख सदा के लिए नहीं टिकता, उसी प्रकार दुःख भी नित्य का नहीं होता। बात यह है कि दुःख से व्याकुल हो उठनेवाले के लिए दुःख के दिन बड़े लंबे बन जाते हैं। यदि अपने मन को बाकायदा लगाम में रखें और सत्य के राजमार्ग से चूके नहीं तो हमारी जीत निश्चय ही है। बहुत दूर तक निगाह दौड़ाकर मायूस होने से बेहतर है कि दूर तक निगाह दौड़ावें ही नहीं। हमारा कदम सच्चा और अडिग होगा तो चाहे कितना ही लम्बा रास्ता क्यों न हो, अवश्य पार हो जायगा।

"दूसरी बात यह है कि दुःखों से दब जाने पर, जेल में न्याय प्राप्त करने के लिए पांच-पांच सात-सात दिन तक जब अनशन करना पड़ेगा और जब मन डांवाडोल होंगे तब तुम्हारे दिल में यह बात उठेगी कि हम औरों के लिए क्यों दुःख भोगते रहें! जेल से बाहर हमें किस बात की कमी है, जो हम इस झंझट को मोल लेते फिरें? तीन पौंड का कर हमारे सिर पर कहां है? हमें कहां ट्रांसवाल में घुसना है? चैन से नेटाल में रह रहे थे, वहां से यहां कहां आ फंसे? इस प्रकार की अनेक तरंगें उठेंगी। परन्तु ऐसे विचार क्षण-भर के लिए भी शोभा नहीं देंगे।

"हम लोग नरसिंह मेहता का जो पद अनेक बार गाते हैं उसमें सर्वप्रथम बात यही तो बताई गई है कि 'परदुःखे उपकार करे तोये मन अभिमान न आणे रे।' अर्थात् दूसरे के दुःख में उसकी सहायता करने पर भी जो अपने मन में अभिमान न लाये वही वैष्णवजन है। हममें कई ऐसे हैं जिनके गले में तुलसी की माला है। हम लोग वैष्णव जन्मे हुए हैं। हमारा धर्म है कि औरों के दुःख में हम दुःखी हों। औरों के दुःख से दुःखी होने के अतिरिक्त हम और कुछ भी नहीं कर सकते। गैरों का क्या अपने सगे भाई का दुःख भी दूर करना हमारे हाथ की बात नहीं होती। दुःख तो ईश्वर ही दूर करता है। जो बात ईश्वर करता है, जिसमें हम तिलमात्र भी कमी वेशी नहीं कर पाते उसके बारे में हम अभिमान से क्यों फूलें? भरतजी जाकर नंदीग्राम में क्यों रहे थे? अयोध्या में उनके लिए क्या कष्ट था? वहां सब प्रकार से आराम ही तो था। फिर भी जब राम वनवास के दुःखों को भोग रहे हों

तब भरत से किस प्रकार सुख की सेज पर सोया जा सकता था ? हमारे मन में जरा-सी भी शंका पैदा हो, दुःख से भागने की तरंगें उठ खड़ी हों, तो ये सारी बातें जो नित्यप्रति हम लोग रामायण में पढ़ते रहे हैं, और भजनों में अलापते रहे हैं उनपर गौर करना चाहिए। उन वचनों में क्या उद्देश्य छिपा है यह खोजते रहना चाहिए। ऐसा करने पर राम हमारी सहायता के लिए दौड़ आयगा और हमारे हृदय में बस जायगा। अन्तर में अत्यधिक बल प्राप्त होगा और उसी शक्ति के सहारे गैरों के दुःखों के लिए प्रसन्न-वदन से मरने में भी तुम अपने कदम को पीछे नहीं हटाओगे।"

इसके बाद बापूजी ने पूज्य बा और मेरी माताजी आदि को संबोधित करते हुए कहा :

"तुम बालकों को छोड़कर जा रही हो, उनकी संभाल ईश्वर करेगा। तुम उनकी कुछ भी चिन्ता न करना। वहां जेल में बैठे-बैठे रामनाम का जाप करते रहना और प्रसन्न रहकर अपने कर्त्तव्य का पालन करना बस होगा। बच्चे यहां पर खुश रहेंगे। बस अब पहले 'वैष्णव जन' और बाद में 'सुख दुःख मनमां न आणीए' वाला भजन हम सब मिलकर गा लें और फिर चलें।"

मेरी माताजी ने भजन का प्रारम्भ किया। उनका अनुसरण पच्चीस-तीस लोगों ने किया, परंतु किसी की कंठ-ध्वनि खुलकर नहीं निकल रही थी। सब गद्गद हो उठे थे। प्रार्थना-खंड का सारा वातावरण करुण-गंभीर कंपन से भर गया। दोनों भजन समाप्त होने पर बापूजी ने अंतिम आदेश दिया :

"इन दोनों भजनों को अपने पाथेय के रूप में अपने साथ रख लो, इनका स्मरण करते रहना और इनके अर्थ को समझकर उसके अनुसार चलना।"

कुछ क्षणों के लिए सर्वत्र शांति फैल गई। कोई एक-दूसरे की ओर आंख उठाकर देखता तक नहीं था, मानो सभी व्यक्ति अपने अंतस्तल की गहराई में गोता लगा रहे थे। कई वीरों की —योद्धाओं की—आंखों में आंसू दिखाई दिये। मुझ-जैसा बालक ऐसे समय माताओं की मंडली की ओर देखे यह स्वाभाविक था। मैंने देखा कि पूज्य कस्तूर बा और अन्य माताएं बड़ी कठिनाई से अपने आंसुओं को रोक रही थीं।

थोड़ी देर में सब उठ खड़े हुए और चंद मिनटों के बाद सब 'सत्याग्रही योद्धा' और [illegible] में रहने वाले व्यक्ति भी स्टेशन के लिए रवाना

हो गए। रुकने वालों में उल्लेखनीय दो ही व्यक्ति थे—बापूजी और मगन-काका। सत्याग्रहियों की पहली टोली में सोलह वीरों के नाम ये थे :

महिलाएं—१. पूज्य कस्तूर बा, २. श्री काशीबहन गांधी (लेखक की माता), ३. श्री संतोक बहन गांधी (लेखक की काकी), ४. श्री जयकुंवर बहन।

पुरुष—१. श्री पारसी रुस्तमजी सेठ (डरबन शहर के प्रसिद्ध व्यापारी और बापूजी के घनिष्ठ मित्र व सहयोगी), २. श्री छगनलाल खुशहालचंद गांधी (लेखक के पिता), ३. श्री रावजी भाई मणिभाई पटेल, ४. श्री मगन-भाई हरिभाई पटेल, ५. श्री सोलोमन, ६. श्री गोविंद स्वामी राजू।

कुमार—१. श्री शिवपूजनसहाय बद्री, २. श्री राजू गोविन्दु।

अठारह वर्ष से कम आयु के किशोर—१. श्री रामदास गांधी (बापूजी के तृतीय पुत्र), २. श्री रेवाशंकर रतनशी सोढा, ३. श्री कुप्पू-स्वामी मुदलियार, ४. श्री गोकलदास हसराज।

सोलह वीरों की इस टोली के बाद फीनिक्स से सत्याग्रह के लिए और भी एक-दो टोलियों के जाने की योजना थी। परंतु उस दिन अनुमान यह था कि फीनिक्स में ही नहीं, दक्षिण अफ्रीका-भर में सत्याग्रहियों का यही जत्था सबसे बड़ा होगा और सत्याग्रह के तीसरी बार के संघर्ष का मुख्य उत्तरदायित्व इन्हीं वीरों के सिर रहेगा। हममें से किसी को कल्पना नहीं थी कि इस प्रयाण द्वारा किसी विशाल और भव्य युद्ध का सूत्रपात हो रहा है।

: ५० :

प्रथम टोली की गिरफ्तारी

दक्षिण अफ्रीका में 'कानूनभंग' शब्द के पहले 'सविनय' विशेषण जोड़ने की प्रथा नहीं चली थी, फिर भी बापूजी ने जोर दिया था कि सत्या-ग्रहियों की ओर से कोई ऐसा आचरण न हो, जिससे नैतिक दृष्टि से वहां की गोरी जनता के दिल को ठेस लगे। वह चाहते थे कि सत्याग्रहियों की सज्जनता व शालीनता तनिक भी कम न हो और फिर भी विरोधभावना का प्रदर्शन इतना जोरदार हो कि सरकार चैन न ले सके।

दूसरी ओर, स्मट्स सरकार नहीं चाहती थी कि सत्याग्रह के मामले को लेकर भारत में, इंग्लैंड में और संसार में शोर मचे। स्मट्स-सरकार स्वयं महसूस करती थी कि भारतीयों के साथ उसका व्यवहार न्यायोचित नहीं है, लेकिन उसके मन में आशा बंधी हुई थी कि चतुराई से वह अपनी मनमानी कर सकेगी।

सत्याग्रहियों के उत्साह को कुचलने के लिए स्मट्स-सरकार ने एक नई नीति का अवलम्बन किया। बिना विशेष अनुमति-पत्र के कोई भारतीय नेटाल से ट्रान्सवाल में प्रवेश करे तो वह कानून का भंग माना जाता था और उस अपराध के लिए तीन से छः महीने तक का कारावास दण्ड दिया जाता था। अब उसने बापूजी, रुस्तमजी सेठ आदि नेता और धनीमानी व्यक्तियों को इस अपराध पर गिरफ्तार न करने की नीति अपनाई, ताकि बड़े लोगों को जेल से बाहर रखकर दूसरे लोगों का उत्साह ठंडा किया जा सके। इस हालत में फीनिक्स से चले हुए सत्याग्रहियों के सामने प्रश्न था कि जब वे नेटाल से ट्रान्सवाल में प्रवेश करेंगे तब यदि सरकार पकड़ेगी ही नहीं तो फिर सत्याग्रह आगे कैसे चलेगा?

बापूजी इस प्रथम मोर्चे को इतना पवित्र और सुदृढ़ बनाना चाहते थे कि उन्होंने कार्यारम्भ से पूर्व ही अखबारों में उसकी प्रसिद्धि नहीं होने दी। फीनिक्सवासियों के अतिरिक्त डरबन और जोहान्सबर्ग के कुछ मंजे हुए सत्याग्रहियों को ही उन्होंने सत्याग्रह के लिए तत्पर रहने की सूचना दी थी। सत्याग्रह का श्रीगणेश पुनः कब और कैसे होगा इसका पता फीनिक्स से बाहर मुश्किल से दो-चार उन व्यक्तियों को दिया गया था जो आश्रम-जी घुवन से अत्यधिकले-मिले हुए थे।

ट्रान्सवाल की सरहद पर सरकारी अफसर फीनिक्स के इन सत्याग्रहियों के साथ विशेष रूप से पेश न आयें, साधारण भारतीय के समान ही उन सबसे व्यवहार करें इस हेतु से बापूजी ने फीनिक्सवासियों को ट्रान्सवाल में प्रवेश करते समय अपना पूरा परिचय न देने की सूचना दी थी। यहां तक कि अपना प्रचलित नाम बदल देने के लिए भी कहा था। इसके अनुसार पूज्य बा को अपना नाम 'श्रीमती गांधी' न बताकर 'कस्तूर बहन', 'पारसी रुस्तमजी' को केवल 'रुस्तम' और मेरे पिता को 'सी० के० गांधी' के बदले केवल 'छगनलाल' बताना था। रामदासकाका को पिता का नाम न बताने तथा 'गांधी' शब्द का प्रयोग न करने और मेरी माता व काकी को भी केवल अपना नाम देकर मौन रहने तथा 'गांधी' के साथ अपना रिश्ता प्रकट न करने का निर्देश दिया गया था। किशोर सत्याग्रहियों में रेवाशंकर सोढा नाम का जो लड़का इस टोली में जा रहा था, उसको भी

बापूजी ने आदेश दिया कि वह 'सोढा' नाम का प्रयोग न करे क्योंकि उसके पिता श्रीरतनसी सोढा ट्रान्सवाल के ख्यातनामा सत्याग्रही थे और उसकी माता ने भी देश-सेवा के काम में प्रसिद्धि पाई थी। सार यह कि गिरफ्तारी और जेल की सजा हो जाने तक फीनिक्सवासियों को अज्ञात रहने की पूरी-पूरी कोशिश करनी थी।

फीनिक्स आश्रम से जब मंडली स्टेशन के लिए चली और रास्ते में बातचीत में किसी ने कहा कि "इस तरह अपना नाम छिपाना असत्य नहीं कहलाएगा? सत्याग्रही को इस प्रकार झूठ बोलना चाहिए? और बापूजी स्वयं इस प्रकार झूठ बोलने के लिए किस प्रकार कह रहे हैं?"

जब बापूजी के कानों तक यह बात पहुंची तो उन्होंने समझाया:

"वह झूठ नहीं है। झूठ का मतलब है, 'जो नहीं है वह कहना।' जो है सो न कहना कोई झूठ नहीं है। यदि मैं अमुक बात को जानता हूं या बताना नहीं चाहता, तो मैं हरगिज नहीं बताऊंगा। चाहे कोई मुझे डराए, धमकाए, या मार डाले। मैं यह नहीं कहूंगा कि मैं 'जानता नहीं हूं', परन्तु यह कहूंगा कि 'मैं जानता तो हूं, पर बताऊंगा नहीं। अगर वह भी कहना मैं उचित नहीं समझूंगा तो कह दूंगा 'मैं यह बताने को तैयार नहीं कि मैं जानता हूं या नहीं जानता।'

"अतः यदि हम अपना आधा ही नाम बताएं तो उसमें जरा भी झूठ नहीं है।"

स्टेशन पहुंचने में थोड़ा-सा रास्ता बाकी रहा तब पूज्य कस्तूर बा और मेरी मां ने देवदासकाका को और मुझे अपने पास बुलाकर बड़ी वत्सलता से सीख दी। उन्होंने हमें अपने से छोटे बच्चों को माताओं के बिना दुःखी न होने देने के लिए हमारा कर्त्तव्य समझाया। देवदासकाका से मेरी माता ने विशेष रूप से कहा: "प्रभु को अपना छोटा भाई बनाकर रखना और जब-जब उसकी भूल हो, उसे नसीहत देना।" माताओं की सीख हम दोनों ने चुपचाप अपने कानों में भर ली और फिर दौड़कर निकल गए।

कोई घंटे-डेढ़-घंटे में सब स्टेशन पहुंचे। बापूजी सबसे बाद पहुंचे। स्टेशन पर पहुंचकर वह पूज्य बा के साथ बातचीत करने लगे। पंद्रह-बीस मिनट के बाद रेलगाड़ी आ गई। उसकी आवाज के साथ मेरे दिल में हलचल-सी मच गई। अपनी टोली से अलग होकर जल्दी से मैं अपनी माताजी और पिताजी के पास पहुंचा; दोनों को नजर-भर के देखने लगा और पल-भर के लिए मन-ही-मन कांप उठा। बिजली की तरह मन में विचार दौड़ गया कि "माता-पिता दोनों ही जेल जा रहे हैं, दुबारा शायद

इनसे मिलना भी न हो। क्या मैं अकेला हो जाऊंगा? ऐसी हालत में छोटे भाई कृष्णदास का क्या होगा?" पर यह विचार क्षणिक ही रहा। ट्रेन रुकने वाली नहीं थी। चटपट मैंने अपने माता-पिता के पैर छुए, दूसरे बड़ों के भी पैर छुए और जाकर बापूजी की बगल में खड़ा हो गया।

दक्षिण अफ्रीका की रेलगाड़ी में गोरे लोगों के लिए अलग और काले लोगों के लिए तीसरे दर्जे में भी अलग डिब्बे रहते थे। काले लोगों के डिब्बों में बहुत भीड़ थी। फिर भी सोलह सत्याग्रहियों में से जितने सवार हो सकते थे उन्हीं डिब्बों में सवार हो गए। प्लेटफार्म पर बहुत-सा सामान पड़ा रहा और तीन-चार लोगों को जगह मिली ही नहीं। तब रेवाशंकर, सोलोमन और कुप्पूस्वामी ने मिलकर साहस के साथ गोरों के लिए सुरक्षित रखे गए एक डिब्बे को खोल लिया और वे उसमें सवार हो गए।

यह डिब्बा इंजन से सटा हुआ था, इस कारण ड्राइवर का ध्यान एकदम उस ओर गया और उसके पुकारने पर गार्ड भी वहां आ पहुंचा। दोनों ने मिलकर हमारी टोली के लोगों को डांटना-डपटना शुरू किया। उन्होंने रेवाशंकर आदि को हाथ पकड़कर डिब्बे से नीचे उतारने की कोशिश की, परन्तु फीनिक्स के विद्यार्थी कमजोर शरीर के नहीं थे। वे डटे रहे। सामान बाहर फेंकने का और जो सामान नीचे से ऊपर दिया जा रहा था उसे रोकने का भी उन्होंने प्रयत्न किया। गरजकर उन्होंने कहा, "देखते नहीं, यह डिब्बा तुम्हारे लिए नहीं है?" ड्राइवर और गार्ड को क्या पता था कि ये साधारण काले कुली लोग नहीं हैं, मौत के साथ जूझने के लिए प्रयाण करने वाले सत्याग्रही हैं। हमारे वीरों ने बहुत शांति से उस डिब्बे में जमकर स्थान ले लिया और अन्दर से दरवाजा बन्द करके गार्ड से कह दिया कि "और कहीं जगह नहीं है, इसलिए हम यहां पर सवार हुए हैं, अब तुम चाहे कुछ भी करो, हम उतरनेवाले नहीं हैं।" देर तक गाड़ी रोकी नहीं जा सकती थी। इसलिए ड्राइवर व गार्ड ने गाड़ी छोड़ दी, पर रेवाशंकर आदि से कहा, "अगले स्टेशन पर उन्हें देख लेंगे।"

बा आदि के प्रस्थान के समाचार दो दिन बाद बापूजी ने मणिलाल-काका को पत्र द्वारा जोहान्सबर्ग लिख भेजे। मणिलालकाका भी जेल जाने के लिए अधीर हो रहे थे। योजना यह थी कि फीनिक्स का पहला जत्था गिरफ्तार हो उसके बाद तुरन्त ही जोहान्सबर्ग से एक दूसरा जत्था ट्रान्सवाल की सरहद पर सत्याग्रह के लिए पहुंच जाय। पूज्य बा को विदा देने के बाद बापूजी ने मणिलालकाका के नाम जो पत्र भेजे थे, उनमें से दो पत्रों के कुछ अंश इस प्रकार हैं:

बुधवार, १८ सितम्बर, १९१३

चि० मणिलाल,

....वा आदि सब सोमवार के दिन बड़ी हिम्मत के साथ चढ़े हैं।....

तमोगुण के अतिरिक्त रजोगुण और सत्वगुण। तमोगुण से मनुष्य अंध अज्ञान और अहदी रहता है। रजोगुण से मनुष्य अविचारी और दुःसाहसी तथा सांसारिक कार्यों में उत्साही रहता है। यूरोप की प्रजा में रजोगुण की प्रधानता है। हम लोगों की भी बहुत-सी प्रवृत्तियां रजोगुण-वाली हैं। सत्वगुण वाले शांत, धीर और विचारवान होते हैं। वे दुनिया की झंझटों में पड़ते नहीं हैं, और हर समय अपने मन को ईश्वर में लगाये रहते हैं। इस सात्विक वृत्ति को Soothfastness कहा गया, यह ठीक ही है। 'सूदफास्ट' का मतलब है शांत। ness लगने पर वह संज्ञा बन गया याने शांति। शांत वृत्ति में ही आत्मदर्शन हो सकता है। और जिस वृत्ति के द्वारा आत्मदर्शन होने की संभावना हो, वह है सात्विक वृत्ति। परमात्मा त्रिगुणातीत के रूप में तो कुछ भी प्रवृत्ति—बुरी या भली—करता नहीं है। किन्तु माया चैतन्यरूप से रहती है। उसने तीनों गुणों को अतीत कर रखा है। परन्तु जब अर्जुन को ज्ञान देने की प्रवृत्ति का काम करे तब वह सात्विक वृत्ति है और प्रवृत्तिमात्र झंझट है। इसलिए उसे सत्वगुण की झंझटवाला स्वरूप कहा गया।

गुरुवार, १९ सितम्बर, १९१३

चि० मणिलाल,

....वा आदि वालक्रस्ट में गिरफ्तार हो गए हैं। कल वे लोग अदालत में पेश होने वाले थे। परन्तु क्या हुआ, मैं इस बात के तार की प्रतीक्षा में हूं। तुमको वह समाचार देना था, पर आया नहीं है।

तुम ज्यों निराश होओगे, मैं अधिक दुःखी होऊंगा। तुमको जो वचन दिया है उससे मैं हटा नहीं हूं। मैंने महत्व का परिवर्तन नहीं किया है। मैं आत्मा को प्रसन्न करके दुःखी नहीं होऊंगा, व्रतों से मैं दुःखी नहीं होता, सुखी होता हूं। इसमें तुम दुःख मानो यह अज्ञान है। मुझे दुःख तो तुम्हारे दुर्वर्तन से ही होगा। मेरे सुख-दुःख का आधार तुम्हारे आचरण पर ही है मैं क्या करता हूं इसको सोचते रहने से तुम मेरा दुःख नहीं हरोगे। तुमको क्या करना चाहिए इसका विचार करने से तुम मुझे सुखी बना सकोगे।

: ५१ :

जन्मभूमि-व्रत

दुखियानो विसामणो रे, माडी तारी झूंपडी,
रण वगडानो छांयो रे, माडी तारी झूंपडी।
नन्दनवन शी वहाली रे, अमने तारी झूंपडी,
जन्मभूमि-व्रत पाळी रे, शाणगारीशुं झूंपडी।

(हे मां, तेरी झोंपड़ी दुखीजनों को आसरा देने वाली है; ऊजड़ प्रदेश में तेरी झोंपड़ी छाया देने वाली है। हम लोगों को तेरी यह झोंपड़ी नन्दन-वन-जैसी प्यारी लगती है। हम जन्मभूमि-व्रत का पालन करके तेरी झोंपड़ी की शोभा बढ़ायेंगे।)

'वन्देमातरम्' गीत हम लोग फीनिक्स में किसी खास मौके पर गाते थे। हरेक सभा में वह अवश्य गाया जाय ऐसा आग्रह तब नहीं था। प्रति-दिन की प्रार्थना के भजन प्रायः धार्मिक ही हुआ करते थे। एक-दो गीत ऐसे थे जिनके द्वारा अपनी मातृभूमि के प्रति हमारे दिलों में ममता और सेवा के भाव जगते थे। फीनिक्स में गुजरातियों की संख्या अधिक थी इसलिए स्वभावतः गुजराती गीत अधिक रहते थे। ऐसे गीतों में 'दुखियानो विसामणो' हम लोगों को अनेक बार गद्गद कर देता था। इसका रचयिता एक होनहार युवक था जो अपने देश-सेवा के अरमान अधूरे छोड़कर भरी जवानी में ही चल बसा था। बापूजी कहा करते थे कि उसकी इच्छा पूरी करने का कर्त्तव्य अब उसके रचे गीत को गाने वालों पर है।

सत्याग्रह का श्रीगणेश घर के आंगन से यानी फीनिक्स स्टेशन से ही हुआ, यह देखकर हम लोग खुश होते हुए घर लौटे। शाम की प्रार्थना के समय बापूजी के चारों ओर हम सब बालक बैठ गए। प्रार्थना पूरी होने पर बापूजी की सूचना से मगनकाका, देवदासकाका और मैंने मिलकर ऊपर वाला भजन गया। जैसे-जैसे गाना आगे बढ़ता गया, हमारे मन के भाव अधिक आर्द्र होते गए। भजन की समाप्ति पर बापूजी ने दीर्घ निःश्वास छोड़ा और धीरे से बोले :

"नन्दनवन शी वहाली रे,
अमने तारी झूंपडी।
जन्मभूमि-व्रत पाळी रे,
शाणगारीशुं झूंपडी।।"

और फिर उन्होंने देवदासकाका से और मुझसे इन पंक्तियों का शब्दशः अर्थ करवाया। अन्त में पूछा, "बोलो, जन्मभूमि-व्रत का अर्थ जानते हो न ?"

हम कुछ नहीं बोल सके, तब बापूजी का प्रवचन शुरू हुआ :

"उस व्रत के पालन करने का मतलब है, अपने दुःखी भाई-बहनों की सेवा करना—जो दुःखी हों, उनके लिए कुछ-न-कुछ दुःख हमें खुद उठाना। क्यों यह ठीक समझ में आती है न ?"

हमने हां भरी, तो बापूजी ने कहा :

"तब कहो, जो जेल गये हैं उनके लिए तुम क्या करोगे ? मां-बाप, भाई-बहन जेल में जायं तब हम मौज उड़ायें यह उचित है क्या ? उन लोगों को जेल में जब उबला हुआ और कूड़े का-सा खाना मिले, घी न मिले, दूध न मिले, तब हम लोग यहां पर मिष्टान्न तो खा ही नहीं सकते हैं न ? मैं तो तुम सब से इतना चाहता हूं कि तुम सभी बालक अलोना शुरू करो। हमारे बगीचों में ढेर-के-ढेर फल होते हैं। इसके अलावा हम रोटी लें, यह बहुत काफी समझना चाहिए। जेल में तो उन लोगों को इतना भी नसीब न होगा। बोलो, मेरी बात मंजूर है ?"

बापूजी की यह बड़ी अजीब बात थी कि अलोने का व्रत वह चार-पांच वर्ष की आयु के बच्चों से भी लिवाना चाहते थे और फिर उसे कोरे अनुशासन के रूप में बच्चों पर लादना नहीं चाहते थे, उन्हें समझा-बुझाकर और उनका हार्दिक संकल्प पक्का कराकर सामूहिक रूप से अमल में लाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने केशू, कृष्ण, नवीन, शांति, छोटम आदि प्रत्येक बच्चे से व्यक्तिगत रूप से चर्चा की। तरह-तरह के फलों, मुरब्बों आदि का नाम ले-लेकर बच्चों को ललचाया और जब देखा कि बच्चे नमक छोड़ने में संकोच करते हैं तब कहा कि "मिर्च-मसालेदार चटपटा शाक, कढ़ी, खिचड़ी आदि नमकीन भोजन हर रविवार को मिल जाया करेगा और सप्ताह में छः दिन ही अलोना रहेगा। फिर तो शुरू करोगे अलोना ?"

रविवार को अपवाद मिल जाने पर सभी बच्चे उत्साह में आ गए। प्रायः आध घंटे तक उस दिन बापूजी ने बच्चों के साथ मनोविनोद किया और हंसी-खुशी का ऐसा प्रवाह बहाया कि प्रत्येक बालक ने अलोने आहार की उनकी बात कबूल कर ली। छोटे बच्चों के बाद बापूजी ने मुझसे और देवदासकाका से भी अलोने के लिए पूछा। हम तो तैयार थे ही। फौरन वह नियम हम दोनों ने स्वीकार कर लिया। परंतु अलोने की बात निश्चित होते ही बापूजी ने हमारे सामने एक नया और कठिन प्रस्ताव रख दिया :

"क्यों देवा (देवदास)! कल सुबह से चार बजे उठा दूं न? अब हमें कठोर जीवन बिताने का आरंभ कर देना चाहिए।"

इस वाक्य को सुनते ही हम डर गए। चार बजे उठने के नियम का पालन करना किसी भी तरह हमारे बूते नहीं था। चार बजे उठने के बदले चाहे कितना ही कठिन काम बापूजी बताएं, हम करने को तैयार थे। देवदासकाका ने बात टाल देने की बड़ी कोशिश की, परंतु बापूजी मानने वाले कहां थे? जब देवदासकाका ने हां भरने में विलंब किया तो बापूजी ने मुझ पर जोर डाला।

मेरे लिए चार बजे उठना कठिन नहीं था। परंतु रोज सवेरे नियम-पूर्वक चार बजे बिस्तर छोड़ देना मुझे मुश्किल मालूम दिया। इसलिए मैंने उत्तर दिया: "उठूंगा तो सही, परंतु नियम-पूर्वक नहीं उठ पाऊंगा।"

बापूजी ने देखा कि हमारे मन की कायरता दूर हो ही नहीं रही है, तो उन्होंने दुबारा हमें समझाना शुरू किया: "अगर तुम लोग चार बजे उठना भी स्वीकार नहीं कर पाते तो फिर सबके साथ जेल जाने के लिए किस तरह तैयार हो गए थे? जेल में चार बजे उठने के मुकाबले कहीं अधिक कठिनाइयां उठानी पड़तीं।"

इस अन्तिम वाक्य ने हमें मजबूर कर दिया। चार बजे उठने की बात स्वीकार किये बिना कोई चारा ही हमारे लिए नहीं रहा, क्योंकि अपने बड़े सहपाठियों के साथ जेल जाने के लिए हम भी तत्पर हो गए थे। तेरह वर्ष से भी छोटी आयु के कारण ही देवदासकाका को और मुझको जेल-यात्रा का लाभ नहीं दिया गया था।

दूसरे दिन जब बापूजी ने मुझे चार बजे उठाया तब मैं उठ तो गया परन्तु उठने के बाद घंटों तक आंखों में नींद भरी रही। शरीर की सुस्ती के साथ मन भी उदास हो गया था। माता-पिता और सहपाठियों को विदा करके जब हम घर लौटे थे तब हमारा मन उत्साह में था; सत्याग्रह का रंग अच्छा जमेगा यह धुन हम बालकों के सिर पर भी सवार थी। परन्तु दूसरे दिन जाने कहां से मन में उदासी छा गई। फीनिक्स में रीतापन महसूस होने लगा। माता-पिता की अनुपस्थिति अखरने लगी। पाठशाला के निकट से गुजरने पर अपने जेलयात्री सहपाठियों की उछल-कूद और चहल-पहल नजर के सामने तादृश हो जाती थी और पाठ रटने की कंठ-ध्वनि मानो सतत सुनाई पड़ती थी।

फीनिक्स में आबादी थी ही कितनी? सोलह व्यक्तियों ने विदा ली, तो मानो तीन-चौथाई से भी ज्यादा फीनिक्स खाली हो गया। फीनिक्स

भर में अब पांच-सात ही बड़े रह गए थे, जो सब छापाखाने में दिन-भर काम के लिए जाते थे। तब हमारे निवासस्थान के प्रायः चौथाई मील के घेरे में चारों ओर इतना सूना रहने लगा कि छोटी-सी चिड़िया की आहट भी चौंका देने वाली लगती थी।

पहला काम बापूजी ने यह किया कि दूसरे सब घरों पर ताला डालकर सभी बालकों को अपने घर में इकट्ठा रखा। फिर हम सबको इस तरह काम में लगा दिया कि माता-पिता आदि के वियोग की याद करने का हमें अवकाश ही न मिले। कुछ ही दिन बाद बापूजी को स्वयं भी फीनिक्स छोड़कर जाना था। उनके पीछे भी हम लोग खिन्न न रहें और उत्साहपूर्वक अपने दिन वितायें इसके लिए उन्होंने बच्चों को परस्परावलंबन सिखाने पर जोर दिया।

छापाखाने के काम पर तो बापूजी ने दो-तीन वैतनिक कारीगरों को रखा था, परन्तु घरेलू काम के लिए एक भी वैतनिक कर्मचारी नहीं था। हम बालकों में मैं और देवदासकाका ग्यारह और तेरह वर्ष की आयु से कम के थे और दूसरे आठ बालक सात से तीन वर्ष के थे। इन सबकी सार-सम्हाल—खाना-पीना, स्नान, कपड़े आदि का काम करना छोटी बात नहीं थी। इस पर भी बापूजी ने नौकर या रसोइया रखने का विचार नहीं किया। बच्चों की सारी आवश्यकता बच्चे आप ही पूरी करें यही लक्ष्य उन्होंने दृढ़तापूर्वक रखा।

बच्चों की शारीरिक शक्ति और बाल-मनोवृत्ति का विचार करके बापूजी ने बच्चों की दो टोलियां बना दीं। एक टोली का नायक देवदास-काका को बनाया और दूसरी का मुझे। शरीर से अधिक मजबूत और रूठने-झगड़ने में कम ऐसे बालक मेरी टोली में और तेज मिजाज तथा अधिक छोटे बच्चे देवदासकाका की टोली में। इस प्रकार हर टोली में चार-चार के हिसाब से आये। कुल पांच-पांच बालकों की इन दोनों टोलियों में एक-एक तो इतना छोटा बच्चा था जो बोलना और चलना भी अभी मुश्किल से सीखा था। एक तश्तरी, दो चम्मच उठाकर एक कमरे से दूसरे कमरे में पहुंचा दे तो वह भी उसके हिसाब से काम की गिनती में आता था। दोनों टोलियों को एक-एक दिन की बारी से काम करना होता था। इसलिए रोज एक ही काम न होने के कारण हमारा उत्साह कायम रहता था।

बापूजी ने हमें कई काम बताये। बगीचे से फल और शाक-सब्जी तोड़कर ले आना, उन्हें छील-छीलकर तैयार करना, भोजन के समय से पहले मेज और कुर्सियों को [illegible] लगाना, चीनी मिट्टी की तश्तरियां,

कांच के गिलास आदि सजाना, कोई बड़ा व्यक्ति उपस्थित न हो तो साव-धानी से परोसना, बुहारना, कपड़े धोना, क्यारियों में पानी देना, भोजन के बाद कांच के बरतनों को साबुन से धोकर और पोंछकर व्यवस्थित रख देना, इत्यादि।

कहा जाता है कि बापूजी की अनेक बातें परस्पर-विरोधी हुआ करती थीं। वह दया के सागर थे, पर भिक्षुक के लिए चुटकी-भर आटा देने नहीं देते थे; अहिंसा के आचार्य थे, फिर भी गांवों की गलियों में मारे-मारे फिरने वाले कुत्तों को और खेती उजाड़ने वाले बन्दरों को जान से मार डालने के लिए तत्पर हो जाते थे; भंगी के घर का बच्चा भी बेपढ़ा और बुद्धिहीन रहे यह उनके लिए बहुत दुःखद था, लेकिन वह लिखने-पढ़ने के काम को बहुत गौण वस्तु मानते थे! भय या लालच दिखाकर किसी से काम लिया जाय इसके वह बड़े विरोधी थे। इस बात में भी वह कम विश्वास नहीं रखते थे कि बच्चों को औरों के सामने अपमानित या तिरस्कृत न किया जाय; न उनसे कोई बात बना-बनाकर कही जाय। लेकिन यह सब होते हुए भी स्वस्थ स्पर्धा की वृत्ति को वह पूरा-पूरा पोषण देते थे। तैरने, दौड़ने आदि के मर्दाने खेलों में स्पर्धा को वह बड़ा प्रोत्साहन देते थे। इसी प्रकार कामकाज करने में स्पर्धा—होड़ का वातावरण पैदा करके बापू-जी ने छोटे-छोटे बच्चों से भी भरपूर काम लिया। जो काम घंटे-पौन घंटे में पूरा होने वाला हो स्पर्धा की रचना करके वह पन्द्रह-बीस मिनट में ही पूरा करा देते थे। बालकों का भोजन समाप्त होने के बाद वह स्वयं भोजन के लिए बैठते थे। उनका भोजन आधा भी पूरा न हो पाता कि हम लोग चौका-बरतन तथा झाड़ू-पानी पूरा करके उनके सामने उपस्थित हो जाते थे। उनसे प्राप्त होने वाला शाबाशी का एक शब्द या, उनकी जरा-सी मुस्कान ही हमें उत्साह से भर देती थी।

हमारे बीच में उनकी उपस्थिति का, उनके प्रोत्साहन का और पग-पग पर उनके विनोद का ऐसा जादू भरा असर होता था कि अपने काम में पीछे और सदैव शिथिल रहने वाला बच्चा भी उमंग में भरकर अपनी कर्त्तव्य-शक्ति को आप ही बढाने पर तुल जाता था। और, जो आगे निकल जाता था, वह अपने कमजोर साथी को चुपचाप सहारा देने लग जाता था। यदि कोई टोली अपना काम पहले पूरा कर लेती तो वह दूसरी टोली का काम पूरा कराने में हाथ बटाती थी और फिर सब मिलकर बापूजी के पास खेलने के लिए पहुंच जाते थे।

गृहकार्य के लिए यदि बापूजी नौकर की व्यवस्था कर देते तो अवश्य ही हम बच्चों को अपने माता-पिता आदि का बिछोह बहुत अखरता।

इस प्रकार पूरा एक सप्ताह भी नहीं बीता होगा कि बापूजी ने फीनिक्स की सारी प्रवृत्तियों का पुनस्संगठन कर दिया। वैसे फीनिक्स खाली-सा हो गया था, लेकिन उन्होंने उसमें पर्याप्त ऊष्मा पैदा कर दी। हमारे दिन उत्साह से बीतने लगे।

: ५२ :

सत्याग्रहियों की तपस्या और बापू का चिंतन

कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्तेः न शक्यते धैर्य गुणप्रमार्ष्टुम्।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्नेः नाधः शिखा याति कदाचिदेव॥

(धैर्य को जिसने अपनाया है उसको चाहे कितना ही उत्पीड़ित क्यों न किया जाय, उसका धैर्य मिटाया नहीं जा सकता। अग्नि को उठाकर उलटे मुंह कर दिया जाय तो भी उसकी लपटें नीचे की ओर हरगिज़ नहीं जायगी।)

ट्रान्सवाल की सरहद पर फीनिक्स-सत्याग्रहियों की टोली के गिरफ्तार होने के बाद उन पर क्या-क्या बीती, इसके समाचार पांच-सात दिन बाद आए।

वालक्रस्ट के स्टेशन पर सबको रेलगाड़ी से नीचे उतार लिया गया। वहां के गोरे अफसरों को इस टोली के बारे में कुतूहल पैदा हो गया था। सब सत्याग्रही एक ही ढंग से पेश आते थे यह उनके लिए अचम्भे की बात थी। ट्रान्सवाल में प्रवेश पाने के वास्ते अनुमति-पत्र प्राप्त करने के लिए समझाने पर भी अधिकारी लोग एक भी व्यक्ति को तैयार नहीं कर पाए। तब उन्हें पुलिस के द्वारा वालक्रस्ट कस्बे से कुछ आध-पौन मील दूर, वाल नदी की पुलिया के उस पार भिजवा दिया गया। वे सब निर्विरोध चले भी गए। ट्रान्सवाल की हद से नेटाल की हद में इन सत्याग्रहियों को पहुंचाने के बाद ज्योंही पुलिस ट्रान्सवाल की हद में लौटी, ये सत्याग्रही भी वाल नदी की पुलिया पार करके दुबारा वहां दाखिल हो गए। तब पुलिस ने उन सबको गिरफ्तार कर लिया, हवालात में रखा और यथासमय अदालत में पेश किया। मैजिस्ट्रेट ने सबके नाम पूछे तो मेरे पिताजी ने दुभाषिए का काम किया, सबके नाम लिखवाए और सबकी ओर से अपराध स्वीकार

किया। साथ-साथ यह भी बता दिया कि हम लोग अपना बचाव करना नहीं चाहते। मैजिस्ट्रेट ने सबको तीन-तीन महीने की कड़ी कैद की सजा सुना दी। इस प्रकार सोलहों सत्याग्रही सरकारी अतिथि बन गए।

जेल में पहुंचने पर वहां के अधिकारियों ने जब पूज्य बा आदि को शिनाख्त लिखने के लिए बुलाया तब बड़ी विनोदपूर्ण बात हुई। महिलाओं में जयकुंवर बहन ग्रेजुएट थीं और भलीभांति अंग्रेजी बोल सकती थीं; परन्तु सभी ने अपनी मातृभाषा गुजराती और राष्ट्रभाषा हिन्दी के अतिरिक्त किसी भाषा में न बोलने का आग्रह रखा। तब हारकर जेलवालों ने मेरे पिताजी को दुभाषिए के काम के लिए बुलाया।

जेल के क्लर्क ने पूज्य बा की ओर इशारा करके पिताजी से कहा—यह जो पहले खड़ी हैं, उनसे नाम पूछो।

पिताजी (पूज्य बा से गुजराती में)—कृष्ण-भवन की पहली रात कैसी बीती?

बा—अंधेरा होने पर भजन करके हम लोग आराम से सो गईं।

पिताजी (क्लर्क से अंग्रेजी में)—इनका नाम कस्तूर बाई है।

बेचारा क्लर्क इस नाम के हिज्जे न कर सका, तब आखिर पिताजी ने ही वह नाम लिख दिया।

क्लर्क—क्या वह विवाहित हैं?

पिताजी (पूज्य बा से)—रात को ब्यालू की थी?

बा—मुझे तो फल चाहिए। इन सबने साग-रोटी सूंघकर रख दी। बरतन भी तो गन्दे और घिनौने थे!

पिताजी (क्लर्क से)—वह विवाहित हैं और उनसे पति का नाम मोहनदास करमचन्द है।

इसके बाद आयु, जाति, वेतन आदि के सवाल एक-एक करके चारों महिलाओं से पूछे गए और पिताजी ने उसका लाभ लेकर अन्दर की सारी जानकारी प्राप्त की तथा बाहर की जानकारी बता दी। पिताजी ने पूज्य बा को बता दिया कि फलाहार के लिए हनुमानजी (कैलनबैक) वालक्रस्ट में आ पहुंचे हैं और जेलर से मिलकर फल पहुंचाने की तजवीज में लगे हैं। उन्होंने यह सूचित किया कि प्रार्थना के भजन जोरों से गाने की मांग रुस्तमजीकाका ने की है, क्योंकि केवल एक ही दीवार सत्याग्रही भाई-बहनों के बीच थी।

वालक्रस्ट जेल की सुविधा चार-पांच दिन तक ही रही। फिर सबको नेटाल प्रान्त की राजधानी मारित्सबर्ग की जेल में भेज दिया गया। वाल-

क्स्ट से तो श्री कैलनबैक के पत्रों से समाचार फीनिक्स पहुंच जाते थे; परन्तु मारित्सबर्ग से कई दिन बाद जेलवासियों के अधूरे समाचार मिले।

मुख्य खबर यह थी कि मारित्सबर्ग जेल में पूज्य बा को फल नहीं दिये गए। फीनिक्स से चलते समय बापूजी के परामर्श से पूज्य बा ने यह प्रतिज्ञा ले रखी थी कि जेल में विशुद्ध फलाहार ही करना है चाहे भूखा रहना पड़े या मृत्यु हो जाय। लेकिन जेल के अधिकारी प्रतिज्ञा के गौरव को क्या समझें? उन्होंने तो उद्दंडता से कहा कि "ऐसे नखरे करने थे तो जेल में क्यों आईं?" पूज्य बा ने धैर्य रखा और शान्तिपूर्वक अनशन करती रहीं। जब दूसरा और तीसरा दिन भी बीत गया तब 'मेट्रन' कुछ ढीली पड़ी और बोली, "अगर हम लोगों को तीसरे पहर की चाय न मिले तो हमारे हाथ-पांव शिथिल पड़ जाते हैं, और दिमाग काम नहीं देता। तुम इतनी दुबली-पतली होने पर भी तीन-तीन दिन बिना खाये कैसे रह सकती हो?" साथ ही यह भी समझाती कि 'जेल में जो मांगो, वह तो खाने को मिल नहीं सकता। कृपा करके जो मिलता है, वही ले लो।' परन्तु मुसकरा देने-भर के अतिरिक्त बा और क्या उत्तर देतीं?

पांचवें दिन सरकार झुकी और बा को फलों की सुविधा दी गई। लेकिन वह सुविधा इतनी मर्यादित थी कि पूरे तीन महीने तक बा को प्रायः उपवासी ही रहना पड़ा। मेरी माताजी ने जेल से लौटकर बताया कि पूज्य बा को केवल पांच या छः केले आध पाव अमरीकी सूखे आलूबुखारे और चार कागजी नीबू ही प्रतिदिन के भोजन के लिए मिलते थे। मूंगफली या और कोई गिरी अथवा घी-तेल आदि कुछ भी नहीं दिया जाता था। दूध की तो बात ही नहीं थी। यह पूज्य बा का ही साहस था जो मारित्सबर्ग में, जहां का हवा-पानी बहुत ही आरोग्यवर्धक और सुपाच्य था, इतने कम आहार में पूरी शान्ति से दिन काटती रहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि तीन महीने तक पूज्य बा को दिन-रात भूख के दावानल में अपनी देह-यष्टि को झुलसाना पड़ा और तीन महीने बाद जब वह जेल के फाटक से बाहर आईं तो उनका शरीर कंकाल-मात्र रह गया था। उस समय उनके दर्शन करनेवालों की आंखों में पानी आए बिना न रहा।

माताजी ने दूसरी बात यह बताई कि "जेल के अन्य छोटे-मोटे कष्टों की तुलना में हमें कपड़ों का कष्ट अत्यधिक दुखदायक प्रतीत हुआ था। अफ्रीका के आदिवासी जुलू कैदियों को दिये जाने वाले फ्राक पहनने में हमें बड़ा संकोच हुआ। पांच-सात दिन तक वहां का खाना भी घिनौना लगा और जरा-जरा चखकर भोजन को हम सब अलग से सरका देती थीं। परन्तु बाद में सबकी भूख इतनी तेज हो गई कि मकई के पुपु (दलिया) को बड़ा

स्वाद आने लगा। यही नहीं, पूज्य बा के लिए आने वाले केले और नीबू के छिलके भी हमारी भूख की ज्वाला में कई बार स्वाहा हो जाते थे।

तीन सप्ताह मुश्किल से बीते होंगे कि फीनिक्स में खबर पहुंची कि पूज्य बा के जेल जाने से जोहान्सबर्ग के सत्याग्रही बहुत ही जोश में आ गए हैं। विशेषतः मद्रासी बहनें अलग-अलग टोलियों में निकल पड़ी हैं तथा वे सब जेल जाने के लिए बार-बार प्रयत्न कर रही हैं। स्थान-स्थान पर जाकर सामूहिक रूप से कानून तोड़ रही हैं। परन्तु सरकार अब और महिलाओं को गिरफ्तार नहीं करती। एक तो पूज्य बा की गिरफ्तारी से ट्रान्सवाल में ही सत्याग्रह की ज्वाला भड़क उठी थी और दूसरे भारत के अखबारों में बा के जेल जाने का प्रतिघोष बहुत जोर का हुआ था। गोखले-जी महाराज ने पूरे भारत की सहानुभूति बापूजी के सत्याग्रह आन्दोलन की ओर जगा दी थी। उधर इंग्लैंड में भी स्मट्स सरकार के इस काम को नापसन्द किया जा रहा था।

जोहान्सबर्ग से दूसरी खबर आई कि बापूजी के घनिष्ठ संपर्क में रहने वाले जोहान्सबर्ग के सत्याग्रहियों ने भी वालक्रस्ट की चौकी पर अपने को गिरफ्तार करवा लिया है। उनमें बापूजी के द्वितीय पुत्र श्री मणिलाल गांधी और श्री प्रागजी देसाई तथा श्री सुरेन्द्रनाथ मेढ़ मुख्य थे। उन लोगों को भी मारित्सबर्ग की जेल में फीनिक्स वाली टोली के साथ रख दिया गया था

एक दिन मगनकाका ने खुशखबरी सुनाई कि मेरे छोटे काका जमना-दास गांधी राजकोट से रवाना हो गए हैं तथा उनका कार्यक्रम पहले स्टीमर द्वारा पूर्वी अफ्रीका के बैरा बंदरगाह में उतर कर रेल के रास्ते दक्षिण अफ्रीका पहुचने का है। वह दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह का नया मोर्चा केप कालोनी की सरहद पर खोलेंगे।

थोड़े दिन बाद हमें खबर मिल गई कि जमनादासकाका ने शानदार सत्याग्रह किया है। उन्होंने केप कालोनी और आरेंज फ्रीस्टेट कालोनी के प्रान्तों से पांच-सात साथी जमा कर लिये हैं और अब वे सब आरेंज-कालोनी की सुन्दर नगरी किंबर्ली की, जो हीरे की खान के लिए प्रख्यात है, जेल में रखे गए हैं। बाद मे यह पता चला कि जमनादासकाका आदि पांच-छः नवयुवकों को किंबर्ली से क्रिश्चियाना नाम के सुदूरवर्त्ती गांव की जेल में भेज दिया गया है।

अन्य कई सत्याग्रहियों ने भी ट्रान्सवाल से चलकर वालक्रस्ट में अपने को गिरफ्तार करवा लिया और कारावास प्राप्त किया।

इधर फीनिक्स में बापूजी सत्याग्रह का अध्ययन, चिट्ठी-पत्री एवं

अपने 'इंडियन ओपीनियन' के द्वारा उसका संचालन करते रहे। साथ-साथ, भारत में गोखलेजी महाराज के पास भी प्रतिदिन के समाचार विस्तार-पूर्वक तार और चिट्ठी द्वारा भेजते रहे। इतना काम होने पर भी फीनिक्स के छोटे-छोटे कामों में से किसी के प्रति उदासीन नहीं हुए। कुछ-न-कुछ मजदूरी का—शरीर-श्रम का काम नित्यप्रति कर ही लेते थे। जब तक वह फीनिक्स में रहे हम बच्चों को समय से भोजन परोसने का काम उन्होंने ही किया।

परन्तु अब धीरे-धीरे वह बच्चों के साथ बातचीत में कम समय देने लगे। उनका विनोद भी कम हो गया। हम लोग अपनी छोटी-छोटी बात लेकर उनके पास पहुंच जाया करते थे। वह स्थिति अब बदलने लगी। अब उनके बदले मगनकाका हमारे दैनिक कार्यक्रम पर विशेष ध्यान देने लगे। मगनकाका के पास जाने पर ही जब हमारा काम बन जाता था तब हमें बापूजी को घेरने की आवश्यकता नहीं रहती थी। बापूजी और मगन-काका आपस में बहुत कम बातें करते दिखाई देते थे। वैसे फीनिक्स में बापू-जी ने कभी मौनव्रत लिया हो ऐसा मुझे याद नहीं पड़ता; परन्तु बिना मौनव्रत के ही इन दिनों वह प्रायः मौन रहते थे।

महादेवभाई का जैसा कोई मंत्री तब बापूजी के पास था नहीं, जो उनके मनोमंथन की बातों पर प्रकाश डालता। मैं अनुमान करता हूं कि ज्यों-ज्यों सत्याग्रह का यह दौर जोर पकड़ता गया, बापूजी अपने उत्तर-दायित्व को अधिकाधिक महसूस करते गए और सत्याग्रह की व्यापकता के साथ उसकी पवित्रता बनी रहे इसके लिए भारी चिंतन करते रहे।

इन्हीं दिनों बापू ने 'इंडियन ओपीनियन' में एक लेख लिखा था, जिस-सेउस समय की उनकी मनोदशा का परिचय मिलता है। उस लेख की कुछ पंक्तियां ये हैं :

"जो धर्म पर सच्ची आस्था वाला हो वही सत्याग्रही बन सकता है; 'मुख में राम बगल में छुरी' वाली आस्था नहीं। धर्म का नाम लेकर धर्म से उलटा काम किया जाय तो वह धर्म नहीं है। किन्तु जो धर्म, दीन और ईमान को सचाई से पालने वाला है वह ईश्वर पर ही सारी बात छोड़ देता है। उसके लिए संसार में हार-जैसी चीज होती ही नहीं। यदि लोग उसे हार बताएं तो वह हार नहीं कहलायगी और यदि लोग उसे जीत कहें तो वह जीत भी न होगी। इस रहस्य को जो जानता है सो ही जानता है।

"सत्याग्रह शब्द का अर्थ विचारने पर हम देखते हैं कि उसमें प्रथम बात सत्य के आग्रह की—सत्य के बल की होनी चाहिए। 'एक पग दही

में और दूसरा दूध में ' वाली बात इसमें नहीं चल सकती। वैसा आदमी दो पाटों के बीच कुचल ही जायगा। सत्याग्रह कोई गाजर की पिपिहरी नहीं है जो बजेगी नहीं, तो चबा ली जायगी; उसे ऐसा समझने वाला न घर का रहेगा न घाट का। शरीर-बल की कमी होने के कारण अथवा शरीर-बल के लिए मौका नहीं है यह देखकर इन्हें सत्याग्रही बनने के लिए मजबूर होना पड़ा है, ऐसा जो कहते हैं वे बिलकुल बेकार की बात कहते हैं।

"सत्याग्रही को मौत का डर छोड़कर अन्त तक जूझना होता है। उसमें शरीर-बल से भी अधिक साहस होना आवश्यक है। अर्थात् सत्याग्रही में सर्वप्रथम सत्य का सेवन और सत्य पर आस्था होना लाजिमी है।"

फलाहार के लिए पूज्य बा का और कस्ती के लिए रुस्तमजीकाका का उपवास तो शीघ्र ही सफल होगया था, परन्तु जब सत्याग्रहियों ने शुद्ध घी प्राप्त करने के लिए अनशन आरम्भ किया तब जेल से बाहर वालों की चिन्ता और मन की अशांति बहुत बढ़ गई। यद्यपि डरबन नगरी सम्पूर्ण दक्षिण अफ्रीका की श्वेतनगरी कही जाती थी और नेटाल प्रांत की राजधानी मारित्सबर्ग मानो मोतीनगर ही था, किन्तु उन दोनों स्थलों के कारागृह कालिमा और घोर उत्पीड़न के केन्द्र बने हुए थे। इसमें डरबन का कारागार और भी कुख्यात था। वहां पर विशेष रूप से कत्ल के जुर्म की सजा पाए हुए खतरनाक हब्शी कैदियों को रखा जाता था। जब सत्याग्रह संघर्ष ने बहुत जोर पकड़ा, जेलें भर गईं और मारित्सबर्ग की जेल में जगह नहीं रही तब वहां से चुन-चुनकर अधिक जोशीले सत्याग्रहियों को डरबन की जेल में लाया गया।

पूज्य बा की तरह रुस्तमजीकाका को भी अनशन करना पड़ा था। मारित्सबर्ग की जेल के फाटक में प्रवेश करते ही उनका 'कस्ती-सदरा' जब्त कर लिया गया। जेल के अधिकारियों को समझाने की बड़ी कोशिश की गई कि बिना 'कस्ती-सदरा' के पारसी लोग अपनी पूजा नहीं कर सकते और बिना पूजा के वे खाना नहीं खा सकते, परन्तु जेलवाले नहीं माने। इसलिए रुस्तमजी सेठ को अनशन के लिए मजबूर होना पड़ा। दूसरे सभी सत्याग्रहियों ने भी उनका साथ दिया। एक कर्मकांडी ब्राह्मण के लिए जो महत्व यज्ञोपवीत का होता है, वैसे ही रुस्तमजीकाका के लिए 'कस्ती-सदरा' अनिवार्य था। उनकी 'कस्ती' यज्ञोपवीत के धागे-जैसी ही थी और उसे वह कन्धे पर न डालकर कमर में बांध लिया करते थे। भोजन से पूर्व, सूर्य के सामने खड़े होकर अपना जाप करते हुए वह उस कस्ती को, अपनी अंजलि से, सूर्य के सामने ऊंची उठाया करते थे और धीरे-धीरे कमर के चारों ओर सरकाते जाते थे। 'सदरा' उनके पहनने का विशिष्ट कुर्ता था।

किसी सिख से कच्छ-कड़ा आदि छीन लिया जाय, किसी मुसलमान से वज़ू और नमाज का सामान ले लिया जाय, तो उसकी जैसी हालत होगी, वैसी ही एक पारसी से 'कस्ती सदरा' ले लेने पर होती है। फीनिक्स की सारी टोली में केवल रुस्तमजी सेठ ही पारसी थे, परन्तु उनका कष्ट सब के लिए अपना कष्ट ही महसूस हुआ, मानो एक ही शरीर के वे अभिन्न अंग थे। परन्तु जेल वालों को सत्याग्रहियों की यह मांग बेकार की धांधली प्रतीत हुई और उन्होंने कड़ाई से काम लेने का निर्णय किया।

नतीजा यह हुआ कि मेरे पिताजी और सेठजी को मारित्सबर्ग से बदलकर डरबन की जेल में भेज दिया गया, जो बहुत बदनाम जेल थी। उधर मारित्सबर्ग में भी रावजीभाई, मगनभाई आदि बड़ों को छोटे नवयुवकों से अलग कर दिया गया। परन्तु सभी जवान अनशन पर डटे रहे। जब डरबन से काकाजी को 'सदरा-कस्ती' मिल जाने की विश्वसनीय खबर उनको दी गई तब उनका अनशन समाप्त हुआ और इस प्रकार जेल में उन सबकी पहली कसौटी पूरी हुई।

इसके पहले जो सत्याग्रह ट्रान्सवाल में दो बार किया गया था उसमें गोरे लोगों की जेब पर सीधी मार नहीं होती थी। परन्तु इस बार के सत्याग्रह से नेटाल के पूंजीपतियों का बड़ा भारी आर्थिक नुकसान हो रहा था, इसलिए उनकी हमदर्दी में सरकारी गोरे हाकिम तिलमिला उठे थे।

दक्षिण अफ्रीका में जेल के सुपरिंटेंडेंट को जेल का गवर्नर कहा जाता था। डरबन का जेल-गवर्नर उन दिनों बड़ा कठोर बताया जाता था। भारतीय कैदियों को सीधा करने और उनका जोश ठंडा करने का मानो उसने संकल्प कर रखा था।

दक्षिण अफ्रीका की जेलों में मांस खाने वालों को सप्ताह में दो बार मांस दिया जाता था। जो भारतीय सत्याग्रही मांस लेना निषिद्ध मानते थे, उन्होंने ट्रान्सवाल की जेल में अनशन करके मांस के स्थान पर सप्ताह में दो दिन छटांक-छटांक-भर घी पाने की व्यवस्था जेल के कानून में पक्की कराई; किंतु ट्रान्सवाल की सरकार ने जो देना स्वीकार किया था वह नेटाल की सरकार ने देने से इनकार कर दिया। जब जेलवालों ने सत्याग्रही कैदियों की मांग पर ध्यान नहीं दिया तब फीनिक्स और जोहान्सबर्ग के वे सत्याग्रही, जो बापूजी के घनिष्ठ सम्पर्क में आये थे, घी के मसले पर अनशन करने के लिए कटिबद्ध हो गए। दूसरे सत्याग्रही भी बड़ी संख्या में अनशन में शामिल हुए। घी का मसला मुख्य था, पर साथ-साथ जेल-जीवन की और भी कई शिकायतें उन लोगों को थीं—जैसे, जूंओं से भरे हुए कम्बल, मांस की जूठन से सने हुए बरतनों में परोसा जाने वाला भोजन, अपर्याप्त

गालियां और डांट-डपट तथा सप्ताह में केवल एक वार नहाने की इजाजत और उसमें भी भारी असुविधा।

उपवास करने वालों में दो तो मणिलालकाका और रामदासकाका थे। तीन-चार दिन तक जेल के वाहर वाले हम लोगों ने धैर्य से समझौते की प्रतीक्षा की, किन्तु वात को वढ़ते हुए देखकर सव वेचैन हो उठे। इस बीच 'इंडियन ओपीनियन' में छपने के लिए रेवाशंकर सोढा और मजिस्ट्रेट के बीच का एक संवाद आया। उसे अपनी स्मृति के आधार पर नीचे दे रहा हूं :

मैजिस्ट्रेट—तुम लोगों ने यह क्या शरारत कर रखी है ? खाते क्यों नहीं ?

सोढा—जानवूझकर थोड़े ही हम शरारत कर रहे हैं। हमें घी चाहिए। वह दिलवा दीजिए, फिर खाने लगेंगे।

मैजिस्ट्रेट—घी नहीं मिलेगा। जानते हो कैद में आये हो ? जो मांगो सो कैदखाने में थोड़े ही मिल सकता है ?

सोढा—आप घी न देने में मजवूर हैं तो हम अपना उपवास छोड़ने में मजवूर हैं।

मैजिस्ट्रेट—घी नहीं मिलेगा तो कब तक उपवास करते रहोगे ?

सोढा—मर जायंगे तव तक।

मैजिस्ट्रेट—मर जाओगे तो कोई टोटा नहीं आयगा। हमारे पास दफनाने की जगह काफी है।

सोढा—तो, घी नहीं मिलेगा तव तक मरने वालों का भी टोटा नहीं पड़ेगा।

जेलखानों में पहुंचे हुए सत्याग्रहियों में उस समय सवसे छोटी आयु-वाले रामदासकाका और रेवाशंकर सोढा थे। इन दोनों को उपवासी दल से फोड़ लेने के लिए सरकारी अधिकारियों ने अपनी सारी कारगुजारी कर डाली। रेवाशंकर ने जेलवालों को ऐसे मुंह-तोड़ जवाव दिये कि उनके दांत खट्टे हो गए। उधर, रामदासकाका ने अपनी नम्रता, सरलता और दृढ़ता से जेल वालों की हर कोशिश को विफल कर दिया।

घी वाले अनशन के समय रामदासकाका की शिष्टता, साधुता और दृढ़ता का जेलवासियों पर असाधारण प्रभाव पड़ा था। लेकिन इससे भी अधिक उनके प्रति सबका आदर इस वात से वढ़ गया था, कि जेल के प्रत्येक नियम का उन्होंने बड़ी प्रामाणिकता से पालन किया था। जेल से

छूटने पर उनके जेल के साथी कहते थे कि सचमुच रामदास तो रामदास ही थे। मानो स्वयं वापू के ही प्रतिरूप हों। काम के समय सतत काम करते रहते थे। जेल-जमादार हम लोगों को काम के लिए टोकता था, परन्तु रामदास के पास वह जाता तक नहीं था; क्योंकि थक जाने पर कुदाल छोड़कर रामदास कभी बैठ नहीं जाते थे। खड़े-खड़े ही अपनी थकान थोड़ी-सी उतारकर फिर से खोदने लग जाते थे। बगीचे में से हम लोग गाजर, मूली लेकर रामदास के सामने भी रखते थे। परन्तु वह उन्हें हाथ नहीं लगाते थे और हम से स्पष्ट कह देते थे—'मुझसे कुछ मत कहो'। काम करते समय जिस तरह वह लगे रहते थे, उसी तरह कमरे में भी अपने समय का पूरा उपयोग करते थे। स्वस्थता से बैठकर पढ़ा करते थे और किसीको अपनी ओर से असुविधा न हो, इसकी सावधानी रखते थे। फीनिक्स की सारी टोली में सब से छोटे होने पर भी रामदासकाका के सामने और सब छोटे मालूम पड़ते थे। उनका विनय और उनकी टेक इतनी तेजस्वी थी।

घी के लिए किये गए उपवासों में आरम्भ में सत्याग्रहियों की बड़ी संख्या सम्मिलित हुई थी। परन्तु बाद में वह धीरे-धीरे घटती गई। चाय-बीड़ी की आदत वाले अधिक समय नहीं टिक पाए। अनशन पर दृढ़ रहने वालों में रेवाशंकर और मगनभाई पटेल बगीचे में काम करते-करते सर्वप्रथम मूर्छित हुए। परन्तु रामदासकाका उपवासों को भली-भांति सहन करते रहे।

जेल के उपवास में साधारण कैदी को आराम, स्नान, मनोविनोद आदि की कुछ भी सुविधा नहीं मिलती। हमारे सहाध्यायी जब जेल से छूटकर आये तो उन्होंने डरबन जेल के अनशन की जो कहानी सुनाई उसका संक्षेप यह है कि उपवासों का पता चलते ही जेलर और जमादार की धाक-धमकी बहुत बढ़ गई। उपवास होते हुए भी रोज हमें बगीचे में खोदने के लिए नियमपूर्वक ले जाया जाता था। संध्या को बंद होने से पूर्व हमें अपने पूरे शरीर की तलाशी देनी पड़ती थी। इस तलाशी में सभी कैदियों को दिगम्बर होकर तबतक कतार में शांतिपूर्वक खड़ा रहना पड़ता था जबतक दरोगा तलाशी पूरी न कर ले। अनशन के दिनों में इन परेडों में जेल के अधिकारी सत्याग्रही कैदियों को और भी परेशान तथा अपमानित करते थे। किसी ने अपने शरीर में कोई चीज छिपा तो नहीं रखी, यह जांचने के लिए उनको कूदने, हाथ फैलाने और मुंह खोलने के लिए विवश किया जाता था। भूखे कैदियों को इस तरह जलील करके जेल वाले उनको झुकाना चाहते थे। जेल वालोंकी इस तरह की हिमाकत से

सत्याग्रहियों का खून खौल उठता था लेकिन अपना सारा गुस्सा वे मन-ही-मन पी जाते थे। मध्याह्न में भोजन के समय जो डेढ़ घंटा दिया जाता था केवल उसी समय में वे परिश्रम से छुट्टी पाकर सो लिया करते थे। इससे बिलकुल गिर पड़ने से बच जाते थे। मूर्छित होकर गिर पड़ना और जेल के अस्पताल में भरती होना, सत्याग्रही अपनी शान के खिलाफ समझते थे। भूख हड़ताल को तुड़वाने के लिए उनके विस्तर के पास भोजन परोसा तसला रख दिया जाता था लेकिन वह रात-भर ज्यों-का-त्यों पड़ा रहता था। सत्याग्रही उसे सूंघते तक नहीं थे।

चार-पांच दिन के बाद जब कड़ी धूप में काम करते-करते भूख के मारे चक्कर खा कर रेवाशंकर गिर पड़ा तब जेलवाले घबराए और उन्होंने धूप में सत्याग्रही से कड़ाई से काम लेना कुछ कम कर दिया। रेवाशंकर को जेल के अस्पताल में पहुंचाया गया और वहां चार-पांच आदमियों ने मिल कर जबरन उसके गले में दूध डाल दिया। रेवाशंकर इस तरह दबने वाला व्यक्ति नहीं था; उसने उल्टी करके दूध निकाल दिया। जेल वाले और भी खीझ उठे। अब उन्होंने रबर की नली गले में डाल कर दूध को पम्प करके सीधे आंतों में ही पहुंचा दिया। दूध के रंग को देखकर रेवाशंकर को संदेह हुआ कि शायद उसमें अंडा भी मिलाया गया है। वह निरामिश-भोजी था, इस कारण बहुत दुखी हुआ।

तनहाई में प्रागजीभाई देसाई पर हब्शी जमादार टूट पड़ा। उसने उनको लातें लगाईं और टांग पकड़ कर पीठ के बल दस-बारह फुट तक घसीटा। अन्य सत्याग्रहियों की भी इसी तरह की हालत की गई। परन्तु बापूजी के परखे हुए वीर अपने प्रण पर दृढ़ रहे। पूरा एक सप्ताह अनशन-संघर्ष चलने के बाद सरकार ने उन्हें घी देना तथा उनकी दूसरी शिकायतों को भी दूर करना स्वीकार कर लिया। सत्याग्रह-संग्राम का अंत अभी तक कहीं नजर नहीं आ रहा था। इस बीच कारावास में होने वाली इस जीत ने सभी भारतीयों के दिल में काफी उत्साह बढ़ा दिया।

जेल के अनशन की समाप्ति की कथा जो हमारे सहपाठी कुप्पुस्वामी ने सुनाई थी वह भी बड़ी रोचक है। उसने बताया कि छः-सात दिन तक तो हम जोश-ही-जोश में भूख को सहार गए। फिर दिल में धड़कन पैदा हुई कि जाने कब तक यह कष्ट भुगतना पड़ेगा। बड़े लोग तो अलग थे, हम तीन युवक एक साथ थे। रामदासजी, जो हमारे साथ थे, वह मन से खिन्न नहीं हुए थे। हम लोग सोच-विचार में परेशान थे कि एक संध्या के समय जेलर, गवर्नर और मैजिस्ट्रेट सामने आ धमके। आते ही उन्होंने हम लोगों को जोरों से डांटना शुरू कर दिया, 'तुम, अपने मन में क्या समझते

हो ? ऐसी शैतानी करोगे तो बर्बाद हो जाओगे। भला है सरकार चुप है, याद रखना, जब वह आंखें लाल करेगी, तुम्हारी मिट्टी पलीद कर दी जायगी।" गोरे अफसरों की बात समझाने के लिए एक दुभाषिया (इन्टर-प्रेटर) भी उनके साथ कायदे से आया था। जेल में हम लोग उसे 'इन्द्रपट' कहा करते थे, उसने साहब से भी दुगने जोर से उनकी अंग्रेजी का अनुवाद हमें सुनाया और बोला, "सुनो ! साहब बोलता है, तुम नहीं खायेगा तो तुम को सजा होगा। तुम खाओ, नहीं तो सरकार तुम को बहुत सजा देगी।" इस तरह धमकाने के साथ-साथ धीरे से वह यह भी कह देता था कि घी का परवाना तो आ गया है। फिर ऊंचे से कह देता था कि "तुम को खाना ही पड़ेगा। साहब को कह दो कि हम खायंगे। मान जाओ।" अन्त में धीरे से पाद-पूर्ति करता था कि "घी का परवाना मिल गया है। फिकर मत करो।" इस प्रकार धमकी और घी की खबर एक साथ हमें मिली। हमारे मन जो ढीले होने जा रहे थे, वे फिर तन गए और साहब को हमने रोज की तरह 'इन्कार' ही सुनाया।

जब हम लोग सोने की तैयारी में थे कि दुबारा जेलर हमारे पास आया और बहुत ही भलेमानस की तरह बोला कि हमने तुम्हारी सारी बातें सरकार में भेजी थीं। तुम लोगों की कुछ मांगें तो ठीक थीं लेकिन इस तरह दंगा मचाना उचित नहीं है। खैर, मिस्टर चिमनी (एशियाई दफ्तर का अफसर) की मंजूरी आ गई है। बोलो, क्या खाओगे ? तुम जानते हो कि रसोईघर तो इस समय बन्द है। हमने उनको धन्यवाद दिया और दूसरे दिन सवेरे सबके साथ ही उपवास खोलने का निर्णय करके शांति से सोये।

हमें घी मिला और रसोईघर में हमारे प्रतिनिधि के स्वरूप श्री मेढ को भिजवाया। इसके बाद हम लोगों की थोड़ी-सी तिकड़म भी चली। जेल के बाहर के समाचार हम लोग प्राप्त करने लगे। विशेषतः तब, जब नहाने के लिए हम एक जगह इकट्ठे होते थे। नहाते-नहाते श्लोक बोलने का हमारा धर्म है इस बात पर हम अकड़ जाते थे और फिर बीच-बीच में तुकबन्दी गाते थे :

"बाहर से खबर आई। बापू-कूच बढ़ चली ॥
हड़ताली तीन हजार। घुस गये ट्रांसवाल ॥"

इन समाचारों से स्वाभाविक ही हमारा उत्साह बढ़ता था।

एक रविवार के दिन फीनिक्स में डरबन की जेल का एक बोर (डच) जमादार सा ताहिर छुट्टी मनाने आया था। वह पूरा छः साढ़े छः फुट ऊंचा

और तगड़ा था। जेल में मेरे पिताजी पर पहरा देने का उसका काम था। हम लोगों ने उसे अपने साथ भोजन कराया। बड़े चाव से उसने हमारी हिन्दुस्तानी रसोई खाई और फिर पुचकार कर मुझसे कहा कि तेरे पिता जेल में मजे में हैं। तू कुछ उनके लिए कहना चाहता है? मुझे उस आदमी से बोलने की इच्छा ही नहीं होती थी। उसके गोरे और गम्भीर मुंह को मैं ताकता ही रहा तथा मन में सोचता रहा कि यह कैसा अजीब आदमी है, जो यहां पर तो भला और मीठा बन रहा है और जेल में सत्याग्रहियों को अनशन करना पड़े, इस हद तक सताता होगा। खैर, मैंने संक्षेप में कहा, 'कह देना, हम मजे में हैं।' जाते-जाते उसने हमारे बगीचे के फल भी भर-पेट खाये और फीनिक्स के प्रति अपना आदर और स्नेह व्यक्त करके वह डरबन जेल के लिए लौट गया। जेल का जमादार भी एक प्रकार से अच्छा आदमी हो सकता है यह देखकर उस दिन से मेरे मन में यह बात बस गई कि खराब कहे जाने वाले आदमी में भी कुछ-न-कुछ अच्छाई होती ही है।

: ५३ :

सत्याग्रह की प्रगति

जब जनरल स्मट्स ने तीन पाउंड का कर रद्द करने के वचन का भंग किया तब सत्याग्रह संग्राम पुनः आरम्भ करने के विषय में बापूजी ने गोखले-जी को लिखा था। वह पूरे राजनीतिज्ञ पुरुष थे। दोनों ओर के बलाबल का अनुमान किये बिना कैसे बापूजी को झुकने की सलाह दे देते? अतः उन्होंने प्रश्न किया, "भैया, लड़ाई मोल लेने की बात सोच रहे हो, पर यह तो बताओ कि तुम्हारे संग लड़ने वाले वीर अधिक-से-अधिक और कम-से-कम कितने हैं, जो तुम्हारे साथ अंत तक टिकने वाले हों?" 'दक्षिण अफ्रीका का इतिहास' नामक पुस्तक में 'वचन-भंग' शीर्षक प्रकरण में बापूजी ने लिखा है: "मैंने गोखलेजी के पास अधिक-से-अधिक ६५ या ६६ और कम-से-कम १६ नामों की गिनती लिख भेजी थी। साथ में यह भी लिखा था कि इतने कम मनुष्यों के वास्ते में हिंदुस्तान से पैसे की सहायता की अपेक्षा न करूंगा। इसके बारे में आप निश्चित रहें और अपने स्वास्थ्य पर— जो काफी कमजोर हो गया है—अधिक बोझ न डालने की कृपा करें।"

इसी पुस्तक में बापूजी ने एक और स्थल पर लिखा है: "जो अंतिम

उपाय सोच रखा था उसे करने का निश्चय किया। वह कदम बहुत तेजस्वी साबित हुआ। मैंने सोच रखा था कि अंतिम अवसर आ जाने पर उन सबको वलि चढ़ा देना होगा जो मेरे साथ फीनिक्स में रह रहे हैं। मेरे लिए वह अंतिम त्याग था। फीनिक्स में रहने वाले मेरे निजी साथी और रिश्तेदार थे। अखबार चालू रखने के लिए आवश्यक आदमियों को और सोलह वर्ष से कम आयु वाले छोटे बालकों को छोड़कर अन्य सभी को जेल-यात्रा के लिए भेज देने की मेरी धारणा थी। इससे अधिक त्याग करने का मेरे पास और कोई साधन-सामान था ही नहीं। गोखलेजी को लिखते समय आखिरी सोलह व्यक्ति, जो मैंने अपने मन में रखे थे, यही थे।"

फीनिक्स वाले सत्याग्रही जेल में जा डटे, तो बापूजी ने ट्रान्सवाल की उन ग्यारह वीरांगनाओं का जत्था मोर्चे पर भेजा जिनको टाल्स्टाय-वाड़ी में अपने साथ रखकर उन्होंने तालीम दी थी। उनकी योग्यता बताते हुए उन्होंने लिखा है :

"बहनों को जेल में भेजने का काम बहुत ही खतरनाक था, यह मैं जानता था। फीनिक्स में रहने वाली बहनें गुजराती थीं, अर्थात् ट्रान्सवाल-वाली बहनों के समान अनुभवी और कष्ट उठाने की अभ्यस्त नहीं थीं। वे अधिकतर मेरे परिवार की थीं और केवल मेरे लिहाज के कारण ही जेल जाने को तैयार हो जायं और बाद में ऐन मौके पर कमजोर हो जायं या जेल में पहुंच कर माफी मांग लें, तो मुझे भारी आघात पहुंचने का और लड़ाई कमजोर पड़ जाने का डर था। किन्तु जो बहनें टाल्स्टाय-फार्म में मेरे साथ रही थीं वे इस सत्याग्रह में शामिल होने के लिए व्याकुल हो रही थीं। उन सबको मैंने इस लड़ाई के कष्टों के बारे में सचेत किया, परन्तु वे डरी नहीं। सब की सब बहादुर थीं; मेरे कहने पर भी किसी कदर रुकने वाली नहीं थीं। ये सभी (श्रीमती भवानीदयाल को छोड़कर) तमिल प्रदेश की थीं। उनमें छः बहनों की गोद में दूध पीने वाले बच्चे थे।"

महिलाओं की उस सारी टोली का नेतृत्व श्रीमती थम्बी नायडू कर रही थीं। उनके पति एक वीर सत्याग्रही थे और ट्रान्सवाल में बापूजी के साथियों में प्रथम वीर माने जाते थे। मीर आलम ने जब बापूजी पर घातक प्रहार किया था तब उन प्रहारों को अपने ऊपर झेल कर बापूजी की रक्षा करने वालों में श्री थम्बी नायडू का नाम ही मुख्य था। परंतु उनकी पत्नी का शौर्य उनसे भी दुगना माना जाता था, जो इस मोर्चे पर स्पष्ट प्रमाणित हो गया। इन तमिल बहनों के साथ श्रीमती भवानीदयाल भी थीं, जो कई महीने फीनिक्स में रह चुकी थीं। बापूजी ने उनकी चिकित्सा अपने मिट्टी-पानी के तरीकों से की थी। वह देखने में दुबली-पतली और कोमल

थीं और वाल्टी-भर पानी ढोना तक उनके लिए कठिन हो जाता था। श्री भवानीदयालजी को, जो बाद में भवानीदयाल संन्यासी कहलाये, हिंदी-जगत् भूल नहीं सकता। उनके व्यक्तित्व के प्रति हमें आदर था और जब श्रीमती भवानीदयालजी ने अन्य महिलाओं के साथ जेल-यात्रा के लिए प्रयाण किया तब उन दोनों के प्रति हमारे मन का आदर बहुत बढ़ गया।

ये महिलाएं ट्रान्सवाल के दो-दो, तीन-तीन सीमा-स्थानों पर गईं और बिना परमिट के सीमोल्लंघन करके फिर से ट्रान्सवाल में आईं। परन्तु पूज्य बा को पकड़ने से ही दक्षिण अफ्रीका की सरकार की देश-विदेश में कड़ी टीका होने लगी थी, तब और भी बहनों पर हाथ डालने का साहस उसने नहीं किया। ज्यों-ज्यों सरकार ने उन्हें गिरफ्तार न करने की सावधानी बरती, श्रीमती थम्बी नायडू की टोली नये-नये कानून तोड़ती गई। अंत में बापूजी की सूचना से वे सब बहनें कोयले की खान के मजदूरों के पास चली गईं और जबतक सरकार तीन पौंड का कर न हटा ले तब तक हड़ताल करने के लिए उन्हें समझाने लगीं।

इधर स्मट्स सरकार ने बहनों को गिरफ्तार न करके तंग कर डाला। उधर ट्रान्सवाल से अनेक पुराने और मंजे हुए सत्याग्रही उन्हीं कानूनों को तोड़ कर जेल पहुंच गए। मुश्किल से एक महीना पूरा हुआ होगा कि सत्याग्रह की लड़ाई का रंग जम गया। बापूजी को इस प्रगति से संतोष हुआ और वह अपने हमले को अधिक प्रभावोत्पादक बनाने के उपाय करने लगे।

फीनिक्स से निकलने वाले साप्ताहिक का काम बहुत कम आदमियों से ठीक तरह चलता रहे ऐसा परिवर्तन करना बापूजी ने आवश्यक समझा। पहले वह शनिवार को प्रकाशित होता था, अब उसे बुध को प्रकाशित करने का निश्चय किया गया। इस संबंधी व्यवस्था का उल्लेख करते हुए बापूजी ने नीचे लिखे आशय का लेख 'इंडियन ओपीनियन' के इस अंक में लिखा :

"अब से बुधवार के दिन यह अखबार प्रकाशित करने का निश्चय किया गया है। इस अंक को तैयार करने के लिए तीन ही दिन का समय था। इस वजह से इस अंक के चार ही पृष्ठ हैं। शनिवार के दिन प्रकाशित करने से यह डरबन आदि नेटाल के स्थलों में उसी दिन पहुंच जाता है। परंतु जोहान्सबर्ग और ट्रान्सवाल में सोम या मंगल के दिन पहुंचता है। 'इंडियन ओपीनियन' के अधिकतर पाठक काम-धंधे में इतने व्यस्त रहते हैं कि अगली शनि-रवि की छुट्टी आने से पहले उन्हें यह साप्ताहिक पढ़ने का अवकाश नहीं मिलता। यह नई व्यवस्था उनकी सुविधा के लिए की गई है, ताकि शनिवार के दिन ही उनको यह साप्ताहिक मिल जाया करे।

"हिन्दवासियों की वर्तमान परिस्थिति के संबंध में सही-सही जानकारी पहुंचाने के लिए यह साप्ताहिक चालू रहना चाहता है। यदि लोगों को इसकी आवश्यकता नहीं है और वे इसके खर्च का बोझ उठाना नहीं चाहते तो भले-बुरे विज्ञापन आदि की भरमार करके जैसे-तैसे इसके छापते रहने में और इसके द्वारा पैसे बटोरने में मुद्रक-प्रकाशक जनता के प्रति तथा देश के प्रति गंभीर अपराध करते प्रतीत होते हैं। इस समय इसके नौ सौ ग्राहक हैं। यह ग्राहक-संख्या यदि गिर जायगी तो यह पत्र चलाना संभव नहीं होगा। इसलिए यह आवश्यक है कि कोई इसकी घटी हुई पृष्ठ-संख्या को देखकर हैरान न हो। असल में जो पन्ने कम किये गए हैं, उनमें केवल विज्ञापन और बेकार की चीजें ही छांटी गई हैं। पढ़ने की जो सामग्री बाकी रह जाती है वह कोई खोखली नहीं है। हमें आशा है कि हम थोड़ी पढ़ाई में ज्यादा-से-ज्यादा उपयोगी बातें देंगे। एक शब्द भी बेकार नहीं होगा। इस कम पन्ने वाले अखबार को प्रकाशित करने के श्रम और खर्च में अधिक पन्ने वाले अखबार के मुकाबले विशेष अंतर नहीं पड़ता। अतः इसका वार्षिक चन्दा कम नहीं किया जा सकता। प्रत्येक पाठक का कर्तव्य है कि वह इसमें प्रकाशित होने वाले विवरण और विचारों को अपनी जान-पहचान वाले सभी हिन्दियों में प्रसारित करे और जो लोग पैसे से 'इंडियन ओपीनियन' की सहायता करने में समर्थ हों, ऐसे अपने-अपने मित्रों को इसका ग्राहक बना दें।"

अखबार प्रकाशित करने का दिन बदलने के साथ बापूजी ने एक बड़ा परिवर्तन और भी किया। सोलह पृष्ठ छापने वाला बड़ा यंत्र तेल के इंजन से चलता था। बापूजी ने तेल के इंजन का प्रयोग बंद कर दिया। मिट्टी का तेल पीने वाला वह दैत्य जब रूठता था तब किसी के बस का नहीं रहता था। उसके मुख्य चक्र—फ्लाई व्हील को चालू करने में तगड़े-तगड़े जवानों का दम भी फूल जाता था। छपाई के दिन मुद्रण-यंत्र पर काम चढ़ने से पूर्व पांच-पांच छः-छः घंटों तक हमारे हब्शी जवान चार्ली और श्री गोविन्दसामी-जैसे पहलवानों को उसकी आराधना करनी पड़ती थी।

बापूजी ने उस तेलिये-भूत के बदले अपना बाहु-बल काम में लाना पसन्द किया। साढ़े चार या पांच फुट ऊंचा एक बहुत बड़ा लोहे का चक्का हाथ से चलने का—वहां रखा गया था। इंजन के बिगड़ जाने पर उस पर पट्टा चढ़ाकर मुद्रण-यंत्र चालू किया जाता था और चार आदमी मिल कर उसे चलाया करते थे। बापूजी ने इसी पहिये से नियमित रूप से काम लेने का निश्चय किया। हर आध घंटे बाद चारों आदमियों की बारी बदली जाती थी, इसलिए मुद्रण-यंत्र उसी वेग से काम सम्पन्न कर देता था जिस

वेग से इंजन के द्वारा होता था। उसे चलाने के लिए स्थानीय हब्शी मजदूरों को लगाया गया था, फिर भी बापूजी ने स्वयं अपने लिए भी उसे चलाने की बारी रखी थी। अखबार छपने के दिन उसे चलाने के लिए वह बिला नागा उपस्थित हो जाते थे। उन दिनों बापूजी फलाहार ही करते थे। लेख लिखने, गोखलेजी के साथ पत्र-व्यवहार करने तथा सत्याग्रह-संचालन-संबंधी सूचनाएं भेजने का भारी काम घंटों तक मेज पर बैठ कर उन्हें करना पड़ता था। फिर भी शरीर-श्रम करने का आग्रह इतना उग्र था कि दो-दो, तीन-तीन बारी बदल जाने तक वह पहिये पर से हटते नहीं थे।

पहले बुधवार को जब बापूजी लोहे का वह भारी पहिया घुमाने गए तब उन्होंने अपनी जोड़ी में मुझे चुना। मैं छोटा बालक था, और पहिया ऊंचा था इसलिए उसे घुमाने में मेरा जोर कम लगता था। परन्तु मेरी कमी बापूजी सवाया जोर लगा कर पूरी कर रहे थे। इतनी निकटता से बापूजी के साथ काम करने का अवसर मुझे कई दिनों बाद मिला था। शीघ्र ही बापूजी जेल चले जाने वाले थे। और कब यह अवसर फिर मिलेगा इसका पता नहीं था इसलिए बापूजी से बातें करने के इस मौके का लाभ उठाने का मैंने प्रयत्न किया। बहुत सोच-विचार कर मैंने कई प्रश्न बापूजी से पूछे। बापूजी भरसक मौन रहकर चिंतन करते हुए पहिया चलाते थे। फिर भी मेरे प्रश्नों का उत्तर उन्होंने धीरज से पहिया घुमाते-घुमाते दिया। उनमें कुछ उत्तरों का सार देता हूं।

मैंने पूछा था कि साप्ताहिक में लेख आप अकेले लिखते हैं फिर भी "हमारी यह राय है" "हम यह कहते हैं" ऐसा बहुवचन का प्रयोग क्यों करते हैं? इसके उत्तर में बापूजी ने कहा, कि सम्पादक जो लिखता है वह उसके अकेले का ही विचार नहीं होता। उसके अनेक साथियों के विचार भी उसके विचार में मिले हुए होते हैं इसलिए वह अपने लेख में अपने लिए एक वचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग करता है।

इसके बाद विज्ञापन हटाने के संबंध में मेरे प्रश्न के उत्तर में बापूजी ने कहा, "दूकानदार लोग अपनी चीजों का बहुत चढ़ा-बढ़ा कर बखान छपवाते हैं। हमारे छापने से उनके ग्राहक बढ़ते हैं लेकिन हम पैसे के लालच से आजतक जो विज्ञापन छापते थे वह गलत काम करते थे। दूकानदार अपना माल अच्छा न होने पर भी अच्छा बतावें अथवा जैसा हो उससे कई गुना बढ़ाकर बतावें, यह झूठ ही तो हुआ। सच्चा आदमी ऐसी झूठी बातें क्यों कर छाप सकता है। फिर जो चीज हम अपने उपयोग में लाते नहीं और लाना गलत समझते हैं उन चीजों को लेने का, हमारा अखबार पढ़ कर, लोगों का मन चले तो वह हमारी ही भूल कही जायगी न?"

एक और प्रश्न के उत्तर में बापूजी ने मुझे समझाया कि जब तू टोली-नायक है तब अपनी टोली के करने का काम अधूरा न रह जाय, यह देखना तेरा कर्तव्य है। तेरे साथी लड़कों में से कोई आलस करे तो उस दिन तू दुगना काम करना लेकिन काम बाकी मत रहने दे।

: ५४ :

वह चिरजीवी इतिहास !

सत्याग्रह के इस इतिहास को औरों की दृष्टि से देखने के बदले उसके प्रणेता के शब्दों में पढ़ना ही अच्छा होगा। तीन पौंड के कर को हटाने में विजयी होने के तुरंत बाद स्वयं बापूजी ने 'इंडियन ओपीनियन' के विशेषांक में गुजराती में एक लेख लिखा था। उसका कुछ अंश लेकर उस इतिहास का दर्शन कराना जरूरी समझता हूं। बापूजी ने लिखा था—

"फीनिक्स की टोली के जेल जाने के बाद जोहान्सबर्ग से नहीं रहा गया। वहां की औरतें अधीर हो गईं और उनको जेल जाने का बहुत उत्साह हुआ। श्री कैलनबैक उनको लेकर फ्रीनिखन गये। वहां जाने में उम्मीद यह थी कि वे फ्री स्टेट (ऑरेंज कॉलोनी) की सरहद पर जा कर लौटते समय गिरफ्तार हो जायंगी। उनकी उम्मीद पूरी नहीं हुई। कुछ दिन उन्होंने फ्रीनिखन में ही सुख-दुख में बिताये। वहां सिर पर डलिया रख कर फेरी लगाई। परंतु किसी ने उनको पकड़ा नहीं। इस निराशा में अमर आशा छिपी हुई थी। सरकार ने महिलाओं को फ्रीनिखन में ही पकड़ लिया होता तो कदाचित् हड़ताल न होती। यह तो निश्चित बात है कि वह जम कर जिस पैमाने पर हुई उस पैमाने पर नहीं हो सकती थी। किन्तु कौम पर ईश्वर का हाथ था।

"भगवान् सदैव सत्य का रक्षक है। महिलाएं पकड़ी न गईं तब तय किया गया कि वे नेटाल की सीमा पार करें। यदि उनको पकड़ा न जाय तो श्री थम्बी नायडू के साथ वे न्यूकेसल में अपनी छावनी डालें। यह निश्चय किया गया था कि सत्याग्रही महिलाएं न्यूकेसल में गिरमिटियों तथा उनकी स्त्रियों से मिलें। उनकी दुर्दशा का उनको खयाल करायें और तीन पौंड के कर के बारे में उनको हड़ताल करने के लिए समझायें। जब

मैं न्यूकेसल पहुंच जाऊं तब हड़ताल की जाय। किन्तु महिलाओं की उपस्थिति ने सूखे ईंधन पर दियासलाई का काम किया। सेज-पलंग के विना न सोने वाली और मुश्किल से अपना मुंह खोलने वाली इन महिलाओं ने गिरमिटियों की आम सभा में भाषण दिये। वे जाग उठे और उन्होंने मेरे पहुंचने से पहले ही हड़ताल करने का आग्रह किया। यह वहुत खतरनाक काम था। मुझको श्री नायडू का तार मिला। श्री कैलनवैक न्यूकेसल गये और हड़ताल शुरू हो गई। मेरे पहुंचने तक कोयले की दो खानों के भारतीयों ने काम वन्द कर दिया था।

"मिस्टर होस्केन की अध्यक्षता में यूरोपियनों की सहायक समिति ने मुझे वुलाया। मैं उनसे मिला। उन्होंने हमारे आन्दोलन को पसन्द किया और प्रोत्साहन देने का प्रस्ताव किया। एक दिन जोहान्सवर्ग में रुक कर मैं न्यूकेसल पहुंचा और वहां रुक गया। मैंने देखा कि लोगों में वेहद उत्साह था। सरकार महिलाओं की उपस्थिति को सह नहीं सकी और उसने अन्त में उनको आवारागर्दी का जुर्म लगाकर जेल भेज दिया

"श्री लेभरस का मकान अव सत्याग्रहियों की धर्मशाला बन गया। वहां सैकड़ों गिरमिटियों के लिए खाना पकाना जरूरी हो गया। फिर भी श्री लेभरस ने निरुत्साह को अपने पास फटकने नहीं दिया। न्यूकेसल के भारतीयों ने एक समिति नियुक्त की। श्री सीदात प्रमुख नियुक्त हुए। जोरों से काम चल पड़ा। दूसरी खानों के भारतीयों ने भी काम छोड़ दिया।

"इस प्रकार, खानों के मजदूर काम वन्द करते चले तव कोयला-खानों के मालिकों के मंडल की सभा हुई। वहां वहुत बातचीत हुई, पर कोई फैसला नहीं हुआ। उनकी मांग यह थी कि यदि हमारी ओर से हड़ताल रोक दी जाय तो वे लोग सरकार से तीन पौंड के कर के वारे में लिखा-पढ़ी करेंगे। सत्याग्रही यह स्वीकार नहीं कर सकता। हमें मालिकों से कोई बैर नहीं था। हड़ताल का उद्देश्य मालिकों को दुख पहुंचाने का नहीं था, केवल हम दुःख उठाएं, यही था। इसलिए कोयला-खानों के मालिकों की सलाह को स्वीकार किया जा सके, ऐसा नहीं था। मैं फिर न्यूकेसल लौट गया। उस सभा का नतीजा मैंने सुनाया तो उत्साह वढ़ गया। और भी खानों में काम बन्द हो गया।

"अब तक मजदूर लोग अपनी-अपनी खानों पर ही रहे थे। न्यूकेसल की कार्यवाही समिति ने सोचा कि जब तक गिरमिटिये लोग अपने मालिक की जमीन पर रहेंगे तब तक हड़ताल का पूरा प्रभाव पड़ने वाला नहीं है। वे लोग लालच में आकर या डर कर काम शुरू कर दें, यह खतरा था ही

और मालिक का काम न करने पर भी उसके घर में बसना अथवा उसका नमक खाना अनीति कही जायगी। अर्थात् गिरमिटिए का खान पर रहना दोषयुक्त था। यह दोष सत्याग्रह के शुद्ध प्रयास को मलिन करने वाला मालूम दिया। दूसरी ओर, हजारों भारतीयों को कहां पर रखा जाय, उनको किस तरह भोजन कराया जाय, ये सब विकट समस्याएं थीं। श्री लेभरस का मकान अब छोटा महसूस हुआ। फिर भी चाहे जैसा खतरा उठा कर भी खानों को खाली ही करने का निश्चय किया गया। गिरमिटियों को अपनी खानें छोड़ कर न्यूकेसल चले आने का संदेशा पहुंचाया गया।

"खबर मिलते ही खानों से कूच शुरू हो गई। बेलंगी की खान के भारतीय पहले आ गए। न्यूकेसल में ऐसा दृश्य बन गया मानो हर रोज यात्रियों का संघ ही आ रहा हो। जवान, बूढ़े, औरतें—कोई अकेली तो कोई गोद में बच्चे वाली, सभी स्त्रियां अपने-अपने सिर पर गठरियां लिये हुए चल दीं; मर्दों के सर पर पेटियां नजर आती थीं। कोई दिन में आ पहुंचते थे, तो कोई रात में। उनके लिए भोजन का इन्तजाम करना पड़ता था। इन गरीब लोगों की संतोष-वृत्ति का मैं क्या बयान करूं। जो कुछ थोड़ा-सा मिल गया उसे वे सुख समझते थे। कोई रोता हुआ शायद ही नजर आता था। सब के मुख पर स्मित दमक रहा था। मेरे मत से तो वे तेंतीस कोटि देवताओं में से थे। स्त्रियां देवी रूप थीं। उन सब के लिए छत की व्यवस्था कैसे संभव हो सकती थी? सोने के लिए 'तृणशय्या' थी, छत के स्थान पर आकाश था। रक्षक उनका ईश्वर था। किसी ने बीड़ी की मांग की। मैंने उसको समझाया कि उन्होंने गिरमिटियों के रूप में यात्रा नहीं की है, भारत के सेवकों के नाते निकले हुए हैं। धार्मिक लड़ाई में शामिल हुए हैं, और ऐसे अवसर पर तम्बाकू आदि व्यसनों को उन्हें त्याग देना चाहिए। इन साधु पुरुषों ने ऊपर वाली सलाह स्वीकार कर ली और इसके बाद किसी ने बीड़ी के लिए पैसा खर्च करने की मांग मेरे पास नहीं की। इस प्रकार खानों में से पांत-की-पांत लोगों की चल पड़ीं। उनमें एक गर्भवती स्त्री को चलते-चलते रास्ते में गर्भपात हो गया। ऐसे अनेक दुख उठाने पर भी कोई थका नहीं, पीछे हटा नहीं।

"न्यूकेसल में भारतीयों की संख्या बहुत बढ़ गई। वहां के भारतीयों के स्थान भर गए। उनके वहां जितने मकान मिल सके उनमें स्त्रियों और बूढ़ों का समावेश किया गया। यहां पर कहना होगा कि न्यूकेसल में बसने वाली गोरी जनता ने बहुत विनय का बर्ताव रखा था। उन्होंने अपनी सहानुभूति भी दरसाई थी। एक भी भारतीय को उन्होंने सताया नहीं। एक भली महिला ने अपना मकान मुफ्त में ही उपयोग के लिए

दे दिया था। और भी बहुत-सी छोटी-मोटी सहायता गोरों के पास से मिलती रहती थी।

"परन्तु न्यूकेसल में हजारों भारतीयों को सदा के लिए रखा जा सके ऐसी हालत नहीं थी। 'मेयर' घबरा गए थे। साधारणतया न्यूकेसल की आबादी तीन हजार मानी जाती थी। ऐसे देहात में दूसरे दस हजार मनुष्य समा ही नहीं सकते थे। अन्य खानों के मजदूर भी काम बन्द करने लगे, तब यह प्रश्न उठा कि क्या किया जाय। हड़ताल करने का उद्देश्य जेल जाने का था। सरकार चाहे तो वह मजदूरों को गिरफ्तार कर सकती थी। किन्तु हजारों के लिए उसके पास जेलें भी नहीं थी। इसलिए उसने मजदूरों पर हाथ नहीं डाला। इस हालत में ट्रान्सवाल की सरहद को पार करके गिरफ्तार होने का सरल उपाय हमारे पास था। यह भी खयाल किया गया कि ऐसा करने पर न्यूकेसल की भीड़ कम होगी और हड़ताल करनेवालों की कसौटी भी हो जायगी।

"न्यूकेसल में खान-मालिकों के जासूस लोग हड़ताल वालों को ललचा रहे थे। पर एक भी मजदूर डिगा नहीं फिर भी उस लालच से उनको दूर रखना कार्यवाहक मंडली का कर्त्तव्य था। इन कारणों से न्यूकेसल से चार्ल्सटाउन कूच करके जाना उचित मालूम हुआ। मार्ग करीब पैंतीस मील का था। हजारों मनुष्यों के लिए रेलभाड़ा नहीं खर्च किया जा सकता था; जो स्त्रियां चल न सकें उनको रेल में ले जाने का निश्चय हुआ। रास्ते में गिरफ्तारियां होने की संभावना थी। और फिर इस प्रकार का यह पहला ही अनुभव होने वाला था। इसलिए निश्चय हुआ कि पहली टुकड़ी को मैं ले जाऊं। पहली टोली में लगभग पांच सौ व्यक्ति थे, जिनमें लगभग साठ स्त्रियां अपने बच्चों के साथ थीं। इस टुकड़ी का दृश्य मैं कभी भूल नहीं सकता। यह टुकड़ी 'द्वारकानाथ की जय,' 'रामचन्द्र की जय,' 'वन्देमातरम्' के नारे लगाती हुई चलती थी। दो दिन के लिए आवश्यक मात्रा में पका-पकाया दाल-चावल सबके साथ बंधवा दिया था। सब अपने-अपने बोझ को बांध कर चल पड़े। उनको नीचे लिखी शर्तें सुना दी गई थीं:

"१. मैं गिरफ्तार कर लिया जाऊं, ऐसा संभव था। यदि ऐसा हो तो भी टुकड़ी अपना कूच जारी रखे और जब तक खुद नहीं पकड़ लिये जायं, तबतक वे चलते रहें। रास्ते में खाने के लिए और पीने के पानी के लिए व्यवस्था करने का सब प्रयत्न किया जायगा, फिर भी यदि किसी दिन खाना न मिले तो संतोष रखें।

"२. लड़ाई में जबतक रहें, शराब आदि का दुर्व्यसन छोड़ दें।

"३. मौत आने पर भी पीछे कदम न करें।

"४. मार्ग में रात हो जाय तो टिकने के लिए मकानों की आशा न करके घास पर ही पड़े रहने को तैयार रहें।

"५. रास्ते में आने वाले पेड़-पौधों को जरा भी नुकसान न पहुंचाया जाय और पराई वस्तुओं को बिलकुल छुआ न जाय।

"६. पुलिस गिरफ्तार करने आये तब अपने को पकड़वा लिया जाय।

"७. पुलिस से या और किसी से मुकाबला न किया जाय, किन्तु जो मार पड़े वह सहन कर ली जाय तथा प्रहार के सामने प्रहार करके अपना रक्षण न किया जाय।

"८. जेल में जिन कष्टों को भुगतना पड़े उन्हें भुगत लिया जाय और जेल को महल समझ कर वहां पर दिन बिताए जायं।

"इस संघ में सभी वर्ण तथा धर्म वाले थे—हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे। कलकतिये थे, तमिल थे। कुछ पठानों और उत्तर की ओर के सिंधियों को मार खाकर भी अपना बचाव न करने वाली शर्त कठिन महसूस हुई थी, किन्तु उन्होंने उसे खुशी-खुशी स्वीकार कर लिया। यही नहीं, कसौटी का मौका आने पर उन्होंने अपने बचाव में भी अपना हाथ नहीं उठाया।

"ऐसी परिस्थिति में पहली टुकड़ी का कूच शुरू हुआ। पहली रात को ही जंगल में घास पर सोने का अनुभव मिला। रास्ते में करीब एक सौ पचास आदमियों के लिए वारंट आए। वे लोग खुशी से गिरफ्तार हो गए। उनको पकड़ने के लिए केवल एक ही पुलिस अफसर आया था। उसकी सहायता के लिए और कोई नहीं था। जो पकड़े गए उनको कैसे ले जाय, यह प्रश्न सामने आया। हम लोग चार्ल्सटाउन से केवल छः मील दूर थे, इसलिए मैंने अफसर से कहा कि यदि वह चाहे तो पकड़े गए आदमियों को मेरे साथ कूच करने दे और चार्ल्सटाउन में उनका कब्जा ले ले, अथवा अपने अधिकारी से पूछ कर जैसा हुक्म मिले, करे। अफसर ने मेरी सलाह स्वीकार की और वह लौट गया। हम लोग चार्ल्सटाउन पहुंचे। चार्ल्सटाउन बहुत छोटा देहात है। मुश्किल से उसकी आबादी एक हजार की होगी। उसमें एक ही आम सड़क है। बहुत कम भारतीय वहां बसते हैं। इसलिए हमारे संघ को देखकर गोरे लोग आश्चर्यचकित हुए। इतने भारतीय चार्ल्सटाउन में कभी दाखिल नहीं हुए थे। पकड़े गए लोगों को न्यूकेसल ले जाने के लिए रेलगाड़ी तैयार नहीं थी। पुलिस उन्हें कहां रखे, यह सवाल था। थाने में भी इतने कैदियों को रखने की गुंजायश नहीं थी।

इसलिए गिरफ्तार किये गए लोगों को पुलिस ने मेरे हवाले किया और उनके भोजन का बिल चुका देना स्वीकार किया। सत्याग्रह के प्रति यह कोई थोड़े मान की बात नहीं थी। उनमें से कोई लापता हो जाय तो हमारी जिम्मेदारी नहीं थी। लेकिन सत्याग्रही का काम पकड़े जाने का ही होता है, ऐसा सबने समझ लिया था और इसलिए उन्हें विश्वास बैठ गया था। इस प्रकार ये पकड़े गए लोग चार दिन तक हमारे साथ ही रहे। पुलिस उनको ले जाने के लिए तैयार हुई तब वे खुशी से उसके अधीन हो गए।

"टुकड़ियों की भरती होती चली गई। किसी दिन चार सौ तो किसी दिन उनसे भी अधिक लोग आते रहे। बहुत-से लोग पैदल आते थे और स्त्रियां प्राय: गाड़ी से आती थीं। चार्ल्सटाउन के भारतीय व्यापारियों के मकानों में जहां पर जगह थी वहां सुविधा की गई। वहां के कोपेरेशन ने भी मकान दिये। गोरे लोग बिलकुल सताते नहीं थे, बल्कि सहायता भी देते थे। वहां के डाक्टर ने मुफ्त में चिकित्सा व शुश्रूषा का काम करना अपने ऊपर ले लिया। हम लोग जब चार्ल्सटाउन से आगे बढ़े तब उन्होंने मूल्य-वान दवाइयां और कुछ आवश्यक औजार नि:शुल्क दे दिये। रसोई मसजिद के मकान में होती थी और चूल्हा चौबीसों घंटे जलता रखना पड़ता था। रसोई का काम करने वाले हड़तालियों में से ही तैयार हुए थे। अन्तिम दिनों में तो चार से पांच हजार आदमियों को भोजन कराना पड़ता था। फिर भी काम करने वाले हारे नहीं। सवेरे-सवेरे मकाई के आटे की मीठी लपसी दी जाती थी और मक्की की रोटी भी। शाम को चांवल और दाल तथा शाक दिया जाता था। दक्षिण अफ्रीका में सब लोग प्राय: तीन बार खाने वाले होते हैं। परन्तु उन हड़तालियों ने सत्याग्रह-संग्राम के समय दो बार भोजन करके संतोष माना। वे लोग स्वाद का आनन्द लेने वाले होते हैं, पर वहां वह स्वाद भी उन्होंने छोड़ दिया।

"चार्ल्सटाउन में इतने मनुष्यों को लम्बे अरसे तक सुविधा-असुविधा में रखने पर लोगों का उपद्रव फैल जाने का खतरा था। ये हजारों व्यक्ति, जो सदैव काम करने वाले ही होते हैं, बेकार बैठे रहें यह उचित भी नहीं था। यहां पर यह बता देना आवश्यक है कि इतने गरीब आदमी वहां इकट्ठे हो गए थे, फिर भी चार्ल्सटाउन में एक भी व्यक्ति ने चोरी नहीं की। किसी भी समय पुलिस की आवश्यकता पैदा नहीं हुई, और न पुलिस को किसी भी समय अधिक काम ही करना पड़ा। इस पर भी अब चार्ल्स-टाउन में ही न बैठा रहा जाय, यही उत्तम मार्ग जान पड़ा। इसलिए ट्रान्सवाल में प्रवेश करने का और यदि पकड़े न जायं तो टाल्स्टाय-फार्म पहुंचने का निश्चय हुआ। कूच करने से पहले सरकार को खबर दी गई

कि गिरफ्तार होने के लिए हम लोग ट्रान्सवाल में प्रवेश करने वाले हैं। हम लोगों को वहां पर रहना नहीं है, वहां पर बसने के अधिकारों की हमें अपेक्षा नहीं है, परन्तु जबतक सरकार नहीं पकड़ेगी, हम टाल्स्टाय-फार्म में जाकर डेरा डालेंगे। सरकार यदि तीन पौंड का कर हटा देने का वचन दे देगी तो हम लौट जाने के लिए तत्पर रहेंगे।

"इस नोटिस पर कुछ भी गौर करने की मनोवृत्ति सरकार की नहीं थी। उसके जासूस उसको चक्कर में डाल कर उकसा रहे थे। लोग थक जायंगे ऐसा आश्वासन वे अधिकारियों को देते थे। सरकार ने सभी भाषाओं में चुनौतियां छपवा कर हड़तालियों के बीच बंटवा दीं।

"अन्त में चार्ल्सटाउन से आगे बढ़ने का समय आ गया। तारीख छः नवम्बर (१९१३) को तीन हजार के संघ ने प्रभातवेला में प्रयाण किया। सारी पंक्ति एक मील से भी ज्यादा लम्बी थी। श्री कैलनबैक तथा मैं पीछे के हिस्से में थे। संघ सरहद पर पहुंच गया। वहां पुलिस की टुकड़ी मौजूद थी। हम दोनों वहां पहुंचे, तब पुलिस से बातचीत हुई। उसने हम लोगों को गिरफ्तार करने से इन्कार कर दिया। तब सारा जलूस अनुशासन के साथ शांतिपूर्वक वालक्रस्ट के मध्य से गुजरा। शहर के बाहर स्टाडर्टन रोड पर जाकर सभी ने पड़ाव डाला। सबने खाना खाया। स्त्रियां कूच में शामिल न हों ऐसी व्यवस्था की गई थी, परन्तु उनके जोश की बाढ़ को रोकना कठिन हो गया और कुछ स्त्रियां शामिल हुईं। फिर भी कुछ स्त्रियां तथा बालक अब भी चार्ल्सटाउन में रह गए थे। उनकी सार-सम्हाल के लिए वालक्रस्ट की सरहद से पार होने के बाद मैंने श्री कैलनबैक को भेज दिया।"

: ५५ :

सत्याग्रह का प्रवाह : बापू की कठोर साधना

पाठक पीछे के अध्याय में पढ़ चुके हैं कि श्रीमती थम्बी नायडू के नेतृत्व में जोहान्सबर्ग की महिला सत्याग्रहियों के कारण न्यूकेसल की कोयले की खानों में हड़ताल प्रारम्भ हो गई थी। यह भी पाठक बापूजी के लेख में पढ़ चुके हैं कि यह हड़ताल जोर पकड़ गई और बापू ने उसका संचालन

स्वयं अपने हाथों में ले लिया था। पाठक यह भी जानते हैं कि बापूजी ने सात दिन के उपवास के बाद साढ़े चार मास के एकासने (एक समय भोजन) का व्रत लिया था, जो इन दिनों भी चल रहा था। इस कारण उनका शरीर पहले का-सा मजबूत नहीं रह गया था। उस पर सत्याग्रह और हड़ताल की यह भारी जिम्मेदारी! यह सब देख-सुनकर हम फीनिक्सवासी लोग और खासकर मगनकाका बड़े चिंतित रहने लगे। मगनकाका तो बार-बार यह कहा करते कि अच्छा हो बापू जल्दी ही गिरफ्तार हो जायं। समय-समय पर कोई-न-कोई न्यूकेसल से फीनिक्स बापू का संदेशा लेकर आता। उससे बापू की हालत का पता चलता रहता। यह सब सुन-सुन हम सब फीनिक्सवासी चिंतित रहने लगे क्योंकि बापू अपने व्रतों के पालन में बड़े कठोर थे। दूध-घी आदि का त्याग वह बहुत पहले कर चुके थे। एक बार के भोजन में भी बापू केवल फल लेते थे। और जब हड़ताल करने वाले गिरमिटिये मजदूरों का नेतृत्व उन्होंने अपने ऊपर ले लिया तो उन भूखे और निराधार स्त्री-पुरुषों के साथ रह कर महंगे फल और मेवे वह अपने लिए कैसे मंगा सकते थे! दूसरी ओर अपने काम करने का वेग और परिश्रम दुगना-चौगुना कर दिया। उन दिनों बापू की दिनचर्या निम्न प्रकार थी:

प्रातः चार बजे से पहले ही अपने नित्य-कर्म से निवृत्त होकर ठीक चार बजे से बापूजी अपनी देखभाल में रसोई का काम प्रारंभ करा देते थे और दिन निकलते ही हड़ताली मजदूरों की प्रथम टोली को भोजन के लिए बैठा देते थे। बापूजी स्वयं अपने ही हाथों उन सबको खाना परोसते थे। इस प्रकार बारी-बारी से उन साढ़े चार हजार मजदूर स्त्री-पुरुषों और बच्चों को खाना खिलाने का सिलसिला लगातार रात के दस बजे तक चलता था। एक बार की रसोई परोस चुकने के बाद दूसरी रसोई तैयार होने तक जो समय मिलता था उसमें नये-नये आने वाले हड़ताली दलों की व्यवस्था करने में उनका समय जाता था। वह यह देखते थे कि कोई भूखा, प्यासा न रह जाय। औरतों, बच्चों व बूढ़ों को भरसक सुविधा मिले।

परोसने का तरीका यह था कि एक मेज पर खाना रख दिया जाता था। मेज के सामने से होकर हड़तालियों की कतार हाथ में अपने बर्तन लिये आगे बढ़ती जाती थी और बापूजी प्रत्येक की थाली में खाना परोसते थे। राशन 'क्यू' और इस 'क्यू' में अन्तर यह था कि पका-पकाया अन्न परोसने में बापूजी हजारों लोगों के साथ अपना व्यक्तिगत संपर्क साध लेते थे और उनके मुख के भाव पर से सबके सुख-दुख, आशा-निराशा, उत्साह-धीरता आदि को भरसक भांप लिया करते थे। इतना ज्यादा भोजन बनाने

में खाना कच्चा या जला-अधजला रह ही जाता था। संख्या के हिसाब से कई बार आधा पेट खाना परोसना पड़ता था और थोड़ा संतोष रखने के लिए कहना पड़ता था। इस प्रकार हजारों व्यक्तियों को स्वयं परोसने में सुबह से लेकर आधी रात तक एक पल के लिए भी बापूजी कुर्सी पर या जमीन पर बैठ नहीं पाते थे। रात को दस बजे रसोई उठा देने के बाद भी वह हड़तालियों के बीच चक्कर लगाने के लिए निकल पड़ते थे और सारी व्यवस्था देखने के बाद सबके साथ ही घास पर सो जाते थे। वह प्रायः रात के बारह बजे सो पाते थे और ब्राह्म मुहूर्त में दो-ढाई बजे फिर उठ बैठते थे।

उठकर दातौन आदि से निवटने के बाद बापूजी तुरंत ही अपना चौबीस घंटों में एक बार का फलाहार भी कर लिया करते थे, क्योंकि दिन-भर में फिर फलाहार करने के लिए उनको पूरा समय नहीं मिल पाता था। मूंगफली के दाने चबाने की फुरसत न होने के कारण उन्होंने अपने आहार में मूंगफली की मात्रा भी घटा दी थी।

सवेरे भी समय की कमी का कारण यह था कि ऊषा का आलोक होने से पहले ही बापूजी को यह देखना पड़ता था कि कोई अंधेरे में गलत जगह पर पाखाना-पेशाब तो नहीं करता? तथा जहां भी टट्टी-पेशाब किया जाता है वहां ठीक तरह से उस पर सूखी मिट्टी डाली जाती है या नहीं? यदि इस बारे में पूरी चुस्ती से काम न लिया जाता, गंदगी को शुरू में ही न रोक दिया जाता, तो इतनी भीड़ के जमा होने पर किसी भी समय भयावह बीमारी फैल सकती थी। अगर ऐसा होता तो गोरों की आबादी वाले उस शहर में भारतीयों की प्रतिष्ठा को बड़ा भारी धक्का लगता, और सत्याग्रह के संघर्ष को हानि पहुंचती।

इस प्रकार एक ओर तो दारुण परिश्रम व अल्पहार से बापूजी अपने शरीर को सुखा रहे थे और दूसरी ओर एक दूसरा संकट भी उनके सिर पर मंडरा रहा था। गिरमिटिया लोगों की इस हड़ताल के कारण सारे नेटाल प्रान्त के वातावरण में ऐसी गरमी छा गई थी और निहित स्वार्थ वाले गौर-प्रभुओं की मनोवृत्ति आपे से बाहर हो रही थी कि किस समय वे क्या कर बैठेंगे इसका कोई अन्दाजा नहीं था। हर समय यह डर लगा रहता था कि बहकावे में आकर कोई भी हड़ताली बापूजी पर हमला न कर बैठे! ऐसे वातावरण में उस परदेश में गोरे मालिकों की नौकरी छोड़ते ही उनको कहीं से एक कण भी अन्न प्राप्त होना कठिन था। इस हालत में भूख की ज्वाला से पीड़ित होकर और हड़ताल के कष्टों से तंग आकर यदि किसी हड़ताली का दिमाग फिर जाय और वह बापू को ही अपना जानी दुश्मन मान बैठे तो भी आश्चर्य की बात न थी।

ऐसे वातावरण में एक दिन जब बापूजी मेज पर रसोई के बरतन लगवा रहे थे और परोसने की तैयारी हो रही थी तब एकाएक लोगों की भीड़ में खलबली मच गई। कुछ लोग दूसरों को धक्के देकर आगे बढ़े और उन्होंने परोसने की मेज पर धावा बोलना चाहा। लेकिन बापूजी ने उन्हें आगे बढ़ने से रोक दिया और समझा-बुझाकर शान्त कर दिया। वे बोले, "धीरज खोने का कोई कारण नहीं है। यकीन रखिए कि आप लोगों में से एक को भी मैं भूखा नहीं रहने दूंगा। एक बच्चा भी भूखा नहीं रहेगा। लेकिन आप लोगों ने हुल्लड़ किया और छीना-झपटी की तो पहले मुझ पर वार करना होगा।"

बापूजी के इन शब्दों ने उफनते हुए दूध में पानी की बूंद की तरह काम किया। सारी भीड़ शान्त हो गई और वे बाकायदा कतार में रहकर बारी-बारी से अपनी थाली परोसवाने लगे।

इस प्रकार बापूजी एक ओर तप से अपने शरीर को कस रहे थे तो दूसरी ओर सत्याग्रह को पवित्र और जोरदार बना रहे थे।

: ५६ :

वह चिरजीवी इतिहास—२

तीन हजार भारतीय गिरमिटियों के संघ को लेकर बापूजी ट्रान्सवाल की सीमा में आगे बढ़े तब अधिक देर तक सरकार चुप नहीं रह सकी। उनको गिरफ्तार करने के लिए वह मजबूर हो गई। इसके बाद का विवरण बापूजी के शब्दों में निम्न प्रकार है, जो पिछले (वह चिरजीवी इतिहास—१) प्रकरण ५४ में उद्धृत किये गए 'इंडियन ओपीनियन' के लेख का शेष अंश है।

"अगले दिन सवेरे पामफर्ड के पास पुलिस ने मुझे गिरफ्तार कर लिया। मुझपर अनधिकारी लोगों को ट्रान्सवाल में प्रविष्ट कराने का अपराध लगाया गया था औरों को गिरफ्तार करने का हुक्म नहीं था। इसलिए वालक्रस्ट पहुंचने पर सरकार को निम्न प्रकार तार दिया: 'सत्याग्रह की लड़ाई के मुख्य प्रचारक को सरकार ने गिरफ्तार कर लिया है इससे में खुश हुआ हूं, लेकिन साथ-साथ यह भी कहे बिना मुझसे नहीं रहा जाता कि गिरफ्तारी के लिए जो मौका साधा गया है वह दया की दृष्टि से अत्यंत नाजुक और

खतरनाक हैं। सरकार को शायद पता होगा कि इस कूच में १२२ स्त्रियां और ५० वालक हैं। सब लोग, जवतक अपने-अपने स्थान पर नहीं पहुंचते, केवल जिन्दगी टिकाने-भर के लिए थोड़े-से आहार पर गुजर कर रहे हैं। सर्दी-गर्मी से रक्षण की कुछ भी सुविधा उन लोगों के लिए नहीं है। ऐसी परिस्थिति में मुझको उन लोगों से अलग करना अतिशय हानिकर होगा। जब कल रात को मुझको गिरफ्तार किया गया, मैं अपने साथ के लोगों को पता दिये विना ही, उनको छोड़ कर आ गया। वे लोग कदाचित क्रोध से बेहद पागल हो उठेंगे। इसलिए मैं यह मांग करता हूं कि या तो सरकार उनके साथ मुझे कूच करने की स्वीकृति दे या वह उन लोगों को रेलगाड़ी से टाल्स्टाय-फार्म पहुंचा दे और उनके लिए भोजन की भी व्यवस्था करे। जिस पर उनका विश्वास है उससे उनको पृथक कर देना, साथ-ही-साथ उनके लिए खाने-पीने का कुछ भी इन्तजाम न करना अनुचित होगा। मुझे उम्मीद है कि पुनर्विचार करने के बाद सरकार अपना निर्णय बदलेगी। यदि कूच के बीच में ही कोई आकस्मिक घटना घटेगी और विशेषत: यदि किसी दुधमुंहे बच्चे वाली स्त्री की मृत्यु होगी तो उसका उत्तरदायित्व सरकार पर रहेगा।"

"संघ आगे बढ़ा। मुझको वालक्रस्ट के न्यायाधीश के सम्मुख पेश किया गया। अपना बचाव तो मुझे करना ही नहीं था, लेकिन जो लोग पामफर्ड से आगे निकल गए थे, और जो अभी चार्ल्सटाउन में पड़े थे, उनके लिए कुछ व्यवस्था करनी वाकी थी। इसलिए मैंने मियाद मांगी। सरकारी वकील ने उसके खिलाफ बहस की; लेकिन न्यायाधीश ने कहा कि जमानत की नामंजूरी केवल खून के मुकदमे में ही की जा सकती है। इसलिए उसने मुझसे पचास पाउंड की जमानत मांग ली और एक सप्ताह की मियाद दी। मैं छूटकर सीधा कूच करनेवालों से जा मिला। उनका उत्साह दुगना हो गया। इस बीच प्रिटोरिया से तार आ गया कि सरकार का इरादा मेरे साथ वाले भारतीयों को पकड़ने का नहीं है, नेताओं को ही पकड़ा जायगा। इसका अर्थ यह नहीं था कि अन्य सब को छूट दे दी जायगी; लेकिन सबको पकड़ कर हमारे काम को सरल बनाने का अथवा भारत में खलबली मचाने का सरकार का इरादा नहीं था।

"हमारे पीछे-पीछे श्री कैलनबैक एक बड़ी टोली लेकर आ रहे थे। जब हमारा दो हजार लोगों का संघ स्टैन्डर्टन तक पहुंचा तब मुझको दुबारा गिरफ्तार किया गया, और मुकदमे की तारीख ११वीं डाल दी गई। हम तो आगे चले, किन्तु अब सरकार से यह सब बर्दाश्त नहीं किया जा सकता था। इसलिए उसने इन सबसे पहले मुझको तत्काल पृथक् कर देने का कदम

उठाया। इस समय श्री पोलक को डेपुटेशन लेकर हिन्दुस्तान भजने की तैयारी चल रही थी। विदा होने से पहले वह मुझसे मिलने आये। किन्तु अपना किया आरंभ अधबीच में ही रह गया और 'हरि करे सो होय' के अनुसार रविवार के दिन मुझे तिवारा ग्रेलींगस्टाड के पास पकड़ लिया गया। इस वार वारण्ट डंडी से निकाला था और मुझपर गिरमिटियों से काम छुड़ाने का अपराध लगाया गया था। मुझे वहां से वहुत ही लुकाछिपा कर डंडी ले जाया गया। मैं वता चुका हूं कि श्री पोलक कूच में हमारे साथ थे। उन्होंने यह काम सम्भाल लिया। मंगल के दिन डंडी में मुझपर मुकदमा चला। मुझपर लगाये गए तीनों अपराध मुझको पढ़कर सुना दिये गए। मैंने उनको स्वीकार किया और कोर्ट की अनुमति लेकर मैंने कहा—

'अपने प्रति और सारी जनता के प्रति न्याय के लिए मुझे वताना चाहिए कि जो अपराध मुझपर लगाये गए हैं उनका सारा उत्तरदायित्व एक वकील के नाते और नेटाल के पुराने निवासी के नाते मैं अपने ऊपर ले रहा हूं। इन लोगों को नेटाल कालोनी से वाहर ले जाने के कारण जनता के दिल पर जो प्रभाव पड़ा है उसका उद्देश्य उत्तम था। खान के मालिकों के साथ कोई झगड़ा नहीं है। इस लड़ाई से उन लोगों को गम्भीर नुकसान पहुंचता है, इसके लिए मुझे खेद है। भारतीय मजदूरों को अपने यहां रखने वालों से भी मैं निवेदन करता हूं कि ३ पौंड का कर मेरे देशवासी बंधुओं पर भाररूप है और वह हटा दिया जाना चाहिए। मैं मानता हूं कि माननीय श्री गोखले और जनरल स्मट्स के वीच जो वात पैदा हो गई है उसे देखते हुए मेरा कर्तव्य था कि जिस पर अत्यन्त ध्यान आकर्षित हो ऐसी लड़ाई मैं चलाऊं। स्त्रियों को और गोद के वच्चों को जो संकट सहन करने पड़े हैं उनको मैं महसूस करता हूं; फिर भी मैं मानता हूं कि लोगों को सलाह देने का मेरा कर्तव्य था और मैंने उसका पालन किया है। जब तक वह कानून रद्द नहीं किया जाता तव तक अपने देशवासियों को काम न करने व भीख मांग कर पेट भर लेने की वार-वार सलाह देना मैं अपना कर्तव्य समझूंगा। मुझे विश्वास है कि दुख उठाये विना उनपर होने वाले जुल्मों का अन्त नहीं होगा।'

"मैं तो जेल में स्थिरता से वैठ गया। वाद में मुझपर वालक्रस्ट में मुकदमा चलाया गया और डंडी में मुझे जो नौ महीने की सजा हुई थी उसके अतिरिक्त तीन महीने का कारावास और दे दिया गया।

"इस वीच मुझे पता चला कि श्री पोलक गिरफ्तार कर लिये गए हैं और वह हिन्दुस्तान जाने के वदले जेल में जाकर वैठ गए हैं। मैं तो खुश ही हुआ। मेरे मन से डेपुटेशन के मुकाबले यह डेपुटेशन वड़ा था। इसके वाद

तुरन्त ही श्री कैलनवैक भी गिरफ्तार हो गए और वह भी पोलक की भांति तीन महीने को जेल में जा वैठे। नेताओं को पकड़ लेने के बाद लोग झुक जायंगे ऐसा मानने में सरकार ने गलती ही की। सभी हड़तालियों को करीव चार विशेष ट्रेनों में भर कर डंडी और न्यूकेसल की खानों पर लौटा दिया गया। वहां उन पर वेहद जुल्म ढाये गए। उनको वहुत कष्ट सहन करना पड़ा। लेकिन वे सव सहन करने के लिए निकले हुए थे ही। सभी नेता थे। कथित नेताओं के विना उनको अपना वल वताना था, जो उन्होंने वता दिया। किस प्रकार वताया यह संसार को विदित है। कवि दयाराम ने ठीक ही गाया है कि 'कष्ट पाम्या विना कृष्ण कोने मळया, चारे जुगना जुओ साधु शोधी'—(कष्ट पाए विना कृष्ण किसे मिले हैं ! चारों युग के साधुओं को जांच कर देखो।)"

जिस दिन प्रथम वार वापूजी के गिरफ्तार होने की खवर फीनिक्स में आई उस दिन मगनकाका ने प्रसन्नता के साथ हम वालकों को सुनाया कि "वालक्रस्ट की हद तो वह पार कर गए, परन्तु रात को जब सव लोग सो रहे थे, सरकारी आदमी इस प्रकार चुपचाप उन्हें पकड़ ले गए जिससे किसी को पता न चल पाए।"

इसके वाद प्रत्येक डाक से नई-नई खवरें आती गईं। सारी परिस्थिति इतनी तेजी से वदलती जा रही थी कि एक वात पूरी तरह से समझ लेने से पहले ही दूसरी नई बात उपस्थित हो जाती थी। अंधेरे-अंधेरे में गिरफ्तारी, फिर छूट जाना, दुवारा हड़ताली-संघ के वीच जा पहुंचना और कूच का नेतृत्व करना आदि वातों की तह में पहुंचने की हम कोशिश कर रहे थे। एक दिन वुधवार होने के कारण रात के नौ-दस वजे तक छापाखाने में कामकाज चल रहा था कि मगनकाका के पास बापूजी का पत्र आया। उसका सार कुछ इस प्रकार था :

"आज यहां पर मुकदमा चला। छूटने के लिए काफी गुंजाइश थी। परन्तु सत्याग्रही इस तरह कैसे छूट सकता है ? अपने वचाव में मैंने एक शब्द भी नहीं कहा। सारा आरोप अपने ऊपर ओढ़ लिया है। यहां के व्यापारी जमानत पर छुड़ाने के लिए और पैसे भर देने के लिए व्याकुल हो रहे हैं। जमानत पर निश्चित समय के लिए छूटा जा सकता था, परन्तु ऐसा करना आवश्यक नहीं है। मैं जेल से वाहर रहूंगा तभी हमारी लड़ाई ठीक तरह से चलेगी, यह मानना अभिमान है। इसमें ईश्वर का हाथ है। वह सव कुछ ठीक तरह से पार उतारेगा।"

इसके वाद जेल से उनका दूसरा पत्र आया। वह इस प्रकार है :

१९१३
जेल से, मंगल

चि० मगनलाल,

नौ महीने की सज़ा हुई है। दूसरी दो जगहों में छः-छः महीने की और मिल जाय तो २१ महीने की होगी और मैं सबसे अधिक भाग्यशाली बन जाऊंगा। वेश बदले विना ही जेल मिल सकी, यह एक झंझट से बचना ही हुआ। हड़ताल के आरम्भ के बाद आज प्रथम बार मुझे फुरसत मिली है।.......

जेल हमारे लिए सहल बात बन गई है। फिर भी अब जेल जाने से मुझे संकोच नहीं करना चाहिए, ऐसा मुझे प्रतीत हुआ। आज के मुकदमे में कानून की युक्ति-प्रत्युक्तियों से भरपूर अवकाश था। किंतु उसका लाभ कैसे लिया जाय? वह तो मोह होता! मैं बाहर रहूंगा तो अधिक काम कर सकूंगा यह अभिमान उसमें होता। इसलिए मैं चुस्त रहा।"

इस पत्र के आने के दो-चार दिन बाद पता चला कि वालक्रस्ट की जेल में बापूजी, श्री पोलक और श्री कैलनबैक तीनों पर एक साथ मुकदमा चलाया गया है और तीनों को तीन-तीन महीने की कैद सुना दी गई है। इसके बाद पूरा सप्ताह भी नहीं बीता होगा कि बापूजी, श्री पोलक और श्री कैलनबैक वालक्रस्ट की जेल से कहीं दूसरी जगह ले जाये गए। हम लोगों को पता नहीं चला कि उन्हें कहां ले जाया गया है। हमारा खयाल था ही कि तीनों को सरकार साथ में नहीं रखेगी, इसलिए जहां-जहां उनके होने की सम्भावना थी वहां के व्यापारियों को तार देकर मगनकाका ने समाचार मंगाए; परन्तु नेटाल और ट्रान्सवाल की किसी भी जेल में बापूजी के वहां नहीं पहुंचने के समाचार से अधिक जानकारी हमें नहीं मिली। चार-छः दिन बाद समाचार मिला कि बापूजी को सुदूर आरेंज फ्रीस्टेट की राजधानी ब्लुमफोंटीन की जेल में रखा गया है और श्री कैलनबैक तथा श्री पोलक को क्रमशः प्रिटोरिया व डिप्लुफ की जेलों में रखा गया है।

बापूजी के जेल जीवन के बारे में पता चला कि उनको पू० कस्तूरबा की तरह फल देने में सरकार ने सताया नहीं। कैद भी सादी है। उनको एक दर्जन केले, चार टमाटर, दो चम्मच ओलिव आइल और मूंगफली दी जा रही है। उनकी दुर्बलता को देखकर जेल के डाक्टर ने उन्हें दूध-मक्खन लेने के लिए बहुत कहा, पर उन्होंने वह नहीं माना। डाक्टर के आग्रह के वश वह अब बादाम व अखरोट ले रहे हैं। उनको वहां पर हर तरह से आराम है। पढ़ने के लिए पुस्तकें मिलती हैं और उन्होंने पुस्तकें मंगवाई भी हैं। साथ-साथ सादी कैद होते पर भी जेल वालों से उन्होंने काम मांगा है।

वापूजी के जेल जाने पर सब लोगों को एक प्रकार से संतोष हुआ। परन्तु हमको, जो बच्चे थे, इस विचार से बड़ी ग्लानि होने लगी कि हमें एक वर्ष तक उनके दर्शन नहीं हो सकेंगे। माता-पिता आदि की तीन महीने की सजा ही हमारी बालदृष्टि में बहुत बड़ी मियाद थी; फिर यह पूरा वर्ष कैसे गुजरेगा इसकी कल्पना स्वभावतः ही हमारे लिए बड़ी दुखदायी हुई।

: ५७ :

गांधीराजा के नाम पर....

बापूजी की गिरफ्तारी और कड़ी सज़ा के बाद स्मट्स-सरकार ने सोचा होगा कि भारतीयों का सत्याग्रह-आन्दोलन ठंडा पड़ जायगा। परन्तु सरकार की मन्शा पूरी नहीं हुई। उसके लिए तो यही मिसाल सही साबित हुई कि 'मर्ज़ बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की।' जब गांधीजी, पोलक व कैलनबैक की त्रिपुटी जेल में पहुंची तो फीनिक्स में समाचारों का तांता बंध गया। 'फलां स्टेशन से ६०० आदमियों को ट्रेन में भरकर वालक्रस्ट ले जाया गया है,' 'इतने सौ व्यक्तियों को जेल दी गई है,' 'ट्रेन भर कर हड़तालियों को खानों में लौटा लाया गया है,' 'खानों को ही जेल बना दिया गया है,' 'खानों के चारों ओर पुलिस का घेरा डाल दिया गया है,' 'जेल में कपड़े की कमी पड़ गई है,' 'गिरजाघरों में भी कैदियों को भर दिया गया है,' इत्यादि समाचार हमें उठते-बैठते सतत मिलने लगे। मानो हम प्रत्यक्ष रणक्षेत्र के मोर्चे पर ही हों।

गिरमिट मजदूरों के पराक्रम सुन-सुनकर हमारे जैसे छोटे बच्चों का मन भी वीरता से भर जाता था। कोयले की खान के मालिकों का गुस्सा दिन-दिन बढ़ता जा रहा था। जब समझाकर, मनाकर और धमकाकर वे मजदूरों को दुबारा काम पर नहीं बुला पाए तब उन लोगों ने छांट-छांटकर तगड़े मजदूरों पर चमड़े के कोड़ों की मार शुरू कर दी। हमने सुना कि कोड़ों की मार से पीठ की सारी चमड़ी उधड़ जाने पर भी हमारे भारतीय वीरों ने काम पर जाना स्वीकार नहीं किया। तब और भी आग-बबूला होकर उन गोरे प्रभुओं ने उन वीर मजदूरों की स्त्रियों के भी कोड़े लगाए। अगुवाओं को कोठरियों में अलग-अलग बन्द करके ताले लगा दिये गए। परन्तु इस आतंक से वे मजदूर जरा भी दबे नहीं, बल्कि हड़ताल

की आग जहां नहीं पहुंची थी उन खानों में भी पहुंच गई। सुबह से शाम दुगने और शाम से सुबह चौगुने मजदूर हड़ताल में शामिल होने लगे।

खान के मालिकों के दिमाग का पारा अब बहुत ऊंचा चढ़ गया। जब खानों की गहराई से पानी को फेंकते रहने वाले पंपों को चलाने का काम बन्द हो जाने की नौबत पहुंची तब तो उनकी बेचैनी का कोई ठिकाना ही न रहा। भारतीय मजदूरों की जगह उन्होंने नेटाल प्रान्त के आदिवासी जूलुओं को पंप चलाने के काम पर लगाया। यद्यपि शरीर में जुलू लोग भारतीयों के मुकाबले ड्योढ़े-दुगने तगड़े होते हैं, उनके हाथ-पैर के स्नायु शेर के स्नायु जैसे सुगठित दीखते हैं, फिर भी वे सतत परिश्रम करने में भारतीय मजदूरों का मुकाबला नहीं कर पाते थे। थोड़ी ही देर में वे थक जाते। देर तक एक काम पर जुटे रहने की उनकी आदत ही नहीं होती। अधिक मजदूरी देने पर भी शाम से पहले वे उस काम को छोड़ जाते थे। इस प्रकार भारतीय मजदूरों के बिना कोयले की खानों में हानि बढ़ती गई। तब गोरे मालिक क्रोधांध होकर हड़तालियों पर और भी सितम ढाने लगे। परन्तु ज्यों-ज्यों उनका कहर बढ़ता गया त्यों-त्यों हड़ताल का दावानल भी अधिकाधिक दूर तक फैलता गया। यहां तक कि चार्लसटाउन व न्यूकेसल के आस-पास की वह हड़ताल पचासों मील आगे बढ़ती हुई हमारे फीनिक्स की चौहद्दी पर आ पहुंची। और इस तरह हम लोगों को यानी फीनिक्स के नाबालिगों को, सत्याग्रह के उस अपूर्व युद्ध-मोर्चे पर उपस्थित होने का जो सौभाग्य प्राप्त नहीं हो रहा था, वह प्राप्त हो गया। हम मोर्चे पर नहीं जा पाये तो वह मोर्चा खुद हमारे आंगन में ही आ गया।

फीनिक्स के चारों ओर चीनी की बहुत-सी मिलें थीं। उनके गिरमिटिये मजदूर अपने-आप हड़ताल में शामिल हुए। बिना किसी के कहे-सुने, बिना किसी के निमन्त्रण के फीनिक्स में आसरा लेने आ गए। गांधी-बाबा का वहां घर था इतना उनको मालूम था। पांच-पन्द्रह आदमियों की आबादी वाले हमारे फीनिक्स आश्रम में अब हजारों आदमियों की रौनक हो गई। सुबह से शाम तक नये-नये दल आते ही गए। पूछने पर वे कहते थे: "हमारे राजा को सरकार ने कैद किया है, उसकी रानी और बच्चों को भी कैद किया है; तो फिर हम क्यों काम करें ?"

उन भोले लोगों को 'नेता', 'अगुआ' आदि शब्दों का भी ज्ञान नहीं था। उन्होंने बापूजी को, जो उनके सुख-दुख के साथी थे, 'राजा' की संज्ञा दे दी थी।

भारत के प्राचीन इतिहास में जहां कहीं भी शस्त्रयुद्ध की कहानी पढ़ने को मिलती है, बहुधा यह विवरण मिलता है कि ज्यों ही राजा कैद कर लिया जाता था या वह घायल हो जाता था तो उसके दल के सैनिकों

में तत्काल भगदड़ मच जाया करती थी और विरोधी पक्ष अकस्मात विजयी हो बैठता था। यह प्राचीन परम्परा दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह-संघर्ष में जड़-मूल से बदल गई। गिरमिटिया मजदूरों में न तो कोई तालीम पाये हुए सैनिक थे, न जन्मजात क्षत्रिय; अधिकतर लोग शूद्र थे। उन्हें हम छोटे बच्चे भी गया-गुजरा समझते थे। हब्शी पड़ोसियों से जान-पहचान करने में हमें आनन्द आता था, परन्तु गन्ने के खेतों में गोरे मालिकों की मजदूरी में अपमानित होकर दिन-रात जुटे रहने वाले अपने भाइयों को देखकर हल में जुते हुए बैलों के प्रति होने वाला भाव हमारे मन में पैदा होता था।

ऐसे दीन और श्रीहीन गिरमिटियों में, बापूजी के अहिंसामय सत्याग्रह आन्दोलन ने बिजली की-सी शक्ति पैदा कर दी थी। बड़े-बड़े सुसंस्कारी और पढ़े-लिखे शिष्टजनों को मात कर देने वाले महान सदगुण और पराक्रम की झलक उन गिरमिटिया मजदूरों ने बताई। नेटाल में प्रायः पौन लाख भारतीय मजदूर गोरों की गुलामी में थे। अमरीका के हब्शी गुलामों और दक्षिण अफ्रीका के इन भारतीय अर्धगुलामों के दुख-दैन्य की कहानी करीब एक-सी ही अकथनीय थी।

न्यूकेसल के कोयले के क्षेत्र में, जो अधिक विस्तृत नहीं था, श्रीमती थम्बी नायडू की टोली ने हड़ताल की आग फैलाने में तेल छिड़कने तथा दियासलाई देने का काम किया था। परन्तु फीनिक्स के आस-पास गन्ने के खेतिहर मजदूरों में हड़ताल का प्रचार करने के लिए शायद ही कोई गया हो। वहां प्रचार करना आसान भी नहीं था। डरबन से उत्तर में पचास मील से भी अधिक दूरी तक गन्ने की खेती के क्षेत्र फैले हुए थे। चीनी की मिलों के माउंटेज़कम्ब, वेरुलम, टोंगाट, स्टेंगर, अमजीन्टो आदि बड़े केन्द्र फीनिक्स आश्रम से दस, बीस और पचास मील तक दूर थे। वहां के गिरमिट मजदूरों को बापूजी के संपर्क में आने का प्रसंग कभी आया ही नहीं था। तब बापूजी महात्मा नहीं बने थे, न 'गांधी' शब्द में तब कोई जादू ही समाया था।

इस पर भी अज्ञान के दलदल में फंसे हुए इन हतभागे भारतीयों के अन्तर में न्याय को प्राप्त करने और अन्याय का प्रतिरोध करने के लिए ज्वाला भड़क उठी। बापूजी के विशुद्धतम और अति उग्र तप का यह परिणाम था, भारतीय महिलाओं के अहिंसक आक्रमण का यह सुफल था और निष्ठावान सत्याग्रहियों के 'मर जायंगे पर झुकेंगे नहीं,' इस अटल संकल्प का यह परिणाम था।

नेटाल प्रान्त का शायद ही कोई कोना ऐसा बचा होगा जहां पर भारतीय

गिरमिटिये गोरे मालिकों की नौकरी में बांधे गए हों और वहां पर हड़ताल की आग न पहुंची हो। आश्चर्य की बात यह थी कि बापूजी, श्री पोलक और श्री कैलनबैक जैसे प्रभावशाली नेता ही नहीं, छोटे-मोटे प्रायः सभी प्रचारक कारागार में पहुंचा दिये गए थे। बाहर की प्रवृति से जेल में बैठे हुए नेताओं का संपर्क पूरा-पूरा कटा हुआ था। न कोई प्रचारक थे, न भाषण-प्रवीण दूत थे, न दैनिक पत्रिकाओं की बाढ़ थी, न किसी प्रकार के गुप्त व सांकेतिक संदेशों का सिलसिला था। रेल, मोटर, तार-टेलीफोन, घोड़े-साइकिल से या पैदल ही रोज-रोज के कार्यक्रम को स्थल-स्थल पर पहुंचाने का आयोजन या प्रयास भी नहीं किया गया था। उन अबूझ लोगों की आत्मा अपने-आप जग उठी थी और कष्ट-ही-कष्ट भुगतने वाले इस संघर्ष में वे लोग स्वयं प्रेरित होकर अपने-आप कूद पड़े थे। प्रति दिन दक्षिण अफ्रीका की सरकार के विरुद्ध वह अहिंसक आक्रमण दुगने से चौगुना होता चला जा रहा था। मानो किसी दैवी शक्ति द्वारा उन सहस्रों श्रमिकों का संचालन, संगठन और सर्वार्पण कराया जा रहा हो! बापूजी ने अपने हृदय में जिस पुनीत ज्योति को जगाया था वह गूढ़ तरीके से अपने देश-भाइयों की अन्त-र्ज्योति को, 'दीप-से-दीप' के न्याय से जगा रही थी।

रावजीभाई को, जो सोलह सत्याग्रहियों की प्रथम टोली में गिरफ्तार होकर उस समय जेल में थे, नेटाल के उन परगनों का अधिक परिचय था, जहां चीनी की मिलें और गन्ने की खेती करानेवाले गोरे जमींदारों की कोठियां थीं। जेल से छूटने के बाद उन्होंने वहां के अपने परिचित मित्रों से उन हड़तालियों की वीरता और संस्कारिता की कहानियां सुनी थीं। उसका वर्णन उन्होंने अपनी पुस्तक "गांधीजी की साधना" में इस प्रकार किया है:

"गांधीजी को ऐसी एकान्त जेल में बन्द किया गया था कि उनके विचारों का संक्रामक रोग भूलकर भी अन्य भारतीयों तक न पहुंच जाय। इस बार सरकार ने अपनी ओर से पूरी खबरदारी से काम लिया था। परन्तु उनकी गिरफ्तारी के बाद जिन्होंने गांधीजी का नाम तक सुना न होगा या वे कैसे आदमी हैं इसकी झांकी तक न देखी होगी ऐसे हजारों भारतीय गिरमिटियों के हृदय उमड़ पड़े; जो अज्ञान थे, एक प्रकार के जंगली वातावरण में ही पड़े हुए थे, उन्होंने हड़ताल कर दी। वहीं पर वे रुके नहीं; कुछ कोठियों से दो-दो सौ मजदूरों के दल हड़ताल करके सीधे अपने परगने के हाकिम की कचहरी में पहुंचे। वहां पुलिस और मैजिस्ट्रेट के सामने उन्होंने ऐलान किया: 'हमें सजा दो, हम लोगों को जेल भेज दो, हमने गिरमिट का कानून तोड़ा है; गिरमिटिये मजदूर होते हुए हम लोगों ने हड़ताल की है और अपने-अपने मालिक की आज्ञा के बिना ही भाग कर

हम यहां आये हैं। हम पर मुकदमा चलाओ और हमें जेल भेज दो।'

"उनकी यह निर्भय पुकारें सुन-सुनकर पुलिस हाथ में कोड़े लेकर उनको डराने-धमकाने लगी। मैजिस्ट्रेट कहता, 'भाई! तुम लोगों ने कोई कसूर नहीं किया, लौट जाओ अपने काम पर।' तब वे भोले गिरमिटिये मजिस्ट्रेट से पूछते थे : 'हमारे गांधीराजा ने और उनकी रानी ने तथा उनके कुंअरों ने क्या कसूर किया था? हमें भी उनके साथ जेल भेज दो। या उनको छोड़ दो।' अन्त में मैजिस्ट्रेट कहता, 'चलो, तुम लोगों को आठ दिन की कैद दे दी गई।' गिरमिटिये पुकारते, 'नहीं, तीन-तीन महीने की कैद से कम नहीं लेंगे।' तब हार मानकर मैजिस्ट्रेट उनको एक महीने की सजा दे देता और सबके नाम लिखकर उन लोगों को पुलिस के हवाले कर देता।

"ये लोग जेलों के फाटक में प्रवेश करते समय 'गांधी राजा की जय!' और 'वन्देमातरम्' के नारे लगाते और सारी जेल में वे नारे गूंज उठते थे।

"दूसरी ओर जो छुट-पुट मजदूर भिन्न-भिन्न गोरों की दुकानों में—कंपनियों में—नौकरी करते थे उनमें से भी प्रत्येक ने काम छोड़ने का सिलसिला अपनाया। ये तो अपना स्वतन्त्र जीवन बिताने में समर्थ थे परन्तु गिरमिटिये मजदूर बिलकुल लाचार थे। डरबन के चारों ओर पचास-साठ मील के क्षेत्र में हड़ताल फैल चुकी थी। उनकी सेवा और सहायता के लिए, उनको अनाज पहुंचाने के लिए, डरबन के व्यापारियों ने अपनी दुकानों से व्यवस्था की। भूख का कष्ट किसीको उठाना न पड़े ऐसी कोशिश उन सहृदय लोगों ने की।

"उन मजदूरों को मार्गदर्शन कराने वाला कोई समर्थ या नामी, नायक नहीं था, फिर भी सत्याग्रह के नियमों पर वे लोग समझ-बूझ कर कायम रहे। डरबन शहर में उन घरों पर शान्त धरने बैठाये गए, जहां भारतीय मजदूर काम पर थे। साथ-साथ स्वयं मजदूरों ने ही यह आदेश अपने मजदूर भाइयों को दिया कि जो लोग अस्पतालों में म्युनिसिपैलिटी के स्वच्छता-विभाग में हों, वे काम न छोड़ें। अर्थात् उस निरंकुश हड़ताल में भी नैतिक नियमन कायम रहा।

"सरकार से यह सहन नहीं हो सकता था। उसने अपना पूरा बल लगा दिया। हड़ताली लोग अशांति और ऊधम मचावें ऐसे सुयोजित प्रयत्न सरकार की ओर से किये गए। हड़ताली लोग दंगा-फिसाद पर उतारू हों कि फौरन ही उनपर गोली आदि की बौछारें करके हजारों को मटियामेट कर देने की बाकायदा व्यवस्था की गई। परन्तु सरकारी अफसरों की मुराद पूरी न हुई। भारतीयों ने शांति-व्रत का पूरा-पूरा पालन किया।

फिर भी 'पत्थर फेंके गए' का बहाना बनाकर पुलिस ने छुट-पुट गोलियां चला ही दीं और चार निर्दोष गरीबों की हत्या कर डाली।"

अशिक्षित, व्यसनी, अज्ञानी और चरित्रहीन माने जाने वाले उन भारतीय मजदूरों ने क्या-क्या सहन किया, इसकी कल्पना उस एक प्रसंग से मिलेगी जिसकी आंखों देखी बात एक सुप्रतिष्ठित अफ्रीकी मूलनिवासी पढ़े-लिखे सज्जन श्री जान डुबे ने मि० पियर्सन और श्री रावजीभाई को सुनाई थी :

"मैं भारतीय मजदूरों को जंगली मानता था और उन्हें घृणा से देखता था। पर अब प्रत्येक भारतीय के प्रति मेरे दिल में बड़ा आदर-भाव पैदा हो गया है। हम हब्शी लोगों में भारतीयों की वह दिव्य शक्ति नहीं है। अपनी आंखों से जो मैंने देखा, उससे चकित रह गया हूं। सत्याग्रह आन्दोलन चल रहा था। एक दिन मैं डरबन से आ रहा था। फीनिक्स स्टेशन पर उतर कर अपने यहां जा रहा था। कुछ दूर जाने पर रास्ते के एक छोटे से मैदान में प्रायः पांच सौ भारतीय जमा होकर बैठे थे। अपनी कोठी में हड़ताल करके वे वहां पर आये थे। गोरा मैनेजर, उसके आदमी और गोरी पुलिस उनके चारों ओर घेरा डालकर खडी थी। मैं आधे घंटे तक यह देखने के लिए वहां रुका रहा कि क्या अन्जाम होता है। बैठे हुए भारतीयों की पीठ पर कोड़ों की मार पड़ने लगी। गोरे लोग बेंत और लाठी से उन्हें पीटते जाते थे और चीखते जाते थे, 'चलो उठो, काम करो, काम पर चलते हो या नहीं?' लेकिन कोई उठा नहीं। किसी भारतीय ने अंगुली तक नहीं उठाई और ठंडे दिमाग से जवाब देते रहे, 'जब तक गांधीराजा जेल में हैं तबतक हम काम करने वाले नहीं हैं।'

"जब कोड़ों और लाठियों की मार से मामला सुलझा नहीं तब बन्दूक के कुन्दों का प्रयोग शुरू हुआ। पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों और बच्चों पर भी चोटें पड़ने लगीं। कुछ तो 'हाय-हाय' करके रो पड़ते थे, किन्तु अपनी जगह से हटते नहीं थे। अन्त में घुड़सवार आये और उन पर घोड़े दौड़ाये गए। कुछ आदमियों के पैर और पीठ के ऊपर घोड़ों की टापें पड़ीं। उनकी चमड़ी छिल गईं। घोड़ों और लातों की चोट भी पड़ी। लेकिन वे लोग वहां से हटे नहीं।

"इस बीच एक मुकादम को पकड़ करके वहां लाया गया। वह इन लोगों का अगुवा माना जाता था। उसने तो और भी साहस के साथ गोरों को उत्तर दिया। उस निर्भीक उत्तर के इनाम के रूप में उस पर बेहद जुल्म किया गया। इस अत्याचार को देखकर मेरे रोंगटे खड़े हो गए।

मारपीट से भी जब वह मुकादम झुका नहीं तब पुलिस अफसर ने हब्शी पुलिस से डपट कर कहा, 'देखते क्या हो ? वेध डालो इसे अपने भाले से; इसी बदमाश का यह सब षड्यंत्र है।' उस हब्शी पुलिस ने तत्काल आज्ञा का पालन किया और मजदूरों के उस नेता को भाले से वेध डाला। इस घटना से भारतीयों में जोश आ गया। इस बहाने गोली चलाकर और भी दो को भून डाला गया। वह नेता स्वर्ग पहुंच गया, दूसरे आहत हुए, फिर भी भारतीय लोग ज्यों-के-त्यों वहीं बैठे रहे। उनमें से एक भी भागा नहीं, हटा नहीं।"

अपनी कथा समाप्त करते हुए श्री डूबे ने कहा: "मैं गोरे लोगों की इस क्रूरता से कांपता हुआ और भारतीय भीड़ की सहनशीलता और दृढ़ता से आश्चर्य-चकित होता हुआ घर लौट आया।"

: ५८ :

तपोधन मगनकाका

गोस्वामी तुलसीदास ने पार्वती के तप का मार्मिक वर्णन करते हुए रामायण में लिखा है, 'बिसरी देह तपहिं मनु लागा।' कुछ इसी प्रकार का तप बापूजी के जेल जाने के बाद मगनकाका फीनिक्स में रहकर करते रहे।

जो लोग कारागृह में डाल दिये गए थे वे सत्याग्रह संग्राम के संचालन के प्रत्यक्ष बोझ से निवृत्त हो गए थे। किन्तु जो बाहर रह कर उस भारी भार का वहन कर रहे थे उनमें मगनकाका, कुमारी स्लेशिन और श्री वेस्ट के नाम अग्रगण्य थे। बापूजी के सत्याग्रह के तरीके को समझने की अदम्य शक्ति के स्रोत को जानने के लिए मगनकाका के काम तथा तप का परिचय देना आवश्यक है।

जैसा कष्टमय जीवन मगनकाका घर में रह कर फीनिक्स में बिता रहे थे उसकी तुलना में कारागार के कष्ट अल्प ही कहे जायंगे। सबसे बड़ी बात यह थी कि उस समय फीनिक्स में वह अकेले भारतीय थे, जिनको सत्याग्रह-युद्ध की गतिविधि पर स्वयं मनन-चिंतन करके ध्येय-पूर्ति के लिए सत्य और अहिंसामय संघर्ष पर प्रेरणात्मक विचार 'इंडियन ओपीनियन' पत्र में प्रति सप्ताह प्रकाशित करते रहते थे। भारतीयों के भीषण अपमान

और उत्पीड़न की गाथाएं नेटाल-ट्रान्सवाल के हर क्षेत्र से दिन-रात आया करती थीं। उन आघातों को पीकर उन्हें दक्षिण अफ्रीका के भारतीय भाइयों में शान्ति और धैर्य कायम रखना था। इस भारी संपादकीय काम के साथ-साथ साप्ताहिक का मुद्रण और प्रकाशन तथा हम सब बच्चों का संगोपन और शिक्षण आदि से उनका सारा समय भरा हुआ था। अब उन पर हड़तालियों के स्वागत का काम और आ गया। मगनकाका मजबूत और गठे हुए बदन के थे। लेकिन काम के बोझ से उनकी देह सूखती गई। उस समय यह अनुमान नहीं था कि यह भारी संघर्ष कब तक चलाना पड़ेगा; परन्तु तीन महीने बाद जब समझौता हुआ और सब जेलवासी फीनिक्स में आ गए तब बा-बापू की तरह ही, शायद उनसे कुछ अधिक, मगनकाका दुर्बल हो गए थे। उनका शरीर आधा भी नहीं रह गया था। लेकिन तपोमय जीवन के कारण उनके स्वभाव की उग्रता धुल-सी गई थी और उनमें शान्ति तथा प्रसन्नता का अनन्य विकास हुआ था।

मगनकाका की दिनचर्या उस समय एक पक्के तपस्वी की दिनचर्या थी। ब्राह्म-मुहूर्त्त से पूर्व रात में दो या ढाई बजे उठकर वह 'इंडियन ओपीनियन' के लिए लिखने बैठ जाते थे। अरुणोदय होने तक उनके बिस्तर पर उनके लिखने के कागजों का ढेर लग जाता था। लिखने में कांटछांट मुश्किल से कहीं नजर आती थी और उनका प्रत्येक अक्षर एक-सा सुन्दर व छपा हुआ-सा प्रतीत होता था। आठ-साढ़े आठ बजने से पहले ही दतौन आदि से निबट कर, जलपान किये बिना, वह छापाखाना में पहुंच जाते थे। फीनिक्स में प्रातःकाल जलपान करने का चलन था, परन्तु इस अवधि में मगनकाका ने जलपान का त्याग कर रखा था। ब्राह्म-मुहूर्त्त में उठने पर भी चित्त की एकाग्रता में विक्षेप न हो इस हेतु से लिखने की समाप्ति तक वह कुल्ला-दतौन भी नहीं करते थे। छापाखाना में कम्पोज करना, प्रूफ पढ़कर सुधारना, डाक के ढेर का निपटाना इत्यादि कामों की सदैव भरमार रहती थी। मध्याह्न में मुश्किल से हम लोगों के साथ भोजन के लिए वह पौन घंटा निकाल पाते थे। इसके सिवा संध्या के समय एक घंटा बगीचे में खुदाई करने के लिए प्रेस से बाहर आते थे। फिर रात को प्रायः नौ बजे तक छापाखाना का काम करके घर लौटते थे। सोने से पहले प्रायः घंटा-भर तक फिर लिखने का काम करते थे।

जो काम बालकों के जिम्मे किये गए थे उनमें बार-बार मगनकाका के पास पूछने और मार्गदर्शन के लिए हमें जाना पड़ता था। एक-न-एक बालक हर आध-पौन घंटे बाद अपनी समस्या लेकर उनके पास पहुंच जाता था। स्वभाव के कड़े उग्र होने पर भी वह प्रत्येक बालक को प्रत्येक

वार शान्तिपूर्वक ही नहीं उत्साहपूर्वक उत्तर देते थे और बारीक-से-बारीक बात समझाने से चूकते नहीं थे। यदि कभी प्रेस में वह नहीं मिलते तो मैं उनकी तलाश में निकल पड़ता था। एक-दो बार भरी दुपहरी में दो-तीन बजे के समय मैंने छापाखाने के सामने ऊंची हरी दूब पर उनको लेट लगाते हुए पाया था। मेरे पहुंचते ही वह उठ बैठते थे और स्नेहवत्सल स्वर से पूछते थे "क्या काम है ?" फिर स्वयं ही बताते थे, "छापाखाना में काम करते-करते आंखें भारी हो गईं, शरीर काम नहीं दे रहा था तब मैंने यहां आकर दस-पन्द्रह मिनट लेट लगा ली। बिस्तर पर सोने की अपेक्षा खुली जमीन पर लेटने से बड़ा लाभ होता है। यह मिट्टी हमारे शरीर की थकावट को बहुत जल्दी चूस लेती है। सचमुच धरती माता का हम पर अगाध उपकार है। केवल दस मिनट लेट लगाने से शरीर में ताजगी आ जाती है।" संक्षेप में काम के बोझ को पूरा करने के लिए अल्पाहार, फलाहार और अत्यल्प निद्रा की साधना में मगनकाका ने अपने को बड़ी कड़ाई से बांध रखा था।

अपनी काया से कठोरतापूर्वक काम लेने के साथ-साथ अपने चित्त को उत्तेजित और क्रोधित न होने देने के लिए भी वह अत्यधिक सावधान रहते थे; इस बात का पता नीचे की एक घटना से चलेगा।

साधारणतया फीनिक्स का जलवायु आरोग्यदायी और श्रेष्ठ था। वहां पर बीमारी का दर्शन क्वचित् ही होता था। परन्तु मानो, मगनकाका की कसौटी के लिए ही उन दिनों शीत-ज्वर ने वहां अपना प्रताप दिखाया। दस बालकों में से पांच-छः बालक शीत-ज्वर के शिकंजे में जकड़ गए। और अन्त में खुद मगनकाका को भी मलेरिया ने बिस्तर पर पटक दिया। कुनीन या अन्य चूर्ण आदि का प्रयोग बापूजी ने फीनिक्स में निषिद्ध कर रखा था। हर बीमारी का मुकाबला प्राकृतिक चिकित्सा से ही किया जाता था। यह चिकित्सा वैसे बहुत अच्छी है, परन्तु उसमें रोगी की सेवा करने में बहुत श्रम उठाना पड़ता है और चिकित्सक को इस विधि में अपना बहुत समय देना पड़ता है। काम का भारी बोझ होते हुए भी मगनकाका ने प्रत्येक रोगी बालक के लिए समय दिया और बिना प्रमाद के पूरी शुश्रूषा की।

प्रथम तो रोगी के आहार में आवश्यक परिवर्तन किया, फिर जिनको बुखार आया था उनको दिन में दो-तीन बार वाष्प-स्नान कराया। वाष्प-स्नान के लिए पानी खौलाना, रोगी को भाप देना, उसके कपड़े बदल देना और विधिवत सुला देना ये सभी काम वे बिना थके करते। रोगी बालक को जेल में गई हुई माता का स्मरण दुखी न करे, इस वत्सलता से मगनकाका उन पर अपना प्रेम बरसाते थे। लेकिन जब वह स्वयं पीड़ित हुए

तव उन्होंने हम लोगों से कम-से-कम सेवा ली।

एक दिन ज्वर कुछ कम हो जाने पर मगनकाका विस्तर से उठकर प्रेस में काम करने चले गए थे। वहां पर उनका शरीर ढीला पड़ गया और ज्वर का आक्रमण फिर से होने की आशंका पैदा हुई। इससे वचने के लिए उन्होंने भाप-स्नान करना चाहा और मुझसे कहा, "घर जाकर चूल्हा जला दो और उस पर पानी चढ़ा दो; तव तक मैं आता हूं फिर भाप ले लूंगा।" परन्तु मैं घर आकर उस कर्तव्य को भूल गया और घर आकर खेल में लग गया। मैं काम में काफी धीमा हूं इस वात का हिसाव लगाकर मगनकाका करीव डेढ़ घंटे वाद प्रेस से आये। पर घर में आने पर उन्होंने मुझे खिड़की में मस्ती से वैठा हुआ और खेल करता हुआ पाया। मैंने पानी गरम करने की कोई तैयारी नहीं की थी। मगनकाका ने आकर चुपके से मेरे कन्धे पर अपने कमजोर हाथ रखे तो मैं सकपका गया। लगा कि अभी एक थप्पड़ मुंह पर पड़ जायगा। परन्तु उन्होंने तो मेरे सिर पर अपना वत्सल हाथ फेरा और मधुरता से वोले "अभी तक तूने चूल्हा भी नहीं जलाया? चल, अव और देर मत कर। आ मैं तुझे जल्दी से चूल्हा जलाना सिखाता हूं।"

यह कह वह मुझे अपने साथ रसोईघर में ले गए। चूल्हा सुलगाया, चटपट पानी गरम किया और मुझसे छोटी-मोटी सहायता लेकर वाष्प-स्नान करके सो गए। उस दिन की क्षमा का मुझ पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि मगनकाका का इशारा भी मुझे महान आज्ञा के रूप में प्रतीत होने लगा।

अहिंसा की उपासना में मगनकाका कितना आगे वढ़ते जाते थे उसका एक दूसरा प्रसंग यहां देना अनुचित न होगा।

एक वार कृष्णपक्ष की अंधेरी रात में लगभग दस वजे जव सव वालक सो रहे थे मैं शौच-निवृत्ति के लिए अपने वगीचे के शौचालय में गया। जव लौटकर आया तो घर के दरवाजे पर मैंने एक सुन्दर चित्तीदार तीन पहलूवाली अजीव लकड़ी पड़ी देखी। आश्चर्यचकित होने पर मैंने अपने हाथ की लालटेन का प्रकाश उसपर डाला और तत्काल समझ गया कि यह तो सांप है। मैंने कूदकर देहलीज पार कर ली और सीधा मगनकाका के पास पहुंचा। वह अपने विस्तर पर वैठे लिख रहे थे। मैंने उनको सांप की सूचना दी। तीन-चार दिनों से उनके पैर में एक भारी फोड़ा निकल आया था। इस कारण उनको अपनी जगह पर वैठे ही रहना पड़ता था। फोड़े पर मिट्टी की भारी पट्टी रखी हुई थी। सांप की वात सुनकर वह लंगड़ाते हुए उठे और देहलीज़ के पास आये। तव तक सांप किवाड़ और चौखट के वीच की दरार से घर में आया घुस आया था। समय-सूचकता से मगन-

काका ने किवाड़ को दवाया और सांप पकड़ में आ गया। फिर उन्होंने मुझसे सांप को फांसने की डोरी और लाठी मंगाई, जो हम लोग सदैव तैयार रखते थे। लाठी लाकर मैंने मगनकाका को दी। उन्होंने मुझको वह किवाड़ मजबूती से दवाकर रखने के लिए कहा, जिसमें सांप का आधा शरीर दवा हुआ था। फिर उन्होंने चतुराई से लकड़ी और रस्सी के बीच सांप की गरदन को पकड़ लिया। सांप की जाति का परीक्षण करके उन्होंने बताया कि "यह अत्यन्त जहरीला है। तुमने इसे देख लिया यह हमारा सद्भाग्य। यदि वालकों के विस्तर तक पहुंच जाता तो वड़ी बुरी बात होती। ईश्वर ने ही सबकी रक्षा की है।"

उस समय उस सांप को मगनकाका मार डालें, इसके अतिरिक्त और कोई उपाय मेरी समझ में नहीं आ रहा था। मुझमें वह बल या साहस नहीं था कि मैं उस सांप को उठाकर ले जाऊं। मगनाकाका से चला नहीं जाता था। परन्तु उन्होंने सांप को मार डालने के बजाय स्वयं दुख उठाना ही पसन्द किया। लालटेन लेकर आगे-आगे रास्ता दिखाने का उन्होंने मुझे आदेश दिया और खुद उस बोझ को लेकर लंगड़ाते हुए जंगल की ओर चल पड़े। फीनिक्स आश्रम की जमीन पार करने के बाद विलायती ववूलों के घने जंगल में पहुंचने पर, सांपों के रहने के लिए अनुकूल और मनुष्य के लिए कम खतरे वाली जगह देखकर, उन्होंने सांप को जमीन पर रखा और रस्सी का फंदा ढीला करके उसे मुक्त कर दिया। धीरे-धीरे रेंगता हुआ दो मिनट में वह सांप घनी घास में चला गया। मगनकाका उसे तव तक एकटक देखते रहे, जब तक वह अदृश्य नहीं हो गया। मानो इतना भी कष्ट देने के लिए वह उससे मन-ही-मन क्षमा मांग रहे थे। फिर अपने पैर के फोड़े की पीड़ा को सहन करते हुए, लंगड़ाते-लंगड़ाते वह घर लौटे। मुझे ईश्वर की अगाध दया और महिमा के दो शब्द सुनाये और ढाढ़स देकर तथा निर्भय बनाकर सुला दिया। इसके बाद भी वह जागते रहे और लिखते रहे। सबेरे उठने के बाद ही देवदासकाका को और दूसरों को रात की सांप की कहानी बताई गई।

यह सारी कहानी तब की है जब फीनिक्स खाली और सूना था। जब हड़ताल वाले गिरमिटिये मजदूरों की बाढ़ फीनिक्स में आनी शुरू हुई तब तो मगनकाका के परिश्रम की पराकाष्ठा हो गई। एक-एक रात में कभी छः सौ तो कभी आठ सौ व्यक्ति आ पहुंचते थे। जो दल आता था उसे दो शब्द आश्वासन और स्वागत के कहने होते थे और ठहरने-लेटने की जगह बतानी होती थी। दिन का समय हो तो उनके भोजन आदि का प्रबन्ध भी करा देना पड़ता था। रात में एक दल को जगह देकर आध-पौन घंटा

की नींद लें उससे पहले ही नए हड़तालियों के आ पहुंचने पर उन्हें उठना पड़ता था। दिन-भर के काम के बाद रात का यह काम बहुत ही थका देने वाला होता था। परन्तु मगनकाका एक दिन भी उत्तेजित नहीं हुए और सभी काम पूर्णता से निभाते रहे।

बापूजी ने जिस उच्च ध्येय से अहिंसा के युद्ध का आरम्भ किया था उसी उच्च भूमिका तक उठकर मगनकाका ने उस युद्ध में अपने को खपा रखा था। यह सही बात है कि मगनकाका सत्याग्रह-युद्ध के अग्रणी या नेता नहीं थे। फिर भी कुशल और बहादुर योद्धा तो थे ही। उनकी यह विशेषता थी कि इतिहास-लेखकों की कलम से अपने को सर्वथा मुक्त रखने में उन्होंने सफलता पाई थी। मूक तप उनके जीवन का सूत्र था। तुलसी रामायण की जिस चौपाई का वह वारवार रटन करते थे उसे उन्होंने अपने आचरण में भी उतारा था। वह चौपाई थी :

अति सुकुमार न तनु तप जोगू,
पतिपद सुमिरि तजेउ सब भोगू।
नित नव चरन उपज अनुरागा,
बिसरी देह तपहिं मनु लागा॥

: ५६ :

बापू के बाल-स्वयंसेवक

अमंत्रमक्षरं नास्ति नास्त्य मूलमनोषधम्।
अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः॥

"एक भी अक्षर ऐसा नहीं जो मंत्र का काम न दे, कोई भी बनस्पति ऐसी नहीं जो औषधि के काम न आवे और ऐसा एक भी मनुष्य नहीं जो योग्य न हो, कमी है सबको परख कर ठीक काम में लगाने वाले की।"

बापूजी एक ऐसे विरल योजक थे जो हरेक मनुष्य की शक्ति को परख लेते थे और उस शक्ति को ऊंचे काम में लगा देते थे। फिर वह पुरुष हो, स्त्री हो, वृद्ध हो या छोटा बालक ही क्यों न हो। प्रत्येक को भरसक काम में लगाना और उसकी बुद्धि तथा कर्त्तव्य-भावना को बढ़ाना बापूजी की शिक्षा-नीति का उद्देश्य था।

बच्चों से भी कितना अच्छा काम हो सकता है इसका उल्लेख बापूजी ने दक्षिण अफ्रीका के इतिहास की अपनी पुस्तक में दिया है : "अब फीनिक्स, न्यूकेसल की तरह वायव्य दिशा के हड़तालियों का केन्द्र बन गया। सैकड़ों ने वहां पहुंचकर सलाह और आश्रय लेना आरम्भ किया। इस वजह से सरकार की दृष्टि फीनिक्स की ओर गए बिना कैसे रहती? आस-पास रहने वाले गोरों की आंख भी लाल हुई। फीनिक्स में रहना अंशतः खतरनाक बन गया, लेकिन छोटे-छोटे बालक भी हिम्मत के साथ खतरे से भरे हुए कामों को करने लगे।"

दूसरी जगह 'इंडियन ओपीनियन' में बापूजी ने सन् १९१४ के एक विलेष लेख में लिखा है :

"फीनिक्स में जो पीछे रह गए थे उनमें सोलह वर्ष से कम आयु वाले लड़के भी थे। उन्होंने और कार्यकर्ताओं ने जेल के बाहर होने पर भी जेल में जाने वालों से अधिक करके दिखाया। उन लोगों ने दिन-रात का भेद मिटा दिया। अपने साथियों और बड़ों के छूटने तक के लिए उन्होंने कठिन व्रत लिये। अलोने आहार पर गुजर की और खतरे वाले कामों को निर्भीक होकर किया। जब विक्टोरिया काउंटी में हड़ताल हुई, तब सैकड़ों गिर-मिटियों ने फीनिक्स में आसरा लिया। उनका आतिथ्य करना एक बड़ा काम था। गिरमिटियों के मालिकों द्वारा हमला होने का डर होते हुए भी निर्भीकता से काम करते रहना विशेष बड़ा कार्य था। पुलिस वहां पहुंची, श्री वेस्ट को गिरफ्तार किया। औरों का पकड़ा जाना भी संभव था; इन सब बातों के लिए तैयारी रखी गई। पर एक आदमी भी फीनिक्स से हटा नहीं। मैं ऊपर बता चुका हूं कि इसमें केवल एक ही कुटुंब अपवाद रूप था। फीनिक्स के कार्यकर्ताओं ने इस अवधि में कौम की जो सेवा की है, उसका अनुमान भारतीय जनता लगा सके यह संभव नहीं है। वह गुप्त इतिहास अभी तक लिखा नहीं गया है। इसलिए उसका थोड़ा-सा अंश मैं यहां दे रहा हूं। यह इस आशा से कि किसी दिन कोई जिज्ञासु अधिक वृत्तांत प्राप्त करके फीनिक्स के कार्यकर्ताओं के काम का मूल्यांकन कर सके। अधिक लिखने का मुझे लालच हो रहा है, परन्तु फीनिक्स की बात को यहां पर छोड़ता हूं।"

मैं बता चुका हूं कि बापूजी आदि के जेल जाने पर मगनकाका के पास हम दस बालक रह गए थे। उनमें ग्यारह वर्ष की आयु का मैं और तेरह की आयु के देवदासकाका को छोड़ कर सभी बालक बहुत छोटे थे।

मगनकाका और देवदासकाका छापाखाने के काम में ही आकंठ डूब

रहते थे। भोजन के लिए आते थे तब भी उनमें बातें छापाखाना की ही चलती रहती थीं। उन दोनों को उठने से सोने तक छापाखाना के काम के कारण छोटे बच्चों के कामकाज पर ध्यान देने की बहुत कम फुरसत थी। फलतः बच्चों की देखभाल करने और उनकी आवश्यकताएं पूरी करने का उत्तरदायित्व मुझ पर था। ये बच्चे खेल-खेल में जितना काम कर दें इसके अलावा नित्यकर्म को पूरा करना मेरा काम रहता था। बिस्तर समेटना, बुहारना और रसोई का छोटा-मोटा काम करना। यदि वे बच्चे उन कामों को पूरा करने में मेरा हाथ न बंटाते तो मैं अकेला शायद ही उस काम को पूरा कर पाता।

काम करने से भी अधिक कठिन बात मेरे लिए यह थी कि मैं अपने बाल-साथियों को पूरी तरह अंकुश में नहीं रख पाता था। भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले बच्चों पर शासन जमाने के लिए आवश्यक कौशल मुझमें नहीं था, जितना देवदासकाका में था। उनसे मुझे अनेक बार, रूठने-ऐंठनेवाले बच्चों से काम लेने में सहायता मिलती थी।

हमारी इस नन्ही टोली में सबसे नटखट बालक था छोटम। उसका गुणगान करते हम थकते नहीं थे। छः वर्ष की आयु होने पर भी गुजराती, हिन्दी, तमिल और अंग्रेजी—-इन चारों भाषाओं में छोटम निःसंकोच बातों की झड़ी लगा देता था। उसके सवाल-जवाब से बड़े व्यक्ति को भी मात खानी पड़ती थी, साहसी इतना था कि मना करने पर भी जंगल के अनजाने चित्र-विचित्र फलों को चख कर देखा करता था, कुत्ते पर सवारी किया करता था, ऊंची घास में घुसकर जमीन पर बैठे हुए पक्षी को चुपके से पकड़ लाता था। एक बार फीनिक्स स्टेशन पर वह गया। स्टेशन-मास्टर की गैर-जानकारी में सिगनल भी गिरा दिया था। ऐसे महाशय से काम लेना आसान बात नहीं थी। पर जब मैं उससे कह देता कि इतना काम अपने हिस्से का पूरा करने के बाद आपको खेलने-कूदने की इजाजत है तो वह अपना सारा वानरपन भूल कर एकाग्रता से काम पर जुट जाता था, और सबसे पहले काम पूरा करने की कोशिश करता था।

छोटम को यदि उत्तर ध्रुव माना जाय तो भैयन दक्षिण ध्रुव के समान था। अफीमची को भी मात कर देनेवाला आलसी! दोनों हाथों से अपनी तोंद पर की पतलून उसे हर समय पकड़े रखनी पड़ती थी। बीच-बीच में मक्खी आदि को मुंह पर से हटाने के लिए एक हाथ मुश्किल से पतलून से ऊंचा कर पाता था। उसको झाड़ने-बुहारने आदि का काम देना बेकार था। उस काम पर लगाये रहने के लिए प्रायः घास खोदने का काम दिया

जाता था। लेकिन अपनी नन्ही फावड़ी कंधे से लगाकर अधिक समय वह अर्धोन्मीलित आंखों से समाधिस्थ-सा खड़ा रहता था।

आठ वर्ष का शान्ति मेरे और देवदासकाका के लिए सिरदर्द पैदा करने वाला था। काम करने का सामर्थ्य उसमें था, पर था वह बड़ा जिद्दी। कभी-कभी वगीचे में इधर-उधर निकल जाता तो घंटों तक उसका पता न चलता था। नाश्ते के समय तक मुंह भी न धोता और अपने विस्तरे के पास योंही आध-पौन घंटे तक खड़ा रहता। जब वह अड़ियल टट्टू की तरह अपने घुटनों को मिलाकर तिरछे पैर से खड़ा हो जाता, तब हमें उस पर बड़ा गुस्सा आता था। देवदासकाका और मैं उसे पुचकार कर समझाया करते थे कि जिद्द छोड़ दो, लेकिन वह अपने नथुने फुला कर हम लोगों को जोरों से डांट देता था, "तुम चौधरी क्यों बनते हो? हम हरगिज काम नहीं करेंगे। जाओ, कह दो मगनकाका से। हमें किसी का डर नहीं। जाओ, हमें नाश्ता भी नहीं चाहिए।"

जब इस मूर्ति से मैं थक जाता तब देवदासकाका को सौंप देता था। देवदासकाका भी उससे हार मान कर उसे मगनकाका के सामने खड़ा करते थे। अन्त में मगनकाका भी उकता कर कह देते थे, "तू जिद नहीं छोड़ेगा तो ये दोनों तुझे पीटेंगे।" लेकिन इस धमकी का भी उसपर कोई असर नहीं होता था।

धीरे-धीरे हम दोनों ने उसे पीटना शुरू किया। आरम्भ में संकोच हुआ फिर मारने में रस पैदा हुआ। जब तक उसके मुलायम गाल पर पांचों अंगुली के निशान न उठते, और भी जोर से हम उसे तमाचे मारते थे। परिणाम यह हुआ कि उसकी जिद बढ़ती चली और हमने भी मारने का अपना विज्ञान विकसित किया। तमाचे के बाद बेंत और बेंत के बाद हलके तख्ते से गाल पर जोर का थप्पड़ लगाने का क्रूर आनन्द अनेक बार हमने लिया। फिर भी हमारे द्वारा मगनकाका के पास इस सफाई से सारी बात रखी जाती थी कि वर्णन सुनकर मगनकाका समझते थे कि बड़ी रहमदिली से ये लोग शान्ति को ठीक रास्ते पर लाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

लेकिन एक बार ऐसा हुआ कि शान्ति को मारते-मारते मेरी आंख खुल गई और फिर उसको मारने का मेरा स्वाद सूख गया। इतना ही नहीं सदा के लिए वह अनुभव मुझे याद रह गया कि मारने से कभी भी किसी के दिमाग में कोई बात घुसाई नहीं जा सकती। शान्ति को मारने की आनन्द लेने के लिए मैंने और देवदासकाका ने मशविरा करके एक योजना बनाई। उस दिन हमने उसको ऐसा काम सौंपा, जो उसे अन्यायपूर्ण प्रतीत

हो। समूह में काम करने के बदले वगीचे के एक कोने में उसे जमीन

खोदने का काम दिया गया। घंटे-भर के बाद देवदासकाका ने मुझसे कहा कि जाकर उसका काम देखो। शान्ति को वहां घुटने से घुटना मिला कर स्थिर खड़ा हुआ पाया। उसके पास जाकर मैंने बुरी तरह उसे डांट दिया, फिर अपने दांत पीसकर क्रोध से उसके दोनों कान ऐंठे और जमीन से उसे ऊंचा उठा दिया। फिर भी उस बहादुर ने 'उफ' तक नहीं की। केवल अपनी बिल्ली की-सी आंखों से मुझे घूरता रहा। मैंने समझा उसे काफी पीड़ा नहीं पहुंची है, तब मैंने उसके कान को पकड़ नाखून से दबाया और जोर-जोर से पूछा, "बोल, जमीन खोदेगा या नहीं?" पर वह कुछ न बोला। तब मैंने तमाचों की झड़ी लगाई। काफी तमाचे लगाने के बाद मैंने सोचा, जाने दो। मैंने देवदासकाका के पास जाकर सारी कहानी सुनाई। मुझे याद नहीं है कि उस दिन देवदासकाका ने उसे और मारा या नहीं, परन्तु मेरा मारने-पीटने का मोह सदा के लिए जाता रहा, और मैंने निश्चय किया कि उसको प्रसन्न रखकर जितना काम मिले उसी से संतोष करूं। ज्योंही मारना-पीटना बन्द किया, उससे काम लेने में मुझे पूरी सफलता मिली, और किसीके पास उसकी शिकायत ले जाने की आवश्यकता नहीं रही। उसके पूर्व-इतिहास की भी मुझे जानकारी थी। उसके पिता एक व्यापारी थे और बड़ी बेरहमी से उसे पीटा करते थे। इसलिए बचपन से ही वह जिद्दी बन गया था। पर छोटम, भैयन और शान्ति से नवीन का मसला कम नहीं था।

वह अधिक छोटा नहीं था। कामचोर भी नहीं था। लेकिन बड़ा नाजुक मिजाज, भोंदू और जरा-जरा देर में गुस्से में आ कर रो देने वाला लड़का था। कोने में जाकर घंटा-दो-घंटा जी-भर रो लेने के बाद वह स्वयं मुस्कराता हुआ हमारे काम में सहयोग के लिए आ जाता था और अपने रोने की कहानी खुद ही सुनाने लगता था।

फीनिक्स के नन्हे स्वयंसेवकों में उक्त चार के अतिरिक्त दो और थे, मेरा चचेरा भाई केशु और मेरा छोटा भाई कृष्ण। दोनों की आयु में उतना भी अन्तर नहीं था जितना देवदासकाका की और मेरी आयु में था। ये दोनों भाई आपस में सहोदर से भी अधिक घनिष्ठ थे। किसी भी काम में यह जोड़ी अलग नहीं होती थी। आपस में कभी रूठते-झगड़ते भी नहीं थे। दूसरों से झगड़ा हो जाता तो दोनों साथ ही रहते थे। चतुराई में भी दोनों एक-दूसरे से बढ़कर थे। केशु दस्तकारी के काम में बहुत तेज था और हर काम को फुर्ती से कर डालता था। कृष्ण में स्थिरता और आकलन शक्ति बहुत गहरी थी। केशु की प्रशंसा उसके सुघड़ काम के लिए होती थी और कृष्ण अपनी वाक्पटुकता एवं सदैव प्रसन्नचित्त रहने के कारण लोगों

को मुग्ध कर देता था। केशु बहुत तेज मिजाज था तो कृष्ण मधुर स्वभाव का। दोनों मिलकर जो भी काम हाथ में लेते थे उसे सुन्दर तरीके से पूरा करके ही छोड़ते थे। केशु जब काम पर लग जाता था, तब उसे अपने चारों ओर की सुध नहीं रहती थी। औरों से वह कटा-सा रहा करता था। कृष्ण चाहे किसी भी काम में हो या कोई भी खेल कर रहा हो उसका ध्यान चारों ओर रहता था। एक नजर में ही परिस्थिति जांचकर लाभ-हानि को कूतने की उसमें शक्ति थी। क्या करना उचित या अनुचित रहेगा इस बात की सूचना वह तुरन्त केशु को देता था। किसी काम में कृष्ण अगुआ नहीं बनता था, केशु की सरदारी में रहकर ही उसके काम में योग देता था। केशु को अपना बड़ा भाई मानता था और भूल से भी उसका अनादर नहीं करता था। केशु भी कभी अपने छोटे भाई कृष्ण को अपमानित नहीं करता था। दोनों की जोड़ी अभिन्न थी।

ऐसे शक्तिशाली भाइयों को प्राप्त करने से मेरा हृदय उत्साह से भर जाना चाहिए था, परन्तु न जाने कौन-सा मनोविकार मुझे सताता था, जिससे उनके साथ काम करना मेरे लिए कठिन होता था। उनके चातुर्य की तुलना में अपना भोंदूपन देखकर मुझे कहीं भाग कर छिप जाने का जी होता था। किन्तु वहां के समूह-जीवन में अकेले रहने का अवसर दुष्प्राप्य था। अतः मेरी कुढ़न मन में ही रह जाती थी।

अलोनाव्रत और विशेषतः फलाहार होने के कारण मूंगफली छीलना हमारा एक अत्यावश्यक काम होता था। दो या तीन बोरी मूंगफली हमें दे दी जाती थीं और शनि-रवि की छुट्टी में घंटों उनको छीलकर उसकी मींगी से कनस्तर भरने में हम लोग व्यस्त रहते थे। काम का हिसाब लगाने के लिए एक कटोरी का नाप निश्चित किया था। दाने निकाल कर कौन पहले उस नाप की कटोरी भर लेता है, इसकी होड़ लगती थी। केशु तेरह मिनट में, कृष्ण पन्द्रह मिनट में और मैं मुश्किल से बीस-बाईस मिनट में अपनी कटोरी भर पाता था। देवदासकाका केशु से आधी मिनट पीछे रह जाते थे। इस प्रकार अपनी शिथिलता मुझे बेहद चुभती थी और मैं बहुत मायूस हो जाता था।

बगीचे के काम में मगनकाका ने एक रविवार के दिन हम लोगों को एक गुलाब के पौधे पर दूसरे गुलाब की कलम चढ़ाने का काम सिखाया। एक पौधे पर उन्होंने खुद कलम लगाई, दूसरे पर केशु से लगवाई और तीसरे पर मुझसे। कलम चढ़ाते समय वह मेरे पास बैठे थे और बहुत कुछ काम उन्होंने खुद ही करवाया था। फिर भी आठवें दिन मेरा पौधा

सूख गया और केशु ने जिस पर विना किसी के सहारे कलम लगाई थी, वह मगनकाका के पौधे के समान ही पल्लवित हो उठा।

मैंने मान लिया कि विधाता ने मुझे बड़ा भाई बनाने में भूल की है। बड़े भाई होने योग्य तो केशु व कृष्ण हैं। अपनी इस मान्यता के कारण उनसे काम लेने में मुझे बड़ी परेशानी होती थी।

यह एक चमत्कार ही था जो इन छहों विपरीत स्वभाव वाले बालकों का नेतृत्व मेरे हाथ में महीनों तक रहा और उनके सहारे फीनिक्स आश्रम के नित्य-कर्म अवाध रूप से पार होते रहे।

एक विशेष प्रसंग से ज्ञात हो जायगा कि छः बच्चों की यह छोटी टोली किस तरह भारी काम करती थी।

एक शाम को छापाखाना का काम कुछ जल्दी पूरा हो गया। घंटा-भर की फुरसत मिल जाय तो मगनकाका सीधे बगीचे में पहुंच जाते थे और खोदने आदि का काम करते थे। देवदासकाका और मैं भी उनके साथ खोदने और पानी भरने आदि के काम में जुट जाया करते थे। उस संध्या को गोभी के पौधे लगाने में हम जुटे हुए थे। इस बीच अकस्मात आकाश में काले-काले बादल छा गए और जोरों से गर्जना तथा विजली का चमकना शुरू हो गया। नित्य की तरह केशु, कृष्ण, नवीन, और छोटम स्टेशन पर डाक लेने गये थे। उनके लौट आने का समय कभी का हो चुका था और हम लोग प्रायः घंटे-भर से उनके आने की प्रतीक्षा में थे। हमारी यह चिन्ता बढ़ रही थी कि तेज वर्षा होने लगी। स्टेशन के रास्ते में अनेक उतार-चढ़ाव थे और पानी गिरते ही मिट्टी चिकनी और फिसलनी हो जाती थी। कोई ६-७ दिन पहले ही सवेरे की डाक लाते समय मैं वर्षा में फंस गया था। रास्ते में चार-पांच बार रपट कर गिर पड़ा था। घर पहुचते-पहुचते, भीग कर बुरी तरह कांप रहा था। तीन घंटे देर से घर पहुंच पाया था। तो फिर इन नन्हें स्वयंसेवकों की क्या दशा होती!

मगनकाका बोले, "छोड़ो काम को, तुम दोनों उन बच्चों को लिवाने जाओ!" आज्ञा पाते ही हिरन की तरह हम दोनों स्टेशन की ओर लपके। लगभग पांच मिनट मे पौन मील से अधिक दूर तक निकल गए और एक ऊंचे टीले पर पहुचे तो देखा कि वे बाल-हरकारे एक बड़े विलायती बबूल के वृक्ष के नीचे आराम से बैठे थे। डाक का थैला जमीन पर रखा था और मज़े में थे। हमने पूछा, "क्यों आज इतनी देर क्यों लगा दी?" उन्होंने बताया, "आज देश की डाक है। थैला बहुत भारी है। अकेले तो उठता नहीं, इस वजह से लकड़ी में टांग कर हम दो-दो बारी-बारी से थोड़ी-थोड़ी

दूर तक ला रहे हैं। बहुत थक जाते हैं, इसलिए बीच में आराम करना पड़ता है। यहां पर वर्षा के कम होने की प्रतीक्षा में बैठे हैं।" यह सारी बात सुनाते हुए चारों में से किसी बच्चे के मुख पर शिकायत या दुख का जरा भी भाव नहीं था।

हड़ताली लोगों ने फीनिक्स आकर जब तक हम पर नया बोझा नहीं डाला, हम लोगों के काम का सिलसिला ऐसा ही चलता रहा।

: ६० :

पाखाना-सफाई का प्रथम प्रयोग

बापूजी के भारत लौटने के बाद का एक किस्सा है। वह मामूली मुसाफिर की हैसियत से रेलगाड़ी के तीसरे दर्जे में सफर किया करते थे। एक बार ऐसी यात्रा में वह शौच के लिए रेल के पाखाने में गये। देखा, तो सारी सडास मल से सनी पड़ी थी। तुरन्त वह अपनी जगह पर लौट आये। उन्होंने अपने सामान से एक रद्दी अखबार निकाला, सुराही से अपनी छोटी लुटिया मे पानी लिया, जाकर पहले पाखाने की फर्श पर पड़ा हुआ मल कागज में समेट कर कदमचे के नीचे डाल दिया और फिर उस स्थान को पानी से धो डाला। इसके बाद ही उन्होंने उस संडास का उपयोग किया। मुझे यह प्रसंग छोटे काका श्री जमनादास गांधी ने सुनाया था। उन्होंने मुझसे कहा कि टाल्स्टाय-वाड़ी और फीनिक्स में बापूजी के साथ बरसों रहने के बाद भी जब मैंने बापूजी का यह काम देखा तो मैं चकित रह गया और उस काम को करते समय बापू के चित्त की शान्ति, प्रसन्नता और क्रोध का बिलकुल अभाव देखकर मेरा मन आश्चर्य से भर गया।

पाखानों की स्वच्छता के बारे में बापूजी का इतना तीव्र आग्रह देखते हुए कल्पना की जा सकती है कि उनके आश्रमों मे पाखाना-सफाई के लिए कितना पुरुषार्थ किया जाता होगा। फीनिक्स तो एक साक्षात् जगल ही था। चारों ओर ऊंची-ऊंची घास थी, टीले थे, खंदकें थीं और झरनों के किनारे घने वृक्ष भी थे। परन्तु वहां खुले में शौच जाने की प्रथा बापूजी ने चलने नहीं दी। स्नानगृह के लिए वहां विशेष व्यवस्था नहीं की गई थी।

उस देश में पुरुष-वर्ग का झरने और कुएं पर समूह में मिलकर दिगंबर स्नान करना सामान्य बात थी, परन्तु पाखाने हर घर में मौजूद थे।

मेहतर या भंगी कोई नहीं था। भंगी के घर में जन्म लेने के कारण किसी व्यक्ति पर मनुष्य का मल ढोने का बोझ डाला जाय, यह बापूजी को मंजूर नहीं था। दूसरे फीनिक्स में फलवृक्ष और बगीचों को समृद्ध बनाने के लिए उत्कृष्ट खाद की आवश्यकता थी। अतः प्रारम्भ से ही मल को मिट्टी में गाड़कर खाद बनाने के प्रयोग होने लगे थे।

छापाखाने के मकान के पास मैले को खेत में गाड़ने की सुविधा नहीं थी। वह मकान बहुत नीची सतह पर था और उसके दोनों ओर पानी के झरने थे। उसके इर्द-गिर्द खेती के योग्य जमीन नहीं थी। इसलिए छापाखाने के पास का पाखाना बहुत गहरा, खंदकनुमा बनाया गया था।

खंदक-टट्टी की रचना इस प्रकार थी—सात आठ फुट गहरे और तीन-साढ़े तीन फुट चौकोर गड्ढे पर लकड़ी का ढांचा और कदमचे के स्थान पर तख्ते रख दिये गए थे। गड्ढा एक बाजू में ढालू रखा गया था और मल इस ढाल पर पड़ता था। शौच के बाद प्रत्येक व्यक्ति एक लकड़ी की फावड़ी से मल को गड्ढे में नीचे की ओर धकेल देता था। इस टट्टी के लिए मिट्टी या और किसी चीज की आवश्यकता नहीं थी। बरसात में भी वह अच्छा काम देती थी। उसे सरकाने या हटाने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती थी। न उससे बदबू ही उठती थी। मेरा खयाल है कि सारा मैला गहराई में पानी में जमा होता रहता था और मल के कीड़े उसे खाकर जल को शुद्ध बनाये रखते थे। जंगल की जगह थी और आसपास पीने के पानी का कोई कुआं नहीं था, इसलिए वहां यह खंदक-टट्टी चल सकती थी।

एक दूसरी टट्टी थी, जो एक पक्के फर्श की कोठरी में बनी हुई थी। इसमें तख्तों की बैठक के नीचे कनस्तर के कटे हुए दो डिब्बों को कोलतार पोतकर रखा जाता था। सफाई के समय लोहे की मुड़ी हुई सलाख से उन डिब्बों को खींच लिया जाता था। फिर किसी बड़े वृक्ष के मूल में, तने से चार-पांच फुट दूर गड्ढा खोदकर उसमें मलपात्र को पलट दिया जाता था और वह गड्ढा मिट्टी से पाट दिया जाता था।

इसके बाद सीधे ही खेत में टट्टी रखने की व्यवस्था की गई। फल-वृक्षों को बोने के लिए जो चौकोर गड्ढे बनाये जाते थे उन्हीं पर लकड़ी की टट्टी रख दी जाती थी। जो भी शौच जाय वह स्वयं मिट्टी से अपना मैला ढक देता था। किन्तु इस प्रकार की टट्टी में दो दिक्कतें पैदा हुई। एक तो यह कि आंधी के समय टट्टी का सारा ढांचा उड़कर दूर जा पड़ता था

और दूसरी यह कि वर्षा में सारा गड्ढा पानी से ऊपर तक भर जाता था।

कई प्रयोगों और अनेक अनुभवों के बाद पाखाने का ढांचा ऐसा बनाया गया कि कैसी भी आंधी में वह टिक सके। ऊपर की छत हटा दी गई। पर्दों को कमर से अधिक ऊंचा बनाना छोड़ दिया गया और तख्ते तथा टीन की चद्दरों की जगह बोरियां लटकाई गईं। फिर यह टट्टी सरकाते-सरकाते कभी केलों की पंक्तियों के बीच, तो कभी संतरों की पंक्तियों के बीच रखी जाने लगी। परन्तु वर्षा होने पर पानी भर जाने से ये गड्ढे वाली टट्टियां बेकार हो जाती थीं। इसका इलाज न तो फीनिक्स में हाथ आया, न साबरमती में ही। इसलिए पक्के फर्शवाली स्थायी टट्टियां बनाना अनिवार्य हो गया।

पक्के फर्श वाली टट्टीसे मलपात्र को ढोकर खेत में ले जाने और टोकरी में सूखी मिट्टी का संग्रह करने का काम बहुत परिश्रम का होता है। इस परिश्रम को बचाने और सुविधा एवं शीघ्रता की दृष्टि से फीनिक्स में भांति-भांति के प्रयोग चल रहे थे। मलपात्र में जब मल से दुगुनी मिट्टी पड़ती तब मल ढका रहता और मक्खी-मच्छरों से बचा रह सकता। परन्तु यदि पाखाने को दस-बीस व्यक्ति बरतते हों तो मलपात्र इतना भारी हो जाता कि उसे अकेला आदमी दूर तक नहीं ले जा सकता था।

इस सिलसिले में तरह-तरह के प्रयोग करते-करते मगनकाका इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि फर्श वाली स्थायी टट्टी में मिट्टी का उपयोग न किया जाय। उन्होंने टीन का एक बहुत उथला, लंब-गोल मलपात्र बनवाया था। उसे कदमचों के बीच में रख दिया जाता था कोठरी के दूसरे कोने में एक बड़ी, ढक्कनदार बाल्टी रखी गई थी। प्रत्येक व्यक्ति मलविसर्जन के बाद उस बड़ी बाल्टी में छोटा मलपात्र उलट देता था और उसे उसी समय धोकर कदमचों के बीच रख देता था। बाल्टी का ढक्कन ऐसा चुस्त होता था कि उसमें मच्छर या भुनगे घुसने नहीं पाते थे। चौबीस घंटों में एक बार यह बाल्टी खेत में ले जाकर खाद के गड्ढे में साफ कर दी जाती थी। मिट्टी का बोझ न होने से यह काम अपेक्षाकृत जल्दी और आसानी से हो जाता था।

यद्यपि इस प्रकार की टट्टी से मच्छर, मक्खी, दुर्गन्ध आदि की परेशानियां दूर हो जाती थीं, फिर भी समूचे आश्रम में उसका प्रचार नहीं हो सका। यह प्रयोग घर वालों तक ही सीमित रहा, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति हाथ-के-हाथ शौचपात्र की सफाई कर लेना स्वीकार करे और पूरी सावधानी से वह काम करता रहे, यह कठिन बात थी। परन्तु साबरमती आश्रम में इस प्रयोग को अपने लिए मगनकाका ने पूरे उत्साह से अन्त तक चालू

रखा था। इस तरीके में खाद का थोड़ा-सा भी अंश बरबाद नहीं होता था और जहां जितना चाहिए उतना ही पहुचाया जा सकता था।

कौन-सी वस्तु कितने समय में गलकर खाद बन जाती है इसका प्रत्यक्ष अनुभव मगनकाका को था और पाखाने की सफाई के साथ-साथ वह हमें सिखाया करते थे कि कौन-सा मैला और कौन-सा कूड़ा कहां पर व किस भांति मिट्टी में मिलाना चाहिए। फीनिक्स में हम लोग पशु-पालन नहीं करते थे इसलिए गोबर की खाद उपलब्ध नहीं थी। फिर भी खाद की कमी से हमारी शाक-सब्जी और फल-वृक्ष सूखे और दुर्बल नहीं रहते थे। केले की पत्तियां, केले के तने, निराई की हुई हरी घास, फल-वृक्ष की काट-छांट के बाद बची हुई हरी टहनियां—जिनमें से ईंधन के योग्य लकड़ी अलग कर ली गई हो—पत्तियां, कपड़े व कागज के बेकार टुकड़े आदि प्रत्येक चीज भी अलग-अलग स्थान पर गाडने की व्यवस्था मगनकाका ने कर रखी थी। उन चीजों को कितने सप्ताह या कितने महीने बाद खाद के लिए काम में लाया जाय, इन बातों का अपना अनुभव सुबह-शाम की साधारण बातचीत के समय अनेक बार वह हमें सुनाते थे।

अब भारत के बहुत-से आश्रमों और रचनात्मक संस्थाओं में पाखाना-सफाई नित्य का आवश्यक कर्तव्य बन गया है। नये आश्रमवासी को इस काम का पहला अनुभव कठिन और घृणित-सा मालूम देता है परन्तु बाद में अन्य कार्यों की तरह यह काम भी एक साधारण श्रम-यज्ञ प्रतीत होता है। पाखाना सफाई की विधि अब काफी सरल और साफ-सुथरी बन गई है परन्तु फीनिक्स में जिस विधि से यह काम किया जाता था वह खाद की दृष्टि से अधिक लाभप्रद परन्तु करने में कठिन था। इस काम का सर्वप्रथम अनुभव मुझे और देवदासकाका को बहुत कष्टदायी मालूम पड़ा था।

सोलह सत्याग्रहियों को विदा करने के दिन से पाखाना-सफाई का तथा सागसब्जी की देखभाल का काम मगनकाका ने अपने ऊपर ले लिया था। परन्तु जब बापूजी भी सत्याग्रह के लिए फीनिक्स गये तब मगनकाका के इस काम के लिए आधा घंटा बचाना भी असंभव हो गया। तब देवदास-काका और मैं इस भारी काम को करने के लिए आगे बढ़े। मगनकाका ने बारीकी से हमें उसे करने का ढंग बताया।

पक्की फर्श वाली कोठरी में प्रायः १८ या २० इंच की बड़ी भारी बाल्टी मल और मिट्टी से भरी हुई होती थी। घर के आंगन से फुलवाड़ी में केले की क्यारी तक पहुचाते-पहुचाते पांच-छः सात बार हमें उसे जमीन पर रखना पड़ता था। हम दोनों मिलकर भी बड़ी कठिनाई से उसे उठा पाते

थे। मूत्र वाली वाल्टी उठा कर ले जान में इतनी भारी नहीं थी परन्तु उसकी बदबू बड़ी तेज होती थी। वाल्टियां अलग रख कर पहले तो हम सख्त काली मिट्टी मे गहरी लंबी खाई खोदते। फिर मल वाली वाल्टी मे से हाथ की चुटकी से कागज के उन छोटे-छोटे टुकड़ों को चुनकर अलग करते जो मल पात्र में पड़े होते थे। अंग्रेजों के तरीके के अनुसार फीनिक्स में कई लोग आबदस्त के लिए पानी न ले जाकर कागज ले जाया करते थे और वे टुकड़े मलपात्र में रिलमिल जाते थे। मगनकाका का कहना था कि मानव-मल पांच-छः सप्ताह में ही जब मिट्टी से मिलकर सड़कर पूर्ण खाद वन जाता है तव कागज के टुकड़ों को गलन में दस-पन्द्रह महीने लग जाते हैं, इसलिए मल के खाद के साथ उसे मिट्टी में दवाना भारी भूल होगी।

कागज के टुकड़े वाल्टी से चुन लेने के बाद और भी कठिन काम हमें यह करना पड़ता कि बेलचे से सारे मल को वाल्टी में ही घोल घोल कर एक सा प्रवाही रूप देना पड़ता। जब उसमें एक भी गांठ न रहती तव सारी वाल्टी को तैयार की गई नाली में पलट कर मल को वहा दिया जाता और करीब ढाई तीन फुट की लंबाई में प्रवाही मल को एक सा विछा देते। मल के ऊपर मूत्र की बाल्टी को पलट कर बेलचे से सारे प्रवाह को फिर से खाई मे एक-सार कर देते और तव इस सावधानी से मिट्टी डालते कि उसके छींटे अपने या साथी पर न उड़ें।

यह सारा काम करने में जो वदबू हमें सहन करनी पड़ती उससे हम लोग परेशान हो जाते। पहले दिन तो पाखाना-सफाई के बाद हम वहुत मलमल कर नहाये, धुले कपड़े पहने, पर भोजन के समय भी उस वदबू की याद दिमाग से उतरी नहीं। मुझे कुछ ऐसा याद है कि इस अनुभव के दस-पन्द्रह दिन वाद तक मुझसे गोभी की तरकारी नहीं खाई जा सकी, क्योंकि उसको देखते ही टट्टी सफाई के समय की दुर्गंधि याद आ जाती थी। जब लगातार टट्टी-सफाई का काम हम करने लगे तब मन की यह घृणा दूर हो गई।

जब प्रथम वार पाखाना-सफाई का स्वानुभव मुझे हुआ तब मेरे मन में वड़ा आश्चर्य हुआ कि बापूजी और मगनकाका जैसे बहुत ही स्वच्छ रहने वाले व्यक्ति इस काम को कैसे कर सकते होंगे! उस समय सर्वप्रथम मैंने देवदासकाका से जाना कि बापूजी की सूंघने की शक्ति प्रायः है ही नहीं। गुलाब के फूल की सुगंधि भी बापूजी नहीं ले पाते।

शौच-सफाई का यह अनुभव कागज पर शब्दांकित करना साहित्यिक दृष्टि से थोड़ा घिनौना माना जाय यह संभव है। परन्तु मनुष्य-मल को उत्तम से उत्तम खाद के रूप में शीघ्र से शीघ्र परिवर्तित करने के अनुभव-

सिद्ध प्रयोग छोटी बात नहीं है। बापूजी ने बड़े गहरे अनुभव के बाद इसका सही मूल्यांकन किया और उसकी तुलना सुवर्ण से करके उसका नाम सोनखाद रखा।

: ६१ :

बापू के कुछ अन्य साथी

बापूजी के जेल जाने के कोई बीस-बाईस दिन बाद एक संध्या को मगनकाका के पास एक गौरांग युवती आई। उसकी गरदन से नीचे के बाल कटे हुए थे और वह एक सफेद कमीज तथा काले रंग का धारीदार कपड़े का पेटीकोट पहने थी। वह बहुत प्रभावशाली और तेजस्वी दीखती थी। पहनावे में वह जितनी सादी थी, उसकी मुखाकृति उतनी ही गंभीर जान पड़ती थी। बहुत ही चिंतित चेहरे से उसने मगनकाका के साथ थोड़ी-सी बातें धीमे से कीं। फिर उसने खुल कर बहस शुरू कर दी। तब क्षण-क्षण में उसके मुख पर स्मित लहराने लगा। मैंने इतनी प्रफुल्लता और हास्य-तरंगों का सातत्य क्वचित ही देखा था। मेरी जिज्ञासा बढ़ गई कि यह कौन है। पूछने पर देवदासकाका ने मुझे बताया कि यही तो है मिस स्लेशिन।

मिस सोंजा स्लेशिन के चातुर्य, स्फूर्ति एवं कार्यक्षमता के बारे में मैंने बहुत सुन रखा था। बड़ी पढ़ी-लिखी बताई जाती थी। जब बापूजी बैरिस्टरी करते थे तब घंटों वह उसे पत्र लिखवाते रहते थे, लेकिन वह जरा भी थकती नहीं थी। शीघ्र-लेखन विशारदों में उसका स्थान श्रेष्ठ माना जाता था। जैसी उसकी बुद्धिमत्ता और दक्षता की ख्याति थी वैसी ही उसके विनोदप्रिय स्वभाव और नटखटपन की ख्याति थी। दक्ष, निर्मल और तरल-स्वभाव वाली होने के कारण बापूजी की अन्तेवासिनी बनकर उसने थोड़े ही वर्षों में बहुत प्रगति कर ली थी। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के इतिहास में बापूजी ने उसके संबंध में लिखा है :

"मेरे पास एक स्काच कुमारिका शार्टहैन्ड लेखिका और टाइपिस्ट के काम के लिए थी। उसकी वफादारी और नीतिमत्ता का अन्त नहीं था। इस जिन्दगी में मुझे कटु अनुभव तो कई हुए हैं, परन्तु मेरे संपर्क में इतने अधिक सुन्दर चरित्र वाले अंग्रेज और भारतीय आये हैं, कि इसे मैं हमेशा

अपना सद्भाग्य मानता रहा हूं। इस स्काच कुमारिका स्लेशिन को श्री केलनबैक मेरे पास ले आये और बोले, 'इस बालिका को इसकी माता ने मुझे सौंपा है। यह चतुर है, प्रामाणिक है, परन्तु इसमें नटखटपन और स्वतन्त्रता बहुत है। कदाचित वह उच्छृंखल कहलायगी। अगर तुमको जंचे तो इसे अपने पास रखना। वेतन के हेतु मैं इसे तुम्हारे हाथ के नीचे नहीं रख रहा हूं।' मैं तो किसी अच्छे शार्टहैंड टाइपिस्ट को माहवार बीस पौंड देने को तैयार था। कुमारी स्लेशिन की शक्ति का मुझे कुछ पता नहीं था। श्री कैलनबैक ने मुझसे कहा, 'फिलहाल छः पौंड माहवार देते रहना।' मुझे यह मंजूर होता ही।

"कुमारी स्लेशिन के नटखटपन का अनुभव मुझे तुरन्त ही हुआ; लेकिन एक महीने के अन्दर उसने मुझे अपने वश में कर लिया। रात और दिन जब चाहो, काम के लिए तैयार। उसके लिए कुछ भी अशक्य या दुष्कर था ही नहीं। उस समय उसकी उम्र १६ वर्ष की थी। मुवक्किलों और सत्याग्रहियों के मन भी उसने अपनी सरलता और सेवा-परायणता से हर लिये। आफिस और सत्याग्रह-संचालन की नीति की वह एक चौकीदार और रखवाला बन गई। किसी भी कार्य की नीति के बारे में यदि उसे थोड़ी-सी भी शंका होती तो वह बहुत ही खुलकर मुझसे बहस करती और जब तक मैं उसको यकीन न दिला दूं तब तक उसे सन्तोष नहीं होता था।

"सबके जेल जाने पर, जबकि केवल काछलिया ही बाहर रहे थे, उसने लाखों रुपये का हिसाब संभाला; भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्यों से काम लिया। काछलिया भी उसका आसरा लेते थे, सलाह लेते थे। हम लोगों के जेल में होने के कारण डोक ने 'इंडियन ओपीनियन' का काम अपने हाथ में लिया था। वह सफेद बालोंवाला अनुभवी बुजुर्ग 'इंडियन ओपीनियन' के लिए लिखे गए लेखों को स्लेशिन से पास कराता था, और उसने मुझे बताया था: 'यदि स्लेशिन न होती तो पता नहीं कि मैं स्वयं अपने काम से अपने को संतुष्ट कर पाता या नहीं। उसकी सहायता और सूचनाओं का मूल्यांकन मैं कर नहीं सकता। अनेक बार उसके द्वारा सूचित घट-बढ़ को उचित ही मानकर मैंने स्वीकार कर लिया था। पठान, पटेल गिरमिटिये—सब जातियों के और सब उम्र के भारतीय उसको घेरे रहते थे, उससे सलाह लेते थे और उसका कहा करते थे।'

"दक्षिण अफ्रीका में अकसर गोरे लोग भारतीयों के साथ रेलगाड़ी में एक ही डिब्बे में नहीं बैठते हैं। ट्रान्सवाल में तो बैठने की मनाही की जाती है। सत्याग्रहियों ने तीसरे दर्जे में ही प्रवास करने का नियम रखा

था। इस पर स्लेशिन जान-बूझकर हिन्दियों के डिब्बे में ही सवार होती थी और गार्डों से झगड़ा भी मोल लेती थी। मुझे डर था कि स्लेशिन को किसी-न-किसी समय खुद गिरफ्तार होने की उत्सुकता थी। परन्तु उसकी शक्ति, सत्याग्रह-संचालन के बारे में उसका पूरा ज्ञान और सत्याग्रहियों के हृदय पर उसका जमा हुआ साम्राज्य—ये तीनों बातें ट्रान्सवाल की सरकार के लक्ष्य में होने पर भी उसने उसे गिरफ्तार न करने की नीति और विवेक का त्याग नहीं किया।

"स्लेशिन ने किसी दिन अपने माहवार ६ पौंड में बढ़ौती की मांग नहीं की, या चाही ही नहीं। उसकी कुछ आवश्यकताओं को जानने पर मैंने उसको १० पौंड देना शुरू किया। मगर उसने वह भी आनाकानी से लिया। किन्तु उससे आगे बढ़ने के लिए उसने साफ इंकार ही कर दिया। 'इससे अधिक मेरी आवश्यकता है ही नहीं; फिर भी यदि मैं लेती हूं तो जिस निष्ठा से आपके पास आई हूं, वह गलत साबित होगी।' इस जवाब से मैं चुप रहा। पाठक शायद जानना चाहेंगे कि स्लेशिन की तालीम कहां तक की थी? केप-यूनिवर्सिटी की इंटरमीजिएट परीक्षा उसने पास की थी। शार्ट-हैंड आदि में प्रथम नम्बर के प्रमाण-पत्र उसने प्राप्त किये थे। सत्याग्रह-आन्दोलन से मुक्त होने के बाद वह उस यूनिवर्सिटी की ग्रेजुएट बन गई और अब ट्रान्सवाल के किसी सरकारी कन्याविद्यालय में प्रधान अध्यापिका है।"

अन्यत्र, कुमारी स्लेशिन के बारे में बापूजी ने गोखलेजी का अभिप्राय बताते हुए लिखा है कि दक्षिण अफ्रीका के भारतीय एवं गोरे अग्रणीयोंका पर्याप्त परिचय गोखलेजी ने पा लिया था। उनमें से सभी मुख्य पात्रों का सूक्ष्म विश्लेषण करके उन्होंने मुझे सुनाया। मुझे सही-सही याद है कि उन्होंने हिन्दी और गोरे सभी में कुमारी स्लेशिन को सर्वप्रथम पद दिया था। "उसके-जैसा निर्मल अन्तःकरण, काम में एकाग्रता और दृढ़ता मैंने बहुत कम आदमियों में देखी है। और भारतीयों की लड़ाई में लाभ की कुछ भी आशा के बिना इस हद तक सर्वार्पण देखकर मैं तो आश्चर्यचकित हो गया हूं। फिर इन सब गुणों के साथ उसकी होशियारी व चपलता तुम्हारी इस लड़ाई में उसको एक अमूल्य सेविका साबित करती है। मेरे कहने की आवश्यकता नहीं है, फिर भी कहूंगा कि उसे अवश्य अपने पास बनाये रखना।"

मगनकाका के साथ कुमारी स्लेशिन की बातचीत से पता चला कि जब चार्ल्सटाउन से चार हजार हड़तालियों को लेकर बापूजी ने कूच का श्रीगणेश किया, तब से लेकर अन्त तक वह उस कूच में थी। बापूजी, श्री पोलक और श्री कैलनबैक के पकड़े जाने के बाद, जबतक सभी हड़तालियों

को गिरफ्तार नहीं कर लिया गया, तबतक वह उनके बीच में काम करती रही और फिर बापूजी की ही सूचना के अनुसार अविलम्ब फीनिक्स आ पहुंची।

एक और बहन भी कुमारी स्लेशिन के साथ फीनिक्स आई थी। उसका परिचय देते हुए कुमारी स्लेशिन ने बताया, "यह फातिमा, इमाम अब्दुल कादर बावजीर की बड़ी बेटी है। इसके पिता जेल गये हैं, इसलिए बापूजी ने इसे यहां भेजा है। यह घर-काम बहुत अच्छा जानती है। सिलाई-काम में निपुण है। तुम लोगों के साथ पढ़ेगी भी।"

काले बुर्के में लिपटी हुई फातिमा जब हमारे यहां आई, तो उसके लिए मुझे हमदर्दी हुई। पर जब फातिमा ने बुर्के का संबंध अपने इस्लाम-धर्म के साथ अनिवार्य बताया, तब उसके प्रति दुख-भरी करुणा के सिवा हमारे मन में और कोई भाव पैदा नहीं हो सका।

दस वर्ष की फातिमा दो-चार ही दिन में हमारी बाल-मंडली में घुल-मिल गई। उसकी शक्ल-सूरत करीब-करीब गोरी लड़की की-सी थी। बोलने में मानो कुमारी स्लेशिन की छोटी बहन ही थी। अंग्रेजी बड़ी फर्राटे से बोला करती थी। थोड़ी-थोड़ी हिन्दी उसे आती थी, परन्तु अधिकतर वह अंग्रेजी में ही बातें करती थी। डच भाषा के मधुर और मृदु गीत भी उससे हम बार-बार सुनते थे।

जब कभी मौका मिलता, फातिमा अपने पिताजी का गुण-गान किया करती थी। वह बड़ी पितृ-भक्त थी। उसने बताया था कि इमाम साहब अपनी मिहनत से नवाब-जैसे दौलतमन्द बने हैं। बग्घी और तांगों का रोजगार करते हैं। अगर कोई सईस या कोचवान घोड़ों को थोड़ा भी परेशान करता तो इमाम साहब बहुत दुखी हो जाते। वह बड़े स्वाभिमानी हैं। पहली बार जब वह जेल गये तब उनको अपने रोजगार में बड़ा नुकसान हुआ। और इस बार बापूजी की और अपने मित्रों की राय के खिलाफ फिर से वह सत्याग्रह की लड़ाई में कूद पड़े। अपना सारा रोजगार उन्होंने समेट लिया है और जेल से छूटकर वह फिर फीनिक्स में ही आकर रहने वाले हैं। फातिमा से यह सब हाल सुनकर उसके पिताजी के प्रति हमारे दिल में भी आदर पैदा हो गया।

सन् १९३२ में जब बापूजी यरवदा जेल में थे तब साबरमती आश्रम के बच्चों को प्रति सप्ताह एक पत्र लिखा करते थे। उन पत्रों में तीन सप्ताह तक उन्होंने स्वर्गस्थ इमाम साहब के संस्मरण लिखे थे। उनमें इमाम साहब के जीवन की बात बताते हुए उन्होंने लिखा है : "फीनिक्स में

आकर बसने की उनकी बात सुनकर मैं दिङ्मूढ़ बन गया। जिसने कभी एक भी दिन अपने हाथ-पैरों को कष्ट नहीं दिया और मानो पूरी नवाबी से ही रहा हो वह एकाएक मजदूर कैसे बन जायगा? स्वयं इमाम साहब कदाचित फीनिक्स का जीवन सह लें पर उनकी बीवी हाजी साहेबा का क्या होगा? फातिमा, अमीना का क्या होगा? इन सब बातों का इमाम साहब के पास साफ और छोटा उत्तर था, 'मैंने तो खुदा पर भरोसा किया है। हाजी साहेबा को आप नहीं जानते। जहां मैं, वहां वह रहने को तैयार होंगी ही। जैसा जीवन मैं बिताऊंगा वह भी बितायगी। इसलिए मैंने फीनिक्स आने का निश्चय कर लिया है। यह सत्याग्रह-संग्राम कब पूरा होगा कोई नहीं कह सकता। पर अब मैं बग्घी-तांगों का या दूसरा कोई भी रोजगार कर नहीं सकता। मैंने आपकी ही तरह देख लिया है कि सत्याग्रही को धन-दौलत आदि का मोह छोड़ देना चाहिए।'......

"...फीनिक्स की प्रवृत्ति में इमाम साहब भाग लेने लगे...वह उस समय नाजुक शरीर के थे; लेकिन सवेरे तड़के ही बहंगी लेकर झरने पर पहुंच जाते थे और पानी का बोझ लेकर पचास फुट वाली ऊंचाई के टीले पर धीरे-धीरे चढ़ते दिखाई देते थे।....छापाखाने की मशीन रुक जाती थी तब वह भारी चक्कर चलाने में योग देते थे। हर किस्म के छोटे-मोटे काम इमाम साहब, हाजी साहेबा, फातिमा और अमीना—चारों अपने हिस्से का करते थे। उस बुजुर्गी में भी इमाम साहब ने छापाखाना में 'कंपोजिंग' का काम सीख लिया। वह आश्चर्य की बात थी। इस प्रकार इमाम साहब फीनिक्स में ओतप्रोत हो गए थे। वह और उनका परिवार रोज़ाना मांस खाने का आदी था, परन्तु फीनिक्स में इमाम साहब ने मांस पकाया हो, ऐसा मुझे जरा भी स्मरण नहीं है।....नमाज़, रोज़ा आदि से कभी भी इमाम साहब या उनका परिवार चूकता नहीं था, बल्कि फीनिक्सवासियों में हिलमिलकर और उनके लिए त्याग करके इमाम साहब इस्लाम की सभ्यता का सु-दर्शन कराते थे।

"....मेरा दृढ़ अभिप्राय है कि इमाम साहब दिन-दिन प्रगति कर रहे थे; उनकी वृत्तियां शुद्ध होती जाती थीं; उनकी ईश्वरभक्ति बढ़ती जाती थी; और आश्रम के नियमों के प्रति उनकी श्रद्धा बैठती जाती थी।"
—(यरवदा मंदिर, २१-३-३२)।

एक और प्रसिद्ध व्यक्ति का परिचय देना आवश्यक है, जिनका आगमन क़रीब-करीब उन्हीं दिनों फीनिक्स में हुआ था जब मिस स्लेशिन वहां आई थीं। उनका नाम था फकीरा भाई। जहां तक मेरा अनुमान है वह सूरत जिले के निवासी थे और पक्के गुजराती किसान थे। जिन लोगों की सरलता,

शान्तिप्रियता और तितिक्षा वृत्ति देखकर गांधीजी ने भारत में आने के बाद सत्याग्रह का उग्र संघर्ष करने के लिए बारडोली तहसील को चुना था; उन्हीं लोगों का श्रेष्ठ प्रतीक, फीनिक्स में हमें फकीरा भाई मिले थे।

फीनिक्स में आने से पूर्व फकीरा भाई ग्यारह बार कारावास भुगत आये थे। जोहान्सबर्ग में बिना परमिट के शाक-फल की फेरी लगाकर उन्होंने बरसों तक बार-बार जेल-गमन किया था। और इस प्रकार उस समय के वहां के जेल-यात्रियों में वह प्रायः सर्वप्रथम थे। अब उनको जेल जाने से रोक कर फीनिक्स में आने वाले हड़तालियों की सहायता के लिए फीनिक्स भेजा गया था।

उनकी दो बातें अजीब मालूम देती थीं, एक तो सिगरेट से उनकी बहुत ज्यादा मोहब्बत और दूसरी एक ही जगह पर बैठे-बैठे बातें करते रहना, ये दोनों ही फीनिक्स-वासियों के लिए अस्वाभाविक बातें थीं। परन्तु जब फकीरा भाई काम करने के लिए उठते थे तब बेहद काम कर डालते थे। भूखे हड़तालियों को सीधा तौल देने का उनका काम था। बारह-बारह और कभी पन्द्रह-पन्द्रह घंटे तक वह खड़े-ही-खड़े सीधा तौलते रहते थे। इतने भारी काम में भी प्रसन्न रहते थे और किसी से भूल कर भी ऊंचे शब्दों में तू-तड़ाक नहीं करते थे। कभी-कभी उनको प्रतिदिन आठ सौ से एक हजार लोगों को आटा-दाल तौल कर देना पड़ता था। मुझे फकीरा भाई का सहायक नियुक्त किया गया था, इसलिए उनके साथ मुझे भी बहुत देर तक जुटा रहना पड़ता था।

: ६२ :

सत्याग्रहियों की भोजन व निवास-व्यवस्था

एक दिन सुबह अचानक ही भारी शोर-गुल सुनकर मैं अपने बिस्तर से चौंक कर उठ बैठा। पूछने पर मगनकाका ने बताया : "हमारे बगीचों में सब जगह आदमी-ही-आदमी उमड़े पड़े हैं। तुम सब लोग तो भर नींद सो रहे थे, और रात-भर हड़तालियों का सतत-प्रवाह आता रहा है। मुझे तो रात-भर जागते ही रहना पड़ा। जरा-सी झपकी लगते ही नई टोली आ पहुंचती थी और उसके लिए मुझे बाहर जाना पड़ता था। अब हमारे सब बहुत

बढ़ गया है। तुम सब जल्दी निबट कर काम पर लग जाओ। ये हड़ताली लोग जहां-तहां गन्दगी न करें इस बात की सावधानी रखनी होगी। रात को जब इतने आदमी आये हैं तो दिन में इनसे भी अधिक लोग आयेंगे। उन सबकी व्यवस्था के लिए हम सब लोगों को तैयार हो जाना है।"

अपना विस्तर समेटकर मैं जल्दी तैयार होकर हड़तालियों को देखने निकल पड़ा। जिधर नजर डाली, उधर आदमी-ही-आदमी देखकर मैं चकित रह गया। फीनिक्स के उस एकान्त मैदान में एक साथ सौ आदमियों से अधिक पहले कभी मैंने नहीं देखे थे। ऐसे स्थल पर एक ही रात में जादू की तरह मानो जमीन से आदमी फूट पड़े थे। उन लोगों ने हमारे सभी बगीचों को और रास्तों को घेर लिया था और नये लोग चले ही आ रहे थे। किसी टोली में पांच-सात व्यक्ति होते थे, तो किसी में चालीस-पचास का झुण्ड होता था।

ग्यारह बार जेल हो आने वाले वीर फकीरा भाई अन्नभंडार के काम पर जुट गए। हड़ताली भाई-बहनों को देने के लिए दो प्रकार के सीधे-सामान की सूचियां मगनकाका ने तैयार कीं। एक सूची के मुताबिक दाल-चावल तथा नमक-मिर्च और दूसरी सूची के मुताबिक आटा और चीनी देने का नियम बनाया गया। प्रत्येक व्यक्ति के हिसाब से कितना अन्न दिया जाय यह भी ठहरा दिया गया। जो नये-नये परिवार आते थे उनके लिए टिकने का स्थान निश्चित कर देने के बाद मुख्य व्यक्ति को मैं छापाखाना में मगनकाका के पास ले जाता। वहां से चिट्ठियां बनवा कर उनको अन्न-भंडार में ले जाता और फकीरा भाई से निश्चित सीधा तुलवा कर उन लोगों को दे देता। फकीरा भाई बड़ी तेजी से काम करते थे और किसी पर भी नाराज नहीं होते थे; परन्तु मैं छोटा बच्चा होते हुए भी अकस्मात बड़ा आदमी बन गया था। इसलिए द्वारपाल का अपना कर्त्तव्य करते हुए हड़तालियों से अनेक बार अकड़ जाता था। उनमें कई हड़ताली ऐसे भी थे जिनके दो-दो दिन के फाके हो चुके थे। भूखे पेट वे लोग दिन-रात तीस-चालीस मील का रास्ता चल कर मुश्किल से फीनिक्स तक आ पाए थे। राशन की चिट्ठी के हिसाब से तुले हुए अन्न का कागज में बंधा थैला जब मैं उन लोगों के हाथ में रखता था तब उनके मुख पर प्रसन्नता झलक उठने के बदले कई बार गहरी निराशा प्रकट होती थी और खिन्न होकर उनमें से कुछ लोग कहते थे, "इतने से क्या होगा। इससे हमारी भूख थोड़े ही मिटेगी? थोड़ा-सा आटा (या चावल) और दे दो न?" और इस मांग को वे बार-बार दोहराया करते थे तथा भंडार के दरवाजे से हटते ही नहीं थे। ऐसे समय फकीरा भाई दरवाजे पर जाकर उन लोगों को मधुरता

से समझाने का प्रयत्न करते थे कि "भैया, तुम एक-दो को अधिक कैसे दे दिया जाय! यह समय ही कष्ट उठाने का है।"

उन लोगों को रसोई के लिए जगह वताने में मुझे अपना वहुत समय देना पड़ता था। वार-वार उन्हें समझाना पड़ता था कि फल के वृक्षों को आग से नुकसान न पहुंचे। परन्तु जव तक किसी फल-वृक्ष को भारी नुकसान होने का खतरा न हो तव तक मैं किसी को व्यर्थ रोकता-टोकता नहीं था।

यद्यपि उस समय हड़तालियों का कोई बाकायदा संघ वना हुआ नहीं था, फिर भी जितने लोग आये थे, वड़े भाईचारे से रहते थे। प्रत्येक परिवार अपनी अलग रसोई पकाता था सही, परन्तु उनमें परस्पर मेल वहुत था। अकेला कुटुम्व कहीं नजर नहीं आता था। हर जगह अलग-अलग झुंड में वे लोग डेरा डाले हुए थे। उनके दिलों में सवसे ज्यादा घवराहट इस वात की रहती थी कि अव यहां पहुंच जाने के वाद भी उन्हें आराम मिलेगा या नहीं?

जव मैं उनके वीच में घूमने निकलता था तव वे लोग मुझे वुला-वुला कर वातें करने लगते थे। "एई, छोटा वावा! जरा इधर तो आओ। देखो भैया, चावल तो मिला पर पकाने के लिए वरतन भी जरा मिला दीओ।" मैं उत्तर देता. "भाई. यहां तो दाल-चावल मिलता है। इतने वरतन भंडार में कहां हैं?" कोई अपने मन की शान्ति के लिए पूछता था: "यहां से सोल्जर लोग हमको उठाकर नहीं ले जायंगे न?" कोई भक्ति गद्‌गद् हो कर पूछता था, "ओ, छोटा वावा! गांधी महाराज का घर कौन-सा है? वे कहां रहते हैं? उनको कहां से पकड़ कर ले गए? गांधी महाराज तुम्हारा क्या लगता है? तुम्हारे माई-वाप कौन हैं? यह वगीचा किसका है?" आदि।

उनके प्रश्नों का जोर जव कम होता था तव मेरी वारी आती थी। "देखिये, वगीचे को कोई नुकसान न हो यह देखना मेरा काम है। आप लोग मिहरवानी करके एक भी फल न तोड़ें।" मुझे तुरन्त उत्तर मिलता, "नहीं, नहीं, क्या हम इतना भी नहीं समझते? देखो हम इन वच्चों पर खास निगरानी रखते हैं कि वे फलों को हाथ न लगावें। तुम वे-फिकर रहो।" फिर मैं उनसे कहता, "वगीचे को नुकसान नहीं पहुंचायंगे यह आपकी मेहरवानी है। अव इतना ध्यान रखें कि यहां पास में कोई टट्टी बैठकर गन्दगी न फैलावे।" वे कहते, "ऐसा कौन मूर्ख होगा जो इतने सारे लोगों के वीच यहां टट्टी जाय। कोई जायगा तो हम उसे पीट न डालेंगे!"

वे अपनी वात के इतने पक्के थे, इसका एक निशान मुझे याद आ रहा

है। एक वार मैं निगरानी के लिए चक्कर काट रहा था। दो जवानों को मैंने एक अमरूद के पेड़ पर हाथ मारते देखा। मैं तुरन्त वहां गया और जोर से चिल्लाया, 'ए, क्या तोड़ते हो!' वे दोनों उलट कर मुझ पर आ-धमके और डांटने लगे, 'तुमने देखा? हमने कहां कुछ तोड़ा है? बच्चे होकर झूठ क्यों वोलते हो?' लेकिन मैं कुछ कहूं, उससे पहले ही उन्हीं हड़-ताली भाइयों में से कई मेरी सहायता को दौड़ आये। उन्होंने उन दोनों को आड़े हाथों लिया, 'तुम वहां पर गये ही क्यों? हम सबकी आवरू मिट्टी में मिलाना चाहते हो? गांधीराजा के वगीचे में चोरी करते शर्म नहीं आती।' वे बेचारे इतने शर्मा गए कि मुझे और कुछ कहना नहीं पड़ा।

जैसे-जैसे दिन बीतते गए, हड़तालियों की बाढ़ हमें हैरत में डालती रही। जिस दिन सैकड़ों नये आदमी न आयें हमें अचम्भा होता था। रोज शाम को राशन की चिट्ठियों से मगनकाका अन्दाजा लगाते थे, आज ७०० आदमी बढ़े, आज १००० बढ़े और आज १५०० नये आये। फकीरा भाई का और मेरा कार्यक्रम ऐसा नियमित चल रहा था कि इतने आदमियों के स्वागत में हमें दिक्कत नहीं होती थी, न कोई धांधली होती थी।

लेकिन एक बड़ा जटिल प्रश्न यह था कि इतने सारे आदमियों के लिए खाना कैसे पूरा किया जाय? मगनकाका के सिर पर अपार चिन्ता थी। स्टेशन से दाल-चावल, आटा और चीनी की बोरियां रोज आती रहती थीं, किन्तु कुछ घंटे बीतने के बाद ही फकीरा भाई की चेतावनी मगनकाका के पास मुझे पहुंचानी पड़ती थी कि सीधा खत्म है; और नई चिट्ठियां न काटें।

जेल जाने से पहले बापूजी ने दक्षिण-अफ्रीका के भारतवासियों को अपना जो अन्तिम सन्देश दिया था, उसमें उन्होंने हिन्दी व्यापारियों से इन हड़ताली भाइयों को सहायता देने की अपील की थी। उनका वह पत्र 'इंडियन-ओपीनियन' में निम्न प्रकार छपा था:

"इस बार की लड़ाई दुवारा नहीं होने वाली है। अब हद हो गई है। गरीब गिरमिटिये भारतीयों की हिम्मत की ओर उनके दुख की कोई सीमा नहीं रही है। डेढ़ रतल (साढ़े ग्यारह छटांक) डबल रोटी और मुट्ठी-भर चीनी पर रह कर प्रति दिन चौबीस मील कितने आदमी चलेंगे? यह काम हमारे गरीब भाइयों ने किया है। उन्होंने घोड़ों की लातें खाई हैं, गोरों की ठोकरें और उनके मुक्के चुपचाप सहे हैं। स्त्रियां दो-दो महीनों के बच्चों को गोद में लेकर सिर पर गठरी उठाये भरी दोपहर में चली हैं। सभी ने सर्दी, धूप और बारिश को सहन किया है। यह सब किसके लिए? भारत

के लिए। ऐसे बलिदान से तीन पौंड का कर जायगा ही, किन्तु भारत का दर्जा भी बढ़ेगा।

"ट्रान्सवाल की कूच पूरी फतहमन्द साबित हुई है, ऐसा मैं मानता हूं। उद्देश्य गिरफ्तार होने का था और सब पकड़े गए।

"किन्तु लड़ाई का सही रंग अब आयगा। इसमें वे सैकड़ों आदमी भी, जिनको जेल नहीं जाना है, काम कर सकेंगे। उनको इतना ही प्रण लेना है कि वे स्वयं भूखे रह कर भी उनको खाना देंगे, जिन्होंने हड़ताल की है। हिन्दुस्तान से पैसे आयें या न आयें, हम लोगों को यहां से उनको खाना देना ही चाहिए। हड़तालियों को हिम्मत और ऐसी सलाह देनी चाहिए कि यदि उनके ऊपर लातों के प्रहार हों तो भी वे मुकावला या मुठभेड़ न करें। इतना काम सभी भारतवासियों से हो सकता है। ऐसा अवसर लौट कर आने वाला नहीं है। प्रत्येक भारतीय व्रत ले सकता है कि स्वयं जितनी बार भोजन करते हों, उसमें से एक बार कम खाकर पैसे बचाकर भूखों को अन्न देंगे। हर एक गांव के व्यापारियों का कर्त्तव्य है कि वे अपने यहां आये हुए किसी भी हड़ताली को खाना और आश्रय दें और फिर जहां बहुतों को खिलाने की सुविधा की गई हो वहां उन्हें भेज दें। इस महत्कार्य में जो हिन्दी अपनी शक्ति-भर हिस्सा नहीं लेगा, उसको मैं अभागा समझूंगा।

सत्याग्रही हिन्दियों का सेवक

ता० १६–११–१३ मो० क० गांधी।"

बापूजी की इस अपील का बड़ा असर हुआ। जब हम फीनिक्स में लोगों को खिलाने की चिन्ता में थे, तब खबर आई कि डरबन में भारतीयों की एक विराट सभा हुई है और मारित्सबर्ग तथा डरबन के हिन्दू-मुस्लिम व्यापारियों ने बहुत-सा अनाज अपनी दूकानों से निकाल कर दिया है। साथ-साथ हमने यह भी सुना कि हड़ताल की सारी बातें हिन्दुस्तान पहुंच गई हैं और गोखलेजी महाराज ने तार देकर सूचना दी है कि वह अनाज के लिए इन्तजाम कर रहे हैं।

डरबन की सभा के समाचार मिलने के तीसरे या चौथे ही दिन एक बड़ी खच्चर-गाड़ी अनाज की बोरियों से लद कर डरबन से हमारे यहां आई। उस गाड़ी के साथ थे—श्री सोराबजी, रुस्तमजीकाका के छोटे पुत्र। सैकड़ों हड़ताली उस गाड़ी के पास जमा हो गए। श्री सोराबजी ने बहुत-सा अन्न वहां गिरमिटियों को बांट दिया। फिर कई बोरियां फीनिक्स में छोड़कर गाड़ी आगे बढ़ गई। वह कुछ अनाज शाम से पहले वहां से आठ-नौ मील दूर माउंटेजकंब के 'घमोले' (चीनी मिल) पर पहुंचा देना चाहते

थे, ताकि वहां पड़े लोगों को भी भोजन मिल सके। इन्हीं सोरावजी के एक दूसरे बड़े पराक्रम के बारे में बापूजी ने 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के इतिहास' में लिखा है :

"एक प्रसंग अंकित रखने जैसा है। वेरूलम में बहुत-से मजदूर निकल पड़े थे। किसी तरह वे लौट नहीं रहे थे। जनरल यूकिन अपने सिपाहियों के साथ वहां पर मौजूद था। उन लोगों पर गोली चलाने का हुक्म देने को तैयार था। स्वर्गीय पारसी रुस्तमजी का छोटा बेटा वहादुर सोरावजी, जिसकी उम्र मुश्किल से १८ वर्ष होगी, डरबन से वहां पहुच गया था। वह जनरल के घोड़े की लगाम पकड़ कर बोल उठा, 'आप गोली चलाने का हुक्म नहीं दे सकते। अपने लोगों को शांतिपूर्वक काम पर लौटाने का जिम्मा मैं अपने ऊपर ले रहा हूं।' जनरल यूकिन इस नौजवान की वहादुरी पर मुग्ध हो गया और उसने उसको अपने प्रेम का वल आजमाने की मोहलत दी। सोरावजी ने लोगों को समझाया। लोग समझे और काम पर लौटे। इस प्रकार एक जवान की समय-सूचकता, निर्भयता और प्रेम से खून-खच्चर होते-होते बच गया।"

: ६३ :

सूर्भाई का बलिदान

नित्य नियमानुसार एक दिन दोपहर छापाखाने के कार्यालय में मैं डाक की टिकटें लगाने में व्यस्त था कि छोटम ने दौड़ते हुए आकर मगन-काका को खबर दी कि हमारे घर में एक आदमी आ बैठा है। वह चल नहीं पाता, उसका हाथ अकड़ गया है; उसकी पत्नी भी साथ है और सहारा दे-देकर उस आदमी को चलाकर लाई है। वह औरत वार-बार रो पड़ती है, आदमी का मुंह बड़ा भद्दा है; बार-बार कहता है, 'सेठ से मिलना है।' वह दूसरे हड़तालियों के साथ रहने से इनकार करता है।

मगनकाका ने छोटम और उसके बाल-साथियों को तो विदा कर दिया और उन बच्चों को समझाया कि वे उस बी ार आदमी को तग न करें। संध्या के समय काम समाप्त होने पर देवदासकाका और मुझे साथ लेकर मगनकाका उस व्यक्ति के पास पहुंचे। पूछने पर उसने अपना

नाम 'सूभाई' वताया और अपना फटा कुरता उठाकर मगनकाका को अपनी पीठ दिखलाई।

उसकी सारी पीठ पर दो-दो अंगुल की दूरी पर मोटी-मोटी लकीरें उछली हुई थीं। कई जगह खाल फट गई थी और मांस के लोथड़े उभर आये थे। हमसे तो यह देखा नहीं जाता था।

मगनकाका के पूछने पर सूभाई ने वताया: "सा'व ने शैम्वक से मारा है।" 'शैम्वक' गेंडे के चमड़े से बने हुए हंटर को कहा जाता था।

सूभाई ने आगे वातया: "हमारे लोग वीच-वचाव न करते तो वह और भी मारता।" वह अधिक नहीं वोला और शेप वात उसने हमारे समझने और महसूस करने के लिए छोड़ दी। किन्तु उसके अन्तिम शब्द और भी मर्मवेधक थे: "उसने मारा, सो तो कुछ नहीं; पर और दूसरा कोई आदमी जब उसके हाथ नहीं आया तव मुझ वीमार को ही पीट डाला, इसमें कौन-सी वहादुरी थी?"

किन्तु सूभाई की स्त्री मे सूभाई की-सी सहनशीलता और दिमाग की ठंडक कहां से आती? वह रोती थी, विलखती थी मानो उसके हृदय के दो टुकड़े हुए जा रहे थे। उसने कहा, "मेरे पति ने कोई अपराध नहीं किया। उसने जरा भी विरोध नहीं किया। वीमारी के कारण वह तीन-चार दिन काम पर नहीं जा सका; बस इतने से ही उस पर यह कहर ढाया गया। वह भी खान से पहले ही निकल गया होता, भाग पाता तो इस मार से वच जाता।"

मगनकाका ने सब देखा, सुना और हृदय को कड़ा करके सूभाई तथा उसकी पत्नी को सांत्वना दी। बाद में उन्होंने हमारी पाठशाला वाले छोटे-से मकान की एक कोठरी उनके अलग रहने के लिए खाली कर दी। छोटे छोटे वालक अपना खेल-कूद छोड़ कर उन दोनों की सेवा तथा सहायता करने लगे। जब और हड़ताली फीनिक्स से लौट गए तव भी सूभाई और उसकी पत्नी फीनिक्स में टिके रहे, यद्यपि सूभाई की पत्नी का उद्वेग कई दिन वीत जाने पर भी कम नहीं हुआ, फिर भी स्वयं सूभाई मानो मुनि वन गया था। उसके मुंह से हम कभी 'उफ' भी सुनने को नहीं मिला। अकस्मात् एक दिन एक गोरा सोल्जर सूभाई-दपति को फीनिक्स से ले गया। और एक दिन हमने सुना कि वह अब इस ससार में नहीं है। सत्याग्रह का अन्त होने पर उसका मामला चर्चा का विशेष विषय रहा। प्लैंटर्स (बाग-मालिकों) ने अपना वचाव कैसे किया यह मुझे नहीं मालूम; किन्तु

सूर्भाई मर कर सत्याग्रह के इतिहास में अमर हो गया। वह अपने पीछे शौर्य और धैर्य का स्थायी प्रकाश छोड़ गया।

: ६४ :

फीनिक्स में गोरी पल्टन

फीनिक्स में हड़तालियों की संख्या जैसे-जैसे बढ़ती जाती थी, उस पर सरकार की कोप-दृष्टि की आशंका भी अधिक होती जाती थी। ऐसी आशंका बनी रहती थी कि मगनकाका, श्री वेस्ट और श्री देवी बहन को गिरफ्तार कर लिया जायगा।

इन चर्चाओं से हम बालकों को आनन्द ही होता था। मैंने एक दिन मगनकाका से पूछा कि आपकी गिरफ्तारी के बाद हम लोग अकेले हो जायंगे; फिर अपने छोटे-छोटे भाई-बहनों की हिफाजत कैसे करेंगे? मगनकाका ने हमें समझाया कि उनके गिरफ्तार होने के बाद साप्ताहिक पत्र तो बन्द हो जायगा, इसलिए काम भी कम रहेगा। फिर तुम लोग छोटे भाई-बहनों को संभालना और श्री गोविन्द स्वामी (जो पहले सोलह सत्याग्रहियों में थे) की धर्मपत्नी—श्रीमती सेम—के यहां जाकर खेला करना।

उन्होंने हमसे यह भी कहा, "मेरे पकड़े जाने पर डरबन और मारित्स-बर्ग से लोग यहां आयंगे, तुम पर दयाभाव दिखायंगे और तुम्हें अपने साथ शहर में ले जाना चाहेंगे; परन्तु तुम्हारा जाना उचित न होगा। कोई आकर 'इंडियन ओपीनियन' पत्र निकालने की बात करे तो तुम वह भी न करने देना। पत्र बन्द होने का समाचार भारत पहुंचेगा ही, तब गोखलेजी व्यवस्था कर देंगे।"

मगनकाका की गिरफ्तारी की बात बारबार उठती और प्रायः रोज ही ऐसा मालूम होता था कि वह गिरफ्तार कर लिये जायंगे; बारबार हमें फीनिक्स के आसपास पुलिस घूमती हुई दिखलाई पड़ती और बारबार मगनकाका के जाने की तैयारी हो जाती; किन्तु लंबी प्रतीक्षा के बाद भी वह आशंका फली नहीं।

नए हड़ताली बड़ी तादाद में अब भी आते जा रहे थे। किन्तु उनके

मुख पर धैर्य और उत्साह के चिह्न दिखलाई नहीं देते थे; उन्होंने अपनी मानसिक दशा से अन्य सभी लोगों को भयभीत कर दिया था।

लोग आपस में चर्चाएं करते थे और यह अफवाह फैल रही थी कि यदि आगामी सोमवार तक हड़ताली अपनी-अपनी कोठियों में लौट नहीं जायंगे तो उनकी खूब मरम्मत की जायगी। रविवार को सारी रात घंटा बजता रहेगा। उसे सुनने के बाद भी जो काम पर नहीं पहुंचेंगे उन्हें गिरफ्तार करके ले जाया जायगा। फौजी लोग आकर डंडे मार-मार कर उन्हें वापस ले जायंगे।

कुछ लोग उनमें ऐसे थे जो पुलिस की छाया देखकर भी घबड़ा जाते थे; किन्तु ऐसों की भी कमी नहीं थी, जो कहते थे : "जब आयंगे तब देखा जायगा। यह उनका घर थोड़े ही है, गांधी महाराज का घर है।" बारी-बारी से भय और समाधान की लहर-सी उठती थी।

एक दिन झरने के वृक्षों के उस पार मैंने सात-आठ घोड़े देखे। प्रत्येक पर एक-एक ऊंचा, तगड़ा, गोरा सैनिक था। सब छापाखाने की ओर आ रहे थे। उनके पीछे नए-नए घुड़सवार भी आते हुए दिखलाई पड़ते थे। मैं प्रेस की दो सीढ़ी उतर कर चार-पांच कदम उन गोरे सैनिकों की तरफ बढ़ रहा था कि वे लोग ठीक प्रेस के दरवाजे की ओर मुड़े और एक ने बिलकुल मेरे सामने घोड़ा खड़ा कर दिया। उसकी कमर पर और सीने पर चमड़े के चौड़े पट्टे थे। उनमें कारतूसें भरी हुई थीं और उसके एक हाथ में बंदूक थी। उसके पीछे दूसरा सवार भी कारतूसों के पट्टे तथा बंदूक लगाये हुए था। बाद के सभी सैनिकों के हाथ में मोटे-लंबे डंडे थे। पहले घुड़सवार ने मुझे अपने पास बुलाया और पूछा, "मिस्टर गांधी कहां हैं?"

मैंने पूछा, "क्यों?"

उसने कहा, "मुझे उनसे मिलना है।"

"मि० गाधी यहां नहीं हैं। वह तो जेल में हैं।"

इसपर उसके पीछे के सवार ने कुछ आगे बढ़कर मुझे समझाया—"हम मि० एम० के० गांधी के बारे में नहीं पूछते; मि० मगनलाल के० गांधी के बारे में पूछते हैं। वह तो यहीं पर हैं न?"

"हां, यहीं हैं; प्रेस में काम कर रहे हैं।"

"जाओ उनसे जाकर कहो कि लेफ्टिनेंट और कैप्टेन आये हैं; उनसे मिलना चाहते हैं।"

वे सीधे प्रेस में नहीं घुसे। उनकी यह शिष्टता मुझे अच्छी लगी।

कुछ आश्चर्य और कुछ आनन्द की भावना से मैं छापाखाना के अन्दर दौड़ गया और मैंने मगनकाका से कहा, "सैनिकों की एक बड़ी पल्टन आई है। श्री वेस्ट के घर की ओर से सारा रास्ता घुड़सवारों से छाया हुआ है। आपको बुला रहे हैं, वारंट लेकर आये दीखते हैं। उनके पास बंदूकें, कारतूस, सब-कुछ हैं।" मेरी बात सुनते ही मगनकाका, देवदास-काका आदि छापाखाना से बाहर आये।

छापाखाना के द्वार पर सब इकट्ठे हो गए। मगनकाका एक सीढ़ी नीचे उतरे। लेफ्टिनेंट ने अपना घोड़ा एक कदम आगे बढ़ाया और बड़ी रूखी-मोटी आवाज से बात करने लगा। देवदासकाका और मैं मगनकाका से बिलकुल सटकर बात सुनने लगे।

"मगनलाल के० गांधी आप ही हैं?" लेफ्टिनेंट ने पूछा।

"हां!" मगनकाका ने उत्तर दिया।

"मैं आपसे कहने आया हूं कि आप इन सब आदमियों से कह दीजिए कि वे यहां से अपनी-अपनी जगह पर लौट जायं, वरना इन्हें बहुत तकलीफ भोगनी पड़ेगी। इनको राशन देना तो आप बन्द कर ही दीजिए।"

"यह नहीं हो सकता; जो लोग यहां आयंगे, उनको अन्न और जगह तो हम देंगे ही। हमारा यह कर्त्तव्य है।"

"किन्तु आप इन लोगों को मेरी बात समझाइए। इनसे कहिए कि सोमवार से पहले यदि वे काम पर नहीं चले जायंगे तो उनकी बड़ी दुर्दशा होगी।"

"मैं उनको यहां से लौटने की सलाह नहीं दे सकता।"

"अच्छा, तो आप मेरे हरएक वाक्य का हिन्दी में अनुवाद तो उनके लिए कर देंगे न? मैं बोलूंगा तो इन लोगों की समझ में नहीं आयगा। और मेरे साथ का दुभाषिया कहेगा तो यह सारी भीड़ उत्तेजित हो जायगी। यदि शांति रखनी है तो जो मैं बोलूं उसका अनुवाद आप सुना दीजिए।"

"यह बात स्वीकार की जा सकती है, पर मैं कुछ करूं इससे पहले मुझे मि० वेस्ट से मिलना होगा। उनसे मिलने के बाद ही मैं कोई कदम उठा सकता हूं।"

"मि० वेस्ट से तो आप नहीं मिल सकेंगे। उनको गिरफ्तार करके मोटर से रवाना कर दिया गया है। वह तो अब डरबन पहुंचने वाले होंगे।"

"क्या मि० वेस्ट पकड़े गए? क्यों?"

"हां, उनके नाम वारंट था। वे गये।"

"मेरे लिए वारंट क्यों नहीं है ?"

"सरकार आपको पकड़ना नहीं चाहती। आप हड़तालियों को समझाकर लौटा दें; उन्हें न रखें। इतना ही सरकार आपसे चाहती है।"

"ठीक बात है, आपका संदेश मैं हड़तालियों को सुना दूंगा। लेकिन जो यहां आयंगे और रहेंगे, उनको आश्रय हम अवश्य देंगे।"

तीन-चार मिनट में यह सारी चर्चा हो गई। इसके बाद मगनकाका ने मुझे तुरन्त घर पर जाकर बच्चों को संभालने की आज्ञा दी। मैं घर पहुंचा तो वहां इमाम साहब की बड़ी पुत्री फातिमा बहन सब बच्चों को घेर कर बैठी थीं। सभी बच्चे आनन्द में थे। मेरे पहुचते ही वे चिल्लाने लगे, "हमने मोटर देखी ! हमने मोटर देखी ! उसमें मि० वेस्ट बैठे थे।"

फातिमा बहन बोली, "हमें तुमसे पहले ही पता चल गया। हमने तो उनको गिरफ्तार होते और ले जाते हुए देखा। लाल मोटर थी। तुम इधर कैसे आए ?"

मैंने प्रेस में आये हुए घुड़सवारों की बात सुनाई और कहा कि मगनकाका ने मुझे बच्चों को संभालने के लिए भेजा है। यह सुन कर फातिमा बहन ने कहा, "तुम, बेफिक्र होकर जा सकते हो। हम सब बहुत मज़े में हैं। मगनकाका से कहना कि वह चिंता न करें। यहां किसी को घबराहट नहीं है।"

मैं फिर दौड़ता हुआ प्रेस की ओर चला। मार्ग में हमारी पाठशाला के पास, जहां बहुत-सी हड़ताली औरतों को टिकाया गया था, बड़ी घबराहट फैली हुई थी। कई स्त्रियां रो रही थीं। मैं उनके बीच पहुंचा तो उनमें से एक बुढ़िया ने मुझसे पूछा, "क्या, गोरी पल्टन आई है ? वह गोली चलाने वाली है ?" मैंने उसको धीरज बंधाया और कहा, "नहीं, गोली वगैरा नहीं चलेगी; मगनकाका उस पल्टन के मुखिया से बातचीत कर रहे हैं। सभी लोग प्रेस में ही हैं। अगर वे इस ओर आयंगे तो हम भी उनके साथ-साथ यहां आयंगे। काका आप लोगों को अकेला नहीं छोड़ेंगे। आप लोग बिलकुल न घबराएं।"

उन्हीं में से दो-तीन अधेड़ आयु वाली बहनों ने औरों को साहस दिलाते हुए कहा, "यहां, गांधी महाराज के घर में, कोई हमें नहीं सता सकता। डरने की कोई बात नहीं है। गोरे सिपाही आ गए तो क्या हो गया ?" एक वृद्धा ने मेरी ओर संकेत करके सबसे कहा, "ये बच्चे नहीं डरते तो हम सब तो बड़ी हैं।

मैं दौड़ता हुआ प्रेस में पहुंचा। वहां गोरे घुड़सवारों ने एक घेरा-सा बना रखा था। उसे पार करके पीछे वाले मैदान में पहुंचा, जहां हड़तालियों की बहुत बड़ी संख्या जमा थी और उनके बीच में मगनकाका खड़े थे।

लेफ्टिनेंट अपने घोड़े पर बैठा हुआ अंग्रेजी में एक के बाद दूसरा वाक्य बोलता जाता था और मगनकाका उसका हिन्दी अनुवाद सुनाते थे। लोग लेफ्टिनेंट का भाषण ज्यों-ज्यों सुनते और समझते थे, त्यों-त्यों उनके चेहरों पर निराशा और ग्लानि की छाया बढ़ती जाती थी।

हड़तालियों के चेहरों से साफ मालूम होता था कि वे अपनी-अपनी कोठियों पर लौटने को तैयार नहीं हैं। फीनिक्स में, 'गांधी महाराज के यहां,' गोरे लोगों के अत्याचारों और मारपीट का उनको इतना अधिक डर नहीं था, जितना कोठियों में पहुंचने पर था। पर मगनकाका ने हड़तालियों को फीनिक्स से लौट जाने के लिए जो समझाया था; वह सत्याग्रह-संग्राम की निश्चित नीति के अनुसार ही किया था।

सत्याग्रह संग्राम में सत्याग्रह करने वाले पक्ष की ओर से थोड़ी-सी भी अशांति पैदा की जाय, हाथा-पाई या मारपीट हो तो दमन करने वालों का काम सोलहों आने बन जाता है। सत्याग्रहियों का सबसे बड़ा मोर्चा यही होता है कि वे अपने धैर्य, शांति और सौजन्य को मरते दम तक न छोड़ें। अव्यवस्था और दंगा करने से हर हालत में लोगों को रोक देना चाहिए।

मुझे तब यह सब ज्ञान नहीं था, पर बाद में, दक्षिण-अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास पढ़ने पर मालूम हुआ कि और ज्यादा गिरमिटियों को हड़ताल करने से रोकने की स्पष्ट हिदायत बापूजी जेल जाते समय दे गए थे।

उन्होंने लिखा था : "जेल जाते समय मैं तो साथी लोगों को सावधान कर गया था कि अब वे अधिक मजदूरों को हड़ताल करने से रोकें। मुझे उम्मीद थी कि खान के (कोयलों की खान के) मजदूरों की सहायता से संग्राम सिमट सकेगा। अगर सभी मजदूर अर्थात् साठ हजार मनुष्य हड़ताल करेंगे तो उन सबको खिलाना-पिलाना भारी पड़ जायगा। इतने लोगों को कूच कराते हुए ले जाने का सामान ही हमारे पास नहीं था। इतने नेता नहीं थे और न इतने पैसे थे। फिर इतने आदमियों को जमा करने पर उन्हें दंगा-फिसाद करने से रोकना असंभव हो जाता।

"परन्तु जब बाढ़ फैल जाय तब किसका बस चल सकता है ? सब

जगहों से मजदूर लोग निकल पड़े। उन सभी जगहों पर अपनी ही सूझ-बूझ से स्वयंसेवक उपस्थित हो गए।

"सरकार अब बन्दूक-नीति पर तुल गई। लोगों को हड़ताल करने से जबरन रोका गया। उनके पीछे घुड़सवार दौड़े और उन्हें अपने स्थान पर लौटाया। लोग थोड़ा-सा भी दंगा करें तो उन पर गोलियां चलाने की आज्ञा थी। मजदूर लोग लौटने के खिलाफ हुए। किसी ने पत्थर भी चलाये। उनपर गोलियां चलाई गईं। बहुत घायल हुए। दो-चार मरे। किन्तु लोगों का जोश ठंडा नहीं हुआ। इन जगहों में बड़ी मुश्किल से स्वयंसेवकों ने हड़ताल होने से रोकी। सब तो काम पर गये नहीं कुछ लोग भय के मारे छिप गए, जो लौटे ही नहीं।"

लेफ्टिनेंट की बात का प्रायः पौन घंटे तक उल्था करके मगनकाका हड़तालियों को समझाते रहे और फिर सीधे छापाखाना में जाकर अपने नित्य के काम में लग गए। थोड़ी देर बाद लेफ्टिनेंट ने दुबारा उन्हें बुलाया और उनसे कहा, "मैं जा रहा हूं। मेरी पुलिस के थोड़े घुड़सवार यहां रुकेंगे, और इस समय आपकी जमीन में सब जगह घूम कर सभी हड़तालियों को यहां से रवाना करेंगे। इसके बाद मेरे तीन-चार सैनिक यहां रहेंगे और कोठियों से भाग कर आने वाले हड़तालियों को लौटा देंगे। हमारी छावनी उस विलायती बबूल वाली टेकरी पर रहेगी। आप मेरे सैनिकों को सहायता दीजिएगा।"

मगनकाका ने उत्तर दिया, "आपके सैनिक यहां रह सकते हैं। हमें कोई एतराज नहीं। लेकिन जो हड़ताली यहां आयंगे और रहेंगे उन्हें हम अन्न और जगह देंगे। उनको आपके सैनिकों के हवाले करना हमसे नहीं हो सकेगा। यह हमारा काम नहीं है। हां, हम आपके सैनिकों के समझाने-बुझाने के काम में बाधा नहीं डालेंगे।"

दोनों अफसर अपने सैनिकों के साथ घोड़े दौड़ाते हुए स्टेशन की ओर अदृश्य हो गए। लेकिन वहां उनका आतंक छा गया और हड़ताली धीरे-धीरे वापस लौट जाने का उपक्रम करने लगे।

दिन ढल गया। प्रेस बन्द करके भारी मन से हम लोग घर पर लौटे। हमारा घर ऊंची टेकरी पर था, वहां से पश्चिम-दिशा की ओर दूर-दूर तक दिखाई देता था। सामान्यतः उन टेकरियों पर छुटपुट झोंपड़ियों और ऊंची-ऊंची घास के अलावा और कुछ नजर नहीं आता था। लेकिन उस दिन उन सब पर नीचे-ऊपर तक आदमियों का संचार हो रहा था। उस दिन संध्या के समय बाग-काम में मेरा मन नहीं लगा। मैं एक बबूतरे

पर बैठा देर तक लौटते हुए हड़तालियों को एकटक देखता रहा।

समूचे पश्चिम आकाश में संध्या की लाली फैलने लगी थी। छोटे-मोटे जो बादल इधर-उधर लहरा रहे थे, लाल-लाल हो उठे थे, मानो हड़तालियों के मन का क्रोध और उनके दिल का उद्वेग उन बादलों में प्रतिबिंबित हो रहा हो। पंक्ति बांध कर आकाश में सुदूर यात्रा के लिए जाने वाले पक्षियों की तरह क्षितिज में लुप्त होती हुई, मानव-पंक्तियों को मैं देखता ही रहा। धीरे-धीरे बादल स्याह पड़ने लगे। आकाश में अंधेरे ने अपना अधिकार जमाना शुरू कर दिया। फिर भी हमारे आश्रम से लेकर टेकड़ियों की चोटियों तक सारी पगडंडियों पर आदमियों की कतारें चली ही जा रही थीं! उस दिन-भर मेरे मन में विषाद और ग्लानि का जो अनुभव हुआ था वह आज भी मैं नहीं भूला हूं। मैं सोचता रहा कि "क्या ये लोग इसी नतीजे के लिए इतना दुःख उठा कर यहां आये थे?" फिर अपने मन में मैंने आशा रखी कि "ऐसे बहादुर लोग कुछ सोच-समझकर ही लौट गए होंगे। आज यहां मारकाट न हो, गोली न चले इसलिए वे सोमवार के दिन की हाजरी लगवाने गये होंगे। हाजरी देकर फिर से यहां आने की तरकीब उन्होंने सोची होगी।" परन्तु यह तो बच्चे की एक कोरी कल्पना ही थी। हड़ताली लोग गये सो गये ही। ऐसे शांत और निर्दोष लोगों का दर्शन मेरे लिए पुनीत स्मृति बनी नहीं।

: ६५ :

अंग्रेज मित्र और शत्रु

बापू के पास अनेक गोरे मित्र आते-जाते थे, परन्तु फीनिक्स-निवासी कहे जा सकें, ऐसे दो ही गोरे वहां पर थे और दोनों ही पक्के अंग्रेज थे। एक थे मि० वेस्ट और दूसरे मि० टोड। मि० वेस्ट फीनिक्स आश्रम के स्वजन बने हुये थे और उनका पूरा परिवार हम लोगों में घुल-मिल गया था; लेकिन मि० टोड हमारे आश्रम के रूखे पड़ोसी ही थे। जब कभी टोड दिखलाई पड़ते तब अकेले ही नजर आते थे। हाथ में लम्बा 'शैम्बक' (गेंडे की खाल का कोड़ा) लिये हुये वह घोड़े पर अपनी प्लैन्टेशन का चक्कर काटते रहते थे। मीलों तक फैली हुई लंबी-चौड़ी भूमि पर खेती करनेवाला किसान भला धरती पर पैर कैसे रख सकता है! वह तो दूसरों के कंधों पर

सवार होकर, अपने कर्मचारी और मजदूरों का मलीदा बनाकर ही महा-कृषि को जोत-बो सकता है और उससे धन प्राप्त कर सकता है।

अपरिमित धन-पिपासा से झुलसा हुआ मनुष्य, मानवता को भूलकर किस प्रकार मनुष्येतर प्राणी बन जाता है, इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण मि० टोड थे।

इधर श्री वेस्ट ने बापूजी से दीक्षा प्राप्त की थी। धन-लिप्सा का त्याग करके अपने निर्वाह-भर के लिए इतना सीमित वेतन लेते थे जो एक अंग्रेज परिवार तो क्या, वहां बसने वाले भारतीय परिवार को भी पूरा नहीं पड़ सकता था। स्वेच्छा से त्याग, संतोष-वृत्ति और सतत परिश्रम तथा घर में खेती के अध्यवसाय के कारण श्री वेस्ट बापूजी-जैसे महामावन के श्रेष्ठ अंतेवासी बन गए थे। उनमें साधुता का विकास हो रहा था। ठीक इसके विपरीत धन के अति लोभ के कारण श्री टोड मानो अंग्रेज जाति के नाम को बदनाम करने पर तुले हुए थे। हमारे गिरमिटिये, भारतवासी भाइयों के लिए तो श्री टोड मानव न रहकर दानव-से बन गए थे। उनके नाम से ही हड़तालियों का हृदय कांप उठता था। जब अंग्रेज सैनिकों की पल्टन फीनिक्स आकर हड़तालियों को वापस ले गई, तब से श्री टोड का फीनिक्स में चक्कर काटना बड़ी चिन्ता की बात बन गई थी। बच्चों को उनकी लपेट में आने से बचाने के लिए बहुत सावधानी रखनी पड़ती थी।

हड़ताली भाइयों के चले जाने के बाद मगनलालकाका उद्विग्न मन से कहने लगे, "वेस्ट पहले पकड़ लिये जायंगे, इस बात की मुझे स्वप्न में भी कल्पना नहीं थी। रोज की घटनाओं का हाल वेस्ट ही गोखलेजी के पास भेजते थे। जान पड़ता है, सरकार से यह बर्दाश्त नहीं हुआ।"

बात हो ही रही थी कि श्रीमती वेस्ट वहां आ गईं। अत्यन्त गद्गद् स्वर में उन्होंने सारी बातें मगनकाका से कह डालीं। उन्हें और उनकी वृद्धा माता को श्री टोड के बर्ताव की बहुत शिक़ायत थी। उन्होंने बताया कि श्री वेस्ट को पकड़ाने का सारा षड्यंत्र टोड का था। शाम को घर आकर ज्योंही श्री वेस्ट चाय के लिए मेज पर बैठे, एक लाल मोटर घर के सामने आकर खड़ी हो गई। उसमें बन्दूक आदि से लैस तीन सैनिक बैठे थे। मोटर के पीछे चार घुड़सवार थे, जिनमें एक खुद टोड थे। टोड तुरन्त दो कदम आगे आये और उन्होंने श्री वेस्ट को अपने पास बुलाया। वेस्ट मोटर के पास पहुंचे तो उनको वारंट दिखाया गया। वारंट पर दस्तखत करके वह कपड़े पहनने के लिए घर में लौटे; उनके पीछे-पीछे एक सोल्जर भी घर में घुस आया। पूरे पांच मिनट का मौका भी नहीं दिया गया। 'वारंट

है, डरबन जाना है'—इन शब्दों के अलावा वेस्ट घर वालों से कुछ बात नहीं कर सके। चाय और नाश्ता मेज पर रखा रह गया। और वह लाल मोटर श्री वेस्ट का अपहरण करके चोर की तरह डरबन की दिशा में अदृश्य हो गई।

श्री वेस्ट को गिरफ्तार करवा कर टोड का यह साहस नहीं हुआ कि वह हड़तालियों के बीच में से होकर छापाखाने तक घुड़सवारों की पल्टन के साथ जाय। वह तो मोटर को विदा करा कर फौरन ही अपना घोड़ा दौड़ाता हुआ भाग गया।

इस बात को सुनाते-सुनाते श्रीमती वेस्ट सिसक-सिसक कर रोने लगीं। उनका दुःख सकारण था। फीनिक्स वासी भारतीय महिलाएं तो बरसों से जेल जाने के गीत गाती थीं और अपने स्वामी, भाई तथा पुत्रों को राष्ट्रीय गीत गा-गाकर जेल के लिए विदा करती रहती थीं। परन्तु श्रीमती वेस्ट-जैसी निर्दोष महिला पर, उनके निर्दोष पति की गिरफ्तारी का प्रसंग निरभ्र आकाश में वज्रपात-सा था। सत्याग्रह संग्राम भारतीय लोग कर रहे थे। सरकार गोरों की थी। वह अपनी जाति के अंग्रेज गृहस्थ पर हाथ डालेगी, ऐसी कल्पना नहीं थी। ऐसी हालत में पति की गिरफ्तारी उनके लिए असह्य हो जाय, यह स्वाभाविक था।

मगनकाका ने श्रीमती वेस्ट को भरसक तसल्ली दी और यह निर्णय किया गया कि देवी बहन अर्थात् श्रीमती वेस्ट की बड़ी बहन उनको डरबन ले जायं, श्री वेस्ट से मुलाकात करने की कोशिश करें और जैसा श्री वेस्ट बताएं, आगे के लिए घर की व्यवस्था करें। इस प्रकार हम बाल-गोपालों की पालिका देवी बहन भी फीनिक्स से चली गईं और हमारा रसोई आदि का काम भी बढ़ गया। श्री वेस्ट के पकड़े जाने के बाद दो दिन तक उनके बारे में कोई समाचार नहीं मिला। दो दिन बीतने के बाद रात को खबर आई कि जिस दिन उनकी गिरफ्तारी हुई हवालात में सारी रात उनको भूखा रखा गया। दूसरे दिन अदालत में पेश किया गया और सात दिन की जमानत पर छोड़ा गया। वहां के सत्याग्रह संग्राम में जमानत पर छूटने का चलन नहीं था। परन्तु श्री वेस्ट के अंग्रेज होने के कारण वह अनुचित नहीं माना गया।

तीसरे दिन संध्या के समय फकीरा भाई बदहवास दौड़ते हुए आये और बोले, "चलो, चलो, श्री वेस्ट बहुत ही खतरे में हैं। टोड ने हंटर लेकर उनका रास्ता रोक लिया है।" तुरन्त ही मगनकाका और देवदासकाका दौड़े। प्रायः आधे घंटे बाद मैंने देखा कि लाल घोड़े पर एक सुसज्ज,

घुड़सवार, मगनकाका, देवदासकाका और वेस्ट-दम्पति आ रहे हैं। मगन-काका और देवदासकाका के मुख पर स्मित था और श्रीमती वेस्ट के मुख पर बड़ी घबराहट।

किस्सा यह था कि जमानत पर रिहा होने के बाद जब श्री वेस्ट सपरिवार फीनिक्स लौटे तब स्टेशन के सामने टोड हंटर लेकर खड़ा हो गया और हवा में हंटर घुमा कर उसने वेस्ट से कहा कि जरा रेल की हद से बाहर तो आओ, चमड़ी उधेड़ डालूंगा। हमारे आश्रम का रास्ता मीलों तक टोड के प्लेन्टेशन में से होकर गुजरता था, इसलिए टोड साहब की धमकी से श्री वेस्ट स्तब्ध हो गए। वह लौटकर स्टेशन जा बैठे। स्टेशन-मास्टर एक भला अंग्रेज था और हमारे आश्रम का काम बड़ी हमदर्दी से करता था। उसने टेलीफोन करके अगले स्टेशन माउन्टेजकम्ब से एक सैनिक को बुलाकर, उसकी सुरक्षा में श्री वेस्ट के आश्रम जाने की व्यवस्था कर दी।

माउन्टेजकम्ब में चीनी का जो बड़ा कारखाना था, उसका मालिक टोड साहब से कहीं बड़ा जमींदार था। उसका नाम था कैम्पबेल। उसकी ख्याति थी कि वह बड़ा भला है और तीन पौंड के कर को हटा देने के पक्ष में है। हड़ताल तो उसके यहां भी हुई थी। किसी बहाने गोली भी चली थी और एक हड़ताली मारा भी गया था। फिर भी कैम्पबेल ने अपना संतुलन नहीं खोया था। उसने अपने यहां शांति बनाए रखने के लिए सरकार से एक फौजी टुकड़ी मंगा रखी थी। उसी टुकड़ी के घुड़सवार ने वेस्ट-परिवार को हिफाजत से फीनिक्स पहुंचाया था।

अगले दिन सबेरे ही अपने घर पर ताला डालकर श्री वेस्ट मय परिवार के डरबन चले गए। देवी बहन उन सबको पहुंचाकर फिर से फीनिक्स लौट आईं तथा उन्होंने हमारे लिए मातृत्व का अपना काम जारी रखा।

जब से हड़ताली लोग गये, फीनिक्स में तीन-चार सैनिक अड्डा जमाए ही रहे। एक तगड़ा डच जवान छापाखाने के दरवाजे पर कागज की गठरी पर आसन लगाकर दिन-भर बैठा रहता था। कोई दो सप्ताह के भीतर फीनिक्स में एक भी हड़ताली बाकी न रहा। फिर से फीनिक्स बिलकुल निर्जन और सूना बन गया।

एक दिन मगनकाका ने एक खुशी का समाचार सुनाया: "गोखले महाराज ने एक बहुत भले और विद्वान् पादरी को और उनके साथ उनके एक घनिष्ठ मित्र को, जो वेस्ट साहब के स्थान पर फीनिक्स में काम करेंगे, हिन्दुस्तान से रवाना कर दिया है। थोड़े ही दिनों में वे लोग यहां आ

जायंगे। अब मैं पकड़ लिया जाऊंगा तो भी तुम लोग अकेले नहीं रहोगे।"

हम बालकों ने रेवरंड सी० एफ० एन्ड्रयूज़ तथा उनके साथी मि० डब्ल्यू० डब्ल्यू० पियर्सन के नाम रटने शुरू कर दिए।

: ६६ :

सादगी का कठोर संकल्प

बापूजी को अपने बीच पुनः पाकर हम लोग सत्याग्रह-संग्राम और अपने जेलवासी बंधुओं को घड़ी-भर के लिए भूल कर आनन्द में मग्न हो गए। लेकिन बापूजी जेल से छूट कर बिना एक क्षण का भी विलम्ब किये सत्याग्रह के काम में जुट गए। हड़तालियों के कूच के समय उनकी दुबली-पतली काया योगाग्नि में समिधा की तरह जल रही थी। उनके मुख की हड्डियां बाहर निकल आई थीं। उनके हाथ-पैर इतने पतले पड़ गए थे मानो ये उनके थे ही नहीं। फिर भी रिहा होते ही उन्होंने काम में दिन-रात एक कर दिए।

जेल से निकल कर बापूजीने देखा कि अबोध गिरमिटियोंने अकल्पनीय और अनुपम बलिदान किए थे और सरकारने अकथनीय और निर्मम अत्याचार किया था। ज्यों-ज्यों यह कहानी बापूजी सुनते गए उनकी देह में आग-सी लगती गई। किंतु क्रोध किया जाय तो किस पर? सारी मुसीबत की जड़ तो एक प्रकार से वह खुद ही थे। अहिंसा के युद्ध और भीषण-से-भीषण कष्ट को चुपचाप सहन करने का पाठ भी तो उन्हींने पढ़ाया था!

रिहाई के बाद जब वह बा सहित केपटाउन चले गए तो फीनिक्स-आश्रमके विद्यार्थियों के लिए सूचनाएं देते रहते थे और जमनादासकाका के पत्रों द्वारा हम लोगों को उनकी साधना एवं तप का भान होता रहता था।

जमनादासकाका ने केपटाउन से मगनकाका के नाम कई पत्र भेजे थे। उन पत्रों का सार, जो कुछ मुझे याद रह गया है, अपने शब्दों में यहां दे रहा हूं:

"बापू का तप बड़ा भारी है। फलाहार तो है ही और वह भी एक ही बार। फिर बा की सेवा में हर समय खड़े रहते हैं और दोपहर की कड़ी धूप में केपटाउन की कोलतार की बनी हुई पक्की सड़कों पर कई मील

नंगे पैर चलते हैं। उनके पैरों के तलुवे नाजुक हैं, सड़कों का कोलतार दोपहरी में बहुत गर्म हो जाता है। जहां जाते हैं पैदल ही चलने का आग्रह रखते हैं। समझौते के सिलसिले में बातचीत करने के लिए उनको कई जगह जाना पड़ता है। इस पर भी पैरों में जूते न पहनने का व्रत जरा भी ढीला नहीं करते, मानो शरीर के ऊपर होने वाले कष्टों की ओर उनका कुछ ध्यान ही नहीं जाता। बापू के इस भारी तप का प्रभाव केपटाउन के कई गोरों के ऊपर काफी पड़ रहा है। उनके हृदय पिघल जाते हैं और बड़े-बड़े घराने के गोरे स्मट्स के पास जाकर कहते हैं, 'अब इन भारतीयों की समस्या का निवटारा शीघ्र ही कर दें तो अच्छा। हमारे कारण गांधी को और भी कष्ट उठाना पड़े, यह ठीक नहीं है।'

अब सत्याग्रह की बलिवेदी पर अपने जीवन की आहुति चढ़ाने वाले उन गरीबों के साथ और उनके परिवार वालों के टूटे हुए हृदयों के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए बापूजी ने अपनी तपस्या और त्याग में और वृद्धि करने का निश्चय किया। वह तीन घंटे से अधिक नहीं सोते थे। आहार में अल्प-से-अल्प फलों पर निर्भर थे। इतना ही नहीं, पहनावे में भी उन्होंने बड़ा भारी परिवर्तन कर डाला। उन्होंने मद्रासी गिरमिटियों के समान लुंगी और कुरता धारण करने तथा नंगे पैर और नंगे सिर रहने का व्रत ले लिया।

बापूजी के मन में अनेक शहीद बस रहे थे। पचहत्तर बरस की आयु का बूढ़ा हरबंससिंह कुछ दिन जेल में बापूजी के साथ रहा था। बापूजी ने उससे जेल से लौट जाने का आग्रह किया था, लेकिन वह वीर सत्याग्रह से हटने को राजी नहीं हुआ और आखिर जेल में ही उसने अंतिम सांस ली। बाहर एन्थोनी मुत्तु का बाप और अन्य हड़ताली वीर गोली के शिकार हुए थे। गोली से घायल एन्थोनी मुत्तु, उसका छोटा भाई और सिसकती हुई उसकी विधवा माता जब फीनिक्स आए तब उनका दुख देखा नहीं जा सकता था। सूझाई का किस्सा भी कम खेदजनक नहीं था। इसके उपरांत बापूजी के छूटने के तीसरे ही दिन जोहान्सबर्ग में कुमारी वाली-आमा की जेल से रिहा होते ही मृत्यु हो गई थी। इन सारी बातों का असर बापूजी के हृदय पर खंजरों के घावों से भी अधिक हुआ। कुमारी वाली-आमा का बलिदान स्वेच्छा से हुआ था। वह अठारह वर्ष की बालिका बीमार होते हुए भी जेल से रिहा होने को तैयार नहीं हुई थी और उसका चल बसना उसकी मां तथा उसकी सखियों के लिए असह्य हो गया था।

खौलते हुए तेल के कड़ाह में कूद पड़ने वाले परम वैष्णव-भक्त सुधन्वा बापूजी के लिए नित्य ही एक आदर्शमूर्ति बने हुए थे। असहनीय

कष्ट में भी अन्तर में शीतलता का आनन्द भोगने की अभिलाषा अक्षुण्ण रखी जाय, यह बापूजी ने सत्याग्रह-भावना की चरम सीमा निर्धारित की थी। इसलिए अपने या अपनों के दुख-कष्ट चाहे कितने ही असह्य क्यों न हों, बापूजी भूलकर भी शोक, खेद, विलाप आदि को टिकने नहीं देते थे। रोनेवालों के साथ यदि बापूजी खुद भी आंसू गिराने लगें तो सत्याग्रह-संग्राम का और बलिदान का सारा तेज ही लोप हो जाय। दूसरी ओर सेनापति की कठोरता को जल्लादी की छाया से अछूता रखने के लिए मर्माहत हृदयों के साथ समभाव स्थापित किये बिना भी कैसे चल सकता था?

इस संबंध में बापूजी के अंतर में जो उग्र विचारधारा बह रही थी उसकी कुछ झांकी उन बातों से मिलती है जो रिहाई के बाद प्रथम बार फीनिक्स आने पर बापूजी ने आधी रात के समय मगनकाका से की थीं।

"मेरे कहने पर भोले और निरक्षर हजारों आदमियों ने अपनी आहुति दी है। मेरे लिए उनकी जो श्रद्धा थी उसी के बल पर ये लोग सत्याग्रह-संग्राम के दावानल में कूद पड़े। देखा न जा सके, ऐसा भीषण कष्ट उन्होंने भोगा है। इनसे अलग मैं कैसे रह सकता हूं? अब मुझे इनमें से एक बनकर रहना चाहिए। चाहे गोरों के बीच जाना पड़े, चाहे राजधानी में, जबतक सत्याग्रह के इस युद्ध का अन्त नहीं होता, मैं कोट-पतलून नहीं पहनूंगा, न नेकटाई ही लगाऊंगा। सफेदपोश समाज में यह मर्यादाहीन माना जाय तो कोई चिन्ता नहीं। इनेगिने मनुष्यों में मुझे विशेष रस नहीं है। मुझे तो इन हजारों दुखी गिरमिटियों के बीच एक बनकर रहना है। इस सत्याग्रह के कारण जो विधवाएं हुई हैं, उनके आंसू पोंछने के लिए इतना तो मुझे करना ही चाहिए। कल सबेरे से लुंगी और एक कुरता ही मेरा वेश रहेगा। चाक, पेंसिल, कागज, रूमाल आदि चीजें रखने के लिए कल डरबन जाकर एक बगल का थैला सिलवा लूंगा। लुंगी, कुरता अभी आज ही तैयार कर दो।"

मगनकाका ने दलील करते हुए कहा, "लुंगी के बदले धोती पहनें तो ठीक न होगा? घूमने-फिरने में वह अधिक अनुकूल रहेगी। फिर हमारा मूल पहनावा भी वही है।"

बापूजी ने समझाया, "बात सही है। मुझे धोती पसन्द भी है, परन्तु इस समय सवाल गिरमिटियों का है। उनमें अधिकतर लोग मद्रासी हैं। मेरी लुंगी फटी नहीं रहेगी इतना अन्तर रहेगा। वे लोग अधिकतर कुछ-न-कुछ सिर पर बांधते हैं, किन्तु हम लोगों ने यह पहले से ही छोड़ दिया है, तो उसे दुबारा शुरू करने की जरूरत नहीं है। जो मेरे हैं, उनकी याद में शोक के चिह्नस्वरूप मूंछों का मुंडन भी जरूरी है। पैरों में चप्पलें भी

अब मैं नहीं पहनूंगा। असंख्य गिरमिटियों को पैरों के लिए कहां कुछ मिलता है ?"

बापूजी ने अब चप्पलों को भी छोड़ने की बात की तो मगनकाका ने कहा, "लेकिन आपके पैर उन लोगों की तरह अभ्यस्त नहीं हैं। पैरों की एड़ियों में यहां के तीखे कंकड़ कदम-कदम पर चुभेंगे। इससे आपको ज्यादा कष्ट होगा और चलना तो दिन-भर रहेगा ही।"

"ठीक बात है, मेरे पैर के तलवे तुम सब लोगों से ज्यादा मुलायम हैं और बेवाई भी फटती रहती हैं; किन्तु जब मैं और लोगों को ऐसे दुख में ढकेल दूं तब कुछ कष्ट तो मुझे भी उठाना चाहिए न ? बहुत पीड़ा होगी तो थोड़ा धीमे चला जायगा, यही न ?"

इस प्रकार फीनिक्स के एकान्त कोने में मध्य रात्रि के समय मगन-काका तथा औरों की साक्षी में बापूजी ने वह कदम उठाया। बाद में वह लंगोटीबाबा के रूप में विख्यात हो गए। भारत में आकर जब उन्होंने कच्छ धारण किया तब तो उन्हें महात्मा की उपाधि मिल चुकी थी। त्याग की महिमा उस देश में कितनी अधिक थी, इसकी कल्पना भारत में बैठे करना असम्भव है। जहां सूटबूट के बिना नगर के मार्गों पर चलना अभद्र माना जाय वहां वस्त्र-त्याग एक प्रकार से दीर्घ अनशन से भी कठिन कसौटी की बात थी। रास्ता चलने में किसी के उपवासी होने का पता नहीं चल सकता, परन्तु जो व्यक्ति बरसों तक बैरिस्टरी का चोगा पहन कर डरबन और जोहान्सबर्ग-जैसे शहरों में सुप्रसिद्ध हो चुका था, वह अपना नित्य का सूट उतार कर कफनी और लुंगी पहने तो यह कम आलोचना की बात नहीं थी। वहां की आंग्ल जाति के बीच रह कर ऐसा परिवर्तन करना बापूजी का ही साहस हो सकता था।

हमारे देश-भाइयों ने बापूजी के इस परिवर्तन का स्वागत उत्साह से नहीं किया। फिर भी लोगों पर इसका गहरा असर पड़ा ही। लोगों मे नम्रता बढ़ी और भारत-माता की आन बनाये रखने के लिए संकल्प में दृढ़ता आई। तीन पौंड के कर-विरोधी-आंदोलन की समाप्ति के बाद जब विलायत जाने के लिए फीनिक्स से बापूजी ने प्रस्थान किया तब भी लुंगी-कफनी में ही वहां से विदा हुए। जोहान्सबर्ग छोड़ने के दिन उन्होंने कोट-पतलून पहना, ऐसा हमने सुना; परन्तु उनका वह फोटो देखकर ही हमें सन्तोष करना पड़ा।

पिछली रात को मगनकाका के साथ हुई बात के अनुसार प्रातःकाल में ही नहा-धोकर बापूजी ने अपना नया वेश धारण किया और मूंछें भी

मुंडा लीं। उस समय बापूजी के मुख पर जो कान्ति चमक रही थी, उसे देखकर हम सहम गए। हंसना या रोना कुछ भी नहीं हो सका। थोड़ी देर बाद जब बापूजी डरबन के लिए चले तब उनको नंगे पैर चलते देखकर ऐसा दुख हुआ जैसा उनके नये वेश के कारण नहीं हुआ था।

घर से बाहर निकलते ही मिट्टी से उभरे हुए कंकड़ उनके तलवों में चुभने लगे। तलवों की चमड़ी बहुत मुलायम होने के कारण दो-दो तीन-तीन कदम चलने पर ही उनकी पीड़ा इतनी बढ़ जाती थी कि अपने शरीर का सन्तुलन बड़ी सावधानी से उन्हें संभालना पड़ता था। यह अच्छी बात थी कि उन्होंने अपने हाथ में एक पतली, लम्बी लकड़ी ले रखी थी। इसलिए एड़ियों मे दर्द बढ़ने पर वह लाठी के सहारे अपने को संभाल सकते थे। उन्होंने स्टेशन तक का लम्बा मार्ग ऐसे ही कष्ट के साथ पार किया, परन्तु इतना दुख सहते हुए भी उनका ध्यान अपने साथ चलने वालों से बातचीत करने में ही लगा हुआ था। काम के चिंतन-मनन के आगे पैरों की तकलीफ को महसूस होने का उन्होंने थोड़ा-सा भी मौका नहीं दिया।

बापूजी के दुबारा डरबन पहुंचने के बाद हमें खबर मिली कि जनरल स्मट्स ने जिस कमीशन की नियुक्ति की है उससे न्याय पाने की भारतीयों को उम्मीद नहीं है। इस वजह से बापूजी ने और श्री पोलक ने मिलकर उस कमीशन के बारे में अपनी बात स्मट्स साहब को लिख भेजी है। उसमें उनसे साफ-साफ कहा गया है कि कमीशन की नियुक्ति करने में जहां सब-के-सब अपने मन के ही आदमी रखे हैं, वहां एक ऐसा भी व्यक्ति नियुक्त किया जाय जिसके लिए हम लोग कहें। यदि आपका आग्रह ऐसा ही हो कि उस कमीशन में आपकी अपनी गोरी जाति के आदमी के अलावा और किसी को रखा ही न जाय तो भारतीय ऐसा आग्रह नहीं रखेंगे कि किसी भारतीय को ही लिया जाय। जिस व्यक्ति पर भारतीयों का विश्वास हो ऐसे किसी अंग्रेज को शामिल करना भी आप स्वीकार नहीं करेंगे तो उस कमीशन के सामने गवाही न देने के लिए भारतीय लोग मजबूर हो जायंगे।

साथ-साथ यह खबर भी आई कि इस प्रकार जेल से छूटना बापूजी को बिलकुल पसन्द नहीं आया है। वह स्मट्स साहब के उत्तर की प्रतीक्षा दिसम्बर मास की समाप्ति तक करेंगे, बाद में दुबारा जेल चले जायंगे और जेल जाने के लिए वह अंग्रेजों का नया वर्ष लगते ही दुबारा डरबन से पैदल यात्रा आरम्भ करेंगे, जो चार्ल्सटाउन की पहली यात्रा से भी बड़े पैमाने पर होगी।

बापूजी और श्री पोलक की बात हमारे देश-भाइयों में से सभी प्रधान

व्यक्तियों ने सोच-विचार कर स्वीकार कर ली और जबतक स्मट्स साहब भारतीयों के बताये हुए किसी व्यक्ति को कमीशन में लेना स्वीकार न करें तबतक कमीशन के सामने गवाही न देने की बाकायदा शपथ बहुत से भारतवासियों ने ले ली। उसका असर यह हुआ कि जिन लोगों ने शपथ नहीं ली, लोग उन्हें देशहित के विरोधी समझने लगे।

: ६७ :

हिंसक और अहिंसक हड़ताल

जोहान्सबर्ग की बहनों ने न्यूकेसल की कोयले की खान में जाकर जब भारतीय गिरमिटियों से हड़ताल करवाई, तब सबसे पहले हमें पता चला कि सत्याग्रह-आंदोलन का एक प्रखर प्रयोग हड़ताल भी है। फिर भी, जहां तक मुझे याद है, बापूजी ने फीनिक्स से चलने के दिन तक हड़ताल के संबंध में मगनकाका से भी कोई विशेष चर्चा नहीं की। न यह सूचना ही दी कि हड़ताल के सहारे सत्याग्रह-संग्राम को विराट रूप देना है।

पिछले प्रकरणों में हमने देखा कि सत्याग्रह-संग्राम के आवश्यक, अनिवार्य या उग्रतम रूप में हड़ताल का आयोजन नहीं किया गया था। सत्याग्रह-संग्राम का नेतृत्व करनेवालों ने केवल कानून-भंग करके सरकारी जेल भरने के हेतु हड़ताल की प्रवृत्ति चलाई थी। मजदूरों को बेहद भड़का कर हड़ताल को बढ़ाने की पैरवी नहीं की गई थी। हड़ताल चारों ओर फैली तो वह अपने-आप ही फैली थी और उत्तरदायी सत्याग्रह-संचालकों ने हड़ताल के दावानल को अत्यधिक बढ़ने से रोकने पर अपनी शक्ति लगाई थी।

सत्याग्रह-संग्राम में हड़ताल भी एक बहुत जोरदार प्रयोग है, यह बात अनपढ़ और अविकसित बुद्धिवालों की समझ में भी बड़े-बड़े उपदेशों के बिना ही आ जाती थी, परन्तु वास्तव में वह कैसी कठिन और गंभीर बात है, इसका पता हमें तब चला जब भारतीयों की हड़ताल के तीन महीने पूरे होते-होते दक्षिण अफ्रीका के रेलवे वालों ने भी समस्त रेलगाड़ियों में हड़ताल कर दी। दक्षिण अफ्रीका की रेलवे में काम करने वाले छोटे-बड़े सभी कर्मचारी गोरे तो थे ही, इसके अलावा शायद अंग्रेज लोग ही उनमें

ज्यादा थे। उन्होंने स्मट्स-सरकार से झगड़ा करने का वही अवसर अच्छा समझा, जब तीन पौंड कर-विरोधी-आंदोलन में गिरमिटिये मजदूरों ने विराट हड़ताल कर रखी थी।

दोनों हड़तालों के बीच उत्तर-ध्रुव और दक्षिण-ध्रुव के समान जो परस्पर-विरोधी भेद मैंने उस समय अपनी छोटी आंखों से देखा था वह जीवन-भर के लिए मेरे अन्तर की गहराई में समा गया। हम लोगों की हड़ताल थी अहिंसक संघर्ष की धीर-गंभीर, ओजस्वी और पावनकारी धारा और गोरे लोगों की हड़ताल थी हिंसक दावानल की विकराल ज्वाला।

वह सोमवार का दिन था। अनेक महीनों के बाद फीनिक्स के सभी बालकों को पर्याप्त अवकाश मिला था। हमारा मन दिवाली के उल्लास और आनन्द से भर गया था। बापूजी छूटकर फिर से हमारे बीच आ गए थे और फीनिक्स वाली मंडली भी जेल से रिहा होकर आने वाली थी। उनके स्वागत के लिए फीनिक्स के सभी बच्चों को डरबन जाने की अनुमति मिल गई।

नहा-धोकर, अपने बढ़िया-से बढ़िया कपड़ों और शानदार जूतों से सजकर हम चले। जब हमारी गाड़ी तीसरे स्टेशन पर पहुंची तो वहां हमने एक अजीब तमाशा देखा।

फीनिक्स स्टेशन पर हमने चार-पांच सैनिकों को रेलवे के अहाते में खास-खास जगहों पर पहरा देते हुए देखा था, किन्तु यहां तो आठ-आठ, दस-दस कदम की दूरी पर रेल की पटरी के दोनों ओर बन्दूक पर संगीन चढ़ाये हुए गोरे फौजी पहरा देते दिखलाई पड़े। हर मील-दो-मील पर सैनिकों की रावटियां लगी थीं। उनमें न मालूम कितनी बन्दूकें जमा थीं और कारतूसों से भरे हुए पट्टों की तो मानो प्रदर्शनी-सी हो रही थी।

इस तमाशे को देखकर मुझे वह बात याद आ गई जो फीनिक्स स्टेशन पर गोरे सैनिक ने हमें बताई थी। उसका वह लाल-लाल मुख भी याद आ गया जो रेलवे-हड़ताली का नाम लेते ही तमतमा उठता था। उसने बताया था कि "नेटाल प्रान्त में तो रेलवे के इंजन-ड्राइवर, फायरमैन, गार्ड और मजदूर कुछ ठीक हैं, परन्तु केपकालोनी और ट्रान्सवाल प्रान्त में वे बहुत बेहूदेपन पर उतर आये हैं। केपटाउन से जोहान्सबर्ग जाने वाली डायमंड एक्सप्रेस को उन्होंने उलट दिया है, जोहान्सबर्ग का स्टेशन जला डाला है और वहां के रेलवे आफिसों को तोड़ने-फोड़ने के लिए हड़तालियों की भीड़-की-भीड़ धावा कर रही है। यही नहीं, जोहान्सबर्ग के बाजारों में नागरिकों को भी वे बुरी तरह सता रहे हैं। दूकानों पर तोड़-फोड़ करते

हैं। केपकालोनी और ट्रांसवाल प्रान्त में कई हफ्तों से फैली हुई यह बद-अमनी अब यहां नेटाल प्रान्त में भी जोर पकड़ रही है।" उस सारजंट ने हमें यह भी बताया कि "आजकल ट्रेनों की संख्या आधी भी नहीं रह गई है। केवल उतनी ही गाड़ियां चलाई जाती हैं, जिनके लिए हरएक पटरी पर एक-एक फौजी को पहरे पर लगाया जा सके। इन हड़तालियों का उपद्रव रोकने के लिए हमको हरदम सतर्क रहना पड़ता है। गाड़ी चलाते-चलाते इंजन के ड्राइवर बीच में ही गाड़ी खड़ी कर देते हैं और उतरकर भाग जाते हैं। इसलिए इंजनों मे भी सैनिकों को संगीन तानकर उनकी छाती पर खड़ा रहना पड़ता है। रेलवे का जो नौकर बाकायदा काम करने को तैयार होता है उसे हड़ताली लोग काम छोड़ देने के लिए मजबूर करते हैं। अगर इंजन-ड्राइवर और गार्ड का काम सैनिक करते हैं, तो हड़ताली रेल की पटरी ही हटा देते हैं। जहां जोड़ हो वहां उखाड़ देते हैं और पटरियों पर साबुन का पानी डालकर गाड़ी उलट देने की साजिश करते हैं। ऐसी हालत में सरकार के सामने फौजी कानून का ऐलान करने के अलावा कोई चारा ही नहीं है।"

इतनी बात करने के बाद वह डच लड़का अंग्रेज लोगों के अनुचित स्वभाव की आलोचना करने लगा। उसने कहा, "अंग्रेज बड़े लोभी और जिद्दी होते हैं, अपना थोड़ा-सा वेतन बढ़ाने के लिए इन्होंने कितना भारी ऊधम मचा रखा है। क्या वे अच्छे तरीके से अपने वेतन में बढ़ती की मांग नहीं कर सकते थे? बड़ी-बड़ी इमारतों को जला देने और मारकाट करने में उन्हें जरा भी लज्जा नहीं आती। सरकार को परेशान करके वे लोग अपनी मनमानी कराना चाहते हैं; परन्तु सरकार इस तरह क्यों झुकेगी? अगर सरकार को झुकना ही है तो वह तुम भारतीयों के सामने झुकेगी। तुम्हारे हड़ताली लोग किसी का कुछ नहीं बिगाड़ते। वे खुद भूखे रहते हैं, भारी कष्ट उठाते हैं, परन्तु सरकार को नहीं सताते हैं। सरकार को ऐसे भले आदमियों की मांग तो स्वीकार करनी ही चाहिए। ये उपद्रवी रेलवे वाले अगर यह समझते हैं कि वे अपनी मारकाट और धांधली के बल पर अपना वेतन बढ़वा लेंगे तो वे भूलते हैं। उनको तो हम अपनी संगीनों से सीधा कर देंगे।"

अंग्रेजों के खिलाफ जब वह लड़का बहुत बोला तब देवदासकाका ने मुझे बताया कि यह पूरा 'बोर' है। दक्षिण अफ्रीका में बसे हुए हालैंड-निवासी बोर कहलाते थे। पूछने पर जब पता चला कि वह लड़का मुश्किल से अठारह वर्ष का है, तब हम लोगों ने उससे कहा, "तुम तो अभी बिलकुल लड़के हो, तुम्हारे बस में ये बड़े-बड़े रेलवे हड़ताली कैसे आयंगे?" उसने

अपना मुक्का उठाकर कहा, "बस में क्यों न आयंगे! देखो यह कलाई! हमारा हाथ जब चलेगा तो उनके छक्के छूट जायंगे।"

मूसल के समान उसकी मोटी, मजबूत भुजा हम देखते ही रह गए। और समय होता तो उससे हम और भी बात करते, परन्तु उस समय तो उसकी बात छोड़कर हमें अपने काम पर जाना पड़ा।

डरबन जाते हुए रेलगाड़ी में हम लोगों को उस वीर सैनिक की बातें याद आ गई। ज्यों-ज्यों डरबन नगर पास आता गया, रेलवे-मार्ग पर गोरी पलटनों का और भी सतर्क पहरा नजर आया। उस दृश्य को जब याद करता हूं तो महात्मा टाल्स्टाय की पुस्तक में पढ़ा हुआ यह वचन बिल्कुल सही मालूम देता है—"रेलगाड़ी जैसे भारी यंत्र सचमुच संगीनों की नोक पर ही चल सकते हैं। बिना फौज के हमारे मजदूर-कारीगरों को बस में नहीं रखा जा सकता और अत्यन्त भारी यंत्र-व्यवस्था चल नहीं सकती।" कम-से-कम हम लोग तो एक प्रकार से बन्दूक की नोक पर सवार होकर ही उस दिन सकुशल डरबन पहुंचे। जब हम डरबन के उपनगर अमगेनी स्टेशन पर पहुंचे तो वहां बिल्कुल सूना था। वैसे वहां इंजनों की दौड़-धूप रहा करती थी, बहुत ऊंचे ढेरों से इंजनों में कोयला भरते अनेक गोरे मजदूर दिखाई पड़ते थे, परन्तु उस दिन वहां मुश्किल से दो-एक मजदूर ही नजर आये और उनके सिर पर भी चमकती हुई संगीनों के साथ उससे दुगने सैनिक सवार थे।

डरबन स्टेशन पर उतरते ही हम डरबन की कुख्यात जेल की ओर चल पड़े। हमें डर था कि कहीं हम लोगों के पहुंचने के पहले ही हमारी फीनिक्सवाली मंडली रिहा न कर दी जाय और हम उसका बाकायदा स्वागत करने से वंचित रह जायं। जेल के फाटक पर जब पहुंचे तो हमने देखा कि डरबन के नागरिक हजारों की संख्या में अपने लोकप्रिय सेठ श्री रुस्तमजीकाका का स्वागत करने के लिए जमा हो गए हैं।

: ६८ :

सत्याग्रहियों की प्रथम टोली की रिहाई

डरबन जेल के फाटक पर सवेरे से ही कड़ी धूप में कोई दो हजार आदमी घंटों तक तपते रहे। जरा-जरा देर में फाटक खुलता था, सब

ग्रातुरता से उस ग्रोर देखते थे, परन्तु जेलवालों ने सत्याग्रहियों की टोली के पुरुषों को ठीक मध्याह्न में रिहा किया।

उन लोगों के बाहर ग्राने का क्रम व्यवस्थित था। सबसे पहले मेरे पिताजी, जो ग्रायु में सबसे बड़े थे, बाहर ग्राये। उनके पीछे श्री रावजीभाई पटेल से लेकर रामदासकाका तक सब सत्याग्रही बड़े से छोटे के क्रम में रिहा किये गए। ग्रन्त में ऊंचे व भारी बदनवाले श्री रुस्तमजी सेठ के दर्शन हुए, जिनको डरबनवासी भारतीय ग्रपने यहां के नगरपति के समान मानते थे। ग्रपने नगर के सेठ, सेवक ग्रौर त्यागी श्री रुस्तमजी को देखकर डरबन के भारतीयों का हृदय कृतज्ञता से भर गया ग्रौर उनके दर्शन होते ही चारों दिशाएं 'वन्देमातरम्' ग्रौर 'हिप-हिप हुर्रे' के नारों से गूंज उठीं। भीड़ ने उनको घेर लिया। ग्रपने पिताजी के चरण छूने के लिए मैं बड़ी मुश्किल से उनके पास तक पहुंच सका। पिताजी के मुख पर ऐसी प्रसन्नता मैंने पहले शायद ही कभी देखी थी। पिताजी के बाद मैंने ग्रपने सहपाठियों से मिलने की कोशिश की; पर तबतक भीड़ का प्रवाह तेजी से स्टेशन की ग्रोर चल पड़ा था। किसी तरह फीनिक्स से ग्राये हुए हम सभी बच्चे ग्रपनी कतार संभाल पाए ग्रौर भीड़ से निकलकर रास्ते के किनारे ग्रा गए। स्टेशन पहुंचने की सबको बड़ी जल्दी थी। इसलिए लोग दौड़-से रहे थे। मैरित्सबर्ग से ट्रेन ग्राने का समय हो गया था। उसमें पूज्य कस्तूरबा ग्रानेवाली थीं। उनको लिवाने बापूजी स्वयं मैरित्सबर्ग गये थे। कैलनबैक भी बापू के साथ थे।

हमारे स्टेशन पर पहुंचने के पहले ही ट्रेन ग्रा चुकी थी। बड़ी मुश्किल से भीड़ के पीछे, रास्ते के एक किनारे खड़े-खड़े हमारी मंडली बा-बापू के दर्शन कर पाई। स्टेशन के ऊंचे चबूतरे पर एक ग्रोर बापूजी ग्रौर श्री कैलनबैक खड़े थे, उनके सामने कस्तूरबा, मेरी, मां, चाची ग्रौर जयाकुंवर बहन खड़ी थीं। श्रीमती पोलक ग्रौर दूसरे दो-तीन ग्रंग्रेज सज्जन पूज्य बा का ग्रभिवादन कर रहे थे। कैमरेवाले इस ऐतिहासिक दृश्य को स्थायी बनाने की कोशिश में लगे थे।

स्टेशन के प्लेटफार्म के नीचे स्वागत के लिए ग्राये हुए भारतीयों का मानो सागर उमड़ रहा था। परन्तु वह ग्रपने हर्षवेग को मर्यादा के ग्रन्दर रखे हुए था। इतनी भारी भीड़ होने पर भी कोई व्यक्ति निश्चित पंक्ति से ग्रागे बढ़कर बापूजी या बा के पास नहीं जा रहा था।

जेल से निकली हुई पूज्य कस्तूरबा की दुबली काया को देखकर सब लोग ग्रवाक् रह गए थे। मानो सबके हृदय से एक साथ टीस उठ रही

हो ! कस्तूरबा इतनी बदल गई थीं कि पहचान में ही नहीं आ रही थीं। उनकी वह परिचित साड़ी ही थी जिससे पता चलता था कि वह मूर्त्ति पूज्य बा की है। उनका गोल-सुडौल मुख लंबा और पतला हो गया था, हाथ-पैर को देखकर जान पड़ता था कि केवल अस्थि-पंजर ही खड़ा है। पूज्य बापू को जेल से रिहा होने के बाद जब हमने देखा था, तब उनकी सूखी काया को देखकर हम स्तंभित रह गए थे परन्तु बापू की कृश देह फुर्ती और तेज से भरी हुई थी। लेकिन बा की देह तो सूखकर कांटे-सी हो गई थी।

डरबन जेल के फाटक से सत्याग्रही लोग बाहर आये उस समय जो हर्ष वातावरण में आ गया था वह डरबन स्टेशन पर नहीं रहा। बा-बापू के दर्शन से लोगों के चित्त पर गंभीरता छा गई।

बा-बापू का स्वागत किस प्रकार किया जाय, जनता अपने हृदय की भावनाओं को कैसे प्रकट करे, इस बात का निर्णय नहीं हो रहा था। गोखले-जी महाराज के आगमन के समय जिस प्रकार उनकी बग्घी के घोड़ों को अलग करके उत्साही युवक खुद गाड़ी खींचकर ले जाना चाहते थे, उसी प्रकार बा-बापू को खुली गाड़ी में बिठाकर डरबन के नागरिक उनका जलूस निकालना चाहते थे। परन्तु बापूजी ने उनकी बात नहीं चलने दी। दस-पन्द्रह मिनट बाद बा-बापू की घोड़ा-गाड़ी धीरे-धीरे रुस्तमजी सेठ के घर की ओर चली। पीछे-पीछे हजारों मनुष्य 'हिप-हिप हुर्रे' और 'वन्देमातरम्' के नारे लगाते हुए चलने लगे।

सेठजी के मकान पर जलूस के पहुंचने पर पहला काम तसवीर लेने का था। फीनिक्स से चले हुए सोलह सत्याग्रहियों के प्रथम जत्थे का और बापूजी तथा कैलनबैक साहब का फोटो लिया गया। संध्या के समय सेठजी के मकान पर छोटी-सी स्वागत-सभा हुई।

दिन-भर सेठजी के मकान पर लोग आते-जाते रहे। सब मित्र आपस में मिलने-जुलने में मग्न थे, परन्तु इस सारे आनन्द के पीछे मन पर भारी बोझ था। छोटे-बड़े सभी के चित्त में इस बात का भार था कि यह मिला-भेंटी दो-चार दिन की ही है। शीघ्र ही सबको पुनः जेल जाना है। स्मट्स सरकार से अभी और भी भीषण मोरचा लेना है। व्याख्यानों में और आपसी चर्चाओं में यह बात दोहराई जा रही थी कि स्मट्स ने जो कमीशन बैठाया है वह हमारे लिए असम्मानपूर्ण है, उसका जोरों से बहिष्कार करना चाहिए, एक भी भारतीय को इस मायां-जाल में नहीं फंसना चाहिए।

सत्याग्रहियों में जो छोटे थे उनका मन सेठजी के यहां होनेवाली बात-चीत और सत्कार-समारंभ में लगा नहीं रहा था। संध्या की ट्रेन से सबको

फीनिक्स जाना था, इसलिए वे लोग डरबन नगर में अपने मित्रों और संबंधियों आदि से मिलने के लिए व्याकुल थे। मैं भी अपने उन सहपाठियों के साथ नई-नई जगह देखने के लिए उत्सुक था। जिनके भी घर हम जाते थे, बड़े उत्साह से हमारे जेल-यात्री सहपाठियों का स्वागत होता था। मीठा मुंह करने को भी कुछ-न-कुछ मिल जाता था और साथ-ही-साथ सभी जान-पहचानवाले अगली जेलयात्रा के लिए भी हमारे सहपाठियों के प्रति शुभकामनाएं प्रदर्शित करते थे।

डरबन शहर के घने और अन्दर के मोहल्लों को मैंने उस दिन प्रथम बार देखा। शहर में गोरे लोगों के रहने का जो विभाग था उसमें और भारतीय लोगों के रहने के विभाग में जमीन-आसमान का अन्तर था। गोरी नगरी बहुत सुन्दर थी। हर जगह पक्की सड़कें, उन पर कूड़े-कर्कट का नाम नहीं। सड़क के दोनों ओर व्यवस्थित और उज्ज्वल मकानों की चित्ताकर्षक पंक्तियां। गोरों का सारा मोहल्ला शांत और शोरगुल से मुक्त रहता था। हमारे भारतीय भाई जहां बसते थे वहां की सड़कें अच्छी नहीं थीं। कूड़ा हर जगह नजर आता था। जहां-तहां आदमी थूकते नजर आते थे। मकान अव्यवस्थित तो थे ही, गंदे भी दीखते थे। परन्तु एक बात मैंने और देखी। भारतीय मोहल्लों में रौनक थी, चहल-पहल थी। लोग आपस में खुलकर मिलते थे, बातें करते थे और अपनी दुकानदारी के काम में व्यस्त होते हुए भी अपने भाई-बिरादरों का परस्पर सम्मान करते थे। वातावरण में जीवन और उत्साह की झलक थी, जब कि उन श्वेत पथों पर से, जहां केवल गोरे लोगों के बसने की ही व्यवस्था थी, गुजरते हुए मन में यह सवाल उठता था कि इन गोरों को इस तरह अकेलेपन में जाने क्या आनन्द आता होगा! न इनके मोहल्लों में कहीं चहल-पहल है, न कहीं आदमियों की मिला-भेंटी नजर आती है, न कहीं उत्साह और उमंग की बहार दीख पड़ती है।

श्वेत वर्ण प्रजा और अश्वेत वर्ण प्रजा के बीच स्वभाव का, जीवन के आनन्द का जो भेद है उसका सही विश्लेषण मैं उस समय अपनी बाल-बुद्धि से नहीं कर पाया; परन्तु दोनों बस्तियों में घूमने से मेरे चित्त पर जो प्रभाव पड़ा वह स्थायी हो गया। मुझे निश्चित रूप से याद है कि गोरी बस्ती अपनी हिन्दुस्तानी बस्ती के मुकाबले में मुझे उदास मालूम दी थी। वहां पर सूना और स्वार्थपटु वातावरण अरुचिकर जान पड़ता था।

: ६६ :

बा की बीमारी और बापू द्वारा अनन्य सेवा

मैरित्सबर्ग जेल में अपने शरीर की समस्त मांस-मज्जा को दक्षिण अफ्रीकी सरकार के नाम बलि चढ़ाकर जब पूज्य बा फीनिक्स लौटीं तो उन्हें रोग-शय्या पर पड़ जाना पड़ा। उनकी बीमारी लगातार गंभीर होती गई और फीनिक्स में सर्वत्र चिन्ता छा गई। बा की इस समय की जेल की दुर्बलता के संबंध में बापूजी ने 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' में निम्न पंक्तियां लिखी हैं:

"स्त्रियों की बहादुरी की क्या कहें! सबको नेटाल की राजधानी मैरित्सबर्ग में रखा गया। यहां पर उनको काफी दुख दिया गया। खुराक में उनकी कुछ भी संभाल नहीं रखी गई। मजदूरी के लिए उनको धोबी का काम दिया गया। करीब अन्त तक बाहर से खुराक देने की सख्त मनाही रही। एक बहन को निश्चित आहार लेने का व्रत था। बड़ी मुसीबत से उसको वह खुराक देने का निश्चय किया गया। परन्तु वह इतना खराब था कि मुंह में नहीं दिया जा सकता था। जैतून के तेल की अनिवार्य आवश्यकता थी। प्रथम तो वह मिला ही नहीं। फिर मिला तो पुराना और कड़आ। अपने खर्च से मंगाने की विनती की गई तो उत्तर दिया गया कि यह कोई होटल नहीं है। जो मिलेगा सो खाना होगा। यह बहन जब जेल से निकली तब केवल कंकाल बन गई थी, महाप्रयास से वह बची।"

पहले बताया जा चुका है कि फीनिक्स में कोई वैद्य-डाक्टर नहीं था; बाहर से कभी किसी को बुलाया नहीं जाता था। किन्तु एक दिन बा की अवस्था बहुत ही चिन्ताजनक हो गई। तब मगनकाका और देवदासकाका मध्य-रात्रि को फीनिक्स स्टेशन गए और उन्होंने डरबन को टेलीफोन करके डाक्टर से आने की विनती की।

डाक्टर तुरन्त आये, परन्तु उन्होंने बा की क्या चिकित्सा की, बा ने डाक्टरी दवा ली या नहीं और डाक्टरी उपाय से उनको क्या लाभ हुआ, इसकी जानकारी न मुझे तब हुई, न आज है। कुछ ऐसा याद है कि उन दिनों बापूजी फीनिक्स में अनुपस्थित थे और सत्याग्रह आन्दोलन के संबंध में बातचीत करने के लिए ट्रान्सवाल गए हुए थे। आठ-दस दिन तक पूज्य बा की अन्तिम घड़ियां प्रतीत होती रहीं और फीनिक्स का वातावरण बहुत गंभीर रहा। फिर मृत्यु का खतरा कुछ कम हुआ, परन्तु बीमारी महीनों तक

बहुत नाजुक बनी रही। इस अवसर पर देश का, सत्याग्रह का, आश्रम का तथा सरकार के साथ समझौते की बातचीत का काम करते हुए भी बापूजी ने अर्हनिश बा की सेवा किसी परिचारिका से भी बढ़कर की।

भारत में आने के बाद, विशेषतः नमक-सत्याग्रह के बाद, बापूजी के सैकड़ों हजारों चित्र लिये गए हैं। पिछले दिनों में तो कैमरावाले उनके पीछे-पीछे हर समय रहा करते थे। उन सफल चित्रों में से बापूजी का एक ऐसा चित्र भी प्रकाशित हुआ है, जिसमें बा बापूजी की चरण-सेवा कर रही हैं और बापूजी स्टूल पर बैठे किसी विचार में लीन हैं। पास में ही सरदार श्री वल्लभभाई पटेल आते हुए दीख रहे हैं। जब यह चित्र बापूजी ने देखा तब तो वह खिलखिलाकर हंस पड़े और चित्र लेनेवाले को उलहना देते हुए बोले, "बा मेरी सेवा करती है इसका तो प्रदर्शन तुमने चित्र के द्वारा कर दिया, परन्तु मैंने बा की सेवा की है उसका प्रसंग तुमने कैमरे से नहीं पकड़ा !

बापूजी ने बा की सेवा करते समय बहुत ऊंची साधना को अपनाया था।

मेरी माताजी अपना सारा समय बा की शुश्रूषा में उनकी चारपाई के पास ही बिताती थीं और हरएक छोटा-मोटा काम करने का आग्रह रखती थीं। परन्तु जब बापूजी वहां मौजूद रहते थे तब वह उनकी एक नहीं चलने देते थे। उनके हाथ से काम ले लेते थे और कहते थे, "मुझे ही यह करने दो। बा को संतोष कैसे दिया जाय, इसका पता मुझे ज्यादा है। इस समय तो मैंने फुरसत निकाल ली है। जब मैं इस काम के लिए न होऊं तब तुम करना।"

बापूजी दिन-भर में अनेक बार थूकदानों और मलमूत्र के पात्र उठाकर बा के कमरे से बाहर आते थे और खेत में बाकायदा मैला आदि दबाकर तथा मल-पात्र को धोकर वापस बा के पास ले जाते थे। उस सफाई के काम में सहायता देने के लिए यदि मेरे पिताजी, मगनकाका, रावजीभाई या और कोई आगे बढ़ता तो बापूजी उन्हें रोक देते थे और स्वयं ही वह काम पूरा करते। इसी प्रकार रसोईघर में भी बा के लिए पीने का पानी गरम करना हो या चूल्हे का और कोई काम हो तो बापूजी अपने हाथों से ही करते।

पानी में जरा-सा कूड़ा दीख जाय, बरतनों पर कहीं कालोंच या चिकनाई का अंश हो या और कोई थोड़ी-सी भी गफलत हुई हो तो बापूजी दुबारा उसकी सफाई बड़ी सावधानी से स्वयं करते थे और ऐसे छोटे प्रमाद के कारण बा का जी जरा भी न दुखे, इसका पूरा खयाल रखते थे।

बापूजी सारा समय बा की चारपाई के पास खड़े रहते थे। कुर्सी या स्टूल डालकर बैठे हों, उनके मुख पर थकावट या उदासी दीख पड़ती हो, ऐसा प्रसंग मुझे याद नहीं।

बा की बीमारी इतनी गंभीर होने पर भी उनके लिए बापूजी के उस मकान में अलग कमरा नहीं था। जिस बड़े खंड में हम सब लोग एक साथ बैठकर भोजन करते थे उसी कमरे के एक सिरे पर, उत्तर दिशा में, पर्दा डालकर आड़ कर ली गई थी। चारपाई या तख्त भी वहां पर नहीं था। पढ़ाई के समय बच्चों के बैठने के लिए जो दो-तीन बेंचें थीं उन्हें इकट्ठा रखकर तख्ता बना लिया गया था और उसपर बा का बिस्तर था। जब हम लोग भोजन के लिए बैठते थे तब जरा भी बातचीत नहीं करते थे, ताकि बा के आराम में बाधा न हो। किसी के हाथ से यदि कभी बर्तन टकरा जाते तो उसपर चारों ओर से नाराजगी बरसती थी; क्योंकि बा की कमजोरी इतनी बढ़ गई थी कि उनसे जरा-सी आवाज भी सहन नहीं होती थी।

बालकों को बा के पास जाने से रोका जाता था; परन्तु मैं कभी-कभी देवदासकाका के साथ पर्दे के उस तरफ चला जाता था। देवदास-काका बा के सिरहाने जरा देर रुककर बहुत चिंतित और दुखी होकर लौटते थे।

बा की जीवन-नैया इस प्रकार जब जीवन और मरण के बीच डोलती रही और बापूजी बा की सेवा में जुटे रहे, उन्हीं महीनों में बापूजी को राज-नैतिक काम में भी बहुत समय देना पड़ा, क्योंकि दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का संग्राम अब गांधी-स्मट्स समझौते का रूप ले रहा था।

बा की यह प्रथम बीमारी नहीं थी। सन् १९०८ के अन्तिम चरण में जबकि सत्याग्रह-संघर्ष का ट्रान्सवाल में आरम्भ ही हुआ था और बापूजी दो महीने की जेल की सजा काट रहे थे, उन्होंने जेल से बा को पत्र लिखा था :

९ नवम्बर, १९०८

"तेरी तबियत के बारे में श्री वेस्ट ने आज तार भेजा है। मेरा हृदय चूर-चूर हो रहा है। परन्तु तेरी चाकरी करने के लिए आ सकूं ऐसी स्थिति नहीं है। सत्याग्रह की लड़ाई में मैंने सब-कुछ अर्पित कर दिया है। मैं वहां आ ही नहीं सकता। जुर्माना भर दूं, तभी आ सकता हूं। जुर्माना तो हरगिज नहीं दिया जा सकता। तू साहस बनाए रखना। कायदे से खाना खाओगी तो ठीक हो जाओगी। फिर भी मेरे नसीब से तू जायगी

ही, ऐसा होगा तो मैं तुझको इतना ही लिखता हूं कि तू वियोग में, पर मेरे जीते-जी, चल बसेगी तो बुरी बात न होगी। मेरा स्नेह तुझ पर इतना है कि मरने पर भी तू मेरे मन में जीवित ही रहेगी। यह मैं तुझको निश्चय-पूर्वक कहता हूं कि अगर तेरा जाना ही होगा तो तेरे पीछे मैं दूसरी स्त्री करनेवाला नहीं हूं। यह मैंने तुझे दो-एक बार कहा भी है। तू ईश्वर पर आस्था रखकर प्राण छोड़ना। तू मरेगी तो वह भी सत्याग्रह के अनुकूल है। मेरी लड़ाई केवल राजकीय नहीं है। यह लड़ाई धार्मिक है, अर्थात् अति स्वच्छ है। इसमें मर जायं तो भी क्या और जीवित रहें तो भी क्या? तू भी ऐसा ही जानकर अपने मन में जरा भी बुरा नहीं मानेगी, ऐसी मुझे उम्मीद है। मैं तुझसे यही मांगता हूं।"

ईश्वर-कृपा से सन् १९०८ में बा रोगमुक्त हो गईं।

बापू के लिए बा भी कितनी व्यथित थीं, इसका पता नीचे की बात से चलता है:

"सन् १९०८ में बापू की प्रथम बार की गिरफ्तारी का समाचार जब फीनिक्स पहुंचा तब बापू की सबसे बड़ी पुत्रवधू—श्री हरिलाल गांधी की पत्नी—के सीमंतोन्नयन-संस्कार का घरेलू उत्सव मनाया जा रहा था। पुरुष-वर्ग का भोजन हो चुका था और महिलाओं की पंक्ति बैठ रही थी। उसी समय बापूजी के पकड़े जाने का तार आया। भोजन के लिए खीर विशेष रूप से बनी थी, जो बा को अत्यन्त प्रिय थी। भोजन चलता रहा परन्तु बा का जी उचट गया। भोजन समाप्त होने तक एक अंगुली भी उन्होंने उसमें नहीं छुआई। और उसी समय मन-ही-मन संकल्प करके दूध का सर्वथा त्याग कर दिया। चाय भी बिना दूध के ही लेने लगीं। बापूजी के रिहा होने तक उन्होंने यह व्रत निभाया। जब स्वास्थ्य के लिए उनसे दूध लेने का आग्रह किया गया तो उन्होंने कहा कि जेल जाने वाले को घी-दूध नहीं मिलता तो मैं कैसे ले सकती हूं?"

"यही नहीं, बा ने और आहार भी छोड़ दिया। कई दिनों तक केवल मक्का के नमकीन दलिये पर ही निर्वाह किया। बहुत कह-सुनकर थोड़ी डबलरोटी लेने पर उनको राजी किया जा सका, पर वह भी उन्होंने रूखी ही ली। फलतः उनका स्वास्थ्य एकदम गिर गया। जब बापू घर आये तब उन्होंने बा के इन नियमों को छुड़वाया।"

यह हुई बा की सन् १९०८ की बीमारी की बात। उस बीमारी के मुकाबले सन् १९१४ की बीमारी कहीं अधिक कठिन और भयावह थी। मेरी माताजी के एक पत्र से उनकी इस बीमारी का कारण और पूरा स्वरूप समझ में आ जायगा।

सेवाग्राम, ता. १७-१२-४७

"चि. प्रभु,

"तुम्हारे पत्र का उत्तर तुम्हारे पिताजी ने कल दिया है, पर मैंने उसे देखा नहीं, इसलिए अपने विचार इस पत्र में लिख रही हूं।

"...पहले तो कानून (दक्षिण अफ्रीका में हिन्दू-मुस्लिम विवाह को गैर-कानूनी घोषित करने वाले) का जिक्र होता रहा और उसके कारण बारबार यह चर्चा की जाने लगी कि 'यदि साहस हो तो' बहनों को भी जेल जाना चाहिए। इसी प्रकार की चर्चा पू. बापू ने जोहान्सबर्ग से लौटकर पहले पू० बा से और बाद में हम लोगों से की, ऐसा मुझे स्मरण है। पू० बा को जेल भेजने के लिए पू० बापू का विचार शिथिल था, क्योंकि उस समय बा का स्वास्थ्य बिल्कुल कमजोर था। उनको रक्त-स्राव की बीमारी थी, इसलिए उनका शरीर क्षीण हो गया था। 'दूसरा कारण यह था कि पू० बापू के सात दिन के प्रथम उपवास के समय पू० बा ने भी साढ़े चार महीने के लिए दिन में एक ही बार भोजन का व्रत कर रखा था। इस कारण पू० बा के स्वास्थ्य और उनके आहार के नियम आदि को देखते हुए उनको जेल भेजने का दुस्साहस बापूजी नहीं कर सकते थे। इसलिए दलील दे-देकर पू० बापू ने बा को जेल जाने के लिए तैयार किया था, यह मेरी जानकारी से बाहर की बात है। मुझे जहां तक पता है बा स्वयं ही अपनी इच्छा से जेल जाने के लिए तैयार हुई थीं। जब बापूजी ने उनसे अपने शरीर की निर्बलता का विचार करने को कहा तब बा ने तेज़ होकर जवाब दिया था कि 'ये सब बहुएँ जा सकेंगी और मैं न जा सकूंगी? काशी (लेखक की माता) तो मुझसे कमजोर है। जब वह जेल के कष्ट बर्दाश्त करेगी तो मैं क्यों न करूंगी?' बा के इस प्रकार आग्रह करने पर बापू उनको जेल भेजने के लिए सहमत हुए।

"जेल जाने से पहले अनेक बार जेल के संबंध में चर्चाएं होती ही रही थीं, इसलिए निश्चय से बताना कि बा-बापू के बीच यही बात हुई, कठिन है। पर तथ्य की बात यह है कि पू० बा के स्वास्थ्य के कारण ही पू० बापू को उन्हें लड़ाई के लिए तैयार करने की हिम्मत नहीं हो रही थी। जब बा ने लड़ाई में जाने का निश्चय कर ही लिया तब पू० बापूजी ने उनको जेल के कष्टों को उठाने के लिए तैयार किया। एक बार बा ने पूछा कि जेल में अगर खाने के लिए फल न मिलें तो? पू० बापू ने कहा कि फलाहार न दिया जाय तबतक अनशन करना, किन्तु फलाहार के व्रत का आग्रह मत छोड़ना। ऐसा करने में यदि मृत्यु हो जाय तो भले! और सचमुच बा को जेल में तीन-चार उपवास करने भी पड़े थे। इसके बाद मैरित्सबर्ग

की जेल में जो फलाहार वा को दिया गया वह मात्रा में बहुत कम और असंतोषप्रद था। इसका परिणाम यह हुआ कि तीन महीने का कारावास कर जब पू० वा जेल से निकलीं तव सख्त बीमार पड़ गईं और पू० वापूजी ने भी तव उनकी आश्चर्यजनक सेवा की। यह वात तो तेरे बापू को भी याद होगी ही।

शुभेच्छुक मां के आशीर्वाद।"

मेरे पिताजी ने उसी पत्र में लिखा था:

"वा का लिखा हुआ ठीक जान पड़ता है।

पिता के आशीर्वाद।"

मेरी माताजी ने ऊपर वाले पत्र में जो लिखा है उसके अतिरिक्त मैरित्सवर्ग जेल के अनुभव सुनाते हुए उन्होंने मुझे वताया:

"जव हम लोग मैरित्सवर्ग जेल में थे और बापू को एक वर्ष की कैद की सजा होने की खवर आई तव वा को वहुत घवराहट होने लगी। उनकी आंखों से आंसू बह चले। रोके रुकते ही नहीं थे। उनके मन में भय बैठ गया कि इतनी लम्बी सजा से बापू फिर लौट भी पायेंगे या नहीं? वापूजी उनसे पहले रिहा हो गए, इस बात का पता तो उन्हें तव चला जव जेल से वाहर आने पर उन्होंने बापू को फाटक पर देखा।

"एक तो वा का आधा उपवास रहता था, ऊपर से बापू की भारी चिन्ता। इस कारण वह सूखने लगीं। नतीजा यह हुआ कि उनका शरीर हड्डी का ढांचा-मात्र रह गया।

"अपनी ऐसी विपदा में भी वा हम लोगों को नित्य ढाढ़स दिलाती रहती थीं। जेल का खाना हमारे लिए एक बड़ी आफत थी। परन्तु जव हम भोजन कर चुकती थीं तो वह हमें सन्तोष के शब्द सुनाती थीं कि चलो, संकट के दिनों में से एक दिन कम हुआ! हम लोगों को जेल के कपड़े सीने का काम मिला था। हमारे काम में भी वह हाथ वटाती थीं और वाकायदा जेल का काम पूरा करवाती थीं। फुरसत के समय में सबको भजन-कीर्तन में लगाये रखती थीं।"

विद्वान न होने पर भी वा की महत्ता वापूजी के समान ही थी। वा की आत्मा उतनी ही ऊंची थी। उन दोनों के बीच की आपस की श्रद्धा, परस्परसेवा करने की उमंग और एक-दूसरे के लिए त्याग करने की अगाध निष्ठा अद्भुत थी।

वा और बापू के बीच इतनी घनिष्टता होने पर भी देशसेवा का काम आने पर वापूजी कैसी दृढ़ता से अपने कर्तव्य और धर्म का पालन करते

थे इसका एक रोमांचकारी प्रसंग श्री रावजीभाई पटेल ने अपनी पुस्तक 'गांधीजीनी साधना' में दिया है। ट्रान्सवाल की राजधानी प्रिटोरिया में सरकार के साथ सत्याग्रह-संग्राम को समाप्त करने के संबंध में प्राथमिक समझौता हो रहा था। दोनों ओर से मौखिक बातचीत में अपनी शर्तें बताई गई थीं। कच्चा मसविदा भी बन गया। सिर्फ बाकायदा पत्र का आदान-प्रदान बाकी रह गया था। इस बीच फीनिक्स से तार पहुंचा—"कस्तूरबा बहुत बीमार हैं और उनकी हालत बड़ी खतरनाक हो गई है। आप तुरन्त आवें।" बापूजी ने यह तार मि० एंड्रयूज को बताया। एंड्रयूज साहब ने पढ़ते ही कहा, "हमें इसी समय यहां से फीनिक्स चल देना चाहिए।"

बापू ने उत्तर दिया, "यह कैसे हो सकता है? जहां कौम के लिए समझौते की बात चल रही है और चौबीस घंटे के भीतर पत्रों का आदान-प्रदान हो जाने की उम्मीद है, वहां किसी भी कारणवश मुझे यहां से चले जाने का और सारी हिन्दी कौम के लिए होने वाले समझौते को खटाई में डाल देने का खतरा उठाने का क्या अधिकार है? मैं अपना कर्त्तव्य छोड़-कर यदि एक दिन पहले पहुंच जाऊंगा तो वह बच जायगी, इसका भी क्या भरोसा? जिस काम को हाथ में लिया है उसे पूरी तौर से निपटाकर ही यहां से हटा जा सकता है। इसके सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता।"

बापूजी के इस निश्चय को देखकर मि० एंड्रयूज बड़ी चिंता में पड़ गए और उन्होंने टेलीफोन पर जनरल स्मट्स से फीनिक्स से आये हुए तार का जिक्र किया। जनरल ने कहा, "मि० गांधी अवश्य जा सकते हैं। हमारा समझौता अब निश्चित है।"

मि० एंड्रयूज ने बापू का संकल्प बताते हुए उनसे कहा, "शाम तो होने पर है, फिर भी मैं गांधीजी का पत्र आपके पास ले आऊंगा और आप अपना पत्र तैयार करके तुरन्त मुझे दे दें तो अच्छा है।"

कार्यभार में अत्यधिक व्यस्त होने पर भी जनरल स्मट्स ने इसे स्वीकार कर लिया और तुरन्त सरकार की ओर से पत्र लिख दिया। रात को ट्रेन से एंड्रयूज साहब बापू को साथ लेकर फीनिक्स के लिए चल पड़े।

बापूजी फीनिक्स पहुंचे तब कस्तूरबा की अन्तिम घड़ियां मालूम हो रही थीं। डाक्टर का सहारा लेने की बात बापूजी ने त्याग दी। अपने ढंग से ही चिकित्सा आरम्भ कर दी और बा खतरे से पार हो गईं।

स्मट्स-गांधी समझौते के बाद पार्लमेंट की बैठक के समय बापू को केपटाउन जाना पड़ा था। तबतक बा की बीमारी चल रही थी, इसलिए बापू उन्हें अपने साथ ही लिवा ले गए। वहां पर बा की स्थिति फिर

नाजुक हो गई। बा के साथ ही केपटाउन जाने के लिए देवदासकाका भी व्याकुल थे, परन्तु बापू ने उनको फीनिक्स में ही रखा और आश्रम के कार्य-क्रम में ढील न करने का आग्रह किया, बापू केपटाउन से पत्रों द्वारा उनको साहस दिलाते रहे। उनमें से एक पत्र निम्न प्रकार है :

फाल्गुन सुदी ६, १६७० (ई० स० १६१४)

चि० देवदास,

तुम अपने अक्षर सुधारना। बा का स्वास्थ्य तो बहुत बिगड़ गया है। वह और मैं भी मानता हूं कि डाक्टरी दवाई का बहुत अनिष्ट असर हुआ है। उसने ही इच्छा की थी कि डाक्टरी दवाई की जाय। दो या तीन खुराक पीने के बाद बीमारी बढ़ गई। अब कुछ खाया नहीं जा सकता। अन्त में मौत आ जाय तो भी हम सबने तो मौत से न डरने का निश्चय किया है। इसलिए चिन्ता करने की कोई बात नहीं है। शरीर तो गिरने वाला है ही और फिर अपने गिरने के दिन ही वह गिरता है। और उसी के अनुसार हमें उपाय सूझते हैं। फिर आत्मा तो अमर है। अब शरीर की ऐसी स्थिति जानकर हमें साधुता और उदासीनता को अपनाना चाहिए। साधुता का मतलब स्थूल वैराग्य अथवा जगत में भटकने के लिए निकल पड़ना, यह नहीं है। यहां उसका शुद्ध अर्थ अपने चारित्र्य के संबंध में है। उदासीनता का मतलब रंज-शोक नहीं, किन्तु विषयों के प्रति अरुचि और संसार के बारे में निर्मोहीपन है। बा की बीमारी में तुम सब यह सीखो, वही उनके प्रति तुम्हारा सच्चा भक्तिभाव माना जायगा।

—बापू के आशीर्वाद

: ७० :

"प्रतिज्ञा नहीं टूट सकती"

चौमासे में कभी पानी का, कभी खाली बादलों का, कभी तेज धूप का और कभी धूप और पानी दोनों का एकसाथ जोर बढ़ता है, कभी घटता है। उस अवधि में कोई ऋतु का निश्चित रूप बता नहीं सकता। बापूजी और फीनिक्सवासियों के छूट आने के बाद सत्याग्रह-आंदोलन की भी यही हालत कई सप्ताह तक, या यों कहिए, तीन-चार महीने तक, चलती रही। युद्धविराम होने से पहले बहुत दिन असमंजस में बीते।

बापूजी, श्री पोलक और श्री कैलनवैक की रिहाई के वाद सरकार ने और किसी को मियाद से पहले रिहा नहीं किया। स्मट्ससाहब ने अपने कमीशन में बापूजी की मांग के अनुसार अपनी ही पार्लमेंट के सदस्य मि० श्राइनर को भी शामिल करने से इनकार कर दिया। इस कारण सत्याग्रहियों के दिल में यही बात जोर पकड़ रही थी कि अभी दक्षिण अफ्रीका की सरकार और गोरों के हृदय में परिवर्तन नहीं हुआ है और निश्चय ही सत्याग्रह की लड़ाई और भी जोरों से लड़नी पड़ेगी।

इस बीच खबर आई कि गोखले महाराज ने नए साल के दिन डरवन से होने वाली विराट कूच स्थगित करके कमीशन के काम में उसके पूरा होने तक भली भांति सहयोग देने का सन्देश वापूजी के पास भेजा है।

दो-तीन दिन बाद ही यह खबर आई कि उस समय के हिन्दुस्तान के वाइसराय लार्ड हार्डिंज ने अपने प्रतिनिधि के रूप में मध्यप्रदेश के गवर्नर श्री बेंजामिन को भारत से अफ्रीका भेजा है और वह ऐसी युद्ध-नौका में आ रहे हैं जो नौ दिन में ही बम्बई से डरवन पहुंच जायगी।

एक और बात भी सुनने में आई कि हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े लोग बापूजी पर नाराज हो रहे हैं और तार-पर-तार दे रहे हैं कि अब सत्याग्रह स्थगित कर लार्ड हार्डिंज की भलमनसाहत पर भरोसा किया जाय और कमीशन का बहिष्कार करके अपने हाथ अपने पैरों कुल्हाड़ी न मारी जाय, अन्यथा ऐसी नौबत आयगी कि हिन्दुस्तान के वाइसराय की सहायता मिलनी बन्द हो जायगी और हिन्दुस्तान से पैसे की मदद भेजने वालों को भी अपना हाथ रोक देना पड़ेगा। परन्तु बापूजी ने कुछ ऐसा मंत्र पढ़ा रखा था कि इन चेतावनियों का असर सत्याग्रहियों पर उलटा ही पड़ा। उनकी नसों में खून और भी जोरों से दौडने लगा और उनका संकल्प मजबूत हो गया। फीनिक्स के जेलयात्री विद्यार्थी आपस में तरह-तरह की चर्चा करते रहते।

गोखलेजी का तार इस प्रकार था : "कमीशन को स्वीकार न करके नए वर्ष के दिन से दूसरा कूच आरम्भ करने के समाचार से मुझे भारी दुख हुआ है। तुम्हारे इस निश्चय से मेरी और वाइसराय लार्ड हार्डिंज की परिस्थिति बहुत ही विकट हो गई है। यूनियन सरकार तुम्हारे प्रश्नों का निबटारा करेगी ही, ऐसा पूरा विश्वास रखकर कमीशन को स्वीकार करो। उसके लिए आवश्यक गवाहियां दो और कूच बन्द रखो।"

गोखलेजी के इस तार से दक्षिण अफ्रीका के भारतीय असमंजस में पड़ गए। सत्याग्रह में बापूजी को थाम देनेवाले बड़े-बड़े नागरिकों और

समझदार लोगों ने बापूजी से कहा भी कि गोखलेजी के दिल को दुखाना ठीक नहीं है। जब पूरा विश्वास दिलाया जा रहा है कि कमीशन हमारे अनुकूल सिफारिश करेगा तो बड़ों का कहना क्यों न मान लिया जाय? परन्तु बापूजी ने जरा भी विचलित हुए बिना अपने संगी-साथियों को उत्तर दिया, "यदि सम्राट महोदय खुद आकर भी भरोसा दिलायें कि इस कमीशन को स्वीकार करने पर तुमको मैं हिन्दुस्तान का स्वराज्य दे दूंगा तो भी मैं कहूंगा कि ऐसा निर्वीर्य और अपमानजनक स्वराज्य मुझे नहीं चाहिए। भारत को अपमानित करके और अपना सिर नीचा कर जिस स्वराज्य को मैं प्राप्त करूंगा, वह कैसा होगा? और वह कितने दिन टिकेगा? भारत का स्वाभिमान प्रथम बात है। फिर स्वराज्य अपने-आप स्व-मान के पीछे-पीछे रेंगता हुआ चला आयगा।"

अपने साथियों को अपना दृढ़ संकल्प सुनाकर बापूजी ने गोखलेजी को निम्न तार भेजा:

"आपका दुख समझ सकता हूं। चाहे कितना भी छोड़ना पड़े, छोड़कर भी आपकी सलाह का सम्मान करने की मेरी इच्छा रहेगी ही। लार्ड हार्डिंज ने जो सहायता दी है वह अमूल्य है। उनकी सहायता अन्त तक मिलती रहे, यह मैं भी चाहता हूं। परन्तु हमारी परिस्थिति को आप समझें यह मेरी आपसे बिनती है। इसमें हजारों मनुष्यों की प्रतिज्ञा का प्रश्न समाया हुआ है। प्रतिज्ञा विशुद्ध है। इस सारी लड़ाई की रचना प्रतिज्ञा के ऊपर निर्मित हुई है। यदि प्रतिज्ञा का बंधन न होता तो हम लोगों में से कइयों का आज पतन हो गया होता। हजारों व्यक्तियों की प्रतिज्ञा पर यदि पानी फेर दिया जायगा तो फिर नीति-बंधन जैसी कोई बात रहेगी ही नहीं। प्रतिज्ञा करते समय लोगों ने पूर्ण विचार किया था। उसमें कुछ भी अनीति तो है ही नहीं। बहिष्कार की प्रतिज्ञा लेने का कौम को अधिकार है ही। ऐसी प्रतिज्ञा किसी भी व्यक्ति के निमित्त नहीं टूटनी चाहिए और चाहे कितना ही खतरा उठाना पड़े तो भी उसका पालन करना ही चाहिए, यह सलाह आप भी दें, ऐसा मैं चाहता हूं। यह तार लार्ड हार्डिंज को बताइएगा। आपकी स्थिति विकट न हो, यह मेरी इच्छा है। हम लोग ईश्वर को साक्षी रखकर, उसकी सहायता पर निर्भर रहकर लड़ाई शुरू कर रहे हैं। हम बुजुर्गों की सहायता चाहते हैं और उसकी याचना करते हैं। उसके मिलने पर हमें आनन्द होता है। परन्तु यह सहायता मिले या न मिले, प्रतिज्ञा का बन्धन टूटना नहीं चाहिए। मेरा यह नम्र अभिप्राय है। इसके पालन में मैं आपका सहारा और आशीर्वाद चाहता हूं।"

इस प्रकार भारत के स्वाभिमान को बनाये रखने और प्रतिज्ञा के पालन

के लिए बापूजी अपनी बात पर डटे रहे। गोखलेजी और वाइसराय अप्रसन्न भी हुए, फिर भी उन दोनों से सहायता मिलती ही रही। उधर स्मट्स-साहब भी बापूजी की आन को भांप गए और कड़ककर बोलने के बदले विनय से बोलने लगे। फिर क्या था ? जैसे ही बापूजी ने स्मट्स साहब आदि के हृदय में थोड़ा-सा परिवर्तन देखा, वह समान भूमिका पर युद्ध-विराम के लिए तत्पर हो गए।

गोखलेजी के आदेश पर बापूजी ने जिस कूच को स्थगित करना स्वीकार नहीं किया, उसे बाद में मनुष्यता और नीति की दृष्टि से स्थगित कर दिया।

बात यह हुई कि जिन रेलवे के हड़तालियों ने उस समय देश-भर में अपना ऊधम मचा रखा था उन्होंने बार-बार बापूजी के पास संदेश भेजा कि दक्षिण अफ्रीका की सरकार को अब पूरी तरह मात देने का सुयोग आप न चूकें। हम लोगों की हड़ताल चल रही है, इसी समय आप भी अपनी योजना के अनुसार डरबन से बड़ी-से-बड़ी कूच शुरू कर दीजिए। आप लोगों का और हमारा सहयोग हो जायगा तो सरकार को तुरन्त झुकना पड़ेगा।

उक्त सन्देश रेलवे की हड़ताल के मजदूरों की ओर से किसने भेजा, किन शब्दों में भेजा, इसका मुझे पता नहीं है। परन्तु यह ठीक याद है कि इस प्रकार की बातें जोरों से चल रही थीं और सरकार के विरुद्ध भारतीय तथा गोरे हड़तालियों का इकट्ठा बल लगाने की मांग बढ़ रही थी। इस मांग को सुनकर हम लोग, जो नवयुवक और बालक थे, अधीर हो उठे कि बापूजी ऐसा सुन्दर अवसर हाथ से क्यों जाने देते हैं। रेलवे हड़तालियों के साथ मिलने से हमारा जोर बहुत बढ़ जायगा।

परन्तु अकस्मात एक दिन फीनिक्स में खबर आई कि बापूजी ने नए साल के दिन डरबन से कूच शुरू करने का संकल्प स्थगित कर दिया है। और अब पहली तारीख के बदले जनवरी की दसवीं तारीख को सत्याग्रह-संग्राम दुबारा छेड़ा जायगा। कारण यह है कि बापूजी रेलवे हड़तालियों की अनुचित प्रवृत्ति को बल प्रदान करना ठीक नहीं समझते थे। उन्होंने स्मट्स साहब को कहलवा दिया कि आप जब संकट में घिरे हुए हैं तब हम आपकी दिक्कत को बढ़ाना नहीं चाहते। आपको रेलवे हड़तालियों से समाधान करने के लिए सहूलियत रहे, इसलिए हम दस दिन बाद अपनी पैदल यात्रा आरम्भ करेंगे।

बापूजी के मन में सत्याग्रह के मूलतत्व की यह बात थी कि उसपर

हिंसा की छाया भूलकर भी न पड़ने दी जाय। रेलवे की हड़ताल के कारण जब चारों ओर हिंसा फैल रही थी तब सत्याग्रह-आंदोलन पर जोर देना हिंसा को बढ़ावा देने के बराबर होता। बापूजी के आदर्श से वह बिल्कुल उलटी बात होती। उनका आदर्श विरोधी को दबाने का नहीं, उसके सद्विचार को जगाने और उसका हृदय-परिवर्तन करने का था। इसीलिए उन्होंने स्मट्स-जैसे घोर विरोधी को भी उसके निजी संकट में सहारा देकर उसको तंग न करने का धर्म अपनाया। आगे चलकर बापूजी की इस नीति ने दक्षिण अफ्रीका के गोरे लोगों का और स्मट्स सरकार का दिल जीत लेने में बड़ा भारी काम किया।

दस दिन के लिए स्थगित किया गया यह कूच पन्द्रह दिन के लिए दुबारा स्थगित कर दिया गया। इसका कारण भी दक्षिण अफ्रीका की पार्लमेंट की एक भद्र महिला बनीं।

उस महिला का नाम था कुमारी हाब हाउस। उसने दक्षिण अफ्रीका में अंग्रेज-बोर युद्ध के समय युद्ध-पीड़ित बच्चों तथा बहनों की स्तुत्य सेवा की थी। उसकी सेवापरायणता की ख्याति बहुत थी। यद्यपि बापूजी उस महिला से परिचित नहीं थे फिर भी जब उसका तार मिला कि "कृपा करके मेरी-जैसी एक महिला की विनती पर आप अपनी पैदल-यात्रा पन्द्रह दिन के लिए स्थगित कर दीजिए," तब बापूजी ने उस विनती को स्वीकार किया और अपनी भद्रता का परिचय देकर साबित कर दिया कि सत्याग्रह केवल हठ ही नहीं होता; उसमें पग-पग पर विवेक-बुद्धि से काम लेना पड़ता है।

: ७१ :

दो नये मित्र

दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की कसौटी जैसे-जैसे अधिक उग्र होती गई, वैसे-वैसे भारत में बड़े-बड़े नेताओं की और जनता की चिन्ता भी बढ़ती गई। गोखलेजी, श्री फीरोजशाह मेहता, श्री नटराजन, "महात्मा मुंशी-राम (स्वामी श्रद्धानंन्द) और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे कई गण्यमान्य महापुरुषों ने दक्षिण अफ्रीका के इस अपूर्व सत्याग्रह में भरसक

सहायता पहुंचाने के लिए अहर्निश प्रयत्न किया। अनेक नगरों में सभाएं हुईं, चन्दे किये गए। विद्यार्थियों के अनेक संघों ने श्रमयज्ञ करके और खाना छोड़कर बापूजी के सत्याग्रह के लिए पैसे भेजे।

जगह-जगह होने वाली इन सभाओं में एक सभा लाहौर में भी हुई। उसमें एक ऐसा सहृदय अंग्रेज उजाले में आया, जिसने अपनी कमाई की सारी बचत दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रहियों को अन्न आदि पहुंचाने के लिए दे डाली। मनुष्य को परखने वाले और चतुर राजपुरुष गोखलेजी ने इस विशालहृदय अंग्रेज को ध्यान में रख लिया और जब बापूजी के साथियों में पोलक, कैलनबैक और वेस्ट-जैसे शक्तिशाली गोरों की भी गिरफ्तारी करने में दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने संकोच नहीं किया तब वहां के गोरे लोगों को जगाने के लिए तथा बापूजी का काम सभालने के लिए गोखलेजी ने उस अंग्रेज युवक को दक्षिण अफ्रीका भेजा। चलते समय उस अंग्रेज ने अपने एक दूसरे अंग्रेज मित्र श्री पियर्सन को भी अपना सहयात्री बना लिया।

उस समय कदाचित गोखलेजी को भी कल्पना न होगी कि यह अंग्रेज युवक संसार-भर के पीड़ित भारतवासियों के लिए अपना सारा जीवन ही प्रदान कर देगा और भविष्य में 'दीनबन्धु' के नाम से याद किया जायगा। जिन दिनों अंग्रेज को देखते ही भारत के अधिकतर लोगों के दिल में बेहद डर पैदा होता था अथवा उनके हृदय में वैर की आग जोरों से धधक उठती थी तब एंड्रयूजसाहब के प्रति असंख्य भारतीयों का हृदय आदर और भक्ति से झुक जाता था।

बम्बई से एंड्रयूजसाहब जब चले थे तबतक के ही दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के समाचार उन्हें मालूम थे। समुद्र-यात्रा में बीस-बाईस दिन जो बीत गए, उस अवधि में सत्याग्रह-आंदोलन ने कैसी करवट बदली इस बात का उन्हें जरा भी अनुभव नहीं था। डरबन में जब एंड्रयूजसाहब जहाज से उतरे, उन्होंने स्वागत करने वाली मंडली में लुंगी-कुर्ता पहने, हाथ में पतली लकड़ी पकड़े, मुंडे हुए सिर वाले एक व्यक्ति को देखा; परन्तु उसे कोई मामूली हिन्दू वैरागी समझा। उन्होंने सारी मंडली में अपने पूर्व परिचित पोलक को देखा और बोले, "अच्छा, आप यहां मिलेंगे, ऐसी मुझे आशा ही नहीं थी। बड़ा अच्छा हुआ जो आप रिहा हो गए। अब बताइए गांधीजी किस जेल में हैं? मैं उनसे कैसे मिल पाऊंगा?" यह सुनकर उपस्थित लोगों के मुख पर हलकी-सी मुस्कराहट छा गई। श्री पोलक ने जब बताया कि लुंगीवाले ही गांधीजी हैं, तब एंड्रयूजसाहब

गद्गद हो गए और उन्होंने झुककर गांधीजी को प्रणाम किया। पियर्सन

साहब ने भी एंड्रयूजसाहब की तरह ही बापूजी के चरणों पर सिर झुकाया और दोनों उसी क्षण से बापूजी के अनुयायी के समान बन गए।

दक्षिण अफ्रीका में कोई गोरा व्यक्ति काले कुली कहे जानेवाले भारतीय को इस प्रकार प्रणाम करे, यह वहां के गोरों के लिए बड़ी भयंकर बात थी। इसलिए एंड्रयूजसाहब के ऐसे वर्ताव पर गोरे अखबार बिगड़ गए। संपादकीय स्तंभों में एंड्रयूजसाहब और श्री पियर्सन की कड़ी आलोचना की गई कि एक भारतवासी के पैरों पर इतना अधिक झुककर प्रणाम करके उन्होंने सारी गोरी जाति की प्रतिष्ठा पर बुरी तरह कुठाराघात किया है और इस बात का उन्हें प्रायश्चित्त करना चाहिए। परन्तु एंड्रयूजसाहब ने अपनी विद्वत्तापूर्ण मीमांसा और सरकारी भाषा द्वारा गोरों को मानवता का पाठ पढ़ाया और बापूजी-जैसे महान व्यक्ति के सामने हाथ जोड़कर प्रणाम करने की विधि का समर्थन किया।

एंड्रयूजसाहब जब फीनिक्स पधारे तब फीनिक्स के सब लोग उनके स्वागत के लिए स्टेशन पहुंचे। रेल से उतरते ही दोनों साहबों ने बड़े लोगों को हाथ जोड़-जोड़कर प्रणाम किया और हम-जैसे छोटे विद्यार्थियों के सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया। हम लोग तो तबतक यही जानते थे कि जब कोई गोरा मिले तब हाथ मिलाना चाहिए, किन्तु उन्होंने तो आते ही हमारी तरह अभिवादन किया, यह देखकर हमें ऐसा मालूम हुआ कि ये अजनबी अतिथि नहीं हैं, अपने घर के ही लोग हैं। उनसे सटकर चलने में, उनका हाथ पकड़ने में हमें कोई संकोच न रहा और स्टेशन से आश्रम पहुंचने तक हम उन दोनों से बहुत ही घुल-मिल गए। संध्या के समय प्रार्थना हो जाने के बाद जब हम लोग बड़ी मेज के चारों ओर बैठे तो मेज के केन्द्र में बैठकर एंड्रयूजसाहब ने कहा :

"मैं गुरुदेव के पास से आ रहा हूं। उनके शांतिनिकेतन की बातें जितनी बताऊं, कम ही होंगी। किन्तु इस समय तो मैं गुरुदेव का सन्देश ही सुनाऊंगा।"

यह कहकर एंड्रयूजसाहब खड़े हो गए और हाथ जोड़कर तथा आंखें अर्द्धोन्मीलित करके बहुत धीमे स्वर से मंत्र का उद्घोष करने लगे "सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्मानंदरूपम्। अमृतं यद्विभाति शांतं शिवमद्वैतम्।"

"सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म नंदरूपम्। अमृतं यद्विभाति शांतं शिवमद्वैतम्।"

(वही शांत है, कल्याणकारी है और अपने जैसा एक ही है, जो सत्यस्वरूप है, साक्षात ज्ञान है, अपरिमित है, ब्रह्म के आनन्द की मूर्ति के समान है और अमृतसम है।)

श्लोक का उच्चारण करते समय उन्हें अपने होठों को जबर्दस्ती नीचे-ऊपर खींचना पड़ता था और बहुत कठिनाई से वह उच्चारण कर पाते थे। इससे हम लोगों को हंसी आती थी, परन्तु उनकी गम्भीर और ध्यानयुक्त मुख-मुद्रा ने हमें भी गम्भीर बना दिया और हमारे अन्तर में पवित्र भाव जगाया।

मंत्रोच्चार के बाद उन्होंने जो प्रवचन किया उसका सार यह था कि बापू के सैनिक बनकर तुम लोग जो सत्याग्रह कर रहे हो इससे गुरुदेव बहुत प्रभावित हुए हैं। उन्होंने यह मंत्र दिया है कि जो करो वह सत्य के लिए, सबकी भलाई के लिए और ईश्वर को सदैव उपस्थित समझकर करो। ऐसा करने से अन्त में कल्याण ही होगा।

उस दिन का प्रवचन बहुत छोटा था; क्योंकि उस दिन उनको बापूजी के साथ सत्याग्रह के कामकाज की बहुत-सी बातें करनी थीं।

उन दिनों एंड्रयूजसाहब दाढ़ी नहीं रखते थे। अपनी मूंछ भी साफ कर देते थे। भारत में उनके दर्शन करने का संयोग मुझे अनेक बार मिला है। उनके निकट पढ़ने का अवसर भी मुझे मिला है। उनकी सुमधुर वाणी सुनने तथा उनके ऋषितुल्य मुख को देखने से चित्त की तृप्ति ही नहीं होती थी। परन्तु उनका जो दर्शन मैंने फीनिक्स में पाया वह अनोखा था। उनका प्रभावशाली व्यक्तित्व दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह संग्राम को सफल करने में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ।

पियर्सनसाहब फीनिक्स में मुश्किल से दो या तीन सप्ताह रहे होंगे, परन्तु इतने थोड़े समय में ही हमारे बड़े घनिष्ठ मित्र और स्वजन बन गए। वह सत्याग्रह-संघर्ष का अनुभव लेने के लिए आये थे। फिर भी उन्होंने फीनिक्स में आते ही अपने चारों ओर बाल-मंडली जमा कर दी। हमें लेकर वह बगीचे में पहुंचते थे और कहीं केले के तने और पत्तों की रचना का निरीक्षण कराते थे, कहीं फूलों की विविधता पर ध्यान दिलाते थे और फूलों को चुन-चुनकर ऐसे प्रश्न करते रहते थे कि हमें अपनी बुद्धि पर जोर देने के लिए विवश हो जाना पड़ता था। फूल-पत्तों और कीट-पतंग आदि के जीवन और गुण-कर्म के बारे में पियर्सनसाहब की बहुत जानकारी थी और अपने ज्ञान का लाभ सुबह-शाम वह हमें देते ही रहते थे।

इनांडा नामक जल-प्रपात की, जो हमारे यहां से पांच-छः मील की दूरी पर था, सुरम्यता और भव्यता का आनन्द लेने के लिए वर्ष में अनेक बार हम लोग वहां जाया करते थे। दिन-भर जंगल में घूमते थे, पानी में तैरते थे, परन्तु वहां जाकर जो हमने कभी नहीं देखा था वह पियर्सन-

साहब के साथ जाने पर देखा। प्रायः तीन सौ फुट की ऊंचाई से गिरने वाले पानी को उन्होंने अलग-अलग स्थान से देखा और हमें उस सौंदर्य की विविधता बताई। वहां की वृक्ष-राजि में घूमते समय नए-नए प्रकार के पौधों को इस तरह देखते थे, मानो किसी मित्र से दोस्ती कर रहे हों। उन्होंने वहांके पत्थरों को उठा-उठाकर और घुमा-फिराकर देखा और उनमें भी हमें नवीनता का दर्शन कराया। वहां की प्राकृतिक गुफा के सौंदर्य से वह मुग्ध हो उठे। बारीक सुकोमल पत्तियों वाले फर्न नाम के पौधों की हरियाली, उसके पत्तों की लहरदार तथा कलामय लम्बी किनारी और बहुत नाजुक टहनियों की ओर उन्होंने हमारी अभिरुचि जगाई।

एंड्रूजसाहब ने अपना समय अधिकतर बापूजी के साथ बिताया और राजनैतिक गुत्थियों को सुलझाने में सहायता दी। पियर्सनसाहब ने अपना समय जनता के जीवन का अध्ययन करने में लगाया। फीनिक्स के चारों ओर मीलों तक उन्होंने पैदल-यात्राएं कीं। भारत के गिरमिटिया मजदूरों के रहन-सहन को उन्होंने देखा। वहां के आदिवासियों के निवास-स्थानों में भी वह गये और सबसे सुख-दुख की बातें पूछ-पूछकर लिख लीं। यद्यपि वह पादरी नहीं थे, उनमें नम्रता बहुत थी। अप्रसिद्ध रहकर सेवा-मय जीवन बिताने में उनको आनन्द मिलता था।

प्रिटोरिया में जब एंड्रूजसाहब के प्रयत्नों से बापूजी और जनरल स्मट्स के बीच सत्याग्रह के युद्ध-विराम के लिए लिखा-पढ़ी हो गई तब आशा यह थी कि दीनबन्धु एंड्रूज और पियर्सनसाहब कुछ समय फीनिक्स में स्थिरता से बिताएंगे, परन्तु उन दोनों को दक्षिण अफ्रीका के अनेक नगरों में परिभ्रमण के लिए जाना पड़ा। वहां एंड्रूजसाहब की अमृतमयी वाग्धारा ने कट्टर अंग्रेजों के दिलों में भी भारतीयों के प्रति सहानुभूति का भाव पैदा किया। यह प्रयास चल ही रहा था कि अकस्मात लंदन से एंड्रूजसाहब की माताजी के स्वर्गवास का तार आया। इस समाचार से फीनिक्स-भर में शोक छा गया।

एंड्रूजसहाब को तुरंत इंग्लैंड जाने का निश्चय करना पड़ा। पियर्सन-साहब भी उनके साथ ही लौट गए। फीनिक्स से उन दोनों की विदा हमारे लिए अति दुखदायी थी। उनके प्रस्थान के समय विशेष रूप से प्रार्थना-सभा हुई और फिर से वह अनमोल मंत्र अंग्रेजी-मिश्रित संस्कृत-पाठ से वातावरण में गूंज उठा:

सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्मानंद-रूपम्।
अमृतं यद्विभाति शान्तं शिवमद्वैतम्॥

: ७२ :

कुछ और अंग्रेज अतिथि

एंड्रयूज्साहव और पियर्सनसाहव फीनिक्स के वातावरण को अधिक मधुमय और अधिक सुरभित करके विदा हुए उसके कुछ ही दिन बाद हमारे यहां दूसरे दो अंग्रेज अतिथि पधारे। एक थे सर बेंजामिन राबर्टसन और दूसरे थे उनके सेक्रेटरी मि० स्लाटर। एक भारतीय अतिथि भी उनके साथ थे, जिनका नाम था श्री रायसाहव चौधरी।

स्मट्स-सरकार द्वारा दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रही और हड़ताली लोग निर्दयता से कुचले जाने लगे तब संसार के समक्ष अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिए भारत के वाइसराय ने अपने प्रतिनिधि के रूप में मध्य-प्रांत के तत्कालीन चीफ कमिश्नर सर बेंजामिन को दक्षिण अफ्रीका भेजा और स्मट्स-सरकार से बातचीत करके भारतीयों को न्याय दिलाने का काम उनके जिम्मे किया। ट्रान्सवाल में जब बापूजी और जनरल स्मट्स के बीच कच्चा समझौता हुआ तब बेंजामिन साहव वहां पर थे।

बेंजामिन साहव दक्षिण अफ्रीका पधारे तो वहां भारतीयों का बल और हिन्दू-मुसलमान, पारसी और ख्रिस्तियों का अखंड और सुदृढ़ भ्रातृत्व देखकर चकित रह गए।

ट्रान्सवाल से लौटकर सर बेंजामिन ने अपना समय नेटाल के भारतीयों से मिलने में बिताया। चूंकि बापूजी की प्रेरणा से भारतीयों ने स्मट्ससाहव द्वारा नियुक्त सालोमन-कमीशन का बहिष्कार करने की प्रतिज्ञा कर रखी थी, सर बेंजामिन इस प्रतिज्ञा के बन्धन को हटाने में अपना सर खपा रहे थे। भारत की ओर से सरकारी प्रतिनिधि होने के नाते उनके दिल में इस बात की चिंता थी कि सालोमन-कमीशन के सामने कुछ तो ऐसी गवाहियां अवश्य दी जायं जो भारतीय गिरमिट-मजदूरों को न्याय दिलाने में सहायक हों। उनकी समझ में यह बात किसी तरह नहीं आ रही थी कि केवल एक गांधी के पीछे सब-के-सब भारतीय क्यों चल रहे हैं?

बेंजामिनसाहव बरसों तक भारत में ऊंचे पद पर, रहने के कारण भारतीयों की नस-नस पहचानने में कदाचित अपने को कुशल समझते होंगे, परंतु दक्षिण अफ्रीका में उनको कदम-कदम पर भारतीयों की शक्ति का नया ही अनुभव होने लगा। उनको बहुत जल्द महसूस होने लगा कि

भारत में भले ही वह बड़े पदाधिकारी हों, दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के बीच उनका मूल्य कोई विशेष नहीं है और गाधी-जैसे साधारण व्यक्ति का मूल्य अपेक्षाकृत कहीं ज्यादा है। वह भारत से सत्याग्रहियों को सहायता देने के लिए आये थे, परंतु आकर असमंजस में पड़ गए कि सत्याग्रही भारतीयों पर कृपा करने के लिए अपने श्वेत-बन्धुओं से कैसे कहा जाय ! ये सत्याग्रही याचक होते तो कहा जा सकता था, पर ये सब तो पक्के योद्धा थे ! जहां दोनों ओर से ताकत की आजमाइश हो रही थी, वहां रहम करने के लिए कहें तो किससे !

जब बापूजी के बल को दक्षिण अफ्रीका के हर कोने में बेंजामिनसाहब ने अनुभव किया तो बापूजी की संस्था फीनिक्स को भी देखने की उत्सुकता उनके मन में पैदा हुई। श्री पोलक उन्हें फीनिक्स लिवा लाए।

फीनिक्स स्टेशन पर सर बेंजामिन के स्वागत के लिए बापूजी स्वयं नहीं गये। बापूजी को पता था कि हिन्दुस्तान में लाटसाहबों का स्वागत करने में किस प्रकार अतिरेक किया जाता है और भारत के अंग्रेज अफसर खुशामद के कैसे आदी हो गए हैं। इसलिए भी शायद फीनिक्स आश्रम में बेंजामिनसाहब के आगमन को अधिक विशेषता नहीं दी गई। फिर भी शिष्टता के नाते बापूजी ने फीनिक्स के दो-एक बड़े कार्यकर्ताओं को स्टेशन पर स्वागत के लिए भेजा। विद्यार्थियों में से चार-पांच लड़के उनका सामान उठा लाने के लिए स्टेशन तक गये, जिनमें मैं भी एक था। एंड्रूजसाहब और पियर्सनसाहब जब फीनिक्स आये तब सारा-का-सारा आश्रम उनके स्वागत के लिए गया था। परन्तु सर बेंजामिन के लिए आवश्यकता से अधिक कोई नहीं था। ज्योंही सर बेंजामिन स्टेशन के प्लेटफार्म पर उतरे, इधर-उधर देखने लगे, मानो उनकी दृष्टि अपना स्वागत करनेवालों की खोज कर रही थी। किसी के हाथ में फूलमाला नहीं थी, न कोई जलूस था। बिना कोट-कालर वाले, अधनंगे-से हम ग्रामीण विद्यार्थियों को अपने सामने खड़ा हुआ देखकर वह चकित-से हुए। हमारे साथ के मगनभाई मास्टर और रावजीभाई पटेल से दो-चार शब्द पूछपाछकर वह आश्रम के लिए चल पड़े। उनके सेक्रेटरी और उनके दल के तीसरे व्यक्ति रायसाहब चौधरी भी उनके पीछे-पीछे चले। तीनों को बिना सवारी के ढाई मील तक चलना भारी पड़ गया। रास्ते-भर तीनों में से कोई कुछ बोल नहीं रहा था। रायसाहब सर बेंजामिन के पीछे-पीछे नौकर की तरह संभल-संभलकर चल रहे थे।

आश्रम में पहुंचने पर इन सरकारी मेहमानों का स्वागत फलों आदि

से किया गया। तीन-चार घंटे फीनिक्स में घूमघामकर रात की गाड़ी से वे लौट गए।

सर बेंजामिन के स्वागत और बापूजी से उनकी मुलाकात के बारे में श्री रावजीभाई पटेल ने अपनी पुस्तक में लिखा है:

"श्री पोलक के साथ पैदल ही जब वह संस्था के मकानों तक पहुंचे तब गांधीजी अपने निवास-स्थान के द्वार पर खड़े हुए थे। उन्होंने सर बेंजामिन का स्वागत किया। बीच वाले कमरे में सब बैठे। नित्य की तरह मेज़ पर धुली हुई स्वच्छ चादर बिछी थी और आंगन के बगीचे से कुछ फूल तोड़कर फूलदान में सजा दिये गए थे। दो-चार मिनट बातचीत करने के बाद गांधीजी ने जलपान के लिए फल आदि मंगाए। केले, अनन्नास, संतरे, पपीते, आम आदि हमारे यहां के ताजे फल उनके सामने रखे गए और गांधीजी ने सर बेंजामिन से कहा, "मैंने और मेरे सहयोगियों ने अपने हाथ से जिन पौधों को लगाया और पाला-पोसा है उन्हीं से प्राप्त ये फल हैं। इसलिए पूर्णयता स्वदेशी हैं। इन फलों को प्रेमपूर्वक आपको अर्पित करने से अधिक और हम आपको क्या दे सकते हैं? यदि आप पसंद करें तो चोकर वाले आटे की घर में बनी हुई डबल रोटी और दे सकते हैं। इनमें से कुछ चीजें ग्रहण करके हमें कृतार्थ कीजिए।"

साहब और उनके दोनों साथियों ने फलों को आनन्द से खाया। बाद में गांधीजी ने उनसे नम्रता के साथ कहा, "क्षमा कीजिए सर बेंजामिन, श्री पोलक आपको घूम-फिर कर संस्था दिखायंगे। श्रीमती गांधी बीमार हैं, इसलिए मैं आपके साथ नहीं चल सकूंगा।"

सर बेंजामिन खड़े हो गए और बोले "जी-जी, याद आ गया, श्रीमती गांधी बीमार हैं, यह तो मैं भूल ही गया था। अब उनका स्वास्थ्य कैसा है? क्या मैं उनसे मिल सकता हूं?"

गांधीजी ने कहा, "अवश्य! आइए, पास के कमरे में ही हैं।"

सर बेंजामिन कस्तूरबा के पास गये तो देखा कि उनके लिए चारपाई तक नहीं है। दोनों बेंच इकट्ठी करके उनको लिटाया गया है। गांधीजी और कस्तूरबा के घर की यह सादगी देखकर वह कुछ बोले नहीं, पर सोचते रह गए। उन्होंने गांधीजी से कहा, "आप श्रीमती गांधी की सेवा में ही रहिए। हम लोग श्री पोलक के साथ संस्था देख लेंगे। आप हमारे साथ चलने का ज़रा भी कष्ट न करें।"

जिस प्रकार वह पैदल आये थे उसी प्रकार ज़रा देर बाद पैदल लौट गए। जाते समय एक बात फीनिक्स में छोड़ते गए और एक अपने साथ

लेते गए। छोड़ गये 'अपना तेज' और ले गये अपने हृदय में यह अनुभूति कि "भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का यदि कोई भयंकर शत्रु है तो वह गांधी है।"

अन्य अंग्रेज अतिथियों में एक बहुत वृद्ध और गण्यमान्य महिला केप-टाउन से उस समय फीनिक्स आई थीं। उनका नाम था मिस मोल्टीन। उनके नाम के साथ फीनिक्स में मिस हाबहाउस को भी बहुत आदर के साथ याद किया जाने लगा; क्योंकि भारतीयों और स्मट्ससाहब के बीच समझौता करानें में उन्होंने भी अपना काफी प्रभाव डाला था। उनके ही तार पर बापूजी ने डरबन से आरम्भ होने वाली दस हजार सत्याग्रहियों की पैदल यात्रा को तीन सप्ताह के लिए स्थगित कर रखा था। मिस मोल्टीन मिस हावहाउस की साथिन थीं। फीनिक्स में आकर उन्होंने बीमार कस्तूरबा के लिए अपनी विशेष सहानुभूति प्रकट की और हमारे भारतीय रहन-सहन को बार-बार बहुत उत्सुकता से देखा।

मिस मोल्टीनो बहुत वृद्ध थीं, पर बड़ी फुर्ती से चलती थीं। हाथ में छतरी लेकर छरहरे बदनवाली वह जब तन कर खड़ी होती थीं तो मेरे पिताजी और मगनकाका जैसे पूरे आदमियों से भी बाजी मार ले जाती थीं। यद्यपि उनके मुख पर झुर्रियां थीं तथापि होठों पर मूछ की रेख के कारण वह बलवान दीखती थीं। कई दिन तक वह फीनिक्स में बापूजी का सत्संग प्राप्त करने के लिए रहीं।

: ७३ :

बापूजी का अनुपम उपहार

सत्याग्रह-संघर्ष के लिए पुनः असरकारक कदम उठाने की चर्चा कम हो गई और डरबन से विराट् पैदल यात्रा प्रारम्भ करने की बात और भी दूर खिसकती गई। फीनिक्स के वातावरण में युद्धकाल की-सी उत्तेजना अदृश्य हो गई और जेल-यात्रा से पूर्व जैसा कार्यक्रम था प्रायः वैसा ही दैनिक कार्यक्रम फिर से चालू हो गया। फिर भी यह दुविधा सब के मन में बनी ही हुई थी कि न जाने कब फिर से जेल जाना पड़ेगा। इसलिए हम लोगों का ध्यान पढ़ने-लिखने में कम ही लगता था। बगीचे का और छापा-खाना का काम ऐसा था ही नहीं, जहां उचटे हुए मन से कुछ किया जा सके।

ऐसे रूखे वातावरण में एक दिन सवेरे मैंने देखा कि आश्रम के एक कोने में महीनों से वन्द पड़ी हुई मोची का काम करने की कोठरी में झाड़-बुहारू लग रही है। उसमें जो औजार थे उनको भी घिसकर पैना वनाया जा रहा था। मुझे मोची-काम सीखने का उत्साह कई दिनों से था। मैंने समझा कि अब हमें एक नया उद्योग सिखाया जायगा। उत्साह से मैं उन चमकते औजारों को देखने लगा और पूछने लगा, "यह क्या है, किस काम का है?" परन्तु मेरे प्रश्न का उत्तर मुझे रूखेपन के साथ मिला। एक सयाने लड़के ने डांटते हुए कहा. "हाथ मत लगाओ किसी चीज को। तुम्हारे सीखने के लिए यह सब तैयार नहीं किया जा रहा है। अभी क्या मालूम कब जेल जाना पड़े! कोई मोची-काम का वर्ग थोड़ा ही खुलने वाला है! इस समय तो जनरल स्मट्स के लिए एक जोड़ी 'सैंडल' वनाया जायगा। उन्होंने वापूजी से सैंडल वनवाकर भेजने की मांग की है।"

मोची का काम सीखने का हौसला मुझे इतना ज्यादा था कि सैंडिलों की उस जोड़ी के वन जाने तक वीसियों वार उसे देखने के लिए मैंने चक्कर काटे, परन्तु किसी दिन मुझे उसे छूने तक नहीं दिया गया और मेरी यह इच्छा अधूरी ही रह गई। जोड़ी के वन जाने पर वापूजी ने वहुत सावधानी से उसकी जांच की। स्मट्ससाहव के पैरों के निशान का जो कागज अंकित था उसके आकार से जोड़ी का मिलान किया और जहां कसर मालूम दी, वहां सुधारने का निर्देश किया। जोड़ी की पालिश, सिलाई के टांके आदि हरेक वात वहुत वारीकी से काफी समय लगाकर वापूजी ने देखी और जव पूरा-पूरा संतोष हो गया तव उन्होंने स्मट्ससाहव के पास वह प्रेमोपहार भेज दिया।

मित्र, माता-पिता, अध्यापक आदि के द्वारा छोटी-मोटी भेंट वच्चों को और वड़ों को दी जाती है, लेकिन अपनी याद में एक भी भेंट मैंने ऐसी नहीं देखी जैसी वापूजी ने स्मट्ससाहव के लिए इन सैंडिलों की भेजी थी। अभी तो स्मट्ससाहव के साथ आखिरी समझौता तक नहीं हुआ था, कच्चे समझौते पर लोगों को पूरा भरोसा नहीं था। अपने वचनों से मुकर जाने में स्मट्स-सरकार को देर नहीं लगती, यह कटु सत्य दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के अनुभव में वार-वार आया था। फिर भी वापूजी जव प्रारंभिक समझौते के सिलसिले में स्मट्ससाहव से मिलने जोहान्सवर्ग गये थे तव उन्होंने (शायद उनके सेक्रेटरी ने) कहा था, "गांधी, आपके आश्रम के सैंडिल वहुत वढ़िया होते हैं। एक जोड़ी भेज देंगे?" और वापूजी ने हृदय के प्रेम से सरावोर वह उपहार स्मट्ससाहव के लिए भेज दिया।

वर्षों से पहले कुछ समय तक जिस प्रकार वातावरण स्थिर और

शांत हो जाता है उसी प्रकार सैंडलों की जोड़ी भेजे जाने के बाद फीनिक्स के वातावरण में दिनों तक चुप्पी-सी रही। दुविधा सबके दिल में थी कि आगे क्या होगा, परन्तु चिंता या परेशानी नहीं थी। सोलोमन-कमीशन अपना काम कर रहा था, परन्तु उसे भारतीयों का सहयोग प्राय: कहीं भी प्राप्त नहीं था।

ऐसे समय एक दिन दोपहरी में फीनिक्स में बापूजी के पास समाचार आया कि "अब जेल में कोई नहीं रह गया है। दक्षिण अफ्रीका की सभी जेलों में से प्रत्येक सत्याग्रही कैदी को रिहा कर दिया गया है।" इस समाचार ने हमारे मन में उत्साह की लहर दौड़ा दी। हमें यह आशा हो गई कि अब दक्षिण अफ्रीका में भारतवासियों की संकटमय स्थिति समाप्त हो जायगी। तीन पौंड का कर हटाया जायगा, सत्याग्रहियों की मांगें पूरी की जायंगी, गिरमिटिया भाइयों के साथ किया जाने वाला पशु से भी बदतर दुर्व्यवहार बन्द होगा तथा 'कुली,' 'सामी' जैसे अपमानजनक शब्द भी भारतीय भाइयों को नहीं सुनने पड़ेंगे।

अनेक सत्याग्रही वीर अपनी रिहाई के बाद बापूजी के दर्शन और भेंट के लिए फीनिक्स आने लगे। प्राय: पांच-सात व्यक्ति रोज आते, एक-दो दिन फीनिक्स में रुकते और बापूजी के आशीर्वाद पाकर अपने-अपने काम पर लौट जाते। इन व्यक्तियों में कई ऐसे थे, जो साग-फल की फेरी करके अपनी रोजी कमाते थे। अधिक पढ़े-लिखे तो थे ही नहीं, परन्तु बापूजी पर पूरी श्रद्धा रखकर लगातार जेल जाते रहते थे। राजनीति के दाव-पेंच आदि से उन्हें कोई मतलब नहीं था। हारने-जीतने की बहस में उलझना उन्हें पसन्द नहीं था। बापूजी जबतक अपनी अंतिम विजय की घोषणा न करें तबतक वे लोग आज्ञाकारी सैनिक के नाते अपना काम-धंधा छोड़कर बार-बार जेल जाने के लिए तत्पर रहते थे। परंतु अब की बार सचमुच जीत है या कुछ देर के लिए युद्ध-विराम, यह प्रश्न उनके मन में था ही। एक जेलयात्री ने अपने मन का विश्वास पक्का करने के लिए बापूजी से कह भी दिया, "यदि सचमुच इस बार की हमारी जीत पक्की है तो आप अपने हाथ से मिठाई बांटें।"

गुजरात के सीधे-सादे किसान की यह मांग बापूजी ने बड़े प्रेम से स्वीकार कर ली और उन्होंने हंसते-हंसते विश्वास दिलाया कि अब, जबकि सभी सत्याग्रही कारावास से मुक्त किये जा चुके हैं, यह बात हमारे समझौते के टिकाऊपन की सूचक है और शीघ्र ही मिठाई बांटने का इन्तजाम वह खुद करेंगे।

यह बात नहीं थी कि फीनिक्स आश्रम में मिष्टान्न और नमकीन का आनंद कभी लिया ही नहीं जाता था, परन्तु बिल्कुल बचपन से बारह वर्ष की आयु तक मैंने भूलकर भी हलवाई के यहां की मिठाई फीनिक्स में देखी तक नहीं थी, सूंघने की तो बात ही क्या।

प्रथम बार सत्याग्रह के विजयोत्सव के निमित्त डरबन शहर से फीनिक्स में मिठाइयां लाई गईं। डरबन में गुजरात के अच्छे-अच्छे नामी हलवाई, कलाकंद-बालूशाही आदि के जोड़ की गुजराती मिठाई बनाते थे और वहां उनकी दुकान काफी चलती थी। उन दुकानों से डलियां भरकर मिठाई फीनिक्स में आ पहुंची।

अपने मकान के पूर्व की ओर के खुले आंगन में एक किनारे पर छोटी-सी मेज लगाकर उसके सहारे बापूजी खड़े हो गए और मेज पर रखी हुई मिठाई क्रमशः एक-एक व्यक्ति को परोसने लगे। सत्याग्रही—अतिथि और विद्यार्थी इस अमूल्य प्रसाद को अपने पात्र में बापूजी से लेकर आंगन में जहां स्थान मिले, बैठ जाते थे और बड़ी प्रसन्नता से उसका स्वाद लेते थे।

अपने हिस्से का प्रसाद पाकर मैं बापूजी के पास ही कुछ दूर घास पर बैठ गया। खेलने जाने को मेरा जी नहीं करता था। बापूजी से कोई बात करता तो उसे सुनने की इच्छा रहती थी। कुछ देर बाद अतिथियों में से एक प्रौढ़ व्यक्ति ने चर्चा छेड़ दी, "आज मिठाइयां बांटी गईं, यह ठीक ही हुआ, परन्तु अब कुछ ऐसा टिकाऊ काम करना चाहिए कि हमारी जीत स्मरणीय बन जाय। विजय का दिन हमारा सुवर्ण दिन होगा। आप इस उपलक्ष में 'इंडियन ओपीनियन' का अंक स्वर्णाक्षरों में प्रकाशित करें तो कैसा हो?"

यह सुनकर बापूजी के मुख-मंडल पर छाई हुई गंभीरता कम हो गई। कुछ मुस्कराते हुए उन्होंने उस प्रौढ़ अतिथि को देखा और बोले, "कबूल है। हम स्वर्ण-अंक अवश्य प्रकाशित करेंगे। उसमें सत्याग्रह-संग्राम का पूरा सार और चिट्ठा दिया जायगा। परन्तु अभी स्वर्ण-अंक प्रकाशित करने योग्य समझौता नहीं हुआ है। तुम सब लोग जेल से छूटकर आ गए, यह आनंद की बात है और इसी निमित्त मिठाई बांटने की बात तुम्हारे संतोष के लिए मैंने स्वीकार की, किंतु अभी यहां कानून वे ही पुराने मौजूद हैं। जब वे कानून बदले जायंगे तब हमारी विजय मानी जायगी। उस जीत से पूर्व क्या खुशी मनाएं?"

'स्वर्ण-अंक' के नाम से मैं अचम्भे में पड़ गया। कैसा होगा वह स्वर्ण-अंक! क्या उसका प्रत्येक अक्षर स्वर्ण-रज से लिखा जायगा? उसके सभी

पन्ने सुनहले होंगे और उसकी जिल्द सोने की गिन्नी की तरह चमकती होगी ! स्वर्ण-रज से हमारे छापाखाने में साल-भर में दो-चार बार किसी चित्र या लिफाफे पर नाम छपता था। कभी, वह रज लगाने का काम मुझे भी मिलता था। इसलिए स्वर्ण-अंक का पूर्ण काम देखने को मेरा मन बहुत अधीर हो उठा। परन्तु जबतक हम लोग फीनिक्स रहे तबतक स्वर्ण-अंक निकलने की बारी आई ही नहीं। हमारे फीनिक्स से भारत आने के बाद फीनिक्स से मेरे पिताजी और अन्य संपादकों द्वारा 'इंडियन ओपीनियन' का वह स्वर्ण-अंक प्रकाशित किया गया। उसमें दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का लगभग सम्पूर्ण इतिहास लिखा गया। दस वर्ष बाद बापूजी ने जब यरवडा जेल में बैठकर दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह का इतिहास केवल अपनी स्मृति के आधार पर लिखा तब घटनाओं का क्रम किस सावधानी से उसमें दिया, इस बात का प्रमाण 'स्वर्ण-अंक' देखने से मिलता है।

: ७४ :

जनरल स्मट्स की चाणक्य-नीति

दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रहियों को जिनसे सतत मोरचा लेना पड़ रहा था वह जनरल स्मट्स चाणक्य-नीति में अपने समय के प्रथम व्यक्ति के रूप में विश्व-भर में सुप्रसिद्ध थे।

किन्तु बापूजी ने अपनी युद्ध-नीति में धर्म-पक्ष को ही अंगीकार करने का दृढ़ संकल्प कर रखा था। अपने व्यवहार में मिथ्याचार और धोखादेही की परछांई तक बापूजी सहन नहीं कर सकते थे। सत्याग्रह-शास्त्र में बापूजी ने इस सिद्धांत पर अत्यधिक जोर दिया था कि सौ बार दगा देनेवाले के प्रति भी सच्चा सत्याग्रही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कपट नहीं करेगा। इतना ही नहीं, मन से भी धोखेबाज का अहित नहीं चाहेगा, न उससे बदला लेने की भावना ही रखेगा।

भद्रता के इस अतिरेक के कारण बापूजी के संगी-साथी बार-बार तंग आ जाते थे और उनसे विनती करते थे, "कृपा करके आप अपना महात्मापन बेहद न बढ़ाएं। आप खुद धोखा न दें, दगा न दें, यहां तक तो ठीक है, परन्तु धूर्त शिरोमणि को भी अपना दांव खेलने का मौका न दें !"

जनरल स्मट्स वास्तव में धूर्त-विद्या में बहुत ही प्रवीण थे। अंग्रेज़ी साम्राज्य उनकी चाणक्य नीति का आसरा लेने के लिए अनेक बार लालायित रहता था। जब बापूजी का स्मट्स के साथ कच्चा समझौता हो गया और अफ्रीका-भर में सत्याग्रहियों की आम रिहाई हो गई, तब बापूजी ने सत्याग्रह-आन्दोलन स्थगित कर दिया और लोगों की जेल जाने की महत्त्वाकांक्षा पर रोक लगा दी। उस समय दक्षिण अफ्रीका के कई समझदार सेवकों ने बापूजी से कहा, "आप इस धूर्त-शिरोमणि की चिकनी-चुपड़ी बातों में न आवें। वह इस समय सत्याग्रहियों का जोश ठंडा कर देगा और बाद में जब हम लोगों में जेल जाने का उत्साह न रहेगा तब वह फौरन करवट बदल लेगा। आपके हाथ से बाजी निकल जायगी। उस समय यदि आप फिर से सत्याग्रह करेंगे और लोगों को जेल जाने का न्योता देंगे तो कोई आगे कदम नहीं बढ़ायगा।"

"दूध का जला छाछ भी फूंक कर पीता है" इस न्याय से दक्षिण अफ्रीका के भारतवासियों को जनरल स्मट्स से बहुत ही चौकन्ना रहने का विशेष कारण था। पहले भी स्मट्स की धूर्तता और धोखेबाजी कई बार प्रकाश में आ चुकी थी। पहली बार सन् १९०८ के सत्याग्रह में स्मट्स साहब ने सत्याग्रहियों को साफ-साफ धोखा दिया था। उस वर्ष १० जनवरी के दिन बापूजी को सर्वप्रथम जेल भेजा गया। उनकी सजा दो मास की थी, परन्तु बीस ही दिन में स्मट्स सरकार सत्याग्रह के इस अजीब तरीके से तंग आ गई और उन्हें छोड़ दिया गया। बापूजी के साथ सभी सत्याग्रहियों की आम रिहाई कर दी गई। समझौते के लिए स्मट्स ने नम्रतापूर्वक बातें कीं। जेल से छूटकर आने वाले सत्याग्रही स्मट्स के सामने अपनी ताकत ऊंची रखना चाहते थे, परन्तु बापूजी का दृष्टिकोण भिन्न था। जेल के साथियों का विरोध सहन करके तथा पठान मीर आलम के हाथों बुरी तरह जख्मी होने पर भी बापूजी ने स्मट्स के साथ अपना समझौता निभाया। ट्रान्सवाल के सभी भारतीयों ने समझौते के अनुसार दसों अंगुलियों के निशान देकर अपनी रजिस्ट्री करवाई। किन्तु इसके बाद स्मट्स ने वर्ण-भेद के कानून को रद्द कर देने का अपना वादा पूरा नहीं किया और बापूजी के लिए दुबारा सत्याग्रह-संग्राम करना अनिवार्य हो गया।

ऐसी ही धूर्तता उन्होंने सन् १९११ में भी बरती थी। उन्होंने सत्याग्रहियों को वर्ष-भर इस आशा में लटकाए रखा कि अब की बार पार्लमिंट में वर्ण-भेद के कानून को हटा दिया जायगा, पर जब पार्लमिंट का अधिवेशन हुआ तब उन्होंने सभागृह के सामने स्वयं ऐलान किया, "एशियावासियों को हम इस देश में अपने समान नहीं मान सकते, उनके लिए वर्ण-भेद के

आधार पर अलग कानून अनिवार्य ही है।" इसी प्रकार गोखले महाराज को दिये गए वादे से भी स्मट्स साहब यह कहकर बड़ी सफाई से मुकर गए कि "तीन पौंड का कर हटाने का वादा मैंने किया ही नहीं।"

जबकि भारतवासियों के चित्त में यह सारा इतिहास ताजा ही था तब यह विश्वास करना मुश्किल हो रहा था कि अब की बार स्मट्स साहब अपना वक्र-मार्ग छोड़ देंगे और दुबारा सत्याग्रह करने की परिस्थिति पैदा न होगी। परन्तु बापूजी जरा भी बेचैन नहीं थे। पूरे धैर्य और निर्भयता के साथ वह स्मट्स साहब को भरपूर मौका देते जा रहे थे। वह चाहते थे कि वातावरण को क्षुब्ध करने का दोष भारतीयों के सिर पर न मढ़ा जाय। इसलिए उन्होंने सत्याग्रह और कानून-भंग की हम लोगों की बातचीत पर भी रोकथाम लगा दी।

जीत हमारे पक्ष में थी। सत्याग्रह-युद्ध के दबाव से दक्षिण अफ्रीका की सरकार थकी-थकी-सी हो गई थी। फिर भी बापूजी चिंतित थे कि जीत के ताव में आकर कोई सत्याग्रही स्मट्स सरकार को चुभनेवाली बातें कहीं न कह बैठे।

फीनिक्स के हम उत्साही नवयुवकों को भी यह बात पसंद न आई कि ऐन मौके पर सत्याग्रह-आंदोलन को रोक दिया जाय। आपस में हम यह चर्चा करते रहते थे, "लड़ने का यह कितना अच्छा मौका है। लेकिन स्मट्स ने समझौते का तूल खड़ा करके अपनी बात बना ली। इस समय हजारों की संख्या में पैदल कूच किया जाता और ट्रान्सवाल-नेटाल की सीमा पार कर ली जाती तो गोरे लोगों का घमंड चूर-चूर हो जाता और उनके ये अन्यायी कानून धरे-के-धरे रह जाते। बापूजी तो हमारे गिरमिटिया भाइयों का जोश ठंडा कर रहे हैं। स्मट्स के वचनों का क्या भरोसा। वह किसी भी समय दगा दे सकता है।"

परन्तु साथ-ही-साथ हमारी यह अमिट श्रद्धा थी कि सत्याग्रहियों की शोभा किस बात में है, यह बापूजी भलीभांति जानते हैं। बापूजी की आगामी आज्ञा की हम लोग प्रतीक्षा कर रहे थे।

इधर सालोमन-कमीशन जगह-जगह जाकर अपना काम कर रहा था। वह जहां जाता, वहां भारतीय लोगों के चित्त खिंचे-खिंचे रहते। न तो कोई उमंग से अपनी बात सुनाने कमीशन के सामने जाता और न कोई काली झंडियों से उस कमीशन का विरोध करता। इक्का-दुक्का भारतीय अपनी ही गवाही देने यदि पहुंच भी जाता तो लोग उसके बारे में सोचने लगते थे कि इसने कौम के साथ दगा की है।

सालोमन-कमीशन को सभी धोखे की टट्टी समझते थे। उसकी हलचलें हमें खिलवाड़-सी लगती थीं। फीनिक्स में हमें इस बात का पता लगता रहता था कि कमीशन को शहादत मिलने में कैसी मुसीबत पड़ रही है। इसपर भी वह अपना स्वांग नहीं छोड़ता था। सालोमन साहब और उनके साथियों का यह तमाशा देखने के लिए हमारा जी ललचाता था, परन्तु फीनिक्स की पाठशाला के विद्यार्थी उस कमीशन की झांकी देखने कैसे जा सकते थे।

पर मुझे अकस्मात् यह मौका मिल गया। फीनिक्स पाठशाला के सबसे सौम्य और गम्भीर विद्यार्थी रामदासकाका ने उस कमीशन को देखने की उत्सुकता बड़ों के सामने प्रकट की। उनसे कहा गया कि कमीशन के सामने हम लोगों का, विशेषतः फीनिक्स के चुने हुए सत्याग्रहियों का जाना शोभा नहीं देता, भले ही हम गवाही न दें, फिर भी वे लोग समझेंगे कि इन्हें हमारी गरज है। लेकिन रामदासकाका माने नहीं। आखिर अकेले उनको जाने की स्वीकृति दे दी गई, पर उनसे यह कह दिया गया कि फीनिक्स के विद्यार्थी अथवा बापूजी के पुत्र के नाते वहां अपने को प्रकट न करें। दूसरे किसी बड़े विद्यार्थी को रामदासकाका के साथ जाने की स्वीकृति नहीं मिली, परन्तु मुझे मिल गई। हम लोगों ने श्री सुरेन्द्रनाथ मेढ को अपने साथ लिया, जो ट्रान्सवाल के एक मंजे हुए और ख्यातनामा सत्याग्रही थे। हमारी तीन जनों की टोली कमीशन देखने के लिए फीनिक्स से पैदल चल पड़ी। मुझे यह याद नहीं आता कि हमने कमीशन कहां पर देखा, डरबन में, अवोका में या माउंटेजकंब में। परन्तु कमीशन की वह झांकी मैं आजतक नहीं भूल पाया हूं।

एक बहुत बड़े शानदार कमरे में कमीशन विराजमान था। हम लोग कमीशन के कमरे के पास नहीं गए, रास्ते के उस पार मुख्य द्वार के सामने से कुछ दाईं ओर एक पेड़ के नीचे खड़े रहे। दूसरे भी दस-बीस भारतीय खड़े थे, जो गरीब गिरमिटिये मालूम पड़ते थे। ये लोग भी घूर-घूरकर कमीशन का तमाशा देख रहे थे। इन लोगों की ओट में छिपकर हम लोग पांच-सात मिनट तक तीनों साहबों का काम-काज देखते रहे। तीन मोटे-ताजे गोरे अकड़कर अपनी कुरसी पर बैठे हुए थे। क्या बोलते थे, इसका हमें पता नहीं चला, किन्तु उनकी मुख-मुद्रा बहुत रूखी थी और उनकी दृष्टि में हमदर्दी के बदले तिरस्कार का भाव अधिक था। घंटों बैठे रहने पर भी मुश्किल से उन्हें एकाध भूला-भटका आदमी पांच-दस मिनट में मिल पाता था और कुल पांच-दस मिनट में अपनी बात पूरी करके लौट आता था।

कमीशन का ऐसा करारा बहिष्कार देखकर हमें आनन्द हुआ और हम फीनिक्स लौट आए।

कमीशन का ऊंट किस करवट बैठेगा, यह समस्या हमारे सामने बनी हुई थी। स्मट्स के वचन पर बापूजी ने यह भरोसा कर रखा था कि कमीशन भारतीयों के अनुकूल सिफारिश करेगा। बापूजी हम लोगों को धैर्य रखने की बात कह तो रहे थे, लेकिन वह स्वयं निश्चिन्त नहीं थे। स्मट्स सरकार की छोटी-से-छोटी हरकत को वह बड़ी बारीकी से जांचते रहते थे। स्मट्स के जिन दोहरे अर्थवाले शब्दों से उन्हें यह आशंका होती कि आगे चलकर बात बदल जायगी, उन्हें वह स्मट्स को बताकर बदलवा देते थे। इस विषय में वह कितने जागरूक थे, इसका पता निम्नलिखित पत्र से लगता है, जो उन्होंने प्रिटोरिया से फीनिक्स भेजा था :

पौष वदी १०, संवत् १९७०,
बुधवार, प्रिटोरिया
ता० २१-१-१४

भाई श्री रावजीभाई,

मैं आज ही मि० एंड्रयूज के साथ जोहान्सबर्ग जाने की उम्मीद में था, परन्तु यह नहीं हो सका। जनरल स्मट्स ने मेरे पत्र का जो उत्तर दिया है वह संतोषप्रद नहीं है। उसमें सुधार करवा लेना है। इसके लिए कल यहां रुका रहूंगा। संतोषजनक उत्तर मिलने पर मैं कह सकूंगा कि समझौता हो गया, पर वह उस दिशा में एक महान कदम अवश्य होगा। इतना समय नहीं कि सबकुछ इस पत्र में समझाऊं। अभी तुरंत ही सर बेंजामिन से मिलने जाना है।

मगनभाई का रोग हटता नहीं, आश्चर्य है। उनके रोग की चेष्टा देखने के लिए भी मैं फीनिक्स में निश्चिन्त हो कुछ समय बिताना चाहता हूं। आप लोगों से जो हो सके वह करें। जनरल स्मट्स से संतोषप्रद उत्तर मिलेगा तो थोड़ा-बहुत अवकाश मिलने की सम्भावना है। लड़के लोग फिर से नियमित हो जायं, इस बात का भी ध्यान रखें।

—मोहनदास के आशीर्वाद

स्मट्स साहब की शब्दावली सदैव खतरनाक मानी जाती थी। २० दिसम्बर, १९१३ से लेकर ३० जून, १९१४ तक बापूजी उनके वक्तव्यों के लिखित स्पष्टीकरण मांगते रहे और जब ३० जून को समझौते पर दस्तखत हो चुके, उसके बाद भी करीब महीने-भर तक वह भारतवासियों के अधिकारों के बारे में लिखित खुलासा लेने में व्यस्त रहे। सार यह

कि सत्याग्रही योद्धाओं के जोश को ठंडा करके छः सात महीने तक बापूजी अपने बल पर ही स्मट्स सरकार के साथ जूझते रहे। केवल यह कहना ठीक नहीं होगा कि हजारों गिरमिटियों के हड़ताल करने के कारण अथवा सत्याग्रही भाई-बहनों के जेल में भर जाने के कारण ही तीन पौंड-कर-विरोधी सत्याग्रह में विजय प्राप्त हुई। अधिक तथ्य तो यह है कि अपनी शुद्ध और तेजस्वी बुद्धि तथा अपार उदारता के कारण ही बापूजी ने स्मट्स साहब के हृदय को द्रवित किया और उन्हें नेकनीयत बनाया। यही वजह है कि वह समझौता सफल रहा।

स्मट्स के विषय में बापूजी की निम्नलिखित पंक्तियां उद्धृत करने योग्य हैं:

"जनरल स्मट्स का अपना नाम 'जेन' है, परन्तु दक्षिण अफ्रीका में लोग उसे 'स्लिम जेनी' कहते हैं। 'स्लिम' का अर्थ होगा 'हाथ से सरक जाने वाला', 'मुट्ठी में किसी तरह न रहने वाला,' जिसे हम अपने यहां 'चलता-पुर्जा' या 'चालाक' कहते हैं। मुझसे कई अंग्रेज मित्रों ने भी कहा था कि जनरल स्मट्स से सचेत रहना, वह बहुत ही चतुर आदमी है। बात बदलने में देर नहीं लगती। अपना कहा आप ही समझ सकता है। कई बार इस तरह बोलता है कि दोनों पक्षवाले अपना मनपसन्द अर्थ निकाल सकें और जब मौका आये तब दोनों अर्थ अलग रखकर वह अपने मतलब का तीसरा ही अर्थ साबित कर देगा, जिससे लोगों के दिल में यह बात बैठ जाय कि हमने गलत अर्थ लगाया था और जनरल स्मट्स का अर्थ ही सही था। सन् १३-१४ में जनरल स्मट्स का मुझे जो अनुभव मिला वह मैंने ऐसा कड़ुवा नहीं माना था और आज नौ वर्ष बाद और भी तटस्थता से कह सकता हूं कि वह इतना कड़वा नहीं था। सम्भव है कि १६०८ का उसका विश्वासघातपूर्ण बर्ताव भी जानबूझकर किया हुआ विश्वास-भंग न हो। मैंने 'इंडियन ओपीनियन' में जनरल स्मट्स के विश्वासघात की सुर्खी देकर लेख लिखे थे, किन्तु उनका असर उसपर कुछ नहीं पड़ा था। तत्ववेत्ता अथवा निष्ठुर आदमी के लिए चाहे कैसे ही कटु विशेषण प्रयुक्त किये जायं उसपर कोई असर नहीं होता। वह अपना मनचाहा ही करता रहता है। मैं नहीं जानता कि जनरल स्मट्स के लिए कौन-सा विशेषण काम में लाया जाय। यह स्वीकार करना पड़ेगा ही कि उसकी मनोवृत्ति में एक प्रकार की दार्शनिकता अवश्य है।"

: ७५ :

मृत्यु से शोक क्यों ?

न जाड़ा था, न गरमी। बड़ा सुहावना दिन था। फीनिक्स भर के पेड़-पत्तों से अपनी दोस्ती बढ़ाने की अपनी आदत के कारण सुबह की पढ़ाई समाप्त होने पर थोड़ा अवकाश मिलते ही मैं जामुन, संतरे, नीवू के पेड़ों के रंग-बिरंगे पत्तों की शोभा निहारता हुआ बापूजी के घर की ओर जा रहा था कि अचानक मगनकाका को खेत की मेड़ के पास बैठे हुए देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। अपने दो-एक सहपाठियों को भी देखा। मामला क्या है ? वहां जाकर देखा। एक अजनबी आदमी को दो लड़कों ने पकड़ रखा था। तीसरे ने उसका पैर दबा रखा था। उसके पैर की पिंडली पर के घाव को दबाकर मगनकाका काला-काला रक्त उसमें से बाहर निकाल रहे थे। थोड़ा रक्त निकल जाने पर अपने पास के औजार से उस घाव को और भी गहरा बनाकर अधिक रक्त निकालते थे। यह क्रिया तबतक चली जबतक काला रक्त समाप्त होकर शुद्ध लाल रक्त बाहर नहीं आया। तब जाकर मगनकाका के माथे की सलवट दूर हुई और मधुर मुस्कान के साथ उन्होंने कहा—जहर खत्म हुआ। अब परमैंगनेट भरकर पट्टी बांध दें। यह कहकर उन्होंने घुटने के पास बंधा हुआ कपड़ा खोल दिया और घाव में परमैंगनेट भरना शुरू किया। लड़कों में से एक ने पूछा, "हरा सांप तो पूरा ज़हरी होता है न ? उसका सारा ज़हर साफ हो सकता है क्या ?"

मगनकाका ने कहा, "हरे सांप का जहर पूरा खतरनाक होता है परन्तु अब इसके पैर में जहर नहीं रह गया है। अच्छा हुआ जो दांत बहुत गहरा नहीं बैठा है। भगवान चाहेगा तो अब इसे कुछ न होगा।" पट्टी बंध जाने पर मगनकाका ने उस आदमी को खड़ा कर दिया। उसने अपनी पगड़ी ठीक तरह बांध ली और मगनकाका पर अपनी कृतज्ञता बरसाता हुआ धीरे-धीरे लौट गया।

मेरे पूछने पर मालूम हुआ कि यह गिरमिटमुक्त किसान सामने वाली टेकरी पर रहता है। हरे पतले सांप ने उसे काट खाया। सांप तो भाग गया, परन्तु इसने बड़ी बुद्धिमानी की और घुटने के पास अपने पैर को कसकर बांध दिया। वह उसी समय यहां न आता तो उसका बचना मुश्किल था।

उक्त प्रसंग के बाद फीनिक्स में हम लोगों को सांप का डर अधिक

लगने लगा। उसके उपाय के लिए बापूजी की सूचना के अनुसार छोटे-बड़े प्रत्येक विद्यार्थी और शिक्षक अपनी जेब में सदैव 'लेनसेट' (छोटा औजार जिससे मगनकाका ने काटकर जहर निकाला था) रखे, यह नियम बन गया।

इसके कुछ दिन बाद ही एक भीषण घटना हो गई। गुरुवार का दिन था। कुछ लोग भोजन करके उठ चुके थे, कुछ अब भी कर रहे थे। इसी बीच हमने देखा कि सामने की टेकरी पर एक झोपड़ी धू-धू करके जल रही है और उसके पास खड़ी हुई एक स्त्री चीख रही है। पलक मारते ही आठ-दस लड़के, रावजीभाई, और मगनकाका उस ओर दौड़ पड़े।

उस स्त्री की आवाज पहचानने में हमें देर न लगी। वह नेपाल की बहू थी। नेपाल बेचारा हरदम बीमार रहता था। रोज सुबह-शाम कुछ-न-कुछ झगड़ा उठाकर वह औरत घंटों तक अपने पति को कोसती रहती थी। उसकी आवाज इतनी तीव्र थी कि पश्चिम और पूर्व की टेकरियां उसकी ध्वनि से गूंज उठती थीं। आज उसके गले से जो चिल्लाहट निकल रही थी, वह और दिन से चौगुनी थी और उसमें कोसने के साथ-साथ 'हाय, तोबा' भी भरी हुई थी। उसके शब्द तो मुझे ठीक याद नहीं हैं, परन्तु बात का सार यह था: "इस पाजी को कैसी कुमत सूझी? अपने हाथ से आग दे दी। मैं तो लुट गई।" आश्चर्य की बात यह कि वह आग बुझाने के लिए कुछ भी कोशिश नहीं कर रही थी। जलती हुई झोपड़ी से दूर खड़ी-खड़ी जीभ का ही जोर दिखा रही थी। उसकी चीख में सहायता के लिए पुकार नहीं थी। केवल नेपाल को कोसने में ही अपनी सारी ताकत खर्च कर रही थी।

जबतक आश्रम के लोग दौड़कर पहुंचे तबतक उस झोपड़ी की घास और कड़ियां जलकर जमीन पर ढेर हो गई थीं, क्योंकि वह हमारे यहां से आध मील से भी ज्यादा दूर थी। वहां पर पहुंचते ही हमारे भाइयों ने सबसे पहला प्रयत्न उस आग से नेपाल को बचा लेने का किया; किन्तु वह बिल्कुल घिर गया था। उसको जीवित नहीं निकाला जा सका। इतना ही नहीं, उसका शव भी जलती हुई कड़ियों के बीच से निकालना कठिन हो गया। दूसरे दिन उस स्थान की सफाई के लिए हमारे यहां से जो टोली भेजी गई, उसमें मुझे भी जाने का मौका मिला। तब मैंने देखा कि वहां कोयले और राख के ढेर के अलावा दो-चार बर्तन और थोड़े से कपड़े-लत्ते पड़े थे। बहुत बोलने वाली नेपाल की वह अब बिलकुल गुम-सुम बैठी थी, न जाने मन-ही-मन क्या सोच रही थी।

किस प्रकार आग लगी ? इस प्रश्न का वह एक ही उत्तर देती थी कि उस नालायक ने चारपाई में पड़े-पड़े अपने-आप आग लगा ली। किन्तु हम में से बहुतों का अनुमान था कि उस स्त्री ने खुद वह झोपड़ा जलाया था और अपने पति को जान-बूझकर जला देने का वह उसका षड्यंत्र था।

कई दिनों बाद मुझे पता चला कि जिसे हम नेपाल की बहू कहते थे, वह उसकी विधिवत पत्नी नहीं थी। दक्षिण अफ्रीका के गन्नों के खेतों पर काम करने के लिए १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जिन मजदूरों को फुसलाकर भारत से ले जाया गया था, उनपर जो विपत्तियां पड़ी थीं, उनमें भारी-से-भारी विपत्ति स्त्रियों पर आई थी। गिरमिट प्रथा के इतिहास में स्त्रियों पर होने वाले अत्याचार का प्रकरण काले-से-काला है। आंकड़ों से बताया जाता है कि औसतन १०० मजदूरों के पीछे मुश्किल से १५-२० औरतें भेजी जाती थीं। भारत के गरीब गांवों से और घरों से पुरुष मजदूर जिस तरह लुक-छिपकर तथा भागकर दक्षिण अफ्रीकी गोरों के दलालों के हाथ में फंस जाते थे, उसी तरह जवान स्त्रियां भी फंस जाती थीं। जब ये लोग दक्षिण अफ्रीका के गन्नों के खेतों पर पहुंचते थे तब बैरकों के अन्दर मालिक की मर्जी के मुताबिक पुरुषों और स्त्रियों को रख दिया जाता था और इस प्रकार पांच-दस पुरुषों में एक-दो स्त्रियां हुआ करती थीं। इन लोगों में आपस में गांव, जिले, बिरादरी आदि का कोई संबंध नहीं होता था। ऐसी हालत में नई जवानी में भले ही नेपाल और उसकी बहू का मन आपस में मिल गया हो, परन्तु वे लोग सच्चे दम्पति नहीं बन पाए थे।

इस सारी घटना का विवरण बापूजी के पास लिखकर भेजा गया। तब केपटाउन से तत्त्वचिन्तन से भरा हुआ उनका एक पत्र आया, जो इस प्रकार है :

केपटाउन
फाल्गुन सुदी ४, सं० १९७०
(२८-२-१४)

भाईश्री,

तुम्हारा खत मिला। नेपाल छूट ही गया। उसकी बहू कठोर हृदय की पाई गई है। मरण से हमें अपने कर्त्तव्य का विचार करना है और शरीर पर प्रायः तिरस्कार उत्पन्न करना है। किंतु मरण से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। आदमी जलकर मरता है तब भी वह अतिशय दुख नहीं भोगता, ऐसा प्रतीत होता है। बहुत दुख पड़ने पर वह मूर्छित हो जाता है। देह से अधिक चिपकने वाले लोग अधिक पीड़ा पाते

हैं। आत्मतत्त्व जानने वाला मनुष्य मौत से घबरायगा नहीं। नेपाल की तरह हजारों आदमी, हजारों जन्तु इस समय प्रत्येक पल में जलकर मर रहे हैं। ब्रह्माण्ड में नेपाल एक चींटी से भी सूक्ष्म जन्तु है। हम लोग जान में या अनजान में आग जलाते समय, रात की बत्ती का उपयोग करते समय, तुलना में नेपाल से कितने ही बड़े जन्तुओं को जला देते होंगे।

ब्रह्मा-के समान किसी महाजीव की कल्पना करो। उसके हिसाब से हम लोग चींटी से भी सूक्ष्म जान पड़ते होंगे। उसकी आंखों की परिधि ही इतनी बड़ी होगी कि उसके सामने हम पिस्सू के बराबर दिखाई देंगे। ऐसे महाजीव ने नेपाल को जलाया होगा तो क्या आश्चर्य है और उसका खयाल यह होगा कि उसके अपने महाजीव के सुख के निमित्त नेपाल-जैसे जंतु को जिंदा जला देना आवश्यक है। हमारे मन में नेपाल हमारे बराबर का जन्तु है। इसलिए हमारी भी ऐसी दुर्दशा हो तो हमारा क्या होगा, इस भय से हमारे दिल में दया फूट पड़ती है। किन्तु चींटी, खटमल, पिस्सू आदि असंख्य जन्तु तथा जिन्हें हम अपनी आंखों से देख नहीं पाते, ऐसे जीवों का घात करने में जो दलील अपनी बुद्धि के बल पर हम पेश करते हैं, वही दलील अधिक बुद्धिवाला ब्रह्मा हमारे बारे में लागू करता होगा। यह बात अगर हम समझें तो नेपाल-जैसे के किस्से से हमें नीचे की नसीहत मिलेगी।

१. अपने खुद के ऊपर करुणा लाकर सब जीवों को समान समझें और उनके ऊपर करुणा करें। अपने निज के किसी भी सुख के लिए प्राण-हानि करने से रुकें, चौकन्ने रहें।

२. देह के प्रति मूर्छा (मोह का अतिरेक) न पालते हुए मृत्यु का जरा-सा भी भय न मानें।

३. देह दगाबाज है, ऐसा समझकर इसी क्षणसे मोक्ष की सामग्री बटोरें।

इन तीन सूत्रों का उच्चार कर देना आसान है, परन्तु उसका विचार करना कठिन है और विचारने के बाद उसके अनुसार आचरण करना तो तलवार की धार के ऊपर चलने के बराबर है।

यह प्रातःकाल का समय है। विचार का प्रवाह इस दिशा में बह रहा है, क्योंकि बा फिर से पीड़ित हो रही है और उसको मरण के भय से मुक्त करने का प्रयत्न कर रहा हूं।

—मोहनदास के आशीर्वाद

इस पत्र से पता चलता है कि केपटाउन में बैठे-बैठे भी फीनिक्स-वासियों को उच्च भूमिका पर ले जाने के लिए बापूजी कितना भारी प्रयत्न कर रहे थे।

नेपाल की मृत्यु को सप्ताह-भर भी नहीं बीता होगा कि पोरबन्दर से एक अनपेक्षित तार आया। उसमें बापूजी के बड़े भाई कालिदास गांधी उर्फ लक्ष्मीदास गांधीजी के स्वर्गवास की खबर थी। पांच-छः महीने पहले करसनदास गांधी—बिचले भाई—की खबर जब आई तब बापूजी फीनिक्स में उपस्थित थे। इस खबर के समय वह केपटाउन थे। देवदासकाका के मन को इस समाचार से बड़ा दुख हुआ। इधर जल्दी ही भारत पहुंचने की आशा लगी हुई थी। उधर दो काकाओं में से एक भी न रहे। परिवार की इस क्षति के कारण उस दिन देवदासकाका अत्यन्त उदास रहे और काफी देर तक उनकी अश्रुधारा बहती रही।

पोरबन्दर से आये हुए तार की बात जब केपटाउन बापूजी के पास पहुंचाई गई तब बापूजी ने देवदासकाका को एक पत्र भेजा, जिसका सार नीचे दे रहा हूं:

"काका की मृत्यु के समाचार से खेद होगा ही। स्वदेश लौटकर उनसे मिलने का दिन करीब आया तब वह चल बसे। इस बात से विशेष दुख होता है, परन्तु हमें ऐसे दुखों को मन में लाना ही नहीं चाहिए। ईश्वर की इच्छा ऐसी ही होगी। काका गये, उसी प्रकार बा भी इस बीमारी से यदि नहीं उठती, मुझे बा के बिना ही फीनिक्स लौटना पड़े, तब भी तुम दुख न मानो और जरा भी आंसू न गिराओ, यह मैं चाहता हूं। इतनी भारी बीमारी में भी डाक्टर की चिकित्सा या और कोई औषध न लेने पर हम तुले हुए हैं। बीमारी दूर हो या न हो, बा को दवाई आदि न देने की बात पर तुमने भी सोच-समझकर हां कही है। इसलिए तुमको बहादुर और दृढ़ बनना है। किसी की भी मृत्यु के कारण हमें रोना ही नहीं चाहिए।"

श्री कैलनबैक के नाम एक पत्र में बापूजी लिखते हैं—

७ ब्यइटेन सिंगल (केपटाउन)
१०-३-१९१४

प्रिय कैलनबैक,

मुझ पर भारी-से-भारी आपत्ति आ पड़ी है। मेरा खयाल है कि अन्तिम क्षण तक मेरे बारे में ही सोच-विचार करते हुए कल मेरे भाई मर गए। मुझसे मिलने की उन्हें कितनी उत्कट इच्छा थी! और मैं भी जितनी जल्दी हो सके भारत लौटूं, उनके चरणों पर सिर रखूं और उनकी तीमारदारी करूं, इस विचार से अपना काम शीघ्रता से समेट रहा था। परन्तु नियति कुछ और ही थी। अब तो मेरे लिए विधवाओं के कुटुम्ब में लौटना बदा है और वह कुटुम्ब भी मेरा ही आसरा ताकने वाला!

भारत की कौटुम्बिक व्यवस्था को तुम समझते नहीं हो, इसलिए इस प्रसंग को नहीं समझ पाओगे। चाहे जिस तरह हो, भारत जाने की मेरी इच्छा दिनोंदिन प्रबल होती जाती है और अब भी निश्चित रूप से कौन बता सकता है! मेरी यह इच्छा फलीभूत होगी या नहीं इसके बारे में मुझे अब भी संदेह है। फिर भी मुझे उस यात्रा के लिए तैयारी करनी चाहिए और परिणाम के लिए शांत चित्त से सर्वशक्तिमान प्रभु पर विश्वास रखना चाहिए।

ऐसे-ऐसे आघातों से मनुष्य में मृत्यु के विषय में अधिक निर्भयता बढ़ती जाती है। इस घटना से मेरे हृदय में खलबली क्यों मचनी चाहिए? घबराहट क्यों होनी चाहिए? इस प्रकार के शोक के मूल में स्वार्थ की परछांई होती है। अगर मैं मृत्यु के लिए कटिबद्ध होता हूं और मृत्यु को स्वागत के योग्य प्रसंग मानता हूं तो मेरा भाई मर गया यह कोई आपत्ति की बात नहीं है। हमको मृत्यु का डर लगता है इसलिए दूसरों की मृत्यु पर हम रुदन करते हैं। शरीर नाशवान है और आत्मा अमर है, यह जानते हुए भी शरीर और आत्मा के अलग हो जाने पर मैं किस तरह शोक कर सकता हूं? परन्तु ऐसे सुन्दर और आश्वासनपूर्ण सिद्धान्त में सच्चा विश्वास हो तब ही वह स्थिति प्राप्त होती है। जिसे इस बात में श्रद्धा होती है, उसे शरीर की पुचकार और परवरिश करना उचित नहीं, बल्कि उसे नियंता बनना उचित है। अपने शरीर की आवश्यकताओं को उसे इस प्रकार रखना चाहिए कि देही पर स्वामित्व भोगना छोड़कर उसकी अधीनता में रहें। दूसरों की मृत्यु पर शोक करने का अर्थ प्रायः शाश्वत शोक की स्थिति को अपना लेना है, क्योंकि शरीर और आत्मा का यह सम्बन्ध स्वयं ही शोकप्रद है।

इस समय मेरे चित्त पर इसी विचार की प्रधानता है। फिलहाल ऐसा दूसरा पत्र मुझसे नहीं लिखा जा सकेगा। यह तो अपने-आप लिखा गया है। इसलिए श्री पोलक को यह पत्र पहुंचाना और मणिलाल को भी यह पत्र पढ़ने के लिए देना और बाद में श्री वेस्ट आदि के पढ़ने के लिए छगनलाल के पास भेज देना। —बापू

जमनादासकाका जब केपटाउन से फीनिक्स आए तब उन्होंने हमें बताया कि कालिदास बापूजी के चल बसने का समाचार मिलने पर उस समय या उसके बाद भी बापूजी ने अपनी आंखों से आंसू की एक भी बूंद नहीं गिराई थी। अपने मन को बहुत ही दृढ़ बनाकर उन्होंने बड़े भाई की मृत्यु का यह भारी-से-भारी आघात सहन कर लिया था। यह विवरण सुनकर मैं सोचता रह गया कि बापूजी कितने बलवान हैं। अभी चन्द

माह पहले अपने विचले भाई की मृत्यु पर जब वह अपने आंसुओं को गिरने से नहीं रोक सके थे तब आज इस अधिक गहरी चोट पर उन्होंने एक भी आंसू नहीं गिरने दिया! मृत्यु से डरने की व शोक करने की कमजोरी को छोड़ देने का जो उपदेश उन्होंने उस रोज दिया उसे इतने थोड़े समय में उन्होंने प्रत्यक्ष करके दिखा दिया।

: ७६ :

बापू का कठोर अनुशासन

केपटाउन में बापूजी के साथ दो विद्यार्थी उनकी सहायता तथा बा की सेवा-शुश्रूषा के लिए रहते थे। एक थे उनके द्वितीय पुत्र श्री मणिलाल गांधी और दूसरे उनके छोटे भतीजे श्री जमनादास गांधी। दोनों की आयु अठारह से बीस वर्ष के बीच थी।

दोनों सुशील, संस्कारी, मेधावी और श्रेष्ठ कर्तृत्वशक्ति वाले थे। सत्याग्रह-संग्राम में बड़ी वीरता से दोनों ने जेल काटी थी। कई दिनों तक कारावास में पूरा अनशन करके सत्याग्रहियों का और भारतमाता का अपमान दूर करने पर दोनों ने बड़ी प्रशंसा पाई थी। केपटाउन में भी प्रातः-काल से संध्याकाल तक बापूजी का काम करने में दोनों व्यस्त रहते थे।

ऐसे उत्तम विद्यार्थी और अपने ही बालकों पर बापूजी ने अनुशासन का सूक्ष्म हंटर चलाया और उन्हें तुरन्त ही केपटाउन से लौटा दिया। इस संबंध में बापूजी के लिखे हुए पत्र पढ़ने पर पूरा प्रकाश मिलता है :

केपटाउन
ता० २१-२-१४

भाई श्री रावजीभाई,

तुम्हारा पत्र मिला। चि० मणिलाल को वहां (फीनिक्स) नहीं भेजना है। उसको यहां के वैभव से हटाया है। ऐसे ही सबब से चि० जमनादास को वहां (फीनिक्स) भेजा है। जिसे ब्रह्मचर्य का पालन करना है उसे वैभव वाली परिस्थिति में नहीं बसना चाहिए, ऐसा मैं मानता हूं। बा का स्वास्थ्य ठीक मालूम दे रहा है। वहां पर (फीनिक्स में) लड़के उद्यमशील बन जायं और सुबह उनमें जरा भी पिछड़ें नहीं इस बात की सावधानी रखना।

मगनभाई पटेल का स्वास्थ्य कैसा रहता है? मुझे ब्यौरे से लिखना। इमामसाहब की बहू परेशानी महसूस न करे, ऐसा इन्तजाम करना। उसके लिए कुछ विशेष भोजन की आवश्यकता हो तो विशेष रूप से वह बना देना, या उनको खुद को बना लेने देना, यह उचित समझता हूं।

श्री एंड्रूज ने बड़ा भव्य काम किया है इसमें कोई शक नहीं है।

—मोहनदास के आशीर्वाद

केपटाउन, फाल्गुन सुदी २-१९७०
ता० २६-२-१४

चि० जमनादास

तुमने और मणिलाल ने इस बार मुझे समझने में गलती की है, ऐसा मैं पाता हूं। तुमको रखने से तुम्हारा श्रेय नजर आता तो अपने स्वार्थ के कारण ही मैं तुमको यहां से अलग न करता। यहां के वातावरण के सामने मैं भिड़ ही नहीं सकता। वातावरण का सूक्ष्म असर कैसा होता है, उसका तुमने विचार नहीं किया।

..डाक्टर गुल का जौहर तुम सबने देखा, उससे पहले मैंने देख लिया है। किन्तु जिस प्रकार तुम्हारा जौहर देखने पर भी मैं तुमको निर्बल और बालक समझता हूं तथा तुम्हारे अधीन किसी और को रखने में मुझे संकोच हो, उसी प्रकार डा० गुल के असर के नीचे तुम-जैसे निर्मल जवान को रखने से संकोच करता हूं। डाक्टर गुल बालक हैं, यह बात खुद भी जानते हैं। अपने दोषों को भी जानते हैं और इसी वजह से अपने सगे भाई को उन्होंने अपने से अलग कर रखा है।...साहसिक (अविचारी) और रागी (अति आसक्त) हैं। तुम लोगों में मैं उनका साहस और राग देखना नहीं चाहता। तुममें हसमति नहीं आई है। अगर आई होती तो मेरे लिए कठोर टीका करने का कारण ही न रहता। मेरा अतिप्रेम तुम लोगों को इस बार दाहक प्रतीत हुआ है। ऐसा हो जाता है, परन्तु तुम पुनः शांत हो जाना। मैंने अविचारी कदम नहीं उठाया है। तुम मुझ पर वकीलपने का जो आरोप रख रहे हो वह उचित नहीं है। पहले भी तुमने ऐसा ही कहा था। मुझमें पृथक्करण करने की और भला-बुरा परखने की शक्ति विशेष है, ऐसा मुझे अनुभव होता जा रहा है। इस कारण मेरी सूक्ष्म दलीलें सुनने वाले व्यक्ति को वकालत-सी महसूस होती है।

चाहे कुछ हो, लेकिन तुम अपने बचाव में या मेरी गलती सुधारने के लिए जो कुछ कहना चाहो बेखटके कहना। तुम्हारा यह कर्त्तव्य है।

मुझे हमेशा पत्र लिखते रहो। बा का स्वास्थ्य काफी ठीक है। पर खतरा टला नहीं है।

—बापू के आशीर्वाद
केपटाउन, ता० २७-२-१४

चि० जमनादास,

तुम्हारा न तार है न चिट्ठी, एक के सिवा। मानो तुम रोष से भरे हो। किंबरली वाला तुम्हारा पत्र उचित नहीं है। किन्तु जहां तुम्हारा वर्ताव ही मैंने उलटा देखा वहां चिट्ठी के लिए क्या शिकायत करूं। तुम दोनों के ही पत्र सूचित करते हैं कि तुम लोगों को केपटाउन अनुकूल नहीं आया।

फीनिक्स में क्यों मैं किसी के वर्ताव से तंग नहीं आया? एक अपवाद है सही। वह है मिस स्लेशिन। परन्तु वह तो अन्त में अपना दोष देख सकी। शुरू में तो उसने मुझे तंग ही कर डाला। तुम दोनों तो मेरा दोष देखने लग गए। खूब विचार करके तुम शांत बनो, ऐसा मैं चाहता हूं। आज मैं मणिलाल को पत्र नहीं लिख रहा हूं, इसलिए यही उसके पास भेज देना।

—बापू के आशीर्वाद

एक अन्य पत्र में मणिलालकाका को लिखा है:

...तुमने मुझ पर निर्दयता का आरोप रखकर अनजान में पाप किया है। पन्द्रह दिन के भीतर मैं निर्दयी बन गया? ऐसा असर औरों पर तो नहीं पड़ा। फीनिक्स में वह नहीं हुआ। बा के प्रति मैं अति कोमल बना हूं, ऐसा बा देखती है। अगर तुम्हारे प्रति मैं निर्दय बनता हूं तो मेरी साधुता, जो कुछ हो, वह दंभ ही कही जायगी और अपना जीवन मैं व्यर्थ समझूंगा।

परन्तु इसमें कोई शक नहीं है, फिलहाल मैं तुमको निर्दय जान पड़ूंगा।...जिस मोह के कारण मैं तुम्हारे भीतर मोह नहीं देखता था वह मोह नष्ट हो गया है और केवल निर्मल प्रीति रह गई है। वह प्रीति इस समय तुमको निर्दयता रूप जान पड़ती है; क्योंकि मुझे वैद्य के जैसे कड़ए प्याले पिलाने हैं।...तुम्हारे बारे में....संपूर्णता प्राप्त करने के लिए मैं अधीर हो बैठा हूं। अधीरता यह मेरा दोष है। इस अंश में मैं राग वाला (आसक्ति वाला) प्रेमी हूं। तुम मेरे बेटे हो, यह मोह अब भी रहा है। उसके नष्ट होन पर जो निर्दयता तुम मुझमें देख रहे हो वह भी कदाचित नहीं देखोगे। तबतक मुझ निभा लेना।

अब तुम्हारे पत्र वाले विरोधों की बात। तीन दिन में तुमने केपटाउन

नहीं देखा, क्योंकि मेरे वचन कटु थे, फिर भी चलते समय मेरा उग्र ताप होने पर भी, केपटाउन देखने की इच्छा तुमने बताई। कटुवचन तो रविवार को भी थे । तुमने जब मुझको निर्दय मान लिया तब मेरे साथ रहकर तुम किस तरह कुछ सीख सकते थे ? तुमने टेबल माउंटन घूम आने की बड़ी भारी इच्छा बताई। तब मैंने तुमसे कहा कि तुम और भी विशेष (कई विशेष स्थान) देखोगे, तो उसमें तुमने मेरा क्या अपराध पाया ?

किन्तु हुआ सो हुआ। मेरा दोष न देखना, यह तुम्हारा कर्त्तव्य है। बेटे में इतनी भक्ति होनी चाहिए कि वह बाप का दोष न देखे, पर उसके गुणों का ही विचार करे। मैं तुमको फकीर नहीं बनाना चाहता। मैं तुम्हारा शुद्ध आचरण देखना चाहता हूं। तुममें सत्य, शील, सरलता, कोमलता, प्रभुता, नम्रता, साधुता देखना चाहता हूं। संसार के साधारण रागों से तुममें विरक्तता देखना चाहता हूं। परन्तु वह सब इस समय है, ऐसा नहीं लगता। मैं करता हूं वैसा तुम कर डालो, यह मैं नहीं कहता। परन्तु तुम मेरे गहरे उद्‌गारों को समझकर अपने जीवन को सफल करो, ऐसा मैं चाहता हूं ।

यह पत्र चि० जमनादास को भेजना।

(केपटाउन) —बापू के आशीर्वाद

इस प्रसंग के बारे में जमनादासकाका ने जो वर्णन मुझे सुनाया था वह उनके शब्दों में यहां दे देना उचित होगा :

"जेल से छूटकर जब मैं बापूजी के पास पहुंचा तब वह अपने लुंगी-कुर्ते वाले नए वेश में थे। उस पोशाक में जब केपटाउन के राजमार्ग पर बापूजी पैदल चलते हुए निकलते थे तब गोरे लड़के उनके पीछे पड़ जाते थे, खिल्ली उड़ाते थे, तरह-तरह की आवाजें कसते थे और आपस में मजाक करते थे। लेकिन बापूजी तो मानो कुछ हुआ ही न हो इस प्रकार शान्ति-पूर्वक आगे बढ़ते चले जाते थे।

"बा का स्वास्थ्य कमजोर था ही। स्वयं बापूजी उनकी सेवा का काम करते थे। बा को प्रत्येक काम बहुत ही स्वच्छ और सांगोपांग संपूर्ण चाहिए इसलिए बापूजी किसी को भी बा के काम में हाथ नहीं लगाने देते थे। मुझे वह काम करने की उन्होंने स्वीकृति दी और सुबह से शाम तक बा की सेवा में ही रहने का अवसर मुझे मिला। परन्तु थोड़े ही दिनों में हमको बापूजी ने केपटाउन छोड़ जाने की आज्ञा दी।

"वह दिन बुधवार का था। अकस्मात् बापूजी ने सूचना दी कि हम दोनों को शनिवार की दोपहर की ट्रेन से केपटाउन से जाना है। हम दोनों

का मतलब मणिलालभाई और मैं। मणिलाल को बापूजी ने अपने साथ एंड्रयूज साहब की सेवा के लिए ही लिया था। जिस शनिवार को केप-टाउन छोड़ देने के लिए बापूजी ने हमको सूचित किया था उसी शनिवार को सवेरे ग्यारह बजे की स्टीमर से श्री एंड्रयूज इंग्लैंड के लिए रवाना होने वाले थे और उसके घंटे-भर बाद हम लोगों को केपटाउन से चलना था।

"बापूजी की बात सुनकर मणिलालभाई ने कहा कि हम सोमवार को यहां से जायं तो? रविवार के दिन डाक्टर गुल के साथ हमने यहां के प्रसिद्ध शिखर टेबल माउंटन को देखने जाने की व्यवस्था की है। वह देखकर सोमवार के दिन हम जायंगे। लेकिन बापूजी ने वह बात नहीं मानी। शनिवार के दिन ही हम चले जायं। ऐसा आग्रह उन्होंने किया और कहा "टेबल माउंटन में देखने की बात है ही क्या? देखना हो तो हिन्दुस्तान जाकर हिमालय देखना। हिमालय में तो कई हजार टेबल माउंटन समा जायंगे।"

"डा० गुल और उनकी माताजी ने जोरों से हमारी सिफारिश की और बापूजी को समझाने की कोशिश की; परन्तु बापूजी ने एक न मानी। हमें शनिवार को ही वहां से चलना पड़ा और टेबल माउंटन देखना रह गया।

"इस प्रकार बापूजी ने जो सख्त आग्रह किया उसकी जड़ में बापूजी का संदेह था कि हम लोग मौज-शौक में फंस गए हैं। डाक्टर गुल का कमरा आलीशान था। सारा ठाठ अंग्रेज साहब का-सा था। हम लोग भी उन्हीं के साथ उनके ही 'डाइनिंग टेबल' पर भोजन के लिए बैठते थे। वे लोग अंडे-गोश्त आदि लेते थे। लेकिन हम लोग मेज के दूसरे सिरे पर अपना निरामिष भोजन ही लेते थे। हमारा सबसे अलग-अलग रहना अच्छा नहीं मालूम देगा, ऐसा हमारा खयाल था। परन्तु बापूजी को ऐसा प्रतीत होता था कि डाक्टर गुल के साथ हम भी शौकीनी की ओर लुढ़क रहे हैं। हम दोनों में से किसी को भी बापूजी ने अपने पास नहीं टिकने दिया, इसका कारण यह था कि एक को रहने देते तो वह पक्षपात माना जाता।"

बापूजी के कठोर अनुशासन का यह प्रसंग अविस्मरणीय है। इस से पता चलता है कि यद्यपि बापूजी ने अपना निवास किसी अरण्य के एकांत कोने में रखने का आग्रह नहीं रखा था, फिर भी उनके चित्त में नागरिकों के राग-रंग से दूर तपोवन का आश्रम ही रम रहा था और अपने विद्यार्थियों को वैसे ही वातावरण में सुशिक्षित करने का उनका मनोरथ था।

साथ-ही-साथ जबतक अपने विद्यार्थी की बुद्धि को बापूजी जगा नहीं देते थे तब तक उसकी बात को बार-बार सुनते थे और अपनी आज्ञा की यथार्थता समझाने का बार-बार प्रयत्न करते थे। चाहे अपना पुत्र भी क्यों न हो।

केवल आज्ञा पालन करने के लिए पुत्र या शिष्य को आज्ञा पालन करना चाहिए, ऐसा आग्रह बापूजी ने बिल्कुल नहीं रखा था। यह बात नीचे के पत्र में और भी स्पष्ट हो जाती है:

केपटाउन
शनिवार, ई. स. १९१४

चि० मणिलाल और जमनादास,

तुम सब मेरे साथ दौड़ो, यह इच्छित है; पर मैं ऐसी आशा रखता नहीं हूं। जो मैं करता हूं वह सब तुम लोग भी करो, ऐसी मांग मैंने कभी की नहीं है; लेकिन जो करने को अपने ऊपर लो वह तो करना ही पड़ता है।...बलात्कार की तो बात ही नहीं है, लेकिन जब तुम अपने-आप समझ-बूझकर ही अमुक व्यसन छोड़ने के बाद मुझे धोखा देने लगो तो वह दोष तुम्हारा ही कहा जायगा।....बड़े भी और लड़के भी सीमित हद तक पहुंच पाए हैं, ऐसा हम मानें। अमुक वस्तुओं का त्याग फीनिक्स में वे लोग करते हैं और उन वस्तुओं को वहां पर वे त्याज्य समझते हैं, फिर वहां से बाहर जाने पर उन्हीं वस्तुओं को क्यों अपनाया जाय? अलोना आहार करने के लिए कोई भी बाध्य नहीं है। तेज मसाले, छोटे-मोटे व्यसन, महास्वादिष्ट भोजन, चाय, काफी आदि वस्तुएं सबके लिए त्याज्य हैं। विषय, चोरी, देर से उठना, सबके लिए त्याज्य है। यह मर्यादा जिसे असह्य जान पड़े, उससे किस बूते पर संस्था में रहा जा सकता है? प्रत्येक संस्था के निश्चित नियम होते हैं। उन नियमों का संस्था के अन्दर और बाहर सब जगह पालन करना ही चाहिए। जो न पाले, उसका संस्था में रहना मिथ्या है।

तुम्हारे कहने का मतलब यह निकलता है कि मेरे लिहाज के कारण लड़के और दूसरे भी कई बातें करते हैं, अपनी स्वतंत्र वृत्ति से नहीं करते। और फिर वे धोखा देते हैं। यह मेरा दोष हो सकता है, परन्तु उससे एक ही प्रकार से मुक्त हो सकता हूं, अर्थात् किसीके साथ में न रहूं। यह इस समय मेरा कर्त्तव्य प्रतीत नहीं होता। मेरे लिहाज में आकर अगर कोई मेरे कहे बिना ही अलोना खानेका दिखावा करता है और मुझे धोखा देता है तो मैं दोषी क्यों ठहरूंगा? ...तुम अलोना नहीं खाते हो, इसलिए मैं तुम पर कम प्यार रखता हूं और जमनादास केवल फलाहार ही करता है

इसलिए उसको विशेष चाहता हूं ऐसी तो कोई बात नहीं है। लोने-अलोने में कुछ भी पाप-पुण्य नहीं है। उसके पीछे जो रहस्य है उसमें पाप-पुण्य है। इमामसाहब कभी भी अलोना नहीं करेंगे, इसलिए वह मुझे अप्रिय नहीं हैं। मिस स्लेशिन हर बात में मुझसे विरोधी वर्ताव करती है, फिर भी कुछ अंश में तुम सब लोगों के मुकाबले में उसका चरित्र बहुत ऊंचा मानता हूं।

सभी परिवर्त्तनों के पीछे हमारा उद्देश्य संयम पालन करने का और उसमें वृद्धि करने का है। यह जिसको मंजूर न हो उसे मेरा त्याग कर जाना चाहिए, यही उस रात्रि को मेरा कथन था और वह उचित ही दीखता है।

संयम का मतलब यह मत समझो कि अलोना खाना। दो दिन की सूखी रोटी और कण-भर नमक से गुजर करके तुम जीवन विताओ या मैं अनेक प्रकार के फल-मेवे का स्वाद लूं—उससे बहुत ऊंची बात हो सकती है। तुम किस हेतु से सूखी रोटी ले रहे हो और मैं किस हेतु से फल-मेवे लेता हूं, इसके आधार पर उस कार्य की शुद्धता का निर्णय किया जा सकता है।

पवित्रता दूसरों के द्वारा किये गए दोषारोपण से फीकी नहीं पड़ती किन्तु और भी प्रबल बनती है।

तुमसे यदि कुछ भी अनुचित बात बन गई है तो तुम उसे मेरे सामने मंजूर कर लो। ऐसा किये बिना तुम्हारा उपवास या सैकड़ों प्रायश्चित्त फलने वाले नहीं हैं।

वहां आने के लिए मैं तरस रहा हूं, पर अपना कर्त्तव्य नहीं छोड़ सकता।

की हुई प्रतिज्ञा में लौटा लूं, यह पश्चिम में सूर्य उगे तब भी नहीं हो सकता। मनुष्य अपने प्रण को आसानी से निभा नहीं सकता।

तुम दोनों को इस पत्र से रोष आयगा, लेकिन जो मेरे मन में है मैं न लिखूं तो मुझमें जो कुछ सत्य है उसको दाग लग सकता है और इस तरह मैं तुम्हारा बुरा करनेवाला बन जाता हूं। तुम्हारे लिए दुख उत्पन्न करना, यह इस समय मेरा धर्म हो पड़ा है।

—बापू के आशीर्वाद

: ७७ :

कर्त्तव्य और संयम

उपनिषदों के संबंध में एक ऋषि ने कहा है, "यदि यह वाणी किसी सूखे ठूंठ को सुनाई जायगी तो वह भी नवपल्लवित हो उठेगा।" केपटाउन से लिखे हुए बापूजी के कई पत्रों में भी ऐसी ही अमृतमयी वाणी भरी हुई है, जिसपर मनन करनेवाला चाहे कितना ही दुर्बल-चित्त क्यों न हो, शक्ति-शाली बनने का संकल्प करने लगेगा।

कब सत्याग्रह किया जाय, कब न किया जाय, इसकी विधि समझाते हुए बापूजी के लिखे एक पत्र की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं :

केपटाउन
मंगलवार, ज्येष्ठ विदी १ (८-६-१४)

"....जो सत्याग्रही होता है आमतौर से तटस्थ रहता है। हमें हमेशा बोलना ही चाहिए ऐसा नियम नहीं है। सत्याग्रह कब किया जाय, इस प्रश्न का उत्तर सहज में नहीं दिया जा सकता। सत्याग्रही जब सत्याग्रह शुरू करता है तब वह पहले कुछ विचारकर नहीं रखता। उसकी आत्मा के उद्गार के विरुद्ध काम हुआ है ऐसा जब उसे प्रतीत होता है तब उसके प्रतिरोध में वह आत्मबल का प्रयोग करता है। मैंने सत्याग्रह शुरू किया तब भी मैंने उसे धर्म का अंग ही समझा था। अनुभव से मालूम हुआ कि वही धर्म है और वही चिन्तामणि है, इस कारण मेरे अन्दर वह धर्म के रूप में विशेषतः विकसित हुआ।

"सत्य के अलावा और कुछ कभी करना ही नहीं है. यह बात जिसने पक्की कर ली वह सत्याग्रही है और ऐसे आदमी को प्रत्येक मौके पर उपाय सूझ ही जाता है। जीवन-मात्र सत्यमय होना चाहिए। यम-नियम आदि का पालन करने से धीरे-धीरे वह बात आ जाती है। जिस प्रकार स्थूल विषयों को सीखने में बरसों तक प्रयत्न करना पड़ता है. उसी प्रकार सत्याग्रह का स्वरूप समझने के लिए भी प्रयत्न करना चाहिए। आत्मा पर छाये हुए तुम्हारे और मेरे आवरण दूर होते चलेंगे त्यों-त्यों आत्मा प्रकाशित होगी और उसी अनुपात से वह बलवान सत्याग्रही के रूप में जूझेगा..."

बापूजी जब केपटाउन थे तब विद्यार्थियों की दिनचर्या पर ध्यान रखने का काम श्री सबजी पटेल विशेष रूप से करते थे। उस समय वह एक

प्रकार से नये फीनिक्सवासी ही थे। फीनिक्स में आये हुए उन्हें दो वर्ष भी नहीं बीते थे। वहीं पर दूसरे कार्यकर्त्ता प्रायः अपने-अपने परिवार के साथ थे और रावजीभाई के घरवाले भारत में थे। उनकी माता का स्वास्थ्य कमजोर होने की खबर मिलने से घर लौट जाने का उन्होंने इरादा किया, परन्तु बापूजी ने आश्रम-कार्य में एकाग्रता से लगे रहने का और मातृ-सेवा को गौण समझने का उनको परामर्श दिया। वह पत्र इस प्रक़ार है:

केपटाउन
शनिवार

भाई श्री रावजीभाई,

तुम्हारा पत्र आज इतनी देर से मिला कि न मैं तुमको आज की डाक से पत्र भेज सकूं, न तार ही पहुंचा सकूं। अब सोमवार को ही तार करूंगा। जहां पर माता के प्रेम का प्रश्न है, जहां पर पुत्र-वात्सल्य का सवाल सामने आता है वहां किसी अन्य व्यक्ति के लिए परामर्श देना एक धर्म-संकट है। फिर भी यह अनिवार्य है कि मैं परामर्श दूं। अपने पिताजी के पत्र पर से तुम जिस निर्णय पर आये थे उस समय तुम्हारी माताजी के विचारों का अनुमान हम लोग लगा पाए थे। उनका पत्र आने से कोई नई बात पैदा नहीं होती, लेकिन नई भावना उत्पन्न हुई है और प्रेमभाव ने स्वभावतः ही तुम्हारे हृदय में प्रधानता प्राप्त कर ली है। अब अगर तुम निर्मोही बनकर निर्णय कर सको तो तुम्हारा प्रेम निर्मल और दिव्यस्वरूप प्राप्त कर सकेगा। तुम सारे जगत को अपना प्रेम दे सकते हो, अर्थात् ऐसा करने का प्रयत्न कर सकते हो। मातृ-भक्ति का यही उद्देश्य है और जो भक्ति है वह स्थूल लौकिक और केवल देह के प्रति है। इसमें से मुक्त होने के भजन अवसर तुम गाते हो। "आ संसार असार विचारी"—(एक गुजराती भजन की टेक) वाला भजन गाकर उसकी गूढ़ ध्वनियों पर विचार करना, "जीव ने श्वास तणी सगाई" के पद की क्या ध्वनि है? फीनिक्स के और दूसरे रहन-सहन में यह अन्तर है कि जिस बात को हम पढ़ते हैं उसे अपने में दृढ़ीभूत करने का प्रयत्न करते हैं।

तुम्हारे हिन्दुस्तान जाने का परिणाम क्षणिक होगा। पन्द्रह या पांच दिन के बाद तो रोना ही पड़ेगा। फिर तो वियोग है ही।

फिर हम ऐसी जिन्दगी बिताना चाहते हैं कि हमारे पास एक पाई भी न रहे। ऐसा गरीब आदमी इस प्रकार के अवसर पर क्या करेगा यह विचार करना।

अपने माता-पिता के दर्शन करने की भावना नित्य बनी रहे यह उत्तम

बात है। इस उत्कंठा को फिलहाल दबाकर अपने जीवन को और भी वीतरागी बनाना यह तुम्हारा कर्त्तव्य है। अपने चरित्र को सुदृढ़ करने के लिए ही तुम परदेश भुगत रहे हो। तुम्हारे लिए यह स्थिति बनवास की है। ऐसा करने में ही तुम अपने माता-पिता को सुशोभित करोगे। तुम स्वेच्छाचार नहीं कर सकते किन्तु दिनोंदिन आत्मोन्नति करो, संयमी बनो तो इस समय स्वदेश लौटने के कर्त्तव्य से मुक्त हो जाते हो।

यह विचार करने में प्रेस की (फीनिक्स के काम के लिए तुम्हारी आवश्यकता की) बात का जरा भी विचार नहीं किया है। किस बात में तुम्हारी आत्मोन्नति है, यह सोचकर ही मैंने परामर्श दिया है।

इतने पर भी अगर लौकिक मातृभक्ति तुमको स्वदेश की ओर ही आकर्षित करती है और यहां रहने से तुम्हारे चित्त को शांति नहीं मिलती तो तुम सुख से जाना। मेरा लिखना परामर्श रूप समझकर तुम स्वतंत्रता-पूर्वक निर्णय करना और उसके अनुसार चलना।

—मोहनदास के आशीर्वाद

केपटाउन, जेठ विदी ८

(ता० १६-६-१४)

चि० मणिलाल,

...तुम जो कुछ करो वह विचारपूर्वक, निडरता से, स्वतंत्र रहकर करना। बापू को क्या पसंद आयगा यह विचार बाद में करने का है। तुम अपने कल्याण के लिए क्या करना चाहते हो यह पहले समझ लेना है और उसके अनुसार चलना है। किसी की देखादेखी न समझी हुई दिशा में किया हुआ कार्य निष्फल है, ऐसा जानो।

—बापू के आशीर्वाद

इस क्रम में कुछ अन्य पत्र भी उल्लेखनीय हैं:

केपटाउन, फाल्गुन विदी २

(ता० १४-३-१४)

भाई श्री रावजीभाई,

तुम्हारा पत्र पढ़ा और दुबारा पढ़ा। शंकराचार्य ने एक श्लोक कहा है। उसमें बताया है कि समुद्र किनारे बैठकर घास के तिनके की नोक से एक बिन्दु पानी उठाकर समुद्र उलीचने के लिए जितने धैर्य की आवश्यकता रहेगी और जितना समय बीतेगा उसकी तुलना में मन को मसलने में अर्थात्

मोक्ष को साधने में अधिक धैर्य और अधिक समय की आवश्यकता होगी। तुम तो बहुत उतावले हो गए हो, ऐसा लगता है।

मरण का भय, मैंने बहुत सोचा-विचारा है, तब भी मुझतक से नहीं गया है। फिर भी मैं अधीर नहीं होता, प्रयत्नवान रहता हूं। इसलिए किसी दिन उससे मुक्त हो ही जाऊंगा। तुम भी प्रयत्न करने का एक भी मौका हाथ से न जाने देना। यह हमारा कर्त्तव्य है। परिणाम प्राप्त करना या उसकी इच्छा करना प्रभु के अधीन है। फिर झंझट किस बात की? माता बच्चे को दूध पिलाते समय परिणाम का विचार नहीं करती। उसका परिणाम तो आता ही है। मरण-भय टालने के लिए—मनोविकारों को भगाने के लिए प्रयत्न करने के बाद प्रफुल्ल चित्त बने रहो तब वह जायगा, नहीं तो फिर वही मिसाल साबित होगी कि बन्दर की याद न करने का नुस्खा अमल में लाते समय बन्दर का विचार अवश्य आयगा।

हम पाप-योनि में से जन्मे हैं, पाप-कर्म से देह के अधीन हुए हैं। उस सब मल को तुम एक पल में कैसे धो सकोगे? हमारे यहां के अखा भगत ने बोध दिया है कि 'सुतर आवे तेम तुं रहे, जेम तेम करीने हरि ने लहे' (जैसा अनुकूल पड़े वैसे तुम रहो, पर जिस प्रकार बने हरि को जान लो)। तुलसीदासजी कहते हैं कि संकट हो या न हो, रामनाम जपते रहो तो संपूर्णतः सिद्धि है ही। हमें तो वही अर्थ सिद्ध करना है, जो गुसाइंजी ने बताया है। इसलिए वही जप जपते रहना।

राम कौनसे, यह निश्चय अपने मन में कर लेना। वह राम निरंजन है, निराकार है। राक्षसी वृत्तियों के समूहरूपी रावण का दैवी वृत्तिरूपी अनेक प्रकार के शस्त्रों से संहार करने वाला वह है। उस विपुल बल की प्राप्ति के लिए १२ वर्ष तक तपस्या करने वाला वह है।

अन्त में, शरीर को या मन को एक क्षण-भर के लिए भी खाली मत रहने देना। दोनों को उत्साहपूर्वक काम में लगाए रखना। तब तुम्हारी सब झंझटें अवश्य टल जायंगी। इसके बिना तो प्रभू के ऊपर भरोसा करना और मेरे भरोसे रहना, यह सब वृथा है। ऊपरवाले कर्त्तव्य कर चुकने के बाद ही वे सब भरोसे काम देंगे।

याद रखना कि हम जैसे देव मांगते हैं वैसे ही देव मिलते हैं। तुलसीदासजी ने जब रामचन्द्रजी को मांगा तब कृष्ण श्रीराम बने और लक्ष्मीजी सीताजी बनीं।

केपटाउन,
फाल्गुन सुदी १०, रविवार
(ता० ८-३-१४)

भाई श्री रावजीभाई,

हृदय पवित्र हो तो विकारेन्द्रियों को विकार पाने की बात नहीं रहती। लेकिन हृदय क्या चीज है? वह कब पवित्र माना जाय? हृदय ही आत्मा है अथवा आत्मा का स्थान है। उसमें पवित्रता का अर्थ होगा शुद्ध आत्मज्ञान का होना, और उसकी उपस्थिति में इंद्रिय-विकार संभव हो ही नहीं सकता। किन्तु साधारणतया जब हम हृदय को पवित्र बनाने की उधेड़बुन करने लगते हैं तब अक्सर मान बैठते हैं कि हमारा हृदय पवित्र हो गया। तुम पर मेरी प्रेमवृत्ति है इसका अर्थ इतना ही है कि वैसी वृत्ति रखने के लिए मैं प्रयत्नवान हूं। अगर अखंड प्रेमवृत्ति हो तो मैं ज्ञानी बन गया। वह तो मैं नहीं हूं। जिसके प्रति मेरा सच्चा प्रेम होगा वह मेरे मंतव्य का या मेरे बोलने का अनर्थ नहीं करेगा। वह मुझपर तिरस्कार भी नहीं करेगा अर्थात् इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि जब हमको कोई मनुष्य शत्रु मानता है तब दोष प्रथम तो हमारा होता है। यह बात गोरे लोग और हमारे बीच में भी लागू होती है। इस कारण सर्व अंश में पवित्रता यही चोटी की स्थिति है। इस बीच हम पवित्रता में जितना आगे बढ़ेंगे हमारे विकारों का शमन होगा। विकार इंद्रियों में रहा हुआ है ही नहीं। 'मन एवं मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।' इंद्रियां मनोविकारों के प्रदर्शित होने का स्थान हैं। उनके द्वारा हम मनोविकारों का परिचय पाते हैं।

अर्थात् इंद्रियों का नाश करने से मनोविकार जाते ही नहीं हैं। षण्ड लोग विकार से भरपूर देखे जाते हैं। जन्म से नपुंसक पुरुष में इतने अधिक विकार होते हैं कि वे बहुत से अकार्य करते देखे जाते हैं। मेरी घ्राणशक्ति मन्द है फिर भी सुवास लेने को मन करता है और जब कोई गुलाब आदि की सुगंध की बात करता है तब उस ओर अबाध मन चला जाता है और उस पर बड़े बलात्कार से बल-प्रयोग करने के बाद काबू पाया जा सकता है। जब मन पर काबू नहीं रहता और विचार-धारा उग्र बनी हुई होती है तब मनुष्य को इंद्रिय-छेदन करते सुना गया है। संभव है कि ऐसे समय वह कर्त्तव्य हो।

मान लो कि मेरा मन चलित हुआ और मैंने अपनी बहन पर कुदृष्टि की। मुझे काम जला रहा है लेकिन मैं बिल्कुल मूढ़ नहीं बन गया हूं। ऐसे मौके पर अगर और कोई उपाय नहीं सूझता तो इंद्रिय-छेदन कर डालना यह पवित्र कार्य है, ऐसा लगता है। ऐसा प्रसंग धीरे-धीरे उठनेवाले

पुरुष पर नहीं आता। जिसको तीव्र वैराग्य आया है और जिसका भूतकाल का वर्तन ठीक नहीं है, उसके लिए ऐसा होने की संभावना है सही। विकार उत्पन्न न हो और इंद्रिय चलित न हो, इसके लिए तात्कालिक उपाय मांगना—नुस्खा ढूंढ़ना—वन्ध्या पुत्र को पाने की इच्छा के बराबर है। वह कार्य (अविकारी बनने का काम) बहुत ही धीरज से होगा। जादू का आम जैसे देखने-भर को होता है, वैसे तात्कालिक रूप से होने-वाली मन-शुद्धि के बारे में भी समझना।

हां, ऐसा होता है कि मन पवित्र होने के लिए तैयार हो जाता है और केवल संत-समागमरूपी पारसमणि की खोज में रहता है। वह मिल जाने पर अपनी पवित्रता का वह सहसा दर्शन करता है और उसके लिए अप-वित्रता स्वप्न की-सी जान पड़ती है। ऐसा हो तो वह तात्कालिक हुआ ऐसा कहा नहीं जा सकता।

परन्तु आम नुस्खा, जो छोटे-से-छोटा होने के कारण तात्कालिक भी है, इस प्रकार है :

एकांत-सेवन, सत्संग, शोधन, सत्कीर्तन, सत्‌वचन, लगातार शरीर को कसना, अल्पाहार, फलाहार, अल्प-निद्रा, भोग-विलास का त्याग। इतना जो कर सके, उसके लिए मनोजय हस्तामलकवत् प्राप्त होता है। इतना करना और आगे के लिए चिन्तन करना। जब-जब मनोविकार हो तब-तब उपवास आदि व्रतों का पालन करना।

× × ×

वहां पर खेत का काम बराबर न चलता हो और उसमें वास्तव में तुम्हारा अपना ही दोष दिखाई देता हो तो उस दोष को उत्साहपूर्वक भगा दो। तुम जो बड़े लोग हो, उनके रहन-सहन के ऊपर लड़कों के रहन-सहन का आधार है।

केपटाउन, ता० १०-६-१४

भाईश्री,

स्नेहियों के प्रति वीतराग उत्पन्न हो तभी हृदय वास्तव में दयावान होता है और स्नेहियों की सेवा करता है। बा के प्रति जिस अनुपात में मैं वीतरागी बना हूं, उस अनुपात से उसकी सेवा अधिक कर सकता हूं। बुद्ध ने अपने माता-पिता को छोड़कर उनका भी उद्धार किया। गोपीचन्द ने वैराग्य लेकर अपनी माता पर अतिशय शुद्ध प्रेम बताया। इसी प्रकार तुम अपने चरित्र को गढ़कर (ठोस बनाकर) और अत्यन्त निर्मल नीति को अपने में दृढ़ बनाकर अपने माता पिता की सेवा कर सकोगे। जब तुम्हारा आत्मा विशुद्धि को प्राप्त करेगा तब तुम्हारे सभी स्नेहियों पर उसका प्रतिघोष पड़े बिना रहेगा ही नहीं।

—मोहनदास के आशीर्वाद

: ७८ :

फीनिक्स का प्राणवान विद्यालय

> मनसि वचसि काये पुण्य-पीयूष-पूर्णाः
> त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः ।
> परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यम्
> निज हृदि विकसन्तः सन्ति संतः कियन्तः ।।

—इस जगत में ऐसे संत कितने होंगे जो मन-वचन-काया में पुण्य के अमृत से भरे-पूरे हों, उपकारों की शृंखलाओं से समस्त संसार को प्रसन्न करने में जुटे हुए हों तथा नन्हे-से परमाणु के बराबर दूसरे के छोटे-से-छोटे गुणों को पर्वत के समान बड़ा समझकर उन्हें अपने हृदय में पनपाते रहते हों।

× × ×

फीनिक्स के विद्यालय का पहला प्रयोजन अब प्रायः समाप्त हो चुका था। दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह करके जेल जाने के लिए आदर्श स्वयं-सेवकों को तैयार करने की अब आवश्यकता नहीं रही थी। अब कच्चे समझौते के अनुसार पक्का समझौता हो जाने की देर थी और वह संपन्न होने पर भारत के लिए प्रस्थान करने की प्रतीक्षा थी।

इस बीच के समय में विद्यालय में क्या पढ़ाया जाय और कौन पढ़ावे, यह समस्या सरल नहीं थी। परीक्षा, अभ्यास-क्रम तथा अभ्यास-क्रम की मान्यता देने वाली युनिवर्सिटी के अभाव में जो पढ़ाई होती है वह अधिकतर वार्तालाप, गपशप और मनोरंजन का रूप ले लेती है। जेल से लौटने के बाद फीनिक्स में हमारा विद्यालय जब दुबारा शुरू हुआ तब उसका करीब यही हाल रहा। जिस समय जो कोई पढ़ा-लिखा व्यक्ति विद्यार्थियों के बीच पहुंच गया उसने अपनी रुचि के अनुसार पढ़ाने का उपक्रम किया। एक पढ़ाने वाले के चले जाने पर जब दूसरा व्यक्ति आया तब चाहे विषय न बदला हो, पढ़ाई का तरीका और पाठ्यक्रम बहुत करके बदल ही गया।

इस स्थिति में बापूजी का व्यक्तित्व और बापूजी का एक निश्चित आग्रह हमारे विद्यालय को सजीव और सुगठित बनाये रखने में सफल रहा। फीनिक्स में बापूजी स्वयं एक साथ महीना-भर भी नहीं रह पाते थे। बार-

वार प्रिटोरिया—केपटाउन की यात्रा उन्हें करनी पड़ती थी तथा पांच-दस सप्ताह तक फीनिक्स से लगातार अनुपस्थित रहना पड़ता था। फिर भी उनके उग्रतम उपदेशों की जो अखंड धारा उनके पत्रों में फीनिक्स पहुंचती रही थी, बीच-बीच में आकर वह स्वयं जो प्रार्थना-प्रवचन करते थे तथा फीनिक्स के विद्यार्थियों के चारित्र्य की शिथिलता धो डालने के लिए उनके जो उपवास, अल्पाहार और कष्ट-सहन चल रहे थे, उनके कारण छोटे-बड़े सभी विद्यार्थी बापूजी के व्यक्तित्व के प्रभाव में दबे रहते थे।

दीवार पर बड़े अक्षर से लिखकर अथवा सुन्दर सूत्रों में विद्यार्थियों को रटाकर नहीं, परन्तु बारबार अच्छाई के ग्रहण करने तथा अवगुणों को छोड़ देने के लिए प्रेरणा देकर बापूजी ने सभी विद्यार्थियों के सामने यह लक्ष्य स्थापित कर दिया था कि प्रत्येक को अपने जीवन में विनम्र बनना है, प्रत्येक पल सेवा-परायण रहना है और जिससे भी सीखने का अवसर मिले उससे जो कला-विद्या-सुसंस्कार प्राप्त हो सकें वह ग्रहण करने के लिए प्रत्येक विद्यार्थी को तत्पर रहना है। संक्षेप में, बापूजी हम लोगों से यही बात चाहते थे जो राजर्षि भर्तृहरि ने 'मनसि-वचसि' वाले श्लोक में बताई है। हमारे कानों पर यह उद्घोष सदैव गूंजता रहता था; "विद्वान तुम चाहे बन सको या न बन सको, परन्तु सुपात्र अवश्य बनो।"

जेल-यात्रा की समाप्ति के बाद बापूजी के पास रहे हुए विद्यार्थी के लिए यही शिक्षण और यही दिनचर्या थी, ऐसा कहा जा सकता है।

फीनिक्स का हमारा विद्यालय बहुत छोटा था। पढ़ने-पढ़ानेवालों की संख्या के हिसाब से यदि विद्यालय की सफलता अथवा महत्व देखा जाय तो वह विद्यालय अल्प से भी स्वल्प था। सात-आठ विद्यार्थी और तीन-चार शिक्षकों के जेल जाने पर जिस विद्यालय की नव्वे प्रतिशत से भी अधिक शक्ति युद्ध-मोर्चेपर फंसी हुई बताई जाय उसे आधुनिक अर्थ में विद्यालय कहना हास्यास्पद होगा। संख्या की दृष्टि से न सही, पढ़ाई की दृष्टि से भी उसे पाठशाला बताना मुश्किल था।

स्वयं हम लोग भी, जो फीनिक्स में उस समय पढ़ने-पढ़ाने वाले थे, अपनी संस्था को विद्या-संस्था या पाठशाला कहने से झिझकते थे। हम इस असमंजस में घिरे हुए थे कि जहां पर पढ़ाई का सिलसिला तीन-चार महीने भी एक-सा नहीं टिकता उसको किस मुंह से विद्यालय कहा जाय!

सही पढ़ाई तो भारत में पहुंचने पर ही होगी, ऐसा हमारा विश्वास था। परंतु हममें से, जिन्होंने अपना जीवन बापूजी के हाथ में सौंप रखा था,

उनके लिए भारत में भी पढ़ने का प्रश्न बड़ा वेढब था। भारत में चलने वाली अंग्रेजी पाठशालाओं, कालिजों और विश्वविद्यालयों में पढ़ने की हम आशा नहीं रख सकते थे। बापूजी के विचार के अनुसार हमारे लिए मैट्रिक आदि की सारी पढ़ाई सोलहो आना वर्जित थी। साथ-ही-साथ लड़के और बड़े भी यह नहीं चाहते थे कि भारत में पहुंचकर फीनिक्स के लड़के अनपढ़, बुद्धिहीन या असंस्कारी सावित हों।

जेल जाने में जिन लड़कों के कई महीने बरबाद हो गए थे उनको अब पढ़ने के लिए अधिक समय मिले, इस हेतु से ही शायद इस बार छापाखाना के काम में बड़े लड़कों को अधिक समय नहीं रोका जाता था। पहले की तरह अब बड़े लोग ही साप्ताहिक अखबार छापने-प्रकाशित करने का काम कर रहे थे। परिणाम-स्वरूप, मेरे पिताजी, मगनलालकाका आदि शिक्षक हमें पढ़ाने के लिए कम समय दे पाते थे और हम लोगों को आपस में मिल-कर स्वाध्याय करने का समय अधिक मिलता था।

उन दिनों दोपहर के भोजन के बाद संध्या के चार-साढ़े चार बजे तक हम सब विद्यार्थी पुस्तकालयवाली कुटिया के आंगन में बैठकर पढ़ते थे। परंतु उस स्वाध्याय में नियम नहीं-सा था। कुछ लड़के अंग्रेजी किताबों से कठिन-कठिन शब्दों को एकत्र करके अंग्रेजी शब्दकोष से उनके अर्थ और हिज्जे याद करते रहते थे, कुछ अपने सुलेख को सुधारने की कोशिश में रहते थे और करीब आधे लड़के बातचीत और मटरगश्ती में रहते थे। भरपेट खाना खाकर मुश्किल से दो घंटे भी न बीतते कि फल खाने की उत्कंठा कुछ लड़कों में पैदा हो जाती थी। दो-तीन नौजवान संतरों के बगीचे में चले जाते थे और सैकड़ों संतरों को तोड़कर अंगोछों में गठरी बांध लाते थे। फिर चार-छः लड़के बैठकर सारे संतरों को एक साथ छीलकर हमारे पढ़ने की जगह पर उनका ढेर लगा देते थे और पढ़ने में एकाग्र बने हुए लड़कों को भी छिले-छिलाये संतरों की दावत में शामिल होने का आग्रह करते थे। इस प्रकार स्वाध्याय के प्रायः आधे समय बेखटके आमोद-प्रमोद चलता रहता था और दोहरा नुकसान होता था। एक नुकसान अपनी पढ़ाई का और दूसरा नुकसान फलवृक्षों की बरबादी का। इस एक प्रसंग से ही अनुमान किया जा सकता है कि हमारे बीच बापूजी की प्रत्यक्ष उपस्थिति और अनुपस्थिति में कितना अंतर पड़ जाता था। उनके उच्चतम उपदेशों को सुनकर-समझकर भी हम कितनी शिथिलता को अपनाते थे। स्वभावतः पढ़ाई में भी वह गहराई और ज्ञानवृद्धि नहीं हो रही थी जो बापूजी के स्वयं पढ़ाने के समय प्रतिदिन होती थी।

परंतु बापूजी की सूचना के आधार पर एक ऐसा कड़ा नियम फीनिक्स

में शुरू हुआ जिससे प्रायः सभी विद्यार्थी तंग आ गए। वह नियम था बड़े सवेरे अंधेरे में उठने का।

छात्रावास के गृहपति के नाते श्री रावजीभाई पटेल हम लोगों को बिस्तरे से तब उठा देते थे जब आकाश में तारे चमकते हों। जेल-यात्रा से पूर्व सब विद्यार्थियों को बापूजी अरुणोदय के बाद उठाते थे और कोई तो सूरज निकल आने के बाद बिस्तर छोड़ता था। परंतु अब छोटे बच्चों को भी ऐसी सुस्ती नहीं करने दी जाती थी। पांच बजे से बहुत पहले पाठशाला के स्थान पर सब विद्यार्थियों को श्री रावजीभाई इकट्ठा कर देते थे और करीब पौन-घंटे तक भक्त-कवि नरसिंह मेहता के तथा गुजरात के अन्य पौराणिक कवियों के काव्य पढ़कर सुनाते थे। उस समय मुझे तो क्या, और किसी को भी यह अनुमान नहीं होगा कि भविष्य में बापूजी के आश्रम में सदैव अनिवार्य बनने वाली ब्राह्ममुहूर्त्त की प्रार्थना का यह प्राथमिक स्वरूप है। किसी-किसी दिन बार-बार उठाये जाने पर भी मेरी नींद नहीं खुलती थी और देर से पहुंचने के कारण मुझे सबके बीच शर्मिन्दा होना पड़ता था। मन में गुस्सा भी आ जाता था। लेकिन तड़के उठने की थोड़ी-सी आदत पड़ जाने पर प्रातःकाल उन धार्मिक काव्यों और आख्यानों को सुनने में मुझे आनंद आने लगा और भजन के समय ऊंघना छोड़कर मैं उन सरल काव्यों का अर्थ समझने की कोशिश करने लगा।

यहां पर यह बता देना आवश्यक है कि भारत आने की तैयारी के रूप में बापूजी ने फीनिक्स के विद्यार्थियों को ब्राह्ममुहूर्त्त में उठा देने का नियम बनाया। दक्षिण अफ्रीका के जलवायु में बहुत अंधेरे उठने की आवश्यकता नहीं थी। परंतु भारत में, विशेषकर देहातों में, यदि बहुत अंधेरे न उठा जाय तो दिन की तेज धूप और गर्मी में किसान अपना खेती-बाड़ी का और जुलाहा अपनी बुनाई आदि का काम पूरा नहीं कर सकता। जो दरिद्र रहना न चाहे उसे भारत में ब्राह्ममुहूर्त में उठना ही चाहिए, यह बापूजी का अटल विश्वास था और वह फीनिक्स से ही हमारी पाठशाला में भी अनिवार्य नियम बना दिया गया।

कुछ दिन बीतने के बाद दो नये शिक्षक फीनिक्स आये। उनके आने पर विद्यालय की दिनचर्या कुछ व्यवस्थित हो गई और पढ़ाई में भी थोड़ा ठोसपन आया। वैसे आयु में दोनों ही नौजवान, बीस वर्ष से भी कम के थे। परंतु उनका पढ़ाने का तरीका अच्छा था और पढ़ाई में वे दोनों पूरा समय दे रहे थे। इसलिए लड़कों पर उनका प्रभाव अच्छा पड़ा। दो में एक थे श्री जमनादास गांधी और दूसरी थीं मिस स्लेशिन। वैसे फीनिक्स के लिए दोनों परिचित व्यक्ति थे परंतु फीनिक्स में रहकर पढ़ाने का काम

अबकी बार ही दोनों ने शुरू किया था। जमनादासकाका बापू के विचारों को समझने की भरसक कोशिश करते थे। केपटाउन से जब बापूजी ने उनको फीनिक्स भेज दिया तब उन्होंने हम लोगों को पढ़ाने में अपना समय लगाया। जिन तीन विषयों को जमनादासकाका ने पढ़ाना शुरू किया वे तीनों विषय बापूजी की दृष्टि से बहुत आवश्यक थे—सुलेखन, संस्कृत और 'हिन्दस्वराज'। बापूजी के अपने अक्षर विद्यार्थी अवस्था से ही सुन्दर नहीं रहे थे। इसलिए उनका आग्रह था कि विद्यार्थियों को प्रारंभ से ही सुन्दर और स्वच्छ अक्षर लिखने की आदत डाली जाय। जमनादासकाका के अक्षर बहुत सुंदर थे। वह सीधी पंक्ति में प्रत्येक अक्षर सुवाच्य, व्यवस्थित और छपा हुआ-सा लिखते थे।

सुलेख लिखने का जो अभ्यास जमनादासकाका ने हमसे करवाया उसमें सब से आगे निकलनेवाले देवदासकाका थे, ऐसा मुझे स्मरण है। हमारे बीच डाह्याभाई मोची के अक्षर पहले से ही अच्छे थे, परंतु प्रयत्न-पूर्वक अपनी कापी में सुन्दरता के साथ पाठ लिख लाने में देवदासकाका कमाल करते थे।

दूसरा विषय था संस्कृत। जमनादासकाका संस्कृत के पंडित नहीं थे, राजकोट के हाई स्कूल में दो किताब पढ़े थे। पर बापूजी की इच्छा थी कि हम लोग संस्कृत का परिचय प्राप्त कर लें। इसलिए हमें बहुत छोटे-छोटे शब्द सिखाये जाने लगे। अश्वः, कन्दुकः, वदति, गच्छति आदि शब्द हमारे लिए सर्वथा नये थे और व्याकरण के अनुसार उनके विविध रूपों को सुनकर हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता था। कुछ विद्यार्थी हममें ऐसे थे जो बारबार याद करने पर भी 'अश्व' शब्द भूल जाते थे और जमनादासकाका पूछते थे तो सहज भाव से 'घोड़ा दौड़ति', 'अहं बोलामि' जैसे उत्तर देकर वर्ग-भर को हंसा देते थे। इस संस्कृत-वर्ग का विशेष लाभ लिया तो देवदासकाका ने और मैंने।

जमनादासकाका का सबसे महत्व का वर्ग था 'हिन्दस्वराज' का। बापूजी की लिखी हुई 'हिन्दस्वराज' पुस्तक पढ़ाने में वह अपना सारा कौशल खर्च कर रहे थे। 'हिन्दस्वराज' पढ़ते समय हमें ऐसा प्रतीत होता था मानो साक्षात् बापूजी ही हमें पढ़ा रहे हैं। बड़ी सावधानी से हमारा सारा वर्ग इसे पढ़ता था। बापूजी के द्वारा स्थापित प्रत्येक सिद्धांत को समझने और याद करने की पूरी कोशिश छोटे-बड़े सभी विद्यार्थी करते थे। हमारे मन में यह बात बैठ गई थी कि हिन्दुस्तान जाने पर बापू के सत्याग्रह के सैनिक के नाते हम पर प्रश्नों की झड़ी लगेगी और तब बापूजी की बात समझाने की बुद्धिमत्ता हम नहीं दिखा पायेंगे तो हम हँसी के पात्र बनेंगे।

आपस की बातचीत में भी हम लोग 'हिन्दस्वराज' के वाक्यों का और भाषा का प्रयोग करते थे, यहां तक कि प्रायः तीन महीने की अवधि में 'हिन्दस्वराज' के इक्कीस प्रकरण हम लोगों को लगभग कंठस्थ हो गए थे।

जमनादासकाका से भी अधिक प्रभाव हम लोगों पर मिस स्लेशिन का पड़ा। मिस स्लेशिन आमतौर से बहुत बोलने वाली, विनोद करने वाली और चंचल स्वभाव की जान पड़ती थीं, परंतु पढ़ाते समय इतनी गंभीर और एकाग्र बन जाती थीं कि छोटी उम्र की होने पर भी बड़े आदमी-सी मालूम देती थीं।

वह अंग्रेजी, निबंधलेखन और कविता तीनों विषय अंग्रेजी के माध्यम से पढ़ाती थीं। बड़े और पढ़ने में चतुर लड़कों को वह जरा देर में स्वाध्याय के लिए सूचनाएं दे देती थीं, छोटे तया कमजोर विद्यार्थियों को सिखाने में अपना बहुत समय खर्च करती थीं। नन्ही-सी मुन्नी रूखीबहन से लेकर बड़े-विद्यार्थियों तक सभी मिस स्लेशिन के कहने में रहते थे। उनके बुलाने पर बालक उनके पास दौड़कर जाता था और बड़ा विद्यार्थी उनकी सूचना का पालन खुशी-खुशी करता था। फीनिक्स में रहने वाले प्रौढ़ पुरुष भी मिस स्लेशिन के आग्रह को टाल नहीं सकते थे।

बापूजी के पथ पर सीधा न चलकर उनकी छोटी-छोटी बातों का विरोध करने में मिस स्लेशिन को झिझक या क्षोभ नहीं होता था, शायद थोड़ा आनंद ही आता था। मनमौजी तो वह थीं ही, इसलिए लड़कों को पढ़ाने और विद्यालय का संचालन करने में वह अपने स्वतंत्र विचार से चलती थीं। बापूजी की बताई हुई मर्यादाओं का बंधन वह सदैव नहीं मानती थीं। बापूजी किसी विद्यार्थी को ऊंचा नंबर और किसी को नीचा नंबर देने के पक्ष में नहीं थे। जब कभी बापूजी कापी जांचकर नंबर देते थे तब भी विद्यार्थियों को परस्पर के नंबरों की तुलना करने से रोकते थे। केवल अपनी ही प्रगति की तुलना उन नंबरों से करने को कहते थे। मिस स्लेशिन ने नंबर ही क्या, आगे निकलने वाले लड़कों को इनाम देने की भी व्यवस्था की।

उन्होंने छोटे से लेकर बड़े तक तीन विभाग में निबंध लिखने की स्पर्धा का आयोजन किया। फीनिक्स के बड़े कार्यकर्त्ताओं से भी निबन्ध लिखने का आग्रह किया गया।

एक दिन मध्याह्न में प्रार्थना के स्थल पर सब लोग इकट्ठे हुए और सारी सभा के सामने चुने हुए निबंध पढ़े गए। औरों के निबंध का कैसा स्वागत

हुआ यह तो मुझे याद नहीं, परंतु इतना याद है कि बड़ों में मगनकाका का निबंध अव्वल माना गया और छोटों में मैं इनाम का पात्र ठहरा था।

गंदगी और आलस्य के अवगुणों पर एक अंग्रेजी कविता मिस स्लेशिन ने मुझे सिखाई थी और उसी विषय को लेकर मैंने वह निबंध अंग्रेजी में ही लिखा था। मजे की बात यह थी कि अंग्रेजी पढ़ाई में मैं सबसे पिछड़ा हुआ विद्यार्थी था। हिज्जों से मेरी पूरी अनबन थी, इसलिए जब कभी डिक्टेशन लिखवाया जाता, बेहद भूलें निकलतीं। परंतु मिस स्लेशिन ने मेरी इस कमजोरी पर मुझे शर्मिन्दा करना बंद कर दिया था। भूलकर भी वह मुझसे हिज्जे नहीं पूछती थीं। न मुझसे रटने को कहती थीं। सरल और सुंदर अंग्रेजी पुस्तक मेरे हाथ में देकर वह उसमें से अच्छी-अच्छी कविताएं सुनाती थीं और बार-बार मुझसे पढ़वाती थीं। फिर उस पर मुझसे प्रश्नोत्तर करती थीं। कभी-कभी उसका अर्थ लिख लाने को भी कहती थीं। इसका नतीजा यह हुआ कि मुझसे आगे पढ़ने वाले विद्यार्थियों के निबंधों से मेरा अंग्रेजी निबंध अच्छा माना गया। मिस स्लेशिन के हाथ से मैंने इनाम में अरबिस्तान के दानवीर हातिमताई की जीवनी भेंट में पाई। वह मोटे अंग्रेजी टाइप में छपी हुई थी और उस पर मिस स्लेशिन के हस्ताक्षर थे। करीब पच्चीस वर्ष तक मेरे संग्रह में वह पुस्तक सुरक्षित रही। बाद में कहां गुम हो गई, पता नहीं चला। पर इस एक निबंध और इनाम की एक पुस्तक ने मेरे जीवन की प्रगति पर काफी असर डाला।

बड़ों में मगनकाका का निबंध जो अव्वल आया था उसका इनाम क्या दिया गया मुझे याद नहीं, परंतु वह निबंध फीनिक्स-भर में सबके लिए प्रेरणादायी माना गया। बड़ों के निबंध गुजराती में थे और वहां पर मगनकाका की गुजराती भाषा सबने बहुत पसंद की। उस निबंध का कथानक था भारत के छोटे-से देहात में परिश्रम करने वाले एक किसान भाई-बहन का और उनके पसीने से लहराने वाली सुंदर खेती का।

पाठशाला की पढ़ाई के अतिरिक्त दूर-दूर तक भ्रमण के लिए विद्यार्थियों को ले जाने का सिलसिला भी मिस स्लेशिन ने चलाया। अबोका का समुद्री किनारा हमारे यहां से छः मील दूर था, माउन्टेजकम्ब का सात-आठ मील। अबोका जाने में मीलों तक बालू और गोखरू का रास्ता पार करना पड़ता था और वहां का तट निर्जन होने से दिन-भर धूप आदि का कष्ट उठाना पड़ता था। माउन्टेजकम्ब में बस्ती थी, पर चट्टानें ऐसी खतरनाक थीं कि वहां समुद्र-स्नान करने का साहस कम होता था। दोनों स्थलों पर नहाने के बाद जब लौटते थे तब हम मन में सोचते थे कि दुबारा इस तरफ में नहीं आयंगे,

लेकिन मिस स्लेशिन और रावजीभाई जब टोली लेकर समुद्र-स्नान के लिए निकल पड़ते थे तब घर पर एक-दो विद्यार्थी भी मुश्किल से रुकते थे।

जब मिस स्लेशिन हम लोगों को पैदल डरबन की यात्रा कराती थीं तब हमें लगातार तीस-बत्तीस मील चलना पड़ता था। तगड़े युवकों से भी वह आगे चलती थीं। थकती तो थीं ही नहीं। जब रास्ते में हम लोग केवल गोरी बस्ती से गुजरते थे तब अनेक गोरे लोग मिस स्लेशिन की ओर क्रोधभरी दृष्टि से घूरते थे। हिन्दुस्तान के काले लड़कों के यूथ को लेकर पढ़ी-लिखी गोरी कुमारिका इस तरह से जाती थी, यह उनके दिल को चुभता था, परन्तु वे जानते थे कि यह मंडली गांधी के फीनिक्स आश्रम की है और उस समय गांधी स्मट्ससाहब से समझौते की बात कर रहे थे; इसलिए गोरे लोग गम खा जाते थे।

इस प्रकार फीनिक्स का हमारा आंतरिक विद्यालय चार-पांच महीने ही चला, परंतु वह था प्राणवान विद्यालय।

: ७६ :

भारत लौटने को तैयारी

सत्याग्रह-आंदोलन की समाप्ति होने पर बापूजी के सामने यह प्रश्न विशेष रूप से उपस्थित हो गया कि अब हिन्दुस्तान लौटने पर किस प्रकार जीवन बिताया जाय? भारत के जलवायु में—वहां के विविधतापूर्ण वातावरण में—फीनिक्स के साधक-जीवन को किस प्रकार और भी उज्ज्वल बनाया जाय? दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह-संग्राम की समाप्ति उनके लिए विश्रान्ति का अवसर नहीं था, अपितु विशेष कठिन जीवन के लिए सामने आया हुआ गम्भीर पर्व था। जिस सत्याग्रह की दक्षिण अफ्रीका में सफलता प्रतीत हो रही थी उसका हिन्दुस्तान में और भी जितना बन सके अधिक विकास साधने की मनोकामना बापूजी के मन में वेग पकड़ रही थी। सत्याग्रह का अगाध और अमोघ बल विश्व को दिखा देने के अदम्य संकल्प की वह अपने हृदय में दृढ़ कर रहे थे। इस उद्देश्य से वह अपना एवं अपने संगी-साथियों का जीवन पूरा तथा श्रेष्ठ और सत्याग्रह को सुशोभित करने योग्य

बनाने के लिए जी-जान से प्रयास कर रहे थे। इन प्रयासों में बापूजी के विचार से स्वाद-जय एक अनिवार्य साधन था।

फीनिक्सवासियों की अधिक संख्या का जब बापूजी के साथ भारत आना निश्चित-सा हो गया तब फीनिक्स की सामूहिक रसोई में दूध-घी का सर्वथा त्याग करना बापूजी का सब से अधिक महत्त्व का प्रयोग था। बापूजी के दिल में यह आग्रह बना हुआ था कि हिन्दुस्तान में, जहां पर सैकड़ों व्यक्ति भूखे मरते हैं, अथवा निरे सत्तू, ज्वार-मक्का के पतले दलिए या उससे भी अधिक हीन आहार से उदर-पोषण करते हैं, वहां हम लोगों को ऐसे ही आहार की आदत डालनी चाहिए, जो गरीबों के बीच अनुचित मालूम न दे।

दूध के परित्याग के बारे में बापूजी की एक तीव्र भावना यह भी थी कि यदि बालक युवावस्था में प्रवेश करने से पूर्व ही दूध के बने हुए पदार्थों का सेवन छोड़ दे तो उसके लिए अन्य प्रकार के संयम आसान हो जायंगे और उसे ब्रह्मचर्य का पालन सहज प्रतीत होगा। मांस, मछली, अंडे आदि के समान दूध भी जानवर के रक्त-मांस से प्राप्त वस्तु होने के कारण मन-इन्द्रियों को चंचल बनाने और शरीर की रक्त आदि धातुओं में विकृति पैदा करने का बड़ा बलवान निमित्त बन सकता है। सच्चे सत्याग्रही के लिए विवाह आदि के पचड़े से अलग रहकर और इस प्रकार निर्द्वंद्व ब्रह्मचारी बनने के लिए दूध का परित्याग बहुत ही सहायक है। इस प्रकार का विश्वास बापूजी के दिल में इतना सुदृढ़ बना हुआ था कि इसके विपरीत किसी भी प्रकार का तर्क उनपर असर नहीं करता था।

नौजवानों में से औरों के मुकाबले जमनादासकाका दूध-घी का त्याग करने के बहुत ज्यादा खिलाफ थे। बापूजी के सामने उन्होंने अपना विरोध खुलकर प्रकट कर दिया था। इसलिए बापूजी ने जब जमनादासकाका को केपटाउन से फीनिक्स भेजा तब पत्र के द्वारा उन्होंने पहले से ही फीनिक्स में सूचना भेज दी थी कि "जमनादास के लिए घी खरीदकर रखना।" परन्तु फीनिक्स-भर में इस तरह एक ही व्यक्ति के लिए अपवाद किया जाय यह जमनादासकाका ने अपने लिए उचित नहीं समझा। इसलिए उन्होंने स्वेच्छा से फीनिक्स के अनुशासन में रहना पसंद किया। घी के बदले में वहां पर जैतून का तेल मिलता था। उसे वह खा नहीं पाते थे, इसलिए रूखा आहार लेकर ही उन्होंने संतोष किया। परन्तु बापूजी से उन्होंने इस विषय पर बहुत पत्र-व्यवहार किया। जमनादासकाका की मुख्य दलील यह थी कि हमारे आर्यावर्त में प्राचीन ऋषि-मुनियों ने दूध-घी का त्याग करने का आदेश नहीं दिया, बल्कि मंदिरों में तो एकादशी के फलाहार में घी-दूध का ही प्रयोग किया जाता है। वह अधिक पवित्र समझा जाता है और तेल

वर्जित माना जाता है। इन पत्रों के उत्तर में बापूजी ने जमनादासकाका को निम्न पत्र भेजे थे :

आषाढ़ विदी १, १९६९

चि. जमनादास,

दूध के विषय में किसी ने कुछ विचार किया ही नहीं होगा, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। मैं समझता हूं कि दूध के बिना काम चलाने वाले बहुत-से मनुष्य होंगे। किन्तु मैं कह चुका हूं कि किसी महापुरुष ने हिन्दुस्तान में मांस का जो परित्याग करवाया वह इतना महत्वपूर्ण परिवर्तन था कि दूध के बारे में लिखने या कहने वाले नजर नहीं आते। किन्तु यह हमारे अज्ञान के कारण है। हमने सबकुछ पढ़ा नहीं है। सबको देखा नहीं है। एक ही कसौटी उत्तम है—भूतकाल में विचार किया गया हो या न किया गया हो, पर बुद्धि को वह बात जंचती है या नहीं ?

फिर दूध को त्यागने में किसी ने न पाप बताया है, न माना है।

—बापू के आशीर्वाद

एक अन्य पत्र में बापूजी ने लिखा :

चि० जमनादास,

पवित्र माने जाने वाले तीर्थ-स्थानों में तेल को त्याज्य और घी को पवित्र माना जाता है, इसका कारण वही मालूम होता है जिसका मैंने अनुमान किया है। हिन्दुस्तान जब मांसाहारी ही था और किसी ने बहुत-से लोगों को निरामिषाहारी बनाया तब घी को अति पवित्रता दी। इसलिए हम लोग अपने आहार में बेहद घी बरतते हैं यहां तक कि रसोई में जितना अधिक घी हो उतनी ही वह श्रेष्ठ मानी जाय। इससे बढ़कर और क्या अंधेर हो सकता है ? लेकिन मान्यता ऐसी ही चली आ रही है। इस कारण पवित्र स्थानों मे भी घी को उच्च-पद दिया गया। परिवर्तन करने वाले ने मान लिया कि लोग घी खूब लेंगे तो उनको मांस की ज्यादा आवश्यकता महसूस नहीं होगी। इस प्रकार के उद्देश्य से इंग्लंड के शाकाहारी (वेजिटेरियन) लोग भी अंडों का इस्तेमाल करते हैं। अंडों को उन लोगों ने प्रायः पवित्रता का स्थान दे दिया है।

स्वाद को जीतने के बारे में तुमने जो श्लोक उद्धृत किया है वह तो मैंने देखा है। फिर भी मेरी टीका सही बैठती है। एक श्लोक का कुछ असर नहीं होता। उन लोगों ने इस बात पर जोर नहीं दिया है। अगर दिया होता तो ठाकुरद्वारों में हरएक बहाने से मिष्टान्न न रहते। प्रत्येक उत्सव और पर्व के दिन घी-गुड़ के सीधे देने की बात न रहती। ब्रह्मभोज भी नहीं

होते और इन दिनों तो ऋषि लोग और साधुगण भी स्वादेन्द्रिय को जीतते नहीं हैं, परन्तु उससे जीते गए देखे जाते हैं। यह बात बहुत लम्बी-चौड़ी है। किसी के ऐब बताने के लिए ऐसा कहें तो पाप के भागी बनें। परन्तु अपने और परायों के उपकार की ही जहां मुख्य बात है वहां चाहे कैसे भी गण्यमान्य पुरुष क्यों न हों उनके बारे में भी जो अपूर्णता हम देखें उसपर विचार करने का हमारा कर्त्तव्य है।

—बापू के आशीर्वाद

और भी एक पत्र बापूजी ने लिखा :

जेठ विदी १४, १९६९

चि० जमनादास,

दुग्धोपचार की पुस्तक में देख गया हूं। मुझे ठीक नहीं लगी। किन्तु मेरी मनःस्थिति ही ऐसी है। यदि कोई मांस के सम्बन्ध में शरीर को श्रेष्ठ बनाने वाले भारी गुणों को साबित कर दे तो भी वह त्याज्य है। मेरे लिए दूध के विषय में भी यही किस्सा है। वह मांस का ही रूप है और मनुष्य को उसे खाने का अधिकार नहीं है। बच्चा माता का दूध पीता है, इसलिए मनुष्य को गाय का दूध पीना चाहिए, यह बात तो अज्ञान की सीमा है।

—बापू के आशीर्वाद

फाल्गुन सुदी ६, १९६९

चि० जमनादास,

तुम दूध-दही को त्यागोगे नहीं, यह ठीक है, पर उसको प्रधान पद मत देना।

—बापू के आशीर्वाद

फीनिक्स में बगीचा था, विशाल भूमि पर ऊंची घास छाई रहती थी, परंतु वहां गोशाला नहीं थी। वहां एक भी गाय किसी ने नहीं पाली थी। डरबन शहर के दुग्धालय से रोजाना बड़े-बड़े दूध-पात्र ट्रेन द्वारा आते थे। कभी सामने वाली टेकरियों से कोई हिन्दुस्तानी किसान अपनी गाय का थोड़ा-सा ताजा दूध पहुंचा देता था। फीनिक्स में साग-सब्जी का स्वावलंबन था, दूध का नहीं था। संस्था की इस कमी पर कभी बापूजी को असंतोष पैदा होते हुए मैंने नहीं देखा। बाहर से दूध मंगाने की कुछ भी परेशानी किसी को महसूस नहीं हो रही थी। परंतु ज्योंही हिन्दुस्तान आने की तैयारी होने लगी, महीनों पहले से फीनिक्स में दूध मंगाना बिल्कुल बंद कर दिया गया।

दूध को वर्जित करने पर उसके स्थान में कौन-सी वस्तु ली जाय, इसका निश्चय करना आसान नहीं था। बापूजी की सूचना से एक के बाद

एक कई प्रयोग किये गए, क्योंकि भारत में फल तो छूटने वाले थे ही, दूध भी छोड़ने पर क्या लिया जाय, यह समस्या थी।

इस प्रकार का पहला प्रयोग, जो मुझे याद है, बादाम का था। फीनिक्स के भोजन में सुबह-शाम गेहूं की बनी जो कॉफी मिलती थी, उसमें आधा से ज्यादा दूध रहता था। दूध के बंद होने के साथ गेहूं की काफी का बंद हो जाना मानो पूरी सामूहिक रसोई का संतोष समाप्त हो जाना था।

कॉफी में दूध के बदले शुरू-शुरू में बादाम घोंटकर उसका दूध-सा मिलाया जाने लगा। गेहूं की कॉफी में इस नए दूध का मिश्रण मुझ-जैसे बालकों को बहुत पसंद आया। दूध न मिलने का रंज मन में नहीं रहा।

परन्तु बादाम का प्रयोग कुछ ही दिन चल पाया। भारत की गरीबी को देखते हुए यह प्रयोग आहार की दृष्टि से सफल हो तो भी चल नहीं सकता था। इसलिए अमीरों के बादाम को छोड़कर गरीबों के बादाम का प्रयोग शुरू हुआ, अर्थात् मूंगफली भिगोकर तथा घोटकर उसका दूध बनने लगा। और हमारा कॉफी के पेय का आनन्द चालू रहा।

परंतु पेय की तुष्टि मिल जाने पर दूध की गरज़ हर प्रकार से पूरी नहीं हो सकती थी। दूध में जो पोषक तत्व होता है उसकी हमारे नित्य के भोजन में ही कमी रह जाती थी। इस हेतु से मूंगफली का प्रयोग दुबारा नए ढंग से शुरू किया गया। पोषक तत्वों की दृष्टि से मूंगफली की पोषक शक्ति भरपूर होती है, लेकिन दूध की तरह वह सुपाच्य वस्तु नहीं है। मूंगफली को पचाने में आसान बनाने के लिए उसे दाल की तरह पानी में पकाने का प्रयोग किया गया। किंतु दो-ढाई घंटे तक खौलने पर भी मूंगफली पकने वाली चीज साबित नहीं हुई। तब रात-रात-भर उसे डबल रोटी वाली भट्टी पर रखा जाने लगा। दस-बारह घंटों तक पकने के बाद वह कुछ मुलायम होती थी फिर भी पूरी तरह पकती तो थी ही नहीं। इस तरह घंटों तक पानी में पकने के बाद मूंगफली कुछ ऐसी बदस्वाद हो जाती थी कि भात-रोटी के साथ उसे खाना कठिन हो जाता था।

नित्य के भोजन में मूंगफली का यह प्रयोग कई सप्ताह तक चलता रहा। फिर दो नई चीजों का प्रवेश फीनिक्स के भोजन में हुआ और उबली मूंगफली के प्रयोग की इतिश्री कर दी गई। ये दोनों चीजें दक्षिण अफ्रीका की विशेष पैदावार थीं। एक का नाम था 'सावर फिग्स' और दूसरी का नाम था 'काफिर नट्स'।

'सावर फिग्स' केपटाउन में बापूजी के हाथ लगे थे, ऐसा कुछ मुझे याद है। अंग्रेजी 'सावर फिग्स' का शब्दानुवाद होता है, खट्टे अंजीर; परन्तु इन्हें

'खट्टे अंजीर' क्यों कहा जाता था, यह मेरी समझ में नहीं आया। खाने में वे खट्टे के बजाय खारे-खारे होते थे। अलोना व्रत रखनेवालों के लिए वह नमक का काम देते थे। केपटाउन के पास समुद्र-तट पर इनकी पैदावार होने की बात मैंने सुनी थी। 'काफिर नट्स' फीनिक्स से कुछ दूर के जंगल में रहने वाले हब्शी लोग अपने खेत में पैदा करते थे। हम लोगों को इतने वर्षों तक इस आहार का पता क्यों नहीं चला, यह मेरे मन में एक आश्चर्य ही रहा। 'काफिर नट्स' का स्वाद अच्छा था। उन्हें उबालकर ही खाया जाता था। उबालने पर उन्हें पकने में देर नहीं लगती थी और पकने पर वे शकर कंद-जैसे मुलायम पड़ जाते थे। इस खाद्य को प्राप्त करने के बाद हमारे यहां मूंगफली को पकाने का सिलसिला बंद हो गया था। खाद्य तथा पोषण की दृष्टि से अब दूध के बदले दूसरी वस्तु ढूंढ़ने की आवश्यकता नहीं रहेगी, ऐसा कुछ विश्वास हम लोगों में बढ़ चला था। फिर भी यह चिन्ता मन में थी कि भारत पहुंचने पर यह प्रयोग चलेगा या नहीं ? वहां यह चीज कैसे मिलेगी ? परंतु फीनिक्स से दलबल सहित हम लोग चले तबतक हमारे नित्य के भोजन में ये मींगियां महत्व का आहार बनी हुई थीं।

केपटाउन से लौटने के बाद बापूजी ने फीनिक्स के विद्यार्थियों और नौजवानों के शरीर पर दूध-घी छोड़ने से होने वाले परिणाम पर बारीकी से विचार किया। पौष्टिकता के हिसाब से दुग्धाहार की क्षतिपूर्ति करना उन्हें आवश्यक जान पड़ा। अन्यों के मुकाबले देवदासकाका का शरीर बहुत पतला-छरहरा था। उनके शरीर में स्फूर्ति बहुत थी और बल भी था; परंतु देखने में दुर्बल नजर आते थे। उनके शरीर को घी-दूध के अभाव में और भी दुर्बल होने से बचाना आवश्यक था। दुग्धाहार को बन्द करने के समय यदि पूज्य बा बीमार न होतीं और फीनिक्स में उपस्थित होतीं तो मेरा खयाल है कि इन प्रयोगों की रफ्तार इस प्रकार से न चल पाती जिस प्रकार वह चलाई गई थी। बापूजी के आदेश पर भोजन में जो प्रयोग और परिवर्तन शीघ्रता से हो रहे थे उनपर थोड़ा-बहुत अंकुश रखने वाला बा के सिवा और कोई न था। फीनिक्स का सामूहिक भोजनालय बापूजी के रसोईघर में ही चलता था और सब विद्यार्थियों के लिए जो कुछ पकता था वही बापूजी के अपने बेटों को भी मिलता था। रामदासकाका और देवदासकाका को तो बापूजी के पुत्र होने के नाते और भी कड़ाई से इसका पालन करना पड़ता था।

"बापूजी ने यह निश्चय किया कि शरीर की पुष्टि के लिए देवदासकाका को कुछ विशेष खुराक देने की आवश्यकता है। तब उन्होंने दोपहर के भोजन के बाद प्रतिदिन दस-दस बादाम देवदासकाका को देना प्रारम्भ किया।

देवदासकाका के बाद मेरी बारी आई, क्योंकि मेरी गिनती भी कमजोर लड़कों में थी।

भोजन-समाप्ति के बाद चौका-बरतन के अपने काम से छुट्टी पाकर हम दोनों बापूजी के पास जाते थे। बापूजी उस समय या तो अपना भोजन कर रहे होते, या रसोईघर के किसी-न-किसी काम में लगे होते थे। एक खास बोतल से वह हमारे हाथ में गिनकर दस-दस बादाम दे देते थे। बापूजी की इस कृपा से मेरे दिल का उत्साह बहुत बढ़ जाता था। बादाम का प्रयोग शुरू कराते समय बापूजी ने मुझसे कहा, "देख, इसे तुरन्त मत खा जाना, चलते-फिरते धीरे-धीरे खूब चबाकर खाना। एक-एक बादाम को मुंह में तबतक चबाते रहना जबतक कि वह बिल्कुल दूध न बन जाय। उसके दूध-जैसा बन जाने के बाद ही उसे गले से नीचे उतारना।"

बापूजी ने हमारे भोजन के ढंग में भी कुछ परिवर्तन कर दिया। मेज-कुर्सी पर बैठकर खाने का तरीका बन्द कर दिया गया और बाहर के बरामदे में हिन्दुस्तानी ढंग से फर्श पर पालथी मारकर पंक्ति में बैठने का तरीका शुरू किया गया। हममें से बहुत से नौजवान ऐसे थे जो फर्श पर पालथी मारकर बैठने का ढंग जानते ही न थे और कई सप्ताह तक उन्हें अपने पैरों को इस तरह मोड़ने में तकलीफ उठानी पड़ी। नीचे बैठने में घुटने और टखने ऐसे दुखते थे कि कुर्सी की बारबार याद आजाती थी, परन्तु हम भारतवासी थे, इसलिए बैठने की भारतीय आदत हमें डालनी थी। इसी प्रकार भोजन में चम्मच का उपयोग छोड़कर हाथ से खाने की विधि भी हमें सीखनी पड़ी।

फीनिक्स में चीनी मिट्टी के या तामचीनी के बरतन काम में लाये जाते थे। इन दोनों ही विलायती चीजों को छोड़कर लकड़ी के बरतनों के प्रयोग पर बापूजी ने जोर दिया। वह स्वयं तो पहले से ही छोटी-सी-कठौती और लकड़ी का चम्मच अपने इस्तेमाल में लाते थे। औरों के लिए भी वह लकड़ी के बरतन प्राप्त करने की कोशिश करते रहे; परन्तु अधिक नहीं मिले, केवल छः कठौतियां मिलीं। ये कठौतियां सुन्दर थीं और किसको दी जायं, यह तय करना कठिन हो गया। दो दिन तक कोई निर्णय न हो पाया तब बापूजी ने चिट्ठी डालकर इन छः कठौतियों का बंटवारा करने का निश्चय किया।

उस दिन शाम की प्रार्थना के बाद इन कठौतियों के लिए चिट्ठी डालने का कार्यक्रम बहुत मनोरंजक रहा। छः अदद के लिए बारह-पंद्रह उम्मीदवार थे। चिट्ठी में अपना नाम दर्ज करनेवालों को बापूजी चीठी

चुटकियां लेते जाते थे, "बोलो, अलोना करना मंजूर है? भोजन में कौनसा नया प्रयोग करोगे?" इत्यादि। नवीन प्रयोग का साहस करने के लिए जो तैयार थे उन्हीं का नाम बापूजी ने चिट्ठी में लिखा। फिर प्रत्येक चिट्ठी को अपने हाथ से गोलियां बनाकर उन्हें चौसर खेलने की कौड़ियों की तरह मेज़ पर बिखेरा।

अब प्रश्न यह उठा कि कौन चिट्ठी उठाये? थोड़ी-सी बहस के बाद बापूजी ने निश्चय किया कि कोई वयस्क व्यक्ति चिट्ठियां न उठाये। छोटा, निर्दोष और चतुर बालक ही उठाये। यह मान मेरे छोटे भाई कृष्णदास को मिला। बापूजी ने उसे तरीका समझाया और वह एक-एक गोली उठाकर बापूजी के हाथ में देता गया। हर नाम के निकलने पर बड़ी तालियां बजती रहीं। दूसरा नाम मगनलालकाका का था। मेरे दिल में विचार उठा कि नसीब भी न्याय को देखता है। सबसे अधिक सुयोग्य का नाम चुनने में नसीब ने गलती नहीं की। छः में पांचवां नाम मेरा निकल आया तब मुझे बड़ी खुशी हुई। बापूजी बोले, "लो, यह परभूदास का नाम भी आ गया।" फिर मुझसे पूछा, "बोल, तू इसे सम्भालेगा या तोड़-फोड़ डालेगा? गंदी तो नहीं रखेगा?" मैं झेंप गया, पर साहस से वादा किया—"सम्भालूंगा।"

मैं सबसे छोटा था इसलिए सबसे पहले मुझे अपनी मन-पसन्द कठौती उठा लेने को कहा गया। मैंने मज़ाक से नाजुक और सुन्दर कठौती उठा ली।

इस कमाई का प्रभाव मेरे मन पर बरसों तक रहा। फीनिक्स में ही नहीं, भारत में आने पर भी चार-पांच वर्ष तक मैं उसी में भोजन करता रहा। इस काष्ठपात्र में भोजन करते समय सदैव अपने मन में संकल्प दृढ़ करता रहा कि अस्वाद-व्रत के प्रयोग में मुझे बापूजी के सामने हारना नहीं है। वह चाहें कितना ही अलोना करा लें और अच्छी चीज न दें, मैं सभी नियमों का पालन करूंगा। इस संकल्प में मुझे प्रायः सफलता भी मिली।

उपसंहार

'आजु धन्य मैं धन्य अति'

आजु धन्य मैं धन्य अति, जद्यपि सब विधि हीन ।
निज जन जानि राम मोहि, सन्त समागम दीन्ह ।।
नाथ, जथामति भाषेऊं, राखेऊं नहि कछु गोइ ।
चरित सिंधु रघुनायक, थाह कि पावइ कोइ ।।

—रामचरितमानस

संत-महात्माओं के चरित-सागर में जितना अधिक गहरा उतरा जाय, उसकी विशालता तथा उसका प्रभाव चित्त को अधिकाधिक उत्साह, विनय और आश्चर्य से भरते जाते हैं। फिर बापूजी के जीवन में जो उन्नत ज्वाला प्रज्वलित होती रही है उसका प्रकाश तो चित्त को और भी आश्चर्य-मुग्ध बना देता है। उसकी थाह पाना मुझ-जैसे अल्प बालक के लिए असंभव ही है। किन्तु ईश्वर ने मुझे ऐसा अवसर दिया कि मैं बापूजी के जीवन-सिंधु में अपने बचपन से ही, जान में या अनजान में, गोता लगाता रहा। वास्तव में बापूजी की जीवनी को सागर के समान अगाध स्वरूप धीरे-धीरे प्राप्त हुआ है। बापूजी के सुचरित का सागर अपने-आप प्रकट हो गया है, अथवा दैवयोग से संसार के सामने विस्तीर्ण क्षितिज पर लहराने लगा है, ऐसी बात नहीं है। उनके चरित-सिंधु का आरम्भ पहले छोटी और बाद में वेगवती सरिता के रूप में हुआ है। पृथ्वीतल पर बहनेवाली सहस्रों सरिताओं के बीच गंगा की धारा ने जिस प्रकार लोक-हृदय में अपना अनोखा स्थान जमा लिया है उसी प्रकार बापूजी की जीवन-सरिता ने मानव-जीवन के अनेकानेक प्रवाहों के बीच अपना अनोखा स्थान प्राप्त कर लिया है।

बापूजी के जीवन की यह त्रिभुवनपावनी सुरसरि सुदीर्घ क्षेत्र में प्रवाहित हुई है। उस सुरसरि के प्रारम्भिक पथ का जो सौंदर्य और जो महिमा अपने चर्म-चक्षुओं से मैं देख पाया था तथा उस अद्भुत वातावरण की जो सुरभि अपनी अल्प शक्ति से मैं ग्रहण कर पाया था, उसको इन पंक्तियों में शब्दांकित करने का मैंने थोड़ा-बहुत दुस्साहस किया है।

न जाने क्यों अपने अन्तर की गहराई में दबी हुई बातों को जब मनुष्य बताने लगता है तब चाहने पर भी वह अपनी वाणी पर रोक नहीं लगा पाता। अपने कड़वे-मीठे अनुभवों को सुनाते-सुनाते वह अघाता ही

नहीं। कुछ ऐसा उत्साह उसके अन्तर से फूट पड़ता है कि सुननेवाला चाहे पसन्द करे या न करे, वह अपनी राम-कहानी कहता ही चला जाता है। जब छोटे-मोटे अनुभवों की स्मृतियां मनुष्य को इस प्रकार बहा देती हैं तब बापूजी के पुण्यस्मरण से उठनेवाली हृदय की भावुकता रोकी न रुके तो आश्चर्य ही क्या?

बापूजी का पुण्यस्मरण ऐसे महापुरुष का पुण्यस्मरण है जिनके साथ रहकर भी हम उन्हें पहचान नहीं पाये, उनके वचनामृत की धारा में बहने पर भी उस अमृतवाणी का यथावत आचमन नहीं कर पाये, अपनी निजी आंखों से उनकी महानता को देखकर भी तथा उनकी कृपा से हर्ष-गद्‌गद होकर भी उन्हें समझ नहीं पाये। ऐसे महामानव के चरणामृत का आचमन करते-करते परितृप्ति हो भी कैसे!

परन्तु अब आवश्यक है कि मैं यहां पर रुक जाऊं। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह-संग्राम की कहानी यहां पूरी नहीं होती। गांधी-स्मट्स समझौते पर हस्ताक्षर हो जाने के बाद भी सत्याग्रह के मौलिक अध्वर्यु के नाते दक्षिण अफ्रीका से प्रयाण करने की घड़ी तक, उस सत्याग्रह को सफल बनाने के लिए बापूजी आगे कदम बढ़ाते ही जा रहे थे, किन्तु इस पुस्तक का उद्देश्य दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का राजकीय इतिहास चित्रित करने का नहीं है। यहां पर मैंने यह दिखाने का यत्किंचित प्रयत्न किया है कि बापूजी ने स्वयं अपने-आपको किस प्रकार बनाया, अपने को अपना यथार्थ शिष्य बनाने में उन्होंने किस प्रकार सफलता पाई, सत्याग्रह का प्रादुर्भाव किन परिस्थितियों के बीच हुआ, सत्याग्रही जीवन की गहरी नींव फीनिक्स की अनोखी संस्था में किस प्रकार डाली गई, और छोटे-छोटे बालकों को तथा अल्हड़ नवयुवकों को निराले ढंग की शिक्षा-दीक्षा देने का अपना नया प्रयोग किस उत्साह से उन्होंने किया।

यह सब जब मैंने देखा तब मुझे यह सुध नहीं थी कि मुझे जन्म-जन्म का यह दुर्लभ लाभ मिल रहा है। जब मेरे ध्यान में यह आया कि बापूजी की छत्र-छाया में मेरा जो बाल्य-काल बीता वह मेरे जीवन की बहुत बड़ी निधि है तब मैं अपने हृदय पर सतत बोझा-सा अनुभव करने लगा। मुझे चिन्ता होने लगी कि इतने अमूल्य सुयोग का कुछ भी सद्व्यय मैं नहीं कर पाऊंगा तो अपयश का भागी बनूंगा। बापूजी से प्राप्त संस्कार-निधि को अपने जीवन में चरितार्थ करना तो अलग रहा, उसपर अपनी अविचल निष्ठा बनाए रखना भी जीवन की बड़ी कसौटी है। तब मैंने सोचा कि और कुछ मुझसे बने या न बने, बापूजी से प्राप्त इस अनुपम

संस्कार-निधि का बखान तो करूं—अपने संगी-साथियों को यह भव्य खजाना दिखा तो दूं।

इसी भावना से प्रेरित होकर सहृदय पाठकों के सामने उपस्थित होने का कठिन साहस मैंने किया और मैं इस ग्रंथ का तंतु यहां तक ले आया। अब आगे बढ़ना और भी कठिन जान पड़ता है। बापूजी का जीवन यहां से आगे एक नया ही मोड़ लेता है। जैसे कलकल-निनादिनी भागीरथी हिमालय की अनेकानेक घाटियों में से बहती हुई हरिद्वार के पास आकर एकदम चौड़े मैदान में फैल जाती है और इस किनारे पर से पार के किनारे तक विस्तीर्ण गंगा-पट में बहनेवाली सभी धाराओं को एक साथ, एक नगर में, देखना मुश्किल हो जाता है, वैसे ही बापूजी की जीवन-सरिता को यहां से आगे चित्रांकित करना दुष्कर हो जाता है। अबतक, अर्थात् केपटाउन से बापूजी के फीनिक्स लौटने तक, उनकी साधना अधिकतर अपनी निजी साधना थी और बाद में उसने आगे बढ़कर समष्टिगत साधना का विशाल रूप ले लिया। अबतक बापूजी अपने व्यक्तित्व को परिष्कृत करने में और उसे सफलता से संचालित करने में अपनी अदम्य प्राणशक्ति को लगाए हुए थे, अब के बाद वह अपने-अपने चुने हुए अन्य व्यक्तियों को अपने अंगप्रत्यंग के रूप में नाथकर निज के व्यक्तित्व को विराट रूप देने के लिए आगे बढ़े। यहां से आगे चलकर बापूजी के व्यक्तित्व के विकास का इतिहास सत्याग्रह-आश्रम के विकास का इतिहास बन जाता है।

मेरे मन में यह विश्वास पक्का हो गया कि दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के अन्तिम दौर में तथा विशेष रूप से केपटाउन में मानव-सुलभ छोटी-मोटी दुर्बलताओं को बापूजी सदा के लिए पार कर गए। मान-अपमान, बड़प्पन-अभिमान, क्रोध-मोह आदि के सागर को बापूजी अगस्त्य की तरह पी गए, उन्होंने मृत्यु-भय को जड़-मूल से उखाड़ फेंका। उन्होंने विचार और कर्म को समकक्ष बना लिया और इन्हीं शुभ घड़ियों में वह मानव से महामानव बन गए।

ऐसी विराट मूर्ति के साधनामय जीवन का यथाशक्य समग्र स्मृति-चित्र शब्दांकित करने का मैंने इस पुस्तक में प्रयत्न किया है। पता नहीं मैं अपने मन में समाई हुई उस भव्य मूर्त्ति को कहां तक कागजों पर चित्रित कर पाया हूं।

बहुत वर्ष पहले के और वह भी बिल्कुल बचपन के स्मरणों को जुटा-जुटाकर अब मैं इन प्रकरणों की रचना करने लगा तब मन में यह डर बना

रहा कि मैं इसमें तथ्य के बदले काव्य की ओर तो अधिक नहीं बह रहा हूं? स्मरणों की शृंखला को तैयार करते समय पहले वाली कड़ी पीछे और पीछे वाली कड़ी आगे नाथ लेने की भूल तो नहीं करता हूं? अथवा, बात का रंग जो था उससे गहरा तो नहीं बैठ रहा है?

गुजराती में जब ये प्रकरण प्रकाशित हो रहे थे तब पूज्य महादेवभाई ने मुझसे एक बार प्रश्न किया था कि "जब तेरे पास उस समय की डायरी नहीं है, तब भी तू फीनिक्स-पुराण लिखता जा रहा है। ऐसी बात तो नहीं है कि जैसे मकड़ी अपने पेट में से ही अपना जाला बनाती रहती है वैसे तू भी अपने उदर से ही मनमानी बातें गढ़ रहा है?" फिर विनोद के साथ पीठ ठोकते हुए खुद ही बोले, "घबराओ मत। मैंने यों ही तुम्हें सावधान किया। इतने विस्तार से जो बातें दे रहे हो, ठीक कर रहे हो। पर कहीं लिखने के प्रवाह में कपोल-कल्पित किस्से न आ जायं, यह ध्यान रखना। मैं सब पूरे गौर से पढ़ता हूं। अच्छा आ रहा है।"

मैंने महादेवभाई को विश्वास दिलाया कि जो बातें मेरी स्मृति में बहुत धुंधली हैं तथा जिनके तथ्य के विषय में मुझे शंका पैदा हो सकती है, उनका उल्लेख करने से मैं बचता हूं और तथ्य को तोड़ने-मरोड़ने का अपराध भूल से भी न कर बैठूं, इसके लिए भरसक सावधानी रखता हूं।

महादेवभाई ने तो मेरा निवेदन स्वीकार कर लिया, परन्तु मेरे दिल में इस आलोचना का भय कायम रहा और बार-बार मैंने अपनी स्मृति को कसा। इन प्रकरणों को जांचने के लिए मैंने अपने पिताजी से विनती की। जहां कहीं उनको सन्देह हुआ या कोई बात खटकी उसे उन्होंने ठीक करवा दिया या निकलवा दिया। फिर भी अपनी स्मृति की यथार्थता परखने के लिए जहां सम्भव हुआ, बापूजी के पत्रों का सहारा लिया। बापूजी के लेखों से कई उद्धरण मेरे पिताजी ने ढूंढ़ दिये। इस प्रकार इस पुस्तक की सामग्री को तथ्य से भिन्न न होने देने के लिए मैं अपनी शक्ति-भर जागरूक रहा हूं।

बापूजी की विविध प्रवृत्तियों तथा उनकी विविध साधना का मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार विवेचन भी किया है। मेरे एक-दो विद्वान मित्रों ने, जो बापूजी के निष्ठावन उपासक हैं, मुझसे आग्रह किया कि "केवल बापूजी की प्रवृत्ति और जीवन-प्रसंग से विशेष कुछ मत लिखो। बापूजी की छत्र-छाया में रहकर जो अनुभव तुमने पाया वह अनुभव ही लिख दो। उस अनुभव के साथ जो भावनाएं तुम्हारे मन में उठीं उन्हें मिलाकर बात का बतंगड़ क्यों करते हो?" लेकिन उन मित्रों की राय में अपना नहीं सका।

यह नहीं कि मुझे उपदेशक बनने का मोह है, परन्तु बापूजी के जीवन का और उनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रतिबिम्ब पग-पग पर मेरे अन्तर में और मेरी बुद्धि में किस प्रकार पड़ा, इसका उल्लेख करना आवश्यक समझता हूं। सूर्य को, जल को, वायु को मनुष्य हर समय देखते हैं और उनका भरपूर अनुभव पाते हैं। लेकिन उनके आरोग्यवर्धक लाभ की बात जब प्राकृतिक चिकित्सा पाया हुआ कोई रोगी हमारे सामने रखता है तभी उनकी वह महत्ता हमारी समझ में आती है। बापूजी के तेजस्वी जीवन के लिए भी ऐसी ही बात है। उनके जीवन-प्रसंगों का और उपदेशों का अपना महत्त्व अपार है; परन्तु मुझ-जैसा तन-मन का दुर्बल बालक जिस प्रकार उसे ग्रहण कर पाया अथवा नहीं ग्रहण कर पाया, इस विषय में जब अपना अनुभव बतायगा तो उसकी उपयोगिता अनेक जिज्ञासुओं के लिए बहुत बढ़ जायगी, ऐसा मुझे विश्वास है। इसी हेतु से मैंने बापूजी का स्वर्ण-सा देदीप्यमान जीवन अपने से हीन काठ पर मढ़कर यहां उपस्थित किया है।

अन्त में बापूजी के महान् व्यक्तित्व तथा उनके जीवन के चमकते हुए अनेक विध पहलुओं को एकत्र करने पर जो एक विशिष्ट प्रकाश दिखाई देता है उसका उल्लेख करके अपनी बात मैं समाप्त करूंगा।

बापूजी ने पुनः बताया है कि मेरे लिए "जीवन के शब्द-कोष का काम सदैव श्रीमद्भगवद्गीता ने दिया है।" अर्थात् उनके जीवन की मार्ग-दर्शिका गीता थी। गीता में भी तीसरे अध्याय के आदेशों पर बापूजी की अत्यधिक श्रद्धा थी। मुझ-जैसे विद्यार्थी को गीता सिखाते समय तीसरे अध्याय का मर्म समझाने पर वह अधिक जोर देते थे। जब मैं बापूजी के व्यक्तित्व का स्मरण करता हूं तब गीता के तीसरे अध्याय का तीसवां श्लोक मेरे सामने आ जाता है और उस श्लोक में मैं बापूजी का पूरा वर्णन पाता हूं। वह श्लोक है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

इस श्लोक के द्वारा कृष्ण भगवान बड़ी आत्मीयता से अर्जुन से कह रहे हैं, "भाई, अपनी अध्यात्मवृत्ति को सजग रखकर अपने सारे कर्मों के बोझ को मुझ पर डाल दो; मन में जितनी भी ममताएं और आशाएं मंडरा रही हैं उन्हें बिल्कुल अलग कर दो; और राग-द्वेषादि के आवेगों से मन में पैदा होनेवाले बुखार को हटाकर लड़ाई के मैदान में डट जाओ। लड़ना, और लड़ना ही, तुम्हारा काम है।"

●

निर्देशिका